"कौटिल्य (चाणक्य) की राज्य व्यवस्था का परवर्ती युग पर प्रभाव तथा वर्तमान में उपयोगिता"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी से कला संकाय के राजनीति विज्ञान विषय में पी-एच०डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

2008

निर्देशक

डॉ० रमा शंकर उपाध्याय
रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग
पं० जवाहर लाल नेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाँदा
पूर्व अध्यक्ष, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय शिक्षक संघ
(BUTA)

अनुसंधित्सु

राजेन्द्र कुमार
एम०ए० (राजनीति विज्ञान)

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

प्रेरणामयी शक्ति

मेरी स्वर्गीय धर्मपत्नी

श्रीमती पुष्पा द्विवेदी

को

समर्पित

डॉ0 रमा शंकर उपाध्याय
रीडर
राजनीति विज्ञान विभाग
पं0 जवाहरलाल नेहरू पी0जी0कालेज, बाँदा (उ0प्र0)
पूर्व अध्यक्ष
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय शिक्षक संघ (बूटा)

निवास :
एच0आई0जी0– 700, सेक्टर–14
आवास विकास (सिकन्दरा–योजना)
आगरा–7
☎ : 9411961688

पत्रांक

दिनांक 03-03-2008

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **श्री राजेन्द्र कुमार** पुत्र श्री लालबुआ द्विवेदी राजनीति विज्ञान विषय में **''कौटिल्य (चाणक्य) की राज्य व्यवस्था का परवर्ती युग पर प्रभाव तथा वर्तमान में उपयोगिता''** शीर्षक पर बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी के पत्रांक बु.वि. /प्रशा./शोध/2005/ 2952–54 दिनांकित 1 जून 2005 द्वारा मेरे निदेशन में शोध कार्य हेतु पंजीकृत हुये थे। इन्होंने विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित अवधि तक मेरे निदेशन में शोध कार्य किया है। तथा शोध अध्यादेश के अनुरूप 200 दिन शोधकेन्द्र पर उपस्थित रहे हैं।

मै श्री राजेन्द्र कुमार के उपर्युक्त शीर्षक पर शोध–प्रबन्ध को बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी में राजनीति विज्ञान विषय में पी0एच–डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत करने तथा इसे मूल्यांकित करने की संस्तुति करता हूँ।

(डॉ0 रमा शंकर उपाध्याय)

घोषणा-पत्र

मै **राजेन्द्र कुमार** पुत्र श्री लालबुआ द्विवेदी निवासी ग्राम व पोस्ट जिला, बांदा (उ0प्र0) घोषणा करता हूँ कि बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी के पत्रांक बु.वि./प्रशा./शोध/2005/2952–54 दिनांकित 1 जून 2005 द्वारा राजनीति विज्ञान विषय में **''कौटिल्य (चाणक्य) की राज्य व्यवस्था का परवर्ती युग पर प्रभाव तथा वर्तमान में उपयोगिता''** शीर्षक के अन्तर्गत डॉ0 रमा शकर उपाध्याय, रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, पं0 जवाहरलाल नेहरू पी0 जी0 कालेज, बांदा के निदेशन में पंजीकृत हुआ था।

मै घोषित करता हूँ कि प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध मेरा स्वयं का मौलिक कार्य है तथा यह प्रकाशित अथवा अप्रकाशित किसी रचना का अंश नहीं है।

बांदा :

दिनांक : 02 मार्च, 2008

राजेन्द्र कुमार

(राजेन्द्र कुमार)

निवास–

ग्राम व पोस्ट–कमासिन
जनपद–बांदा (उ0प्र0)

सम्प्रति निवास–

ओवरब्रिज के पास कालूकुआं,

बांदा (उ0प्र0)

आमुख

प्रसिद्ध विद्वान डॉ0 ए0 एस0 अल्टेकर का यह मत अनुकरणीय है कि विद्या विकास की दृष्टि से प्राच्य भारतीय विधाओं का अनुशीलन होना चाहिए। भारत के साम्राज्यवादी काल में भारतीय इतिहास, राजनीति एवं सामाजिक परम्पराओं एवं विधानों को हेय तथा त्रुटिपूर्ण सिद्ध करने के प्रयोजन से पाश्चात्य विद्वानों द्वारा इन विषयों के यथार्थ को तोडा–मरोड़ा गया और भारतीय जनमानस को विभ्रिमित करने का असफल प्रयास किया गया। इतिहास एवं राजनीति के इस दूषित बौद्धिक विलास की भारतीयों द्वारा प्रतिक्रिया हुयी और राष्ट्रवादी नागरिकों ने यथार्थ को प्रस्फुटित करने का संकल्प लिया। मेरे पूज्य पिता जी संस्कृत, इतिहास के मूर्धन्य जिज्ञासु रहे हैं और बाल्यकाल से उन्होंने व परिवारिक पृष्ठभूमि ने मुझमें इस प्रकार के संस्कार बोये जिनके आधार पर मै न्याय को समाज के समक्ष रख सकूँ, एवं उसके लिये लड़ सकूँ, चाहे मार्ग में जो भी कंटक आयें।

भारतवर्ष सदैव से ही मानव संस्कृति का अग्रवाहक रहा है। तत्वदर्शनाभिगामी प्राचीन भारतीय आचार्यो ने ज्ञान–विज्ञान के जिस क्षेत्र में पग बढ़ाये उसे विकास की चरम सीमा तक पहुँचाना ही इतश्री समझी। उन्होंने अपने चिन्तन में जिन नीतियों का संधान किया वे राजनीति की अन्तर्भावना को अनुप्राणित करती रहीं। इस प्रकार उन्होंने अपनी उदात्त संस्कृति और उच्च ज्ञान की प्रखर पुष्पिकाओं से असभ्यता के गहन अंधकार में डूबे हुये विश्व के विभिन्न जनसमुदायों को आलोकित किया। प्राचीन भारत में जिन राजनीतिक नीतियों का संधान एवं अभिचिन्तन हुआ उनकी आधारभित्ति पर विभिन्न जनसमुदायों के मध्य प्रथमतः सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुये जो शनैः शनैः राज्य संस्थाओं के विकास के साथ–साथ विकसित होकर राजनैतिक स्तर पर पहुँच सके। आचार्यों ने जिन नीतियों को संधान किया वे श्रुति, स्मृतियों, धर्मसूत्रों, महाकाव्यों, अर्थशास्त्र और नीतिविषयक ग्रन्थों में इतस्ततः बिखरी पड़ी हैं। मैने अर्थशास्त्र के आधार पर सामग्री एकत्र कर एवं संजोकर "कौटिल्य (चाणक्य) की राज्य व्यवस्था एवं उनके विचारों का परवर्ती युग पर प्रभाव तथा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया है।

लेखक इस विषय पर कार्य करने वाले अपने पूर्ववर्ती विद्वानों का ऋणी है जिन्होंने पाश्चात्य जगत में व्याप्त इस भ्रान्तिमूलक धारणा को कि प्राचीन भारतीय आचार्य

राजनीतिक विचारों से सर्वथा अनभिज्ञ थे, खण्डित कर भारत के गौरव की रक्षा की है। पाश्चात्य विद्वानों की भ्रामक धारणा का कारण यह था कि वे भारत के प्राचीन साहित्य में से राजशास्त्र पर पृथक ग्रन्थ ढूँढ़ने लगे, जबकि स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। नीतिशास्त्र अथवा राजशास्त्र (राजधर्म) उस सार्वभौमिक और व्यापक धर्म का अंश था जो व्यक्ति, समाज और राज्य, सभी के कार्य–कलापों का नियमन करता था।

भारतीय राजशास्त्र सम्बन्धी विचारधारा का उद्‌गम स्त्रोत श्रुति है। अपने उद्‌गम स्थान से निकल कर यह धारा सहस्त्रों वर्ष तक प्रवाहित रही। कालान्तर में यह अवरूद्ध होकर भारतीय जनता की दासतारूपी मरूभूमि में विलीन हो गयी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त प्राचीन भारतीय राजनीति का अध्ययन गहनतर ही नहीं होता गया, प्रत्युत् निष्पक्ष दृष्टिकोण से उनका एक तर्कात्मक अनुशीलन किया जाने लगा है और अब उत्कृष्ट प्राचीन संस्कृति में तिरोहित राजनीतिक जिज्ञासा स्वतः परिलक्षित होने लगी है। प्रतिफलस्वरूप पाश्चात्य विद्वान "चार्ल्स ड्रेक्मीयर" ने अपनी पुस्तक "किंगशिप एण्ड कम्युनिटी इन अर्ली इण्डिया" में कहा है कि धार्मिक प्रधानता होते हुये भी प्राचीन भारत मे पर्याप्त मात्रा में राजनीतिक साहित्य का प्रणयन किया। वर्तमान काल में विधा विकास की दृष्टि से इस क्षेत्र में सतत् चिन्तन–मनन की आवश्यकता है।

यथार्थतः प्रत्येक समाज के अपने आधारभूत मूल्य होते हैं जिन्हें वह पवित्र धरोहर के रूप में अपने उत्तराधिकारी समाज को सौंपता है और यह मूल्य उस समाज की आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। भारत के संदर्भ में यह परम्परागत राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि है जिनके प्रकाश में प्राचीन भारतीय राजदर्शन के शोधकार्य की अत्याधिक उपयोगिता है।

कहाँ ज्ञान का वेदरूपी गंभीर समुद्र और कहाँ मेरी तुच्छ एवं मन्द बुद्धि। मै तो केवल पुष्प–सुमन रूपी श्रद्धा को सहायक के रूप में लेकर उस समुद्र में गोता लगाने लगा था। प्रस्तुत शोध–प्रस्तुत प्रबन्ध में यदि कहीं विचारों की गंभीरता मिले तो उसका कारण सर्वज्ञानमयी भगवती श्रुति को ही समझना चाहिए।

यदि इस शोध–प्रबन्ध में विषय–प्रतिपादन का कोई नवीनतम मार्ग अपनाया गया है तो उसे महामहिम महामिधिर महामनीषी ख्यातिलब्ध गुरूवर्य डा0 रमा शंकर उपाध्याय,

रीडर राजनीति विज्ञान विभाग, पं० जवाहरलाल नेहरू पी० जी० कालेज, बांदा एवं पूर्व अध्यक्ष, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय शिक्षक संघ (बूटा) की कृपा का फल जानना चाहिए। मै अपने गुरूवर के प्रति श्रृद्धावनत् हूँ जिन्होंने न केवल मेरे शैक्षिक उन्नयन अपितु मेरे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आशीर्वाद स्वरूप मार्गदर्शक हैं।

यदि इस शोध–प्रबन्ध में कहीं कुछ पाण्डित्य का लेशमात्र भी दिखायी दे तो उसे मेरे पूज्य अग्रज डॉ० नन्दलाल शुक्ल, प्राचार्य पं० जवाहरलाल नेहरू पी० जी० कालेज, बांदा की चरण–सेवा का वरदान समझना चाहिए। मैं उनके दिये गये विचारों के प्रति सदैव ऋणी रहूँगा, क्योंकि इसके अभाव में शोध प्रबन्ध का प्रस्तुत रूप में आना दुरूह होता।

इस शोध– प्रबन्ध में जो कुछ गुण की बातें हैं वह दूसरों से प्राप्त हुयी हैं और जो अनेक दोष हैं, वे सब मेरे हैं।

मै अपने पूज्य पितामह स्व० श्री सुन्दर प्रसाद द्विवेदी के प्रति नतमस्तक हूँ, जिनके प्रेरणादायी आर्शीवाद ने प्रस्तुत विषय के चयन और निरन्तर शोध में रत रहने की स्फूर्ति मुझे प्रदान की।

मै अपने परिवारिक संरक्षक श्री रामनाथ दुबे, पूर्व सांसद के प्रति भी विनयावनत हूँ, जिन्होंने समय–समय पर विषय सम्बन्धित मेरे विचारों को परिस्कृत किया। मै अपने प्रिय मित्र डॉ० किशोर बाजपेयी को भी साधुवाद देना चाहता हूँ, जिन्होंने मुझे यथासमय शोधकार्य करने का निरन्तर प्रोत्साहन दिया। मै अपने भ्रातातुल्य अग्रज श्री शिवकरण यादव का भी आभारी हूँ, जिन्होंने शोध कार्य के अन्तराल में मुझमें किंचित मात्र आई निराशा को आशा में परिवर्तित करने का निरन्तर प्रयास किया।

मै अपनी अर्धांगिनी डॉ० सुनीता द्विवेदी, प्रवक्ता जुहारी देवी गर्ल्स पी० जी० कालेज, कानपुर का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने जीविकोपार्जन के हेतुओं के साथ गृह कार्य को वहन करते हुये समय–समय पर उत्साहपूर्ण, शैक्षिक, विचारशील, अविस्मरणीय निधिरूपी सहयोग प्रदान कर पत्नीधर्म का सर्वागीण उत्तरदायित्व निर्वहन किया। मै अपने पुत्र पार्थ को भी सुभाशीष देना चाहूँगा जिसने बालहट को त्याग कर मुझे शोध–प्रबन्ध की पाण्डुलिपि तैयार करने का पर्याप्त अवसर दिया।

मुझे शोधकार्य में पं० जवाहरलाल नेहरू पी०जी० कालेज, बांदा; जिला राजकीय

पुस्तकालय, बांदा; नागरी प्रचारिणी पुस्तकालय, बांदा; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ; भंडारकर प्राच्य शोध संस्थान, पूना ; औरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बृन्दावन ; गुरूकुल काँगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार; हिन्दी सहित्य सम्मेलन पुस्तकालय, प्रयाग; उत्तर प्रदेश स्टेट लाइब्रेरी, लखनऊ; गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद; दिल्ली स्टेट लाइब्रेरी, दिल्ली; पुरातत्व संग्रहालय, दिल्ली ; अतर्रा पी0 जी0 कालेज, अतर्रा (बांदा) ; से जो सामग्री और सहायता प्राप्त हुई है इसके लिए मै इन पुस्तकालयों के पुस्तकालयाध्यक्षों तथा कर्मचारियों का भी हार्दिक अनुग्रहीत हूँ।

अन्त में मैं इस शोध–प्रबन्ध के टंकणकर्ता बिहारी कम्प्यूटर्स के बिहारी शरण निगम व हिमांशु शुक्ला को धन्यवाद देना चाहूँगा, जिन्होंने टंकण में पर्याप्त उत्साह का परिचय दिया तथा टंकण–त्रुटियों को शुद्ध करने में मेरी यथाशक्ति सहायता की।

राजेन्द्र कुमार

(राजेन्द्र कुमार)

दिनांक : 01 मार्च, 2008

निवास :

ग्राम व पोस्ट–कमासिन
जनपद–बांदा (उ0प्र0)

सम्प्रति निवास :

ओवरब्रिज के पास कालूकुआं,
बांदा (उ0प्र0)

विषय-सूची

अध्याय द्वितीय

अध्याय तृतीय

अध्याय नवम्

पुर, जनपद तथा लोकतंत्रात्मक राज्य 261-387

अध्याय प्रथम

अर्थशास्त्र का रचनाकाल एवं कौटिल्य

अध्याय प्रथम

अर्थशास्त्र का रचनाकाल एवं कौटिल्य

प्राचीन भारतीय विचारकों ने अपने धार्मिक तथा सामाजिक दर्शन की सूक्ष्मता से जिन चरम तत्वों का सन्धान किया वे राजनीति की अन्तर्भावना को भी अनुप्राणित करते रहे। उनका लौकिक एवं व्यावहारिक तथ्य उसी एक सत्य, विराट् धर्म अथवा चरम विधि, पर आधारित रहा। 19वीं सदी से अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने धर्म के आवरण में, जिसके लाक्षणिक अभिप्रायों से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे, भारतीय राजतन्त्र तथा भारतीय राजनीति को अतीव धूमिल प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मैक्समूलर ने अनुमान किया कि "यूनानियों के लिए मानव–अस्तित्व जीवन और वास्तविकता से संकुल है जबकि हिन्दुओं के लिये यह एक स्वप्न, एक विभ्रम है।"[1] भारतीयजन दार्शनिकों के एक राष्ट्र हैं और भारतीय प्रज्ञा राजनीति अथवा अनात्मिक अभिचिन्तन के विषय में प्रायः शून्य है। भारतीय कभी राष्ट्रीयता की अनुभूति का संवेदन ही नहीं कर सके।[2] एक अन्य विद्वान की उक्ति है कि "विशद अर्थों में भारत ने किसी गंभीर राजनीतिक चिन्तन का योगदान नहीं किया।"[3] अनेक प्राच्यवेत्ताओं की भारतीय राजनीति और राज्य के विषय में ऐसी ही धारणा थी।[4] स्पष्टतः भारत के प्राचीन राजनीतिक चिन्तन तथा राजतन्त्र के प्रति ऐसा दृष्टिकोण साम्राज्यवादी आदर्शों से अधिशासित था।[5]

सामान्यतः विज्ञान की प्रगति से उन्मादित अपेक्षाकृत नवोदित यूरोपीय राज्य अपनी श्रेष्ठता को मानवशास्त्र के सभी क्षेत्रों में, भूत, वर्तमान और भविष्य कालों के लिए, मान्य बनाने का प्रयास करते रहे हैं। इनका एकमात्र कथन रहा है कि पौर्वात्य साम्राज्य प्रधानतः कर–संचय करने वाली संस्थाएँ थीं, उन्होंने अपनी अधिकारयामी सत्ता का प्रयोग अपनी जनता पर अति हिंसात्मक ढंग से किया किन्तु विशिष्ट तथा कर–संचय के निदेश से भिन्न विधि का क्रियान्वयन उन्होंने कभी नहीं किया।[6]

---

1. *मैक्समूलर : हिस्ट्री ऑव एन्शिएन्ट लिटरेचर, पृ0 18 ।*
2. *मैक्समूलर : हिस्ट्री ऑव एन्शिएन्ट लिटरेचर, पृ0 16 ।*
3. *ए0बी0कीथ : आस्पेक्ट्स ऑव एन्शिएन्ट इण्डियन पालिटी,, प्राक्कथन, पृ0 5 ।*
4. *ब्लूमफील्ड : रेलिजन ऑव वेद, पृ0 5 ।*
   सेनार्ट : कास्ट इन इण्डिया, पृ0 198 ।
5. *आर0एस0 शर्मा : आस्पेक्ट्स ऑव पोलिटिकल आइडियाज ऐण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शिएन्ट इण्डिया, पृ0 2*
6. *बेनी प्रसाद : स्टेट इन एन्शिएन्ट इण्डिया, पृ0 498 ।*

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय राजनीतिक ग्रन्थों का अध्ययन गहनतर ही नहीं होता गया, प्रत्युत् निष्पक्ष दृष्टिकोण से उनका एक तर्कात्मक अनुशीलन किया जाने लगा है और अब उत्कृष्ट प्राचीन संस्कृति में तिरोहित राजनीतिक जिज्ञासा स्वतः परिलक्षित होने लगी है। प्रतिफलस्वरूप एक पाश्चात्य विद्वान ने ही कहा कि भारत ने भी राज्य की उत्पत्ति, आदर्श शासनतन्त्र, विधि का आधार तथा राजनीति पर चिन्तन किया, किन्तु पाश्चात्य अर्थों में वहाँ राजनीतिक दर्शन पर चिंतन की कोई संस्था न थी।[1] एक अन्य लेखक ने कहा कि धार्मिक प्रधानता होते हुए भी प्राचीन भारतीयों ने पर्याप्त मात्रा में राजनीतिक साहित्य का प्रणयन किया।[2] यथार्थ है कि विशुद्ध राजनीतिक ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' के अतिरिक्त वैदिक, बौद्ध तथा जैन ग्रन्थ, रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य, स्मृतिशास्त्र, एवं पुराणों में जो राजनीतिक तत्व निहित हैं, उनके समक्ष स्वीकार ही करना पडेगा कि प्राचीन भारत में राजनीतिक तत्वों का संधान एवं अभिचिन्तन बहुल रूप से हुआ।

वस्तुतः यूनान में जिस समय राजनीतिशास्त्र के जनक कहे जाने वाले अरस्तू अपनी कृति 'पॉलिटिक्स' में अपने राजनीति सम्बन्धी ज्ञान को आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए लेखबद्ध कर रहे थे, लगभग उसीसमय भारतीय राजनीतिक दर्शन के अधिष्ठाता कौटिल्य विशाल मौर्य साम्राज्य के महामंत्री के रूप में प्राप्त अपने व्यावहारिक राजनीतिक ज्ञान को अपनी अमर कृति 'अर्थशास्त्र' में कदाचित् इसलिए सूत्रबद्ध कर रहे थे कि आगे आने वाले युग में भारतीयों पर यह दोष न लगाया जा सके कि वे कोरे आध्यात्मवादी हैं तथा राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी विचारों के संसार में उनका कोई मौलिक अनुदाय नहीं है।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अस्तित्व से भारतीयों के विषय में पाश्चात्य विचारकों में बहुत दिनों से चला आने वाला यह भ्रम दूर ही नहीं हो जाता कि भारतीयों की रूचि राजनीति जैसे व्यावहारिक विषयों की ओर न होकर आध्यात्म सम्बन्धी केवल दार्शनिक विषयों की ओर ही रही है, वरन् उसमें आए हुए अनेक उद्धरणों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि राजनीति विषयक उच्चकोटि के ग्रन्थ भारत में उससे पहले भी लिखे जाते रहे थे। जैसे श्री वन्ध्योपाध्याय ने कहा है, "कौटिल्य का अर्थशास्त्र .पूर्ववर्ती युग के आध्यात्मवादी प्रचार के विरूद्ध हुई भौतिकवादी प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करने वाले शासन की कला पर सबसे पहले लिखे गए सुव्यवस्थित

---

1. ए० एल० बाशम : द वन्डर दैट वाज इण्डिया, पृ० 74 ।

2. चार्ल्स ड्रेक्मायर : किंगाशिप ऐण्ड कम्यूनिटी इन अर्ली इण्डिया, पृ० 6 ।

ग्रन्थों में से है।"[1] वह वस्तुतः श्री घोषाल के इस कथन का प्रमाण है कि "भारतीय उन लोगों की श्रेणी के हैं, जिन्होंने इतिहास के पृष्ठों पर अपनी छाप रानीतिक विचार के मौलिक ढाँचे की नींव डालने वालों के रूप में छोड़ी है।"[2]

आचार्य कौटिल्य का महान व्यक्तित्व उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ के रूप मे मौर्य साम्राज्य के यश के साथ भारत के राजनीतिक इतिहास में अपनी प्रतिष्ठा को बनाये है तो वहीं दूसरी ओर वह अपनी अतुलनीय अद्भुत कृति "अर्थशास्त्र" के कारण गौरव प्राप्त करते हैं। कौटिल्य के इन्हीं आसामान्य गुणों के कारण पुराणों से लेकर काव्य, नाटक और कोश ग्रन्थों में सर्वत्र उनके नाम के माहात्म्य की कथायें व्याप्त हैं।

'अर्थशास्त्र' को आज भी विश्व का अति महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। साम्राज्य की प्रभावी व्यवस्था, राज्य का कुशल संचालन, गुप्तचर व्यवस्था, एवं सन्धि–विग्रह के प्रावधान आदि अन्नोन्य तथ्यों पर प्रकाश डालते हुये कौटिल्य ने हिमालय सदृश भारतीय ऋषि परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा। वे लोभ–मोह एवं भौतिक सुविधाओं से अनाशक्त रहे। लोक–मंगल में निरत जनसेवकों का निर्वाह न्यूनतम स्तर का ही होना चाहिए, इस आदर्श को उन्होंने अपनी दैनिक क्रियाविध में व्यवहृत किया।

कौटिल्य का सामान्य परिचय

कौटिल्य का नामकरण, जन्म तिथि और जन्म स्थान तीनों के विषय में विद्वानों में विचार–भिन्नता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र ' के प्रथम अनुवादक पंडित शामशास्त्री ने 'कौटिल्य' का नाम प्रयोग किया है। 'कौटिल्य' नाम की प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिए पंडित शामशास्त्री ने विष्णुपुराण का उल्लेख किया है, जिसमें कहा गया है –

" तात्रदान् कौटल्यों ब्राह्मणस्समुद्धरिष्यति। "

इस सम्बन्ध मे एक विवाद और उत्पन्न हुआ है, तथा वह है ' कौटिल्य' और ' कौटल्य'

---

1. एन.सी.बन्द्योपाध्याय : डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू पोलिटी एण्ड पोलिटिकल थेयोरीज, पृ0 54. /
"Arthashashtra of Kautilya.... is one of the earliest systematized treatises on the art of government representing higher water mark of a materialistic counterreaction to the spiritual propaganda of the preceedings age."

2. यू. एन. घोषाल : ए हिस्ट्री ऑव हिन्दू पॉलिटिकल थ्योरिज, पृ0 98 /
" The Indians belongs to the category of peoples who have left their impress upon the pages of history as the founders of original system of political thought."

नाम का। गणपति शास्त्री ने कौटिल्य के स्थान पर 'कौटल्य' को अधिक प्रामाणिक माना है। उनके अनुसार कुटल गोत्र होने के कारण कौटल्य नाम उचित प्रतीत होता है। कामन्दकीय नीतिसार में कहा गया है –

" कौटल्य इति गोत्रनिबन्धना विष्णु गुप्तस्य संज्ञा। "

सदाशिव शास्त्री ने कहा है कि गणपतिशास्त्री ने संभवतः कौटिल्य को प्राचीन संत कुटल का वंशज मानकर कौटल्य नाम का प्रयोग किया है, परन्तु इस बात का कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि कौटिल्य संत कुटल के वंश और गोत्र का था। कौटिल्य और कौटल्य नाम का विवाद और भी कई विद्वानों ने उठाया है। बी.ए. रामास्वामी ने गणपतिशास्त्री के कथन का समर्थन किया है। आधुनिक विद्वानों ने दोनों नामों का प्रयोग किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने कौटिल्य और कौटल्य नाम के विवाद को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। उनके मतानुसार इस प्रकार की भ्रांति पदावली के हेर–फेर के कारण हो सकती है।। अधिकांश पाश्चात्य लेखकों ने 'कौटिल्य' नाम का ही प्रयोग किया है। भारत में भी विद्वानों ने अधिकतर 'कौटिल्य' नाम का ही प्रयोग किया है। इस संम्बन्ध में राधाकांत ने अपनी रचना 'शब्द कल्पद्रुम' में कहा है–

"अस्तु कौटल्य इति वा कौटिल्य इति वा चाणाक्यस्य गोत्रनामधेयम्।"

कौटिल्य के अन्य अनेक नामों का उल्लेख किया गया है, जिसमें चाणक्य नाम प्रसिद्ध है। कौटिल्य को चाणक्य के नाम से पुकारने वाले विद्वानों का मत है कि चणक का पुत्र होने के कारण वह चाणक्य कहलाया। दूसरी ओर कुछ विद्वानों के कथनानुसार उसका जन्म पंजाब के चणक क्षेत्र में हुआ था, इसलिए उसे चाणक्य कहा गया है, यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। परन्तु यह सर्वमान्य है कि कौटिल्य और चाणक्य एक ही व्यक्ति के नाम है।

उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त उसके और भी अनेक नामों का उल्लेख मिलता है, जैसे विष्णुगुप्त। कहा जाता है कि उसका मूल नाम विष्णुगुप्त ही था। उनके पिता ने उसका नाम विष्णुगुप्त ही रखा था। कौटिल्य, चाणक्य, और विष्णुगुंप्त तीनों नामों से सम्बन्धित अनेक संदर्भ मिलते हैं, किन्तु इन तीनों नामों के अतिरिक्त उसके और भी नामों का उल्लेख है, जैसे– वात्सयन, मलंग, द्रविमल, अंगुल, वारानक, कात्यान इत्यादि। परन्तु अधिकांश पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने 'अर्थशास्त्र' के रचयिता के रूप मे कौटिल्य नाम का ही प्रयोग किया है।

कुछ पाश्चात्य विद्वान कौटिल्य के अस्तित्व को ही संदिग्ध मानते हैं। विन्टरनित्ज, जॉली और कीथ के मतानुसार कौटिल्य नाम प्रतीकात्मक है, जो कूटनीति का प्रतीक है।

पातंजलि के महाभाष्य में कौटिल्य का प्रसंग नहीं आने के कारण भी इन विद्वानों के मत को समर्थन मिला है। जॉली ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'अर्थशास्त्र' किसी कौटिल्य नामक व्यक्ति की कृति नहीं है। यह किसी अन्य पंडित या आचार्य द्वारा रचित ग्रंथ है। शामशास्त्री और गणपतिशास्त्री दोनों ने ही पाश्चात्य विचारकों के मत का खंडन किया है। दोनों का यह दृढ़ मत है कि कौटिल्य का पूर्ण अस्तित्व था, यद्यपि उसके नामों के सम्बन्ध में मतांतर पाया जाता हो।

वस्तुतः इन पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा कौटिल्य के अस्तित्व को नकारने के लिये जो बिन्दु उठाये गये हैं, वे अनर्गल तथ्यहीन और महत्वहीन हैं। पाश्चात्य विद्वानों का यह कहना है कि कौटिल्य ने इस तथ्य का कहीं उल्लेख नहीं किया है कि वह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में अमात्य या मंत्री था, इसलिए उसे 'अर्थशास्त्र' का रचयिता नहीं माना जा सकता है। कौटिल्य के अनेक संदर्भो से यह स्पष्ट हो चुका है कि उसने चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता से नंदवंश का नाश किया था, और मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी। कौटिल्य द्वारा नंदवंश के अन्त और मौर्य वंश की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में ''विष्णु पुराण'' में उल्लेख है कि महाण्दम् एवं उसके नौ पुत्र सौ वर्ष तक राज्य करेंगे। अन्त में कौटिल्य नामक एक ब्राह्मण उस राज्य के अन्तिम शासक नन्दवंश के उत्तराधिकारी का अन्त करेगा। नंद वंश के विनिष्ट हो जाने पर मौर्य वंश पृथ्वी का उपभोग करेगा। मौर्य वंश के प्रथम प्रतापी शासक चन्द्रगुप्त को कौल्टिय राज्याभिष्क्ति करेगा। उसका पुत्र बिन्दुसार तथा बिन्दुसार का पुत्र अशोक होगा।[1]

इस पुराण के कथन से दो प्रमुख तथ्य स्पष्ट हैं कि मगध के राज्य सिंहासन पर पहले नंदवंश का राज्य था, उसके बाद कौटिल्य के विवेक से मौर्यवंश का राज्य पर अधिकार हुआ। इस प्रकार आचार्य कौटिल्य के व्यक्तित्व की जानकारी के लिये नंदवंश का प्रामाणिक ज्ञान और उनसे पूर्व मगध की शासन परम्परा दोनों से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

मगध या मागध भारतीय इतिहास का एक सुपरिचित अति पुरातन नाम है। वेदों से लेकर पुराणों तक सर्वत्र मगध भूमि और मगध वंश की चर्चायें उल्लिखित हैं। पुराणों से यह विदित होता है कि महाभारत युद्ध से पूर्व मगध में बहिद्रियों का राज्य स्थापित हो चुका था और चेदि नरेश उपरिचार के पुत्र ब्रहद्रथ सर्वप्रथम मगध नरेश की उपाधि से विभूषित भी हो चुके थे।

---

1. *महापदमः। तत्पुवाश्चेक वर्षशतमक्तीपतयो भविष्यन्ति। ततश्च नवचेतान कौटिल्योब्राह्मणस्समुदरिष्यति। तेषामभावे मौर्या पृथिवीमोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एवं चन्द्रगुप्तराज्येडभिसेः प्रति तस्यापि पुत्रोबिन्दुसारो भविष्यन्ति। तस्याप्य–शोकवर्धन।* *विष्णु पुराण–चतुर्थ अंश, अध्याय–24, श्लोक– 24–30 ।*

उनके पुत्र जरासन्ध और पौत्र सहदेव महाभारत के समकालीन व्यक्ति थे। उनकी तेइसवीं पीढ़ी के बाद मगध के राजसिंहासन पर अवन्ति नरेश चन्द्र प्रद्योतः का अधिकार हुआ, जिसके अनन्तर गिरिव्रज का शिशु नागवंश मगध पर अधिष्ठित हुआ, जिसके उत्तराधिकारियों की एतिहासिक परम्परा है यथा शिशु नाग–काक वर्ग–क्षेत्रधर्मन्– छत्राजीत और बिम्बसार। इनमें बिम्बसार ही प्रतापी नरेश हुआ, जो तीर्थकंर महावीर स्वामी एवं गौतम बुद्ध का समकालीन था।

बिम्बसार से मगध–राजवंश की परम्परा क्रमशः अजातशत्रु–दर्शक–उदयाश्र (उदायी)–नन्दिवर्धन तक पहुँचकर अन्त में महानंदि के हाथों में पहुँची। महानंदि इस वंश का अन्तिम एवं महान बलशाली सम्राट हुआ जिसका एक शूद्र स्त्री से नन्द नामक पुत्र हुआ। इसी शूद्रा पुत्र ने मगध की राजगद्दी पर नन्दवंश की प्रतिष्ठा की।

ऐतिहासिक अनुसंधानों से विदित होता है कि 585–395 वि0 पूर्व (642– 372 ई0 पूर्व) तक मगध की शासन सत्ता, शिशुनाग वंश के आधीन रही और तदनन्तर नंदवंश उसका उत्तराधिकारी हुआ, जिसका प्रथम यशस्वी सम्राट महापद्म नंद था, 88 वर्ष के राज्योपरान्त उसके दिवंगत होने के लगभग 22 वर्ष तक उसके उत्तराधिकारियों का अस्तित्व बने रहने के बाद मगध की राज्यलक्ष्मी मौर्यों के अधीनस्थ हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य प्रथम सम्राट हुआ। जिसको नंदवंश के विरोध में स्वाभिमानी ब्राह्मण चाणक्य मगध की ओर ले आया।

भारतीय इतिहास के उदीयमान नक्षत्र और मौर्यवंश के प्रतापी सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य, ने चाणक्य की अद्भुत कुटिल नीति जिसका नाम विष्णु गुप्त भी था, की सहायता से मगध के नदंवंश को नष्ट कर वैभवयुक्त सिकन्दर के सम्पूर्ण प्रयत्नों को विफल कर लगभग 321 ई0 पू0 में एक विराट–साम्राज्य की स्थापना की जिसे मौर्य साम्राज्य के नाम से पुकारा गया। इसका शासन लगभग 24 वर्ष तक मगध की राजगद्दी पर एकक्षत्र के रूप में विद्यमान रहा। चन्द्रगुप्त मौर्य असाधारण दिग्विजयी सम्राट हुआ है जिसने अपने राज्यकाल में धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्न किया।[1]

कौटिल्य के इस विष्णुगुप्त नाम का उल्लेख कामन्दक के "नीतिसार" में मिलता है, जिसकी रचना 400ई0 के लगभग हुई थी। आचार्य कामन्दक कृत "नीतिसार" की प्रारम्भिक पुष्पिका से चार बातों की जानकारी होती है, प्रथम कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' का प्रणयन किया, द्वितीय कामन्दक के नीतिसार का आधार भी वही "अर्थशास्त्र" था, तृतीय– कौटिल्य ने नन्दवंश

---

1. डॉ0 वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ0 524–525 ।

का उन्मूलन कर उसके स्थान पर मौर्य वंश को प्रतिष्ठित किया और चतुर्थ कौटिल्य का वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था।

''नीतिसार'' के अतिरिक्त संस्कृत के कतिपय कोश ग्रन्थों से विष्णुगुप्त के पर्यायवाची नामों का भी पता चलता है, जिससे कौटिल्य और चाणक्य के अतिरिक्त अन्य अप्रचलित नामों का भी उल्लेख है। ये नाम प्राचीन और अर्वाचीन अनेक ग्रन्थों में मिलते है।[1]

यद्यपि कौटिल्य के जीवन–चरित्र के विषय में अनेक प्रमाणिक तथ्यों का अभाव है, परन्तु जो तथ्य प्राप्त हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य का जन्म ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व हुआ। उसके जन्मस्थान के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। कई विद्वानों का यह मत है कि वह कांचीपुरम का रहने वाला द्रविड़ ब्राह्मण था। तथा जीवकोपार्जन की खोज में उत्तर भारत आया था। कुछ विद्वानों के मतानुसार केरल भी उसका जन्मस्थान बताया जाता है । इस सम्बन्ध में उसके द्वारा चरणी नदी का उल्लेख इस बात के प्रमाण के रूप में दिया जाता है। कुछ संदर्भों में यह उल्लेख मिलता है कि केरल निवासी विष्णुगुप्त तीर्थाटन के लिए वाराणसी आया था, जहाँ उसकी पुत्री खो गयी। तदुपरान्त वह पुनः केरल वापस नहीं लौटा और मगध में आकर बस गया । इस प्रकार के विचार रखने वाले विद्वान उसे केरल के कुतुल्लूर नामपुतरी वंश का वंशज मानते हैं। कई विद्वानों ने उसे मगध का ही मूल निवासी माना है। बौद्ध साहित्यों[2] में उसे तक्षिशिला का निवासी बताया गया है। कौटिल्य के जन्मस्थान के संम्बन्ध में अत्याधिक मतभेद होने के कारण निश्चित रूप से यह कहना कि उसका जन्म स्थान कहाँ था, कठिन है, परन्तु कई संदर्भो के आधार पर तक्षशिला को उसका जन्म स्थान मानना उचित होगा। वी0के0 सुब्रण्यम ने कहा है कि अनेक संदर्भो में इस बात का उल्लेख मिलता है कि अलेक्जेंडर को अपने आक्रमण के अभियान में युवा कौटिल्य से भेंट हुई थी। चूंकि अलेक्जेंडर का आक्रमण अधिकतर तक्षशिला क्षेत्र में हुआ था, इसलिए यह सम्भावना व्यक्त की जाती है कि कौटिल्य का जन्म स्थल तक्षशिला क्षेत्र में ही रहा होगा।[3] कौटिल्य के पिता का नाम चाणक था। वह निर्धन ब्राह्मण थे और किसी तरह अपना भरण–पोषण करते थे। अतः स्पष्ट है कि कौटिल्य का बाल्यकाल निर्धनता एवं कठिनाईयों में व्यतीत हुआ होगा। कौटिल्य की शिक्षा–दीक्षा के सम्बन्ध में कहीं

---

1. डॉ0 वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ0 530 ।
विष्णुगुप्त ''स्तु'' कौटिल्य श्चणक्यो दामिलोडं.गयः।।

2. महावंशटिका ।

3. वी0के0 सुब्रमन्यम : मैक्सिमस ऑव चाणक्य, पृ0 2 ।

विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसकी बुद्धि की प्रखरता और विद्वता उसके विचारों से परिलक्षित होती है। वह कुरूप होते हुए भी शारीरिक रूप से बलिष्ठ था। 'अर्थशास्त्र' के अनुशीलन से उसकी प्रतिभा, उसके बहुआयामी व्यक्तित्व, नेतृत्व–कुशलता और दूरदर्शिता का स्पष्ट बोध होता है।

कौटिल्य के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह बहुत स्वाभिमानी एवं क्रोधी स्वभाव का व्यक्ति था। एक किंवदंती के अनुसार एक बार मगध के राजा महानंद ने श्राद्ध के अवसर पर कौटिल्य को अपमानित किया था। कौटिल्य ने क्रोध के वशीभूत होकर अपनी शिखा खोलकर यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक वह नंदवंश का नाश नहीं कर देगा तब तक वह अपनी शिखा नहीं बाँधेगा। कौटिल्य को व्यावहारिक राजनीति में प्रवेश करने का यह भी एक बड़ा कारण था। नंदवंश के विनाश के बाद उसने चन्द्रगुप्त मौर्य को राजगद्दी पर बैठने में हर संभव सहायता की, चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा गद्दी पर आसीन होने के बाद उसे पराक्रमी बनाने और मौर्य साम्राज्य का विस्तार करने के उद्देश्य से उसने व्यावहारिक राजनीति में प्रवेश किया। वह चन्द्रगुप्त मौर्य का महामंत्री भी बना।

कुछ विद्वानों ने कहा है कि कौटिल्य ने कहीं भी अपनी रचना में मौर्यवंश या अपने मंत्रित्व के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है, परन्तु अधिकांश स्त्रोतों ने इस तथ्य की सम्पुष्टि की है। 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य ने जिस विजिगीषु राजा का चित्रण प्रस्तुत किया है, निश्चित रूप से वह चन्द्रगुप्त मौर्य के लिये ही सम्बोधित किया गया है।

भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के कारण छोटे–छोटे राज्यों की पराजय से अभिभूत होकर कौटिल्य ने व्यावहारिक राजनीति में प्रवेश करने का संकल्प किया। उसकी सर्वोपरि इच्छा थी भारत को एक गौरवशाली और विशाल राज्य के रूप में देखना। निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त मौर्य उसकी इच्छा का केन्द्रबिन्दु था। आचार्य कौटिल्य को एक ओर पारंगत और दूरदर्शी राजनीतिक के रूप में मौर्य साम्राज्य का संस्थापक और संरक्षक माना जाता है, तो दूसरी ओर उसे संस्कृत साहित्य के इतिहास में अपनी अतुलनीय एवं अद्‌भुत कृति के कारण अपने विषय का एकमात्र विद्वान होने का गौरव प्राप्त है। कौटिल्य की विद्वता, निपुणता और दूरदर्शिता का यशगायन भारत के शास्त्रों, काव्यों तथा अन्य ग्रंथों में परिव्याप्त है।

उद्‌भट विद्वान तथा मौर्य साम्राज्य का महामंत्री होने के बावजूद कौटिल्य का जीवन

सादगी का जीवन था। वह ''सादा जीवन उच्च विचार'' का वास्तविक प्रतीक था। उसने अपने मंत्रित्वकाल में अत्याधिक सादगी का जीवन व्यतीत किया।

उसकी मान्यता थी कि राजा या मंत्री अपने चरित्र और ऊँचे आदर्शो के द्वारा प्रजा के समक्ष एक प्रतिमान दे सकता है। उसने सदैव मर्यादाओं का पालन किया और कर्मठता का जीवन व्यतीत किया। कहा जाता है कि कालान्तर में उसने मंत्री पद त्यागकर वानप्रस्थ जीवन अपना लिया। वस्तुतः उसे धन, यश और पद का कोई लोभ नहीं था। सारतत्व में वह एक वीतरागी, तपस्वी, कर्मठ और मर्यादाओं का पालन करने वाला व्यक्ति था, जिसका जीवन आज भी अनुकरणीय है।

एक प्रकांड विद्वान तथा एक गंभीर चिंतक के रूप में कौटिल्य तो विख्यात है ही, एक व्यावहारिक एवं चतुर राजनीतिक के रूप में भी उसे ख्याति मिली है। नंदवंश के विनाश, मगध साम्राज्य की स्थापना एवं विस्तार में उसका ऐतिहासिक योगदान है। सालाटोर के कथनानुसार ''प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन में कौटिल्य का सर्वोपरि स्थान है।''

अर्थशास्त्र की परिभाषा

कौटिल्य ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ' अर्थशास्त्र ' में अर्थ एवं अर्थशास्त्र की परिभाषा की है। वह मनुष्य की वृत्ति अथवा जीविका को अर्थ मानते हैं।[1] मनुष्यों वाली भूमि को भी उन्होंने अर्थ ही माना है।[2] वह उस शास्त्र को अर्थशास्त्र मानते हैं जिसमें मनुष्यों वाली भूमि के लाभ और उसके पालन करने और उपायों का वर्णन किया गया है।[3] इस प्रकार मनुष्यवती भूमि के प्राप्त करने और उस भूमि के निवासियों के सम्यक् प्रकार से पालन– पोषण करने के उपायों का बोध कराने वाला ज्ञान अर्थशास्त्र है।

शुक्रनीति में अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार है– श्रुति और स्मृति के अनुकूल जिसमें राजनीति का वर्णन हो तथा धर्म और युक्ति पूर्वक अर्थ के उपार्जन के नियमों का वर्णन किया गया हो, वह अर्थशास्त्र कहलाता है।[4] इस प्रकार शुक्र के मतानुसार आधुनिक राजशास्त्र और आधुनिक अर्थशास्त्र दोनों 'अर्थशास्त्र' के अन्तर्गत समाहित हैं। इसलिए अर्थशास्त्र की परिभाषा की दृष्टि से कौटिल्य और शुक्र के विचारों में पर्याप्त साम्य है।

---

1. मनुष्याणां वृत्तिरर्थः ।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 15, अ0 1, वार्ता 1 ।*

2. मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः ।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 15, अ0 1, वार्ता 2 ।*

3. तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 15, अ0 1, वार्ता 3 ।*

4. श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तिं हि शासनम्।
सुयुक्तयार्थार्जिनं यत्र हार्थशास्त्रं तदुच्यते।। — *शुक्रनीति, अ0 4, श्लोक 296 ।*

अर्थशास्त्र का क्षेत्र

कौटिल्य ने अर्थ शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है, अतः अर्थशास्त्र का क्षेत्र भी व्यापक माना जाएगा। अर्थशास्त्र के क्षेत्र का प्रसार मनुष्यवती भूमि का प्राप्ति और उस भूमि की सम्यक् प्रकार से पालन करने के उपायों तक है। इस दृष्टि से अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य जीवन के लिए केवल उन क्रियाक्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहता जिनमें वह धन– उत्पादन, उसके वितरण और उसके उपभोग से सम्बन्धित कार्यों के सम्पादन हेतु उधोग करता है। अर्थशास्त्र मनुष्य जीवन के इन क्रियाक्षेत्रों तक तो अपना अधिकार रखता ही है इसके अतिरिक्त वह इन क्षेत्रों की सीमा से कहीं आगे बढ़ जाता है। वह मनुष्यवती भूमि की प्राप्ति के उपाय बताता है, और उन उपायों के द्वारा प्राप्त की गयी की भूमि की सुव्यवस्था, प्रजा में स्थापित करके प्रजा के सम्यक् प्रकार के भरण–पोषण के उपायों को भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र, राजशास्त्र के क्रिया–क्षेत्र को भी आच्छादित कर लेता है, और वह राजशास्त्र को भी अपने क्षेत्र के ही अन्तर्गत समाहित कर लेता है, अतः राजशास्त्र भी अर्थशास्त्र का एक अंग बन जाता है। इस दृष्टि से अर्थशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो जाता है।

अर्थशास्त्र की प्राचीनता

भारत में अर्थशास्त्रों की रचना प्राचीन काल से होती आयी है। मनुष्य के तीन अर्थ और एक परमार्थ माना गया है। इसी परमार्थ के लाभ के लिए तीन अर्थो का प्राप्त करना आवश्यक बताया गया है। यह परमार्थ मोक्ष है और अन्य तीन अर्थ, धर्म, अर्थ और काम माने गए हैं। इन्हीं तीनों अर्थों को कौटिल्य अर्थ त्रिवर्ग के नाम से सम्बोधित करते हैं।[1] यह त्रिवर्ग भारतीय जीवन का आधार है। इसीलिए इन तीनों अर्थों को स्पष्ट करने और उनके प्राप्त करने के उपायों आदि के वर्णन हेतु आचार्यों ने धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्रों और कामशास्त्रों की रचना प्राचीन काल में समय–समय पर की थी और इस प्रकार इनके साहित्य का निरन्तर सृजन होता रहा। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्रों रूपी पुष्प माला का एक प्रफुल्लित एवं सुगन्धित पुष्प है जो सहस्त्रों वर्षों के व्यतीत होने पर भी उसी प्रकार अपनी सुन्दरता, सकुमारता और सुगन्ध से जनमानस को मुग्ध कर रहा है। इस प्रकार अर्थशास्त्रों के सृजन का प्रारम्भ लगभग उसी काल से हुआ है जब से कि धर्मशास्त्रों और कामशास्त्रों के रचना काल का उदय हुआ है।

---

1. *अर्थोधर्मः काम इत्यर्थत्रिवर्गः।।* *अर्थशास्त्र,अधि0 9,अ0 7,वार्ता 69 ।*

वात्स्यायन कामसूत्र में इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि प्रजापति ने सृष्टि रचना के उपरान्त एक लाख अध्याय युक्त एक विशाल ग्रन्थ की रचना, सृष्टि की स्थिति एवं त्रिवर्ग की स्थापना हेतु की। उस विशाल ग्रन्थ में से स्वयंभू मनु ने धर्मशास्त्र, वृहस्पति ने अर्थशास्त्र और महादेव के अनुचर नन्दी ने एक सहस्त्र अध्याययुक्त कामसूत्र को पृथक कर दिया।[1]

इसलिए कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्रों के इतिहास में प्राचीनतम ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के पूर्व अनेक अर्थशास्त्रों की रचना हो चुकी थी इस विषय की पुष्टि कौटिल्य ने स्वयं की है। कौटिल्य ने स्पष्ट कहा है कि उन्होंने अपने अर्थशास्त्र की रचना अपने से पूर्व के आचार्यों द्वारा रचित अनेक अर्थशास्त्रों के सार को संग्रहीत करके की है।[2] कौटिल्य द्वारा कहे गए इन वाक्यों से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना होने के पूर्व भारत में अनेक अर्थशास्त्रों की रचना हो चुकी थी। परन्तु काल के चक्र ने उन्हें नष्ट कर दिया और आज हमें उनमें से एक भी ग्रन्थ अपने वास्तविक रूप में उपलब्ध नहीं है। यद्यपि बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र अब भी उपलब्ध है परन्तु उसके मौलिक स्वरूप में जो परिवर्तन हुए हैं उनको ज्ञात करना दुरूह कार्य है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना हो जाने के उपरान्त जिन अर्थशास्त्रों की रचना हुई होगी उन पर भी यही नियम चरितार्थ होता है। इससे दो सिद्धान्तों की स्थापना की जा सकती है। प्रथम यह कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र को लोगों ने इतना पूर्ण समझा होगा कि नवीन अर्थशास्त्र की रचना करने की आवश्यकता ही न हुई, अथवा कतिपय अर्थशास्त्रों की रचना हुई भी हो तो वह इतने महत्वहीन रहे होगें कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के होते हुए वह लोकप्रिय न हो सके और इसी लिए वह अल्प काल में ही लुप्त हो गए होंगे। द्वितीय सिद्धान्त यह स्थापित किया जा सकता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना हो जाने के कुछ काल के उपरान्त विद्वानों ने यह अनुभव किया हो कि अर्थ शब्द अत्यन्त व्यापक है, अतः अर्थशास्त्र का क्षेत्र भी उतना ही व्यापक होगा। इसलिए अर्थशास्त्र में से उस विषय को पृथक कर लिया जाना चाहिए जो शुद्ध राजशास्त्र के अन्तर्गत आ सकता है और इस प्रकार शुद्ध राजशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना होने लगी होगी एवं यह ग्रन्थ नीतिशास्त्र के नाम से

---

1. *प्रजापतिर्हि प्रजां स्टष्ट्वा तासां स्थिति निबन्धनं त्रिवर्गस्य साधनमध्यायानां शतसहस्त्रेणाग्रे प्रोवाच। तस्याकदेशं स्वायंभुवो मनुर्धर्माधिकारिकं पृथक् चकार।बृहस्पतिर्स्थाधिकारिम्। महादेवानुचरश्च नन्दी सहस्त्रेणाध्यायानां पृथक् कामसूत्रं प्रोवाच।।* *कामसूत्र ।*
2. *पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि प्रायशास्तानि संहत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।।* *अर्थशास्त्र, अधि० 1, अ० 1, वार्ता 1 ।*

सम्बोधित किए जाने लगे। नीतिशास्त्र के साहित्य में शुक्रनीतिसार, कामन्दकनीतिसार आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं जिनकी रचना राजशास्त्र के आधार पर हुई है तथा जिनका प्रतिपाद्य विषय शुद्ध राजशास्त्र है।

इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना के उपरान्त अर्थशास्त्रों का स्थान नीतिशास्त्रों ने ग्रहण कर लिया हो और इस प्रकार अर्थशास्त्रों के स्थान में नीतिशास्त्रों का सृजन होना प्रारम्भ हो गया हो। सम्भवतः इसीलिए कामन्दक अपने नीतिसार के विषय में लिखते हैं कि उनके इस ग्रन्थ में भूमि के उपार्जन और उसके पालन में राजाओं को जिन उपायों का अवलम्बन करना उचित हैं उन्हीं उपायों का वर्णन इस ग्रन्थ में उन्होंने किया है। इसलिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र और कामन्दकीयनीतिसार में परिभाषा की दृष्टि से समानता है। उन्होंने इस विषय में लिखा है कि जिसने अर्थशास्त्र रूपी महासमुद्र से नीतिशास्त्र रूपी अमृत निकाला है उस असीम गुणसम्पन्न विष्णुगुप्त के निमित्त नमस्कार है।[1]

अर्थशास्त्र के रचयिता

भारतीय राजनीति की परम्परा का इतिहास वेदों के जितना ही प्राचीन है। स्मृतियों एवं पुराणों में राजनीति दण्डनीति के नाम से विश्रुत थी जिसकी विषय वस्तु अर्थशास्त्र तथा धर्मशास्त्र के सम्प्रदाय का मणिभीकरण थी। यद्यपि ई0 पू0 चौथी शताब्दी के पहले ही राजनीतिक ग्रन्थों के अस्तित्व के निर्देश मिलते हैं, फिर भी प्रायः इस परम्परा में कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही अत्यधिक लोकप्रिय, पूर्ण वैज्ञानिक तथा प्रमाणिक निर्वचन है। यह ग्रन्थ वृहस्पति , भारद्वाज, वातव्याधि और अन्यों से प्रभावित व उद्घाटित आर्य राजनीतिक बुद्धिमता का सारभूत है। आर्य राजनीतिक बुद्धिमता कौटिल्य की प्रतिभा से जगमगा उठी है।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र का रचनाकार नहीं था। ऐसे विद्वानों में पाश्चात्य विद्वानों की संख्या अधिक है। स्टेन, जॉली, विंटरनित्ज व कीथ इस प्रकार के मत के प्रतिपादक हैं। भारतीय विद्वान आर0 जी0 भंडारकर ने भी इसका समर्थन किया है। भंडारकर ने कहा है कि पातंजलि ने 'महाभाष्य' में कौटिल्य का उल्लेख नहीं किया है। ' अर्थशास्त्र ' के रचयिता के रूप में कौटिल्य को मान्यता न देने वालों ने अपने मत के समर्थन में तर्क प्रस्तुत किये हैं–

---

1. *नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः।*
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेध से।। *काम0, सर्ग 1, श्लोक 6 ।*

कतिपय विद्वानों का मत है कि 'अर्थशास्त्र' में मौर्य साम्राज्य या पाटलिपुत्र का कहीं कोई जिक्र नहीं मिलता है। यदि चन्द्रगुप्त का महामंत्री कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' का रचनाकार होता तो 'अर्थशास्त्र' में उसकी चर्चा अवश्य होती।

यह भी कहा जाता है कि 'अर्थशास्त्र' की विषय–वस्तु जिस प्रकार की है, उससे यह प्रतीत नहीं होता है कि इसका रचनकार कोई व्यावहारिक राजनीतिज्ञ होगा। निःसन्देह किसी शास्त्रीय पंडित ने ही इसकी रचना की होगी। कौटिल्य कूट नाम प्रतीत होता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य का मंत्री कौटिल्य यदि 'अर्थशास्त्र' का रचनाकार होता तो उसके सूत्र एवं उक्तियाँ बड़े राज्यों के सम्बन्ध में होते, परन्तु 'अर्थशास्त्र' के उद्धरण एवं उक्तियाँ लघु एवं मध्यम राज्यों के लिये सम्बोधित हैं। अतः स्पष्ट है कि 'अर्थशास्त्र' का रचनाकार कौटिल्य नहीं था। डॉ0 बेनी प्रसाद के अनुसार 'अर्थशास्त्र' में जिस आकार या स्वरूप के राज्य को वर्णित किया गया है, निःसंदेह वह मौर्य, कलिंग या आंध्र साम्राज्य के आधार से साम्य नहीं रखता है।[1]

विंटरनित्ज ने कहा है कि मेगस्थनीज ने, जो दीर्घ काल तक चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा और जिसने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में चन्द्रगुप्त के दरबार के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है, उसने कौटिल्य के बारे में कुछ नहीं लिखा है और न ही उसकी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' की कहीं कोई चर्चा की है। यदि 'अर्थशास्त्र' जैसे विख्यात ग्रन्थ का लेखक कौटिल्य चन्द्रगुप्त का मंत्री होता तो मेगस्थनीज की इंडिका में उसकी चर्चा अवश्य की जाती।

मेगस्थनीज और कौटिल्य के अनेक विवरणों में समानता नहीं है। उदाहरणार्थ मेगस्थनीज के अनुसार उस समय भारतीय रासायनिक प्रक्रिया से अवगत नहीं थे, भारतीयों को मात्र पांच धातुओं की जानकारी थी, जबकि 'अर्थशास्त्र' में अधिकांश धातुओं का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त प्रशासकीय संरचना, उधोग–व्यवस्था, वित्त–व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में भी मेगस्थनीज और 'अर्थशास्त्र' के विवरण मेल नहीं खाते। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि 'अर्थशास्त्र' का लेखक चन्द्रगुप्त मौर्य का महामंत्री कौटिल्य नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त कथनों के अतिरिक्त कुछ अन्य कथन प्रस्तुत किये गये हैं, जैसे कौटिल्य की अनेक सूक्तियाँ, कथन, मान्यतायें एवं परंपरायें मौर्यकालीन समाज के लिये क्रियान्वित नहीं होती हैं। 'अर्थशास्त्र' के रचियता के रूप में कौटिल्य को नहीं मानने वाले पाश्चात्य् विद्वानों के समूह में कुछ भारतीय विद्वान भी सम्मिलित हैं।

---

1. डॉ0 बेनी प्रसाद : दि स्टेट इन एशियन्ट इण्डिया, पृ0 252 ।

उपर्युक्त विद्वानों की मान्यता अनेक भ्रांतियों पर आधारित है। मात्र इस आधार पर कि पातंजलि तथा मेगस्थनीज ने अपने ग्रंथों में कौटिल्य का उल्लेख नहीं किया है, यह निष्कर्ष निकाल लेना कि ''अर्थशास्त्र'' कौटिल्य की कृति नहीं है, दोषपूर्ण होगा। अधिकांश भारतीय विद्वानों ने तथा अनेक पाश्चात्य् विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि 'अर्थशास्त्र' का रचनाकार वही कौटिल्य है जो चन्द्रगुप्त का महामंत्री था और जिसने नंदवंश के विनाश में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

कौटिल्य के प्रस्तुत अर्थशास्त्र में ऐसे संकेत किए गए है जिनके आधार पर ज्ञात होता है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र के रचयिता थे। यह वही कौटिल्य है जिन्होंने राजा चन्द्रगुप्त मौर्य के निमित्त समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर और लोक प्रचलित अनेक प्रकार के लेखों पर मनन कर राजकीय आदेशों के लिखने की अनेक प्रणलियों को निर्धारित किया था।[1] उन्हीं ने अर्थशास्त्र सम्बन्धी बिखरी हुई सामग्री को संग्रहीत कर प्रस्तुत सरल और सुबोध अर्थशास्त्र की रचना की है।[2] यह कौटिल्य वही व्यक्ति है, जिन्होंने क्रोध के कारण नन्दवंशीय राजा से शास्त्र, शस्त्र, और भूमि का उद्धार किया है, और इस अर्थशास्त्र की रचना की है।[3]

विष्णु पुराण में भी कौटिल्य के विषय में ऐसा वर्णन उपलब्ध है – कौटिल्य नाम का एक ब्राह्मण नन्दवंश का अन्त करेगा, नन्दवंश के अन्त हो जाने पर मौर्य राजा पृथ्वी का भोग करेंगे। कौटिल्य ही चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध राज्य के राजपद पर अभिषिक्त करेगा।[4] इस वर्णन के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य नाम का ब्राह्मण चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरू था। उसने नन्दवंश का नाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध के राजपद के लिये अभिषिक्त किया था। इस प्रकार सिद्ध होता है कि यह वही कौटिल्य है जो मौर्य साम्राज्य के संस्थापक और नन्दवंश के उन्मूलक थे। वही चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगुरू थे। इन्हीं कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' की रचना की थी।

---

1. *सर्वशास्त्र, रायनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य चः।*
   कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः।। — *अर्थशास्त्र,अधि0 2, अ0 10,वार्ता 65 ।*
2. *पूर्वाचौर्यः प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संह्नत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतभ्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 1, वार्ता 1 ।*
   सुख ग्रहण विज्ञेयं तत्वार्थ पदनिश्चितम्।।
   कौटल्येन कृतं शास्त्रं विमुक्तग्रन्थ विस्तरम्।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 1, वार्ता 164*
3. *येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।*
   अभर्षणादधृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 15, अ0 1, वार्ता 80 ।*
4. *ततश्च नव चैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणास्समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याः पृथ्वी मोक्ष्यन्ति।*
   कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तमुत्पन्नं राज्ये अभिषेक्ष्यति।। — *विष्णुपुराण, अंश 4, अ0 24, 26–28 ।*

इसी विषय की पुष्टि कामन्दक दूसरे शब्दों में इस प्रकार करते हैं– जिसने अति प्रतिग्रहशील, प्रतिष्ठित कुल में, ऋषियों के समान प्रसिद्ध वंश में जन्म लिया है; जो पृथ्वी में विख्यात है, जो अग्नि के समान तेजस्वी है, जिसने एक वेद के समान ऋक् यजुः साम और अथर्व इन चारों वेदों का अध्ययन किया है; जो वज्र और अग्नि के समान तेजस्वी है जिसके मंत्राभिचार रूपी वज्र प्रहार से सुपर्वा श्री नन्दवंश रूपी पर्वत समूल नष्ट हो गया, जो पराक्रम में साक्षात कर्तिकेय के समान हैं; जिसने अकेले ही मंत्र शक्ति के प्रभाव से चन्द्रगुप्त मौर्य राजा को साम्राज्य दिया; जिसने 'अर्थशास्त्र' रूपी महासमुद्र से नीतिशास्त्र रूपी अमृत निकाला, उस असीम गुण सम्पन्न विष्णुगुप्त के निमित्त नमस्कार है।[1]

कामन्दक के इन वाक्यों एवं विष्णुपुराण तथा अर्थशास्त्र के उपर्युक्त वर्णन के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य का ही दूसरा नाम विष्णुगुप्त था। वह वही विष्णुगुप्त थे जिन्होंने नन्दवंश का नाशकर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का राजा बनाया था। उन्हीं विष्णुगुप्त अथवा कौटिल्य ने अन्य अर्थशास्त्रों से 'अर्थशास्त्र' सम्बन्धी सामग्री को संग्रहीत कर एक नवीन 'अर्थशास्त्र' की रचना की थी इस विषय की पुष्टि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी की गयी है।[2]

दशकुमारचरित के रचयिता संस्कृत के प्रसिद्ध लेखक दण्डी ने भी इसी मत की पुष्टि अपने इस ग्रन्थ में की है। उन्होंने इस मत की पुष्टि इस प्रकार की है–दण्डनीति शास्त्र का अध्ययन कर आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्यराजाओं के निमित्त दण्डनीति–शास्त्र को छः सहस्त्र श्लोकों में संक्षिप्त किया। इस शास्त्र के सम्यक् प्रकार से अध्ययन करने से अभिलाषित फल की प्राप्ति होती है।[3] 'अर्थशास्त्र' के प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय में भी इस विषय का उल्लेख है कि 'अर्थशास्त्र' में छः सहस्त्र श्लोक हैं।[4]

---

1. *वंशे विशाल वंध्यानामृषीणामिव भूयसाम्। तिप्रतिग्राहकाणां यो वभूव भुवि विश्रुतः।।*
   जातवेदा इवार्च्चिष्मान् वेदान् वेदविदाम्वरः। यो अधीतवान् सुचतुरश्चतुरो अप्येकवेदवत्।।
   यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः। पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः।।
   एकाकी मंत्र शकया यः शक्तया शक्तिधरोपमः।आजहार नृचद्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्।।
   नीतिशास्त्रमृतं धीभानर्थशास्त्रमहोदधेः। समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्तायवेधसे।।
   काम0, सर्ग 1, श्लोक 2–6।
2. *पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि प्रायशन्तानि संहत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 1, वार्ता 1 ।*
3. *अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्य विष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोक सहस्त्रैः संक्षिप्ता सैवेयमधीत्य। सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्तकर्म क्षमति।। दशकुमारचरित।*
4. *शास्त्रसमुद्देशः पन्चदशाधिरणानि सपन्चाशदध्यायशतं साशीति प्रकरणशतं षट् श्लोक सहस्त्राणीति।।*
   अर्थशास्त्र, अधि0 ।, अ0 1, वार्ता 163।

दण्डी के उपर्युक्त कथन से भी यही सिद्ध होता है कि विष्णुगुप्त ने प्राचीन अर्थशास्त्रों से अर्थशास्त्र सम्बन्धी सामग्री को संग्रहीत कर चन्द्रगुप्त मौर्य के पथ प्रदर्शन हेतु एक नवीन 'अर्थशास्त्र' की रचना की थी। इस प्रकार दण्डी भी उन विष्णुगुप्त को 'अर्थशास्त्र' का रचयिता मानते हैं जिन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का राजा बनाया था और नन्दवंश का उन्मूलन किया थ। इस प्रकार यह विष्णुगुप्त अर्थशास्त्र और विष्णुपुराण के कौटिल्य ही हैं। कादम्बरी ग्रन्थ के प्रणेता वाण ने भी यह स्वीकार किया है कि कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' की रचना की है।[1]

जैन साहित्य में चाणक्य नाम के ब्राह्मण को नन्दवंश का उन्मूलन करने वाला बतलाया गया है। चाणक्य ने तीक्ष्ण दूत प्रयोग से नन्दवंश का उन्मूलन किया था।[2] पंचतंत्र के रचयिता ने भी चाणक्य को 'अर्थशास्त्र' का प्रणेता माना है।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त प्रामणिक सामग्री के आधार पर इस विषय में लेशमात्र भी संदेह नहीं रहता कि कौटिल्य जो कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगुरू थे और जिन्होंने नन्दवंश का अन्त किया था, अर्थशास्त्र के रचयिता थे। एक ही व्यक्ति के कई नामों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्राचीन भारत में इस प्रकार का प्रचलन रहा है। आज भी हिन्दू परिवारों में एक ही व्यक्ति के तीन नाम होना साधारण सी बात है। एक राशि का नाम, दूसरा प्यार का नाम, और तीसरा प्रचलित नाम। यह तीन प्रकार के नाम एक ही व्यक्ति के आधुनिक समय में भी होते है। शंकराचार्य ने भी कामन्दक नीतिसार की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि उनको 'विष्णुगुप्त' नाम नामकरण संस्कार के अवसर पर दिया गया था। परन्तु उनका जन्म स्थान एवं गोत्र के आधार पर क्रमशः चाणक्य और कौटिल्य नाम से सम्बोधित किया गया है। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने भी कौटिल्य के नाम की सार्थकता सिद्ध करते हुए बतलाया है, कि कौटिल्य शब्द अशुद्ध है। इस के स्थान में कौटल्य होना चाहिए। कौटल्य शब्द कौटल गोत्र से सम्बन्धित है। विष्णु गुप्त इसी गोत्र के थे। इसलिए विष्णुगुप्त को ही कौटिल्य कहते हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त चणक नामक ब्राम्हण के पुत्र थे इसीलिये उन्हें चाणक्य भी कहते हैं।

इसलिए इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगुरू 'विष्णुगुप्त' नाम के एक ब्राह्मण थे उन्होंने 'अर्थशास्त्र' की रचना की है। उन्हीं विष्णुगुप्त को कौटिल्य अथवा

---

1. *किं वा तेषां साम्प्रतं येषामतिनृशंस प्रायोपदेशानिघृणां कौटिल्यशास्त्रं प्रमाण।।* — *कादम्बरी।*
2. *श्रूयते हिकिलचाणक्यास्तीख्णदूत प्रयोगेणैकं नन्दंजघानेति।।* — *नीतिवाक्यामृत।*
3. *ततोधर्मशास्त्राणि मन्वादीनि अर्थशास्त्राणि चाणक्यदीनि कायशास्त्राणि वात्स्यायादीनि।।* — *पंचतंत्र।*

चाणक्य भी कहते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल का प्रारम्भ ईसा से 321 अथवा 323 वर्ष पूर्व से माना जाता है। अतः अर्थशास्त्र का रचना काल भी इसी तिथि के समीप मानना न्यायसंगत होगा। इस प्रकार कौटिल्य मौर्यकाल के राजशास्त्र विचारक माने जाऐगें।

यद्यपि भारतीय एवं पाश्चात्य् विद्वानों में कौटल्य के विषय में विवाद है किन्तु इतना स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र एक मौर्यकालीन कृति है। बाद मे भले ही इनमें संसोधन हुए हों परन्तु यह निश्चित है कि इसका मूल रचयिता कौटल्य ही है। कामन्दकीयनीतिसार से सिद्ध होता है कि अर्थशास्त्र का प्रणयन आचार्य चाणक्य (विष्णुगुप्त) ने किया था, जो कौटल्य के नाम से विख्यात हुये। अतः इस विवाद को शान्त करते हुए यह कहना यथेष्ट है कि अर्थशास्त्र कौटिल्य की सशक्त कृति है, कोई काल्पनिक ग्रन्थ नहीं। अर्थशास्त्र की समाप्ति सूचक एक श्लोक भी आता है जिसका निष्कर्ष है कि इस ग्रन्थ की रचना उसने की, जिसने शास्त्र और नन्दराजा द्वारा शासित पृथ्वी का एक साथ उद्धार किया। इस प्रकार कौटल्य ने अपने अभूतपूर्व कौशल और ज्ञान से भारतीय साहित्य को 'अर्थशास्त्र' ग्रन्थ रूपी बहुमूल्य रत्न दिया।

अर्थशास्त्र का रचनाकाल

'अर्थशास्त्र' के रचनाकार के साथ उसका रचनाकाल भी विवाद का विषय रहा हैं। कतिपय विद्वान प्रस्तुत अर्थशास्त्र को मौर्य काल का नहीं मानते। उसका कहना है कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र में कुछ ऐसी सामग्री है जो मौर्यकाल के पश्चात की है और इस आधार पर प्रस्तुत अर्थशास्त्र 'अर्थशास्त्र' के पश्चात की कृति है।

पाश्चात्य विद्वान जॉली, कीथ और विन्टरनित्ज का यह मत है कि 'अर्थशास्त्र' कौटिल्य की सूक्तियों एवं विचारों का संकलन है जो बाद में शिष्यों द्वारा संकलित किया गया, इसलिये यह बाद की तिथि की रचना है। इनके मतानुसार 'अर्थशास्त्र' वर्ष 300 ई0पू0 के पूर्व की रचना नहीं है। हिलब्रांट का कथन है कि कौटिल्य सम्पूर्ण 'अर्थशास्त्र' का रचनाकार नहीं हो सकता है, उसके शिष्यों एवं अनुयायियों ने ही उसका संग्रह किया है।[1] एक विदेशी विद्वान ई0एच0 जॉन्सन ने बौद्ध साहित्य का हवाला देते हुए कहा है कि अर्थशास्त्र का रचनाकाल वर्ष 150 ई0पू0 के पश्चात नहीं हो सकता है। आर0जे0 भंडारकर ने अर्थशास्त्र का संभावित रचनाकाल वर्ष 200 ई0पू0 बताया है।

---

1. आर. शाम शास्त्री : कौटिल्याज अर्थशास्त्र, प्रस्तावना, पृ0 8 ।

परन्तु डॉ0 शामशास्त्री और काशी प्रसाद जायसवाल उपर्युक्त मतों से सहमत नहीं है। उन्होंने इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु प्रमाण दिए हैं कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र वही अर्थशास्त्र है जिसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री कौटिल्य ने मौर्य राजाओं के पथ पदर्शन हेतु की थी। इस मत के पोषकों में इन दो विद्वानों के अतिरिक्त फ्लीट, गणपतिशास्त्री, एन0एन0ला0, डी0आर0 भण्डारकर, आर0के0 मुकर्जी, जैकोबी, एल0डी0 बर्नट, एच0 सी0 राय, वी0 ए0 स्मिथ, एफ0 डब्लू0 थामस प्रभृति मुख्य हैं। इस श्रेणी के विद्वानों ने उन आक्षेपों का समाधान करने का प्रयत्न किया है जो प्रस्तुत अर्थशास्त्र को मौर्यकाल की रचना होने में संदेह उत्पन्न करते है। फ्लीट के अनुसार मेगस्थनीज के अनेक विवरणों की संपुष्टि 'अर्थशास्त्र' से होती है। विष्णु पुराण के प्रंसग[1] से भी यह सिद्ध होता है कि कौटिल्य द्वारा अर्थशास्त्र की रचना ईसा के 400 वर्ष पूर्व मौर्यकाल में ही हुई थी। दंडी ने तो स्पष्ट कहा है कि अर्थशास्त्र की रचना मौर्य साम्राज्य के हितों के संवर्द्धन के उद्देश्य से ही की गयी थी। पी0वी0 काणे ने कहा है कि "इस सम्बन्ध में जो भी प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध हुए हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि 'अर्थशास्त्र' की रचना ईसा के 300 वर्ष पूर्व थी। एक अन्य भारतीय विद्वान डॉ0के0पी0 जायसवाल ने पाश्चात्य् विचारकों के मतों का खंडन करते हुये कहा है कि कौटिल्य या चाणक्य का नाम कल्पित नहीं है और 'अर्थशास्त्र' कौटिल्य नामक व्यक्ति की ही कृति है जिसकी रचना ईसा के 400 वर्ष पूर्व हुई थी।[2]

दूसरी ओर जिन विद्वानों ने मौर्यकाल को 'अर्थशास्त्र' का रचनाकाल मानने से अस्वीकार किया है, उनका कथन है कि 'अर्थशास्त्र' में दी गयी अनेक बातें मौर्यकाल के अनुरूप नहीं है। इसके अलावा अर्थशास्त्र में अनेक ऐसी परंपराओं एवं संस्थाओं का जिक्र है मौर्यकाल में नहीं पायी जाती थीं। इन विद्वानों ने यह भी कहा है कि 'कामसूत्र ' का रचना काल वर्ष 400 ई0पू0 माना जाता है, इसलिये 'अर्थशास्त्र' का रचनाकाल वर्ष 300 ई0पू0 माना जा सकता है। इस प्रकार के कुछ अन्य तथ्यों का भी उल्लेख किया गया है। सोवियत विद्वान वी0आर0 कॉलिनेव ने कई श्रोतों और कई अन्य तथ्यों का हवाला देते हुए कहा है कि अर्थशास्त्र की रचना वर्ष 600 ई0पू0 से वर्ष 700 ई0पू0 के बीच में हुई है क्योंकि दर्शन सूत्रों का उदय पंचम शताब्दी के पूर्व नहीं हुआ था। कॉलिनेव का यह कथन अप्रासंगिक है, क्योंकि उसने जिन दर्शन सूत्रों की चर्चा

---

1. *विष्णु पुराण, अध्याय 4 श्लोक 24 ।*
2. *के0पी0 जायसवाल : हिन्दू पॉलिटी, पृ0 327 ।*

की है, उनका प्रयोग 'अर्थशास्त्र' में नही किया गया है। एक भारतीय मार्क्सवादी विचारक डी0 डी0 कोशंबी ने कॉलिनेव के मत की उपेक्षा करते हुए कहा है कि 'अर्थशास्त्र' की रचनाकाल मौर्यकाल ही था।

इस सम्बन्ध में कुछ और भी तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं जिनके आधार पर 'अर्थशास्त्र' को मौर्यकालीन रचना मानना संदेहप्रद हो जाता है –

(i) 'अर्थशास्त्र' की भाषा संस्कृत है, जबकि मौर्यकाल में पालि भाषा का प्रयोग होता था।

(ii) 'अर्थशास्त्र' में भवन निर्माण के लिये ईंट का प्रयोग का उल्लेख किया गया है, जबकि मौर्यकाल में लकड़ियों के मकान बनाने का प्रचलन था।

(iii) समाहर्ता और सन्निधाता पदों का उल्लेख 'अर्थशास्त्र' में मिलता है, जबकि मौर्यकाल में ये दोनों पद नहीं थे।

(iv) 'अर्थशास्त्र' में विभिन्न प्रकार के धातुओं का उल्लेख मिलता है, जबकि मेगस्थनीज के कथनानुसार उस समय भारत में केवल पांच धातुओं का ही प्रयोग होता था।

(v) 'अर्थशास्त्र' में रासायनिक प्रक्रिया के प्रयोग का जिक्र किया गया है, जबकि मौर्यकाल में लोगों को रासायनिक प्रक्रियाओं का प्रयोग नहीं आता था।

इसके अतिरिक्त 'अर्थशास्त्र' में ऐसे अनेक तथ्यों का उल्लेख मिलता है जो मौर्यकाल से साम्य नहीं रखते हैं। ये सारे तथ्य पूर्ण प्रामाणिक नहीं हैं। 'अर्थशास्त्र' के रचनाकार की तरह उसके रचनाकाल सम्बन्धी विवाद भी संभावनाओं पर आधारित है। उल्लेखनीय है कि बहुत से तथ्यों में विरोधाभास भी पाया जाता है। उदाहरणस्वरूप, कुछ बौद्धकालीन ग्रंथ यह अस्वीकार करते हैं कि 'अर्थशास्त्र' मौर्यकालीन रचना है, तो दूसरी ओर कुछ ग्रंथ इसे मौर्यकालीन रचना के रूप में संपुष्ट करते है।

इतना होने पर भी यह विषय अब भी विवादग्रस्त बना ही हुआ है। प्रस्तुत 'अर्थशास्त्र' मौर्यकालीन मान लेने में एक आपत्ति यह भी खड़ी हो जाती है कि दशकुमारचरित के प्रणेता दण्डी ने अर्थशास्त्र को श्लोकबद्ध देखा था, ऐसा उनके वर्णन से ज्ञात होता है। यह श्लोकबद्ध अर्थशास्त्र छः सहस्त्र श्लोक युक्त था। प्रस्तुत अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक अध्याय में भी यह उल्लेख है कि अर्थशास्त्र में छः सहस्त्र श्लोक है। परन्तु प्रस्तुत अर्थशास्त्र सूत्र एवं श्लोकयुक्त है और इस अर्थशास्त्र के समस्त सूत्रों एवं श्लोक की संख्या छः सहस्त्र से न्यून हैं। दण्डी के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य ने श्लोक बद्ध अर्थशास्त्र की रचना की थी जो दण्डी के

समय तक प्रचलित रहा। परन्तु दण्डी के उपरान्त किसी समय किसी दूसरे पण्डित ने कौटिल्य प्रणीत श्लोकबद्ध अर्थशास्त्र का नवीन संस्करण किया और उसको सूत्र एवं श्लोकों के रूप में प्रस्तुत किया। अर्थशास्त्र का वही संस्करण प्रस्तुत अर्थशास्त्र है। परन्तु इस सिद्धान्त की स्थापना में एक बड़ा संदेह यह है कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र के कतिपय सूत्र दण्डी के कतिपय ग्रन्थों में ज्यों–त्यों पाए जाते है। डॉ0 शामशास्त्री ने इस विषय में वास्त्ययन के काम सूत्र से कुछ सूत्रों को प्रस्तुत अर्थशास्त्र के तद्षयक सूत्रों का मिलान करते हुए यह सिद्ध किया है कि यह सूत्र कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर ही आश्रित हैं। इन प्रसंगों के अनुसार यह मानना न्यायसंगत होगा कि कौटिल्य प्रणीत अर्थशास्त्र दण्डी के पूर्व भी सूत्र और श्लोक बद्ध था। इसी प्रकार जैन साहित्य से भी कुछ उदाहरण डा0 शामशस्त्री ने दिए हैं उनमें भी यही बात सिद्ध होती है।

उपर्युक्त आधारों पर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र वही अर्थशास्त्र है जिसकी रचना कौटिल्य ने की थी अथवा यह उसका कोई नवीन संस्करण है। यह समस्या अभी जटिल ही बनी हुई हैं इसके वास्तविक समाधान के निमित्त नवीन खोज एंव अन्य पुष्ट प्रमाणों की नितान्त आवश्यकता है। प्रस्तुत अर्थशास्त्र चाहे मौर्याकल की रचना हो अथवा उसके पश्चात का नवीन संस्करण हो परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र में राजशास्त्र सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गई है वह मौर्यकालीन ही है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अर्थशास्त्र में जो राजशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त स्थापित किए गए हैं वह कौटिल्य के ही हैं, और वह प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में मनु और भीष्म के पश्चात के प्रतिनिधि राजशास्त्र विचारक माने जाएंगे। हम जैकोबी के मत से सहमत हैं कि "बिना ठोस आधार के 'अर्थशास्त्र' के रचनाकार और रचनाकाल के बारे में भारतीय विद्वानों की परंपरावादी विचारधारा को अस्वीकार करना उचित नहीं हैं, अन्यथा हम संशयवाद और अलोचना को अनावश्यक आमंत्रित करेंगे।[1]

'अर्थशास्त्र' में प्रतिपाद्य विषय

'अर्थशास्त्र' को यदि नीति और राजनीति का विश्वकोष कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। यद्यपि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत अनेक विषयों की विवेचना की गयी है, किन्तु मुख्य

---

1. *आर0पी0 कॉगले : दि कौटिल्य अर्थशास्त्र (भाग–3), पृ0 98 ।*

रूप से यह राजनीति और शासनकला की वृहत मीमांसा हैं। अर्थशास्त्र में कुल पन्द्रह अधिकरण है। इन अधिकरणों में राज्य व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के विवेचनों का सटीक एवं सोद्देश्य विवरण प्रस्तुत किया गया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पन्द्रह अधिकरण, एक सौ अस्सी प्रकरण, एक सौ पचास अध्याय, और छः हजार श्लोक है। इसके अन्तर्गत राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, सैन्यशास्त्र, यौन विधा, भूगर्भ विद्या, रसायन शास्त्र, इंजीनियरिंग विधाओं तथा अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

1. विनयाधिकारिक अधिकरण

प्रथम अधिकरण विनयाधिकारिक नाम से व्यक्त है। जिसमें आन्वीक्षिकी, त्रयी वार्ता और दण्डनीति विषयों पर विचार करते हुए वृद्धजनों की संगति की उपयोगिता सिद्ध की है, कामक्रोधदि शत्रुओं के त्याग, साधु स्वभाव, राजा की जीवन चर्या, अमात्यों की नियुक्ति उनके आचरण की परीक्षा, गुप्तचरों की नियुक्ति, देश में कृत्य–अकृत्य की सुरक्षा, मन्त्राधिकार, राजदूतों को परराष्ट्र में भेजने, राजपुत्रों से राजा की रक्षा, राजकुमारों और राजा के पारस्परिक व्यवहार, राजा के कार्य, राजभवन निर्माण, राजा के कर्त्तव्य और आत्मरक्षा के प्रबन्ध आदि का सुष्ठु रूप से समावेश किया गया है।

इस अधिकरण मे कौटिल्य ने राजा के व्यवहार से सम्बन्धित अनेक तथ्यों का वर्णन किया है। दण्डनीति के विषय में उनका विचार है कि राजा को उचित दण्ड देने वाला होना चाहिए।[1] इस प्रकार दण्ड के द्वारा राजा से पालन किए हुए राज्य के सभी लोग (वे चाहे किसी वर्ण या आश्रम के हों) अपने धर्म कर्मो में लगे हुए, बराबर उचित मार्ग पर चलते रहते हैं।[2]

राजर्षि के व्यवहार के विषय में भी कौटिल्य ने इसी अधिकरण में राजा को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए भी। उनके मत से राजा अमात्यों की सहायता के बिना राज्य नहीं चला सकता। जिस प्रकार गाड़ी का एक पहिया दूसरे की सहायता के बिना अनुपयुक्त होता है। इसी प्रकार राज्य चक्र भी अमात्यों आदि की सहायता के बिना एकाकी राजा के द्वारा नहीं चलाया जा सकता।[3]

प्रस्तुत अधिकरण में ही राजा के समक्ष एक बड़ा आदर्श प्रस्तुत किया गया है– प्रजा

---

1. *यथार्हदण्डः पूज्यः ।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 4, वार्ता 13 ।*
2. *चतुर्वर्णाश्रमों लोको राज्ञा दण्डेन पलितः। स्वधर्मकर्मभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु।।*
   अर्थ0, अधि0 1, अ0 4, वार्ता 19 ।
3. *सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते। कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च श्रुणुयान्मतम्।।*
   अर्थ0, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 15 ।

के सुख में ही राजा का सुख और प्रजा के हित में ही राजा को अपना हित समझना चाहिए। अपने आप को प्रिय लगने वाले कार्यों का करना राजा का हित नहीं है, किन्तु प्रजा के प्रिय कार्यों का करना ही राजा का अपना सबसे बड़ा हित है।[1]

इसके अतिरिक्त इस अधिकरण में अमात्यों, गुप्तचरों एवं दूतों की नियुक्ति, आत्मरक्षा तथा शत्रु को कष्ट पहुँचाने जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर विचार किया गया है।

2. अध्यक्ष–प्रचार अधिकरण

द्वितीय अधिकरण का नाम 'अध्यक्ष प्रचार' है। इस अधिकरण में जनपद की स्थापना, ऊसर भूमि को उपयोगी बनाने का विधान, दुर्ग निर्माण तथा नगर के प्रमुख स्थानों का निर्माण, कोषगृह की स्थापना तथा कोषाध्यक्ष के कर्त्तव्य, समाहर्ता का कर संग्रह का कार्य, अक्षपटल में माणनिक कार्यों का निरूपण, अध्यक्षों तथा अधिकारियों के आचरण की परीक्षा, शासनाधिकार, कोषयोग्य रत्नों की परीक्षा, खानों एवं खनिज पदार्थों की व्यवस्था, अक्षशाला में सुवर्णाध्यक्ष के कार्य, राजकीय सुवर्णकारों के कर्त्तव्य, कोष्ठागार का अध्यक्ष, पण्य, कुप्य, आयुधागार, तौल–माप, शुल्क, सूत्र व्यवसाय, कृषि विभाग, आबकारी विभाग, वध– स्थान, वैश्यालयों, नौका, पशु–विभाग, राजकीय विभाग आदि के अध्यक्षों, हाथियों की सेना, रथसेना, पैदल सेना के सेनापतियों के कार्य का निरूपण, मुद्रा–विभाग और चरागाह के अध्यक्ष, समाहर्ता और गुप्तचरों के कार्यों तथा नागरिक के कार्यों को सम्मिलित किया गया है।

इस अधिकरण में कौटिल्य ने सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से विचार किया है। राष्ट्र के निर्माण में समाज का विशेष महत्व है अतः इसी सामाजिक पक्ष को सुदृढ़ करने हेतु उन्होंने 'जनपद' की स्थापना और ऊसर भूमि को उपयोगी बनाने का विधान बताया है। उनके मत में एक राजा को जनपद बनाने के लिए अत्यधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। उसके लिए दो उपाय है– एक तो यह कि राजा दूसरे देश से मनुष्यों को बुला सकता है और दूसरे अपने ही देश की जनसंख्या को बढ़ा सकता है। इस प्रकार किसी एक उपाय के द्वारा मनुष्यों की संख्या बढ़ाकर जनपद का निर्माण करना चाहिए। जनपद भी इस तरह बसायें जाएं जिनमें कृषक और शूद्र ही प्रायः अधिक हों। इस तरह जनपद में शूद्र एवं किसानों के आधिक्य वाले कम से कम सौ और अधिक से अधिक पांच सौ घरों वाले गांव बसाने चाहिए। गांव बसाते

---

1. *प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।*
अर्थ0, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 39 ।

समय एक गांव से दूसरे गांव की दूरी का भी ध्यान रखना आवश्यक है। ये गांव एक–दूसरे से एक एक कोस या दो कोस की दूरी पर ही हों जिससे कि अवसर आने पर एक दूसरे की सहायता कर सके।[1]

राज्य में कोई भूमिरहित न रहे, इस व्यवस्था के लिए कौटिल्य ने अनुपजाऊ भूमि को भी कृषि के योग्य बनाने के उपाय बताये हैं– कृषि के लिए अनुपयुक्त भूमि को पशुओं के लिए चारागाह कर देना चाहिए, जिससे कि वे कृषि के लिए उपयुक्त भूमि को नष्ट न करें। ऐसे ही वन सम्पदा से युक्त, यज्ञ व अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयुक्त भूमि को वेदाध्यायी ब्राह्मणों को दे देना चाहिए, और तपोवनों को तपस्वियों को दे दें जिससे कि किसी के लिए भूमि की कमी नही रहेगी और कृषि के लिए उपर्युक्त भूमि का भी उपयोग हो जायेगा।[2] इसके साथ ही दुर्ग–निर्माण के बारे में भी आचार्य कौटिल्य ने इसी अधिकरण में विचार किया है।

किसी भी राज्य की समृद्धि उसकी आर्थिक प्रगति पर निर्भर करती है, जो राज्य आर्थिक दृष्टि से जितना सुदृढ़ होगा, उतनी ही उसकी स्थिति मजबूत होगी। इसी बात को ध्यान में रखते हुए कौटिल्य ने इस अधिकरण में सन्निधता (कोषाध्यक्ष) के कार्य, समाहर्त्ता (कर प्राप्त करने वाले अधिकारी) के कार्य, गणनिक्य के कार्य, कोष में प्रवेश करने योग्य रत्नों की परीक्षा आदि विषयों पर विचार किया है। सन्निधाता को चाहिए कि उसे विभिन्न स्त्रोंतों से प्राप्त आय की अच्छी जानकारी हो। यहाँ तक कि यदि उससे सौ वर्ष पीछे की आय पूँछी जाए तो वह बिना रूकावट के तुरन्त कह दे।[3]

राज्य के सम्पूर्ण कार्यों की निर्भरता कोष पर है। अतः राजा के लिये यह उचित है, कि वह कोष के विषय में सर्वप्रथम विचार करे और सदा वृद्धि करने में प्रयत्नशील रहे।[4] इसके साथ ही कोष–वृद्धि के उपाय तथा कोष में क्षय के कारणों के विषय में राजा को चिन्तन करना चाहिए।

---

1. *भूतपूर्वभूतपूर्व वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्।।*
   शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पच्चशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विकोशसीमानमनयोन्यारक्षं निर्वेशयेत्।।
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 1.2 ।
2. *अकृष्यायां भूमौ पशुभ्यो विवीतानि प्रयच्छेत्।*
   प्रदिष्टाभयस्थावरजङमानि च ब्राहाणेभ्यों ब्रहासोमारण्यानि तपोवनानि च तपस्विभ्यों गोरूतपराणि प्रयच्छेत्।।
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 2, वार्ता 1.2 ।
3. *ब्राह्ममाभ्यन्तरं चायं विद्याद्वर्षशतादपि। यथा पृष्टो न सज्येत व्ययशेषं च दर्शयेत्।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 5, वार्ता 24 ।
4. *कोशपूर्वाः सर्वारम्भाः। तस्मात्पूर्वं कोशमवेक्षेत।।* *अर्थ0 अधि0 2 अ0 8 वार्ता 12 ।*

राजनीतिक पक्ष की दृष्टि से इस अधिकरण में राज्य के सभी अधिकारियों के कर्त्तव्यों के विषय में विचार किया गया है। राज्य के सभी अध्यक्षों को अमात्य के गुणों से युक्त होना चाहिए तथा उनको शक्ति के अनुसार विभिन्न कार्यों पर नियुक्त करना चाहिए।[1] कौटिल्य के अनुसार इन सभी अध्यक्षों की सत्यनिष्ठा का पता गुप्तचरों के द्वारा लगाना चाहिए।[2] राज्य में शासन का बहुत महत्व होता है। पत्र आदि पर लिखित अर्थ को ही शासन कहा जाता है अर्थात् वाचनिक अर्थ को कभी शासन नहीं कहा जा सकता। राजाजन शासन का ही विशेष आदर करते हैं, वाचनिक का नहीं, क्योंकि सन्धि विग्रह आदि षाड्गुण्य सम्बन्धी कार्य शासनमूलक ही होते है।[3] शासनाधिकारी को चाहिए कि वह सावधान होकर, राजा के संदेश को अच्छी तरह सुनकर, दूसरे के लेख के पूर्वापर अर्थों पर विचार कर उसके अनुसार, निश्चित अर्थ वाले लेख को लिखे।[4]

ऐसा नहीं है कि कौटिल्य ने केवल आर्थिक पक्ष के अधिकारियों के बारे में ही विचार किया हो। अपनी सेना को सुदृढ़ करने के उपायों में उन्होंने सेना के विभिन्न अध्यक्षों अश्वाध्यक्ष, हस्त्यायक्ष, रथाध्यक्ष, पत्याध्यक्ष, तथा सेनापति के कार्यों का विवरण भी इसी अधिकरण में दिया है। राज्य की प्रगति में सर्वाधिक सहायक गुप्तचर के कार्यो का निरूपण भी किया गया है। जिस प्रकार एक समाहर्ता जनपद के सुप्रबन्ध तथा कार्यों की चिन्ता करता है उसी प्रकार एक नागरिक नगर के प्रबन्ध की चिन्ता करे अर्थात् समाहर्त्ता जिस प्रकार जनपद के चार विभाग करके गोप और स्थानिक की सहायता से उसका प्रबन्ध करता है, इसी तरह नागरिक भी करे।[5]

इस प्रकार सभी अध्यक्षों के कार्यों की दृष्टि से अध्यक्ष प्रचार नामक यह अधिकरण अति महत्वपूर्ण हैं।

3. धर्मस्थीय अधिकरण

धर्मस्थीय नाम के इस अधिकरण में व्यवहार (शर्तनामों) के प्रकार, गृहस्थ– जीवन सम्बन्धित विभाग, वास्तुक, ऋण सम्बन्धी दास एवं श्रमिक सम्बन्धी नियम, मजदूरी एवं साझेदारी

---

1. *अमात्यसंपदोयेताः सवोध्यक्षाः शाक्तितः कर्मसु नियोज्याः। कर्मसु चैषां नित्यं परीक्षां कारयेत।।*
अर्थ0, अधि0 2, अ0 9, वार्ता 1.2 ।
2. *अपर्सपणैवोपलभ्यत इति कौटल्यः।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 9, वार्ता 14 ।*
3. *शासने शासनमित्याचक्ष्यते। शासनप्रधानाः हि राजानः। तन्मूलत्वात्सधिविग्रहयोः।।*
अर्थ0, अधि0 2, अ0 10, वार्ता 1.3 ।
4. *सो ऽब्यग्रमना राज्ञः संदेशं श्रुत्वा निश्चितार्थं लेखं विदध्यात्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 10, वार्ता 15 ।*
5. *समाहर्त्तवन्नागरिको नगरं चिन्तयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 36, वार्ता 1 ।*

के साहस, वाक्पारूष्य, दण्ड पारूष्य और द्यूत समाह्य तथा प्रकीर्णक विषयों को सम्मिलित किया गया है।

यद्यपि इस अधिकरण में सभी विषयों पर अत्याधिक विस्तार से कौटिल्य ने वर्णन किया है लेकिन हम यहाँ केवल उन्हीं विषयों का वर्णन करेंगे जो राजधर्म से सम्बन्धित हैं। राज्य में बने दण्ड एवं कानून व्यवस्था उचित एवं धर्मानुकूल नहीं होगी तो राज्य का पतन निश्चित है। कौटिल्य इस सार्वभौमिक तथ्य से भंलीभाँति परिचित थे अतः वे चारों विद्याओं में दण्डनीति को सर्वोपरि मानते है।[1] कौटिल्य के अनुसार देश में उचित दण्ड विधान एक ऐसा शस्त्र है जो उन्मत्त व मदमस्त लोगों को सहजता से वश में कर सकता है। राजा यदि अपने पुत्र व शत्रु को उनके अपराध के अनुसार उचित दण्ड देता है, तो वह दण्ड ही इस इलोक और परलोक की रक्षा करता है।[2]

किसी भी विषय में एक व्यक्ति के मत को सर्वथा उचित प्रमाण नहीं माना जा सकता है अतः कौटिल्य के मतानुसार व्यवहार सम्बन्धी अनुबन्ध, शर्त आदि कार्यों का प्रबन्ध सदैव तीन–तीन धर्मस्थ अर्थात् न्यायाधीशों को साथ–साथ रहते हुए एक दूसरे की सहमति से करना चाहिए। यह व्यवहार सम्बन्धी कार्य जनपद, सन्धि, संग्रहण (दस गांवों का प्रधानाभूत केन्द्र स्थान) द्रोणमुख (चार गांवो का प्रधानभूत) या स्थानीय में हो सकता है। इसके विपरीत छिपा कर, घर के अन्दर, रत्रि में, जंगल में छल–कपटपूर्वक तथा एकान्त में किए गए व्यवहारों को राजकीय नियम के विरूद्ध समझा जाता है।[3] किसी भी विवाद के निर्णायक चार तत्व हैं–धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा। ये तत्व राष्ट्र के चार पैर समझे जाते है क्योंकि इन्हीं पर राष्ट्र निर्भर है, इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व राजाज्ञा है जो पिछलों का बाधक भी है।[4] यदि कोई राजा चारों, वर्ण, चारों आश्रम, लोकाचार व नष्ट होते हुए धर्मों का रक्षक होता है तो धर्मप्रवर्त्तक माना जाता है।[5]

---

1. *आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः। तस्य नीतिर्दण्डनीतिः।। अर्थ0, अधि0 1, अ0 4, वार्ता 45।*
2. *दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति। राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतं।।*
   अर्थ0, अधि0 3, अ0 1, वार्ता 54 ।
3. *धर्मास्थास्तयस्तयोडमात्या जनपदसंधि संग्रहद्रोणमुखस्थानीयेषु व्यावहारिकानर्थानूकुर्यः।*
   तिरोहितान्तगार नक्तारण्योपध्युपहर कृतांश्च व्यवहारारान्प्रतिषेधयेयुः।। अर्थ0, अधि0 3, अ0 1, वार्ता 12 ।
4. *धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्। विवादार्थश्चतुष्पादपश्चिमः पूर्वबाधकः।।*
   अर्थ0, अधि0 3, अ0 1, वार्ता 51 ।
5. *चतुर्वर्णाश्रस्यायं लोकस्याचाररक्षणात्। नश्यतां सर्वधर्माणां राजा धर्मप्रवर्तकः।।अर्थ0,अधि0 3,अ0 1, वार्ता 50।*

इस अधिकरण में कौटिल्य ने विशेष रूप से सभी प्रकार के दण्डों तथा उन दण्डों के भागी पुरुषों के बारे में बताया है। इन दण्डों में प्रमुख साहस दण्ड, उत्तम साहस दण्ड, तथा मध्यम साहस दण्ड है। यहाँ साहस से तात्पर्य खुले तौर पर बलात्कार, धन आदि का अपहरण है।[1] इसी संदर्भ में वाक्पारूष्य, दण्ड पारूष्य तथा द्यूत खेलने वालों के लिए अलग–अलग दण्ड व्यवस्था की गई है।

ऐसा नहीं था कि कौटिल्य राजनीति के विषय में ही निपुण थे। उनको वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में भी पूर्ण ज्ञान था। वह सांसारिकता का प्रारम्भ विवाह से ही स्वीकार करते थे।[2] इसके साथ ही उन्होंने विवाह के प्रकार, स्त्रीधन, दाय– भाग, पुत्र विभाग के बारे में तथा सम्पत्ति के विवाद को सुलझाने सम्बन्धी न्याय के बारे में भी इसी अधिकरण में विस्तार से वर्णन किया है, तथा प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित नियमों का उल्लधंन करने वालों के लिए अलग– अलग दण्डों का विधान किया है।

4. कण्टक शोधन अधिकरण

चतुर्थ अधिकरण 'कण्टकशोधन' नाम से है और इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें प्रजा की विभिन्न कष्टों से रक्षा के उपाय बताये गए हैं। इस अधिकरण में शिल्पियों, व्यापारियों, दैवी आपदाओं से प्रजा की रक्षा के उपायों के साथ ही गुप्त षड्यन्त्रकारियों, सिद्धवेषधारियों, दुष्टों के दमन के उपाये बताए गए है। शंकालु चोरों और चोरी की वस्तु की पहचान के लक्षणों पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही साथ आशुमृतक की परीक्षा, सरकारी कर्मचारियों की निगरानी, एकांगवध या द्रव्यदण्ड, शुद्ध दण्ड, चित्रदण्ड, कुमारी कन्या के साथ बलात्कार का दण्ड, अतिचार का दण्ड आदि विषय भी सम्मिलित किए गये है।

कौटिल्य के मतानुसार मन्त्रियों के गुणों से युक्त तीन–तीन प्रदेष्टा अर्थात् कण्टकशोधन के लिए नियुक्त अधिकारी, प्रजापीड़क व्यक्तियों से प्रजा की रक्षा करें।[3] ये प्रजापीड़क शिल्पी, कारीगर, स्वर्णकार, धोबी, दर्जी, या जुलाहा, कोई भी हो सकता है और इन सभी के प्रजा को पीड़ित करने पर उचित दण्ड की व्यवस्था कौटिल्य ने इसी अधिकरण में बताई है। "प्रजा की रक्षा करना ही राजा का सबसे बड़ा धर्म है" अतः इस दृष्टि से रक्षा के उपाय बताने वाला यह अधिकरण महत्वपूर्ण है।

1. *साहसमन्वयवत्प्रसभकर्म।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 17, वार्ता 1 ।*
2. *विवाहपूर्वो व्यवहारः।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 2, वार्ता 1 ।*
3. *प्रदेष्टस्तयस्तयो वामात्याः कण्टकशोधनं कुर्यः।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 1 ।*

कभी–कभी प्रजा दैवी संकटों से भी भयभीत रहती है। मनुष्य जाति के लिए दो प्रकार के भय होते है–मानुष और दैव। इनमें दैवकृत आठ भय होते हैं– अग्नि, जल, रुग्णता, दुर्भिक्ष, चूहे, व्याध्र, साँप और राक्षस। इन सबसे राजा को जनपद की रक्षा करनी चाहिए।[1] इन सभी संकटों से प्रजा की रक्षा करने के विविध उपाय भी इसी अधिकरण में बताए गए हैं।

इसके अतिरिक्त यदि एक समृद्ध राज्य में भी कोई निरन्तर चोरी करता रहे तो उस राज्य का कोष भी एक दिन खाली हो जायेगा, अतः इन चोरों का पता लगाने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति आवश्यक है और ये गुप्तचर सिद्धों के वेश में चोर और व्यभिचारियों के समूहों में रहते हुए न्यायिक मन्त्रों के प्रयोग से चोरों तथा वशीकरण मन्त्रों से व्यभिचारियों को नियंत्रण में करें[2] तथा इस प्रकार उनका पता लगाकर उनको राजा से दण्डित करायें, जिससे कि अन्य व्यक्ति भी उनको दण्डित देखकर कभी चोरी जैसे दुष्कर्म को करने का साहस न करें। चोरों को पकड़ने में शंका चोरी का माल तथा सेंध लगाने का कार्य भी सहायक होता है अतः किसी भी प्रकार राज्य में चोरी का पता लगवाते रहना चाहिए जिससे कि राज्यकोष की निरन्तर होने वाली वृद्धि में बाधा न आए और प्रजा भी प्रजा कण्टकों के अत्याचारो से भयभीत न रहे।

एक उचित प्रदेष्टा के लिए आवश्यक है कि वह, राजा और अमात्यों के बीच रहता हुआ दण्ड देने के समय में पुरूष को, उसके अपराध को, अपराध के कारणों को, व्यक्ति के स्तर को, भविष्य में तथा उस समय में होने वाले परिणाम को देश व काल को अच्छी तरह से सोचकर उत्तम, प्रथम या मध्यम साहस आदि दण्डों को न्यायानुसार दें।[3]

इस प्रकार इस अधिकरण में हम देखते है कि कौटिल्य उचित दण्ड के पक्ष थे वे इस तथ्य से भलीं– भाँति परिचित थे कि अपराध के अनुसार न दिया गया दण्ड हमेशा प्रजा का राजा के प्रति अविश्वास उत्पन्न करता है जबकि उचित दण्ड उसे राजा के प्रति स्वामीभक्त बनाता है।

5. योगवृत्त अधिकरण

पंचम अधिकरण की संज्ञा 'योग' वृत्त' है जिसमें राजद्रोही कर्मचारियों के विषय में

---

1. *दैवान्यष्टौ महाभयानि। अग्निरूदकं व्याधिदुर्भिक्षं मूषिका व्यालाः सर्पा रक्षांसीति। तेभ्यो जनपदं रक्षेत्।।*
अर्थ0, अधि0 4, अ0 3, वार्ता 13 ।

2. *सत्रीप्रयोगादूर्ध्व सिद्धव्याजना माणवा माणिवविद्याभिः प्रलोभयेयुः प्रस्वापनान्तर्धानद्वारापोहमनत्रेण प्रतिरोधकान्संवननमन्त्रेण पारतल्पिकान्।।*
अर्थ0, अधि0 4, अ0 5, वार्ता 1 ।

3. *पुरूषं चापराधं च कारणं गुरूलाघवम्। अनुबन्धं तदात्वं च देशकालौ समीक्ष्य च।।*
उत्तमावरमध्यत्वं प्रदेष्टा दण्डकर्मणि। राजश्च प्रकृतीनां च कल्पदेयन्तरास्थितः।।
अर्थ0, अधि0 4, अ0 10, वार्ता 25–26 ।

दण्ड व्यवस्था कोष, का अधिकाधिक संग्रह, भृत्यों, का भरण– पोषण, राजकर्मचारियों का राजा के प्रति व्यवहार, व्यवस्था का यथोचित पालन, विपत्तिकाल में राजपुत्र का अभिषेक और एकछत्र राज्य की प्रतिष्ठा आदि विषयो पर विचार किया गया है।

इस अधिकरण के प्रथम अध्याय में 'दण्ड' का प्रयोग कब कैसे होना चाहिए तथा राजा और उसके अमात्य आदि में कण्टको का शोधन किस प्रकार हो यह वर्णित है। जो मुख्य पुरूष राजा को नीचा दिखाने की चेष्ठा करते हों अथवा शत्रुओं से मिले हुए हों, उनके मुकाबले में सिद्धि–लाभ करने हेतु राजा को अत्युत्तम गुप्त पुरूषों की नियुक्ति करनी चाहिए तथा राजा को उन व्यक्तियों को अपनी ओर मिला लेना चाहिए जो शत्रुओं से क्रोधित हो,[1] जो अध्यक्ष या अमात्य आदि राज्य का नाश कर रहे हों जिनको खुले रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा करने से प्रजा में असन्तोष फैलने का भय रहता है, इनके विषय में धर्मात्मा राजा को चाहिए कि वह उपांशु–दण्ड का प्रयोग करे।[2] उपांशु–दण्ड ऐसा वध आदि दण्ड है जिसमें मारने का तथा मारने वाले आदि का कुछ भी विशेष पता नहीं लगता। उपांशु–दण्ड के वर्णन द्वारा कौटिल्य ने अपने कौटिल्य नाम को अक्षरशः सत्य सिद्ध कर दिया है तथा अपनी दूरदृष्टि का परिचय दिया है। इस अध्याय में उन्होंने भाई के द्वारा भाई, बेटे के द्वारा पिता, आदि को मरवा देने के इतने गुप्त तरीके बताये है कि उनको जानकर आश्चर्य होता है, उदाहरणार्थ–दूषणीय हस्त्याध्यक्ष आदि के भाई को, जिसको कि दायभाग न मिला हो, सत्कारपूर्वक उभारकर उसे राजा के पास लाया जाए। राजा उसको दूषणीय का निग्रह करने के लिए हथियार आदि सामान देकर झगड़ा करवा दे। जब वह विष या शस्त्र आदि से अपने भाई को मार दे, तो इसी अपराध में "कि यह अपने भाई को घातक है" ऐसा कहकर राजा उसे भी मरवा दे।[3] इस प्रकार एक क्षमाशील राजा वर्तमान और भविष्य में बिना किसी शंका के उचित रूप से स्वपक्ष और परपक्ष में इस गूढ़ दण्ड का प्रयोग कर सकता है अर्थात् वह इस दण्ड को प्रयोग करने का अधिकारी है।[4]

---

1. *राजानमवगृहोपजीविनः शत्रुसाधारणा वा ये मुख्यास्तेषु गुढपुरूषप्रणिधिः कृत्यपक्षोपग्रहो वा सिद्विर्यथोक्तं पुरस्तादुपजापोपसर्पो वा यथा च पारग्रामिके वक्ष्यामः।।* *अर्थ0, अधि0 5, अ0 1, वार्ता 3।*
2. *राज्योपघातिनस्तु वल्लभाः संहता वा ये मुख्याः प्रकाश मशक्याः प्रतिषेदुं दूष्यास्तेषु धर्मरूचिरूपांशुदण्डं प्रयुजीत।।* *अर्थ0, अधि0 5, अ0 1, वार्ता 4।*
3. *दूष्यमहामात्रभ्रातरमसत्कृतं सत्री प्रोत्साह्य राजानं दर्शयेत्। तं राजा दूष्यद्रव्योपभोगातिसर्गेण दूष्ये विक्रमयेत्। शस्त्रेण रसेन वा विक्रान्तं तत्रैव धातयेदूभ्रातृघातकोष्यामिति।।* *अर्थ0, अधि0 5, अ0 1, वार्ता 57 ।*
4. *स्वपक्षे परपक्षे वा तूष्णी दण्डं प्रयोजयेत्। आयत्यां च तदात्वे च क्षमावानविशडितः।।* *अर्थ0, अधि0 5, अ0 1, वार्ता 67 ।*

दूसरे अध्याय में कोष को बढ़ाने के प्रयत्नों पर प्रकाश डालते हुए कौटिल्य ने कहा है कि राजा को प्रत्येक स्थिति में कोष को बढ़ाते रहना चाहिए। किन्तु प्रजा पर जोर जबर्दस्ती करके कोष को बढ़ाना उचित नहीं है। जिस क्षेत्र में अकाल पड़ा हो, अनावृष्टि हो, वहां से कर वसूली में कठोरता नहीं की जानी चाहिए। इसके अलावा नया जनपद बसाने पर राजा अपनी ओर से वहां के किसानों को अन्न, पशु तथा नगद राशि देकर उनकी सहायता भी करें।[1] इसी तरह कृषकों, व्यापारियों, काष्ठवांस का व्यापार करने वालों नट–नर्तक तथा वैश्याओं, कुक्कुर तथा शूकर पालने वालों से निर्धारित नियमो का पालन करते हुए वर्ष में एक बार ही 'कर' लिया जाए। यदि इन रीतियों से भी कोष का संचय न हो सके, तो समाहर्ता किसी कार्य का बहाना करके नगर–निवासी तथा प्रान्त–निवासी लोगों से धन माँगे।[2] अभिप्राय यह कि जिस किसी भी, किन्तु उचित रीति से, राजकोष की नियमित वृद्धि होती रहनी चाहिए, जिससे कि वह यथासमय प्रजा के हित में ही व्यय किया जा सके। जैसे लोग बगीचे से पके–पके फल ही तोड़ते हैं।, उसी प्रकार राजा दुष्ट पुरुषों के धन को ही ले और जिस प्रकार बाग के कच्चे फल तोड़ना उचित नहीं उसी प्रकार धर्मात्माओं के धन को छोड़ देना चाहिए। क्योंकि कच्चे फल की तरह धर्मात्माओं से लिया हुआ धन भी प्रजा को कुपित कर देता है।[3]

तीसरे अध्याय में राजकर्मचारियों के भरण–पोषण के बारे मे बताते हुए कौटिल्य का मत है कि कर्मचारियों को उचित वेतन मिलने पर वे राजा के प्रति कोप का कारण नहीं बनते।[4]

पंचम अधिकरण के चतुर्थ अध्याय में राजा के मंत्री आदि कर्मचारियो के राजा के प्रति व्यवहार का वर्णन है। लौकिक व्यवहार में निपुण अमात्य आदि अनुजीवी राजा के शुभचिन्तकों द्वारा आश्रय ग्रहण करें।[5] किन्तु आत्म गुण हीन राजा का आश्रय कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए।[6] अनुजीवों को राजा से न तो बहुत दूर रहना चाहिए न उसके बहुत निकट ही। एक समझदार कर्मचारी को सबसे पहले बड़ी सावधानी के साथ अपनी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि

---

1. *धान्यपशुहिरण्यादि निविशमानाय दद्यात्।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 2, वार्ता 4 ।*
2. *सकृदेव न द्विः प्रयोज्यः।। तस्याकरणे वा समाहर्त्ता कार्यमपदिश्य पौरजानपदान्भिक्षेत।।*
   योगपुरूषाश्चात्र पूर्वमतिमात्रं दधुः।। — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 2, वार्ता 36–37 ।*
3. *पक्वं पक्वमिवारामात्फलं राज्यादवाप्नुयात्। आमच्छेदभयादामं वर्जयेत्कोपकारकम्।।*
   अर्थ0, अधि0 5, अ0 2, वार्ता 82 ।
4. *एतावता भरणे नानास्वाद्यत्वमकोपकं चैषां भवति।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 5 ।*
5. *लोकयात्राविद्राजाजमात्मद्रव्यप्रकृति संपन्नं प्रियहितद्वारेणाश्रयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 4, वार्ता 1 ।*
6. *न त्वेवानात्मसंपन्नम्।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 4, वार्ता 4 ।*

राजा के आश्रय में रहने वाले पुरुषों की स्थिति आग में खेल करने वालों के समान कही गयी है। अग्नि तो शरीर के एक अंग या अधिक से अधिक सारे शरीर को जला सकती है, परन्तु राजा पुत्र कलत्र सहित सम्पूर्ण परिवार को नष्ट कर सकता है तथा अनुकूल होने पर उन्नत भी कर सकता है।[1]

पंचम अध्याय में राजा के समक्ष किए जाने वाले व्यवहार के विषय मे विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस सबका कहने का अभिप्राय यह है कि न केवल राजा के हाव–भाव और चेष्टा आपितु उनके अनुजीवियों की चेष्टा का भी ध्यान रखना चाहिए। उससे भी राजा के मनोगत भावों का ज्ञान हो जाता है। इससे जिनको राजा को छोड़ना उचित है वे छोड़कर चले जाते हैं, अथवा वे उसके पास रहते हुए ही उसके कोप का प्रतिकार करते हैं।

इस अधिकरण के छठें अध्याय में राजा पर आने वाली विपत्तियों के प्रतिकार और उसके ऐश्वर्य के कारणों का वर्णन है। राजा की विपत्तियों से सहायता करने में अमात्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कौटिल्य के अनुसार राजा की मृत्यु हो जाने पर अमात्य प्रमुख राजकुमार को अभिषिक्त करके उसे प्रजा के समक्ष उपस्थित कर दे।[2] परन्तु आचार्य भारद्वाज का मत है कि अमात्य इस प्रकार राजपुत्र का एकैश्वर्य राज्य न करवाये। किन्तु राजा के आसन्नमरण होने पर राजा के वंश तथा परिवारीजनों को आपस मे लड़ाकर प्रजा या अमात्य के कुपित होने के कारण इनको मरवा दे।[3] या फिर उपांशु दण्ड से मरवा दें और स्वयं सम्पूर्ण राज्य का स्वामी बन जाए,[4] क्योंकि रमण करने के लिए स्वयं आई हुई स्त्री भी यदि छोड़ दी जावे तो वह पुरुष को शाप दे देती है।[5] परन्तु कौटिल्य का मत है कि इस प्रकार की कार्यवाही प्रजा को रूष्ट करने वाली, अधर्म से युक्त और सदा न होने वाली है। अतः आत्मसम्पन्न राजपुत्र को ही राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर दे।[6]

---

1. *आत्मरक्षा हि सततं पूर्वं कार्या विजानता।। अग्नाविव हि संप्रोक्ता वृत्ती राजोपजीविनाम्।।*
एकदेशं दहेदग्निः शरीरं वा परं गतः । सपुत्रदारं राजा तु घातयेद्वर्धयेत वा ।।
अर्थ0, अधि0 5, अ0 4, वार्ता 22–23 ।
2. *कुल्यकुमारमुख्योपग्रहं कृत्वा वा कुमारभिषिक्त मेव दर्शयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 5, अ0 6, वार्ता 18 ।*
3. *नैवमिति भारद्वाजः। प्रमियमाणे वा राजन्यमात्यः कुल्यकुमारमुख्यान्परस्परं मुख्येषु वा विक्रामयेत् वा विक्रान्तं प्रकृतिकोपेन घातयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 5, अ0 6, वार्ता 28–30 ।*
4. *कुल्याकुमारमुख्यानुपांशदण्डेन वा साधयित्वा स्वयं गृहणीयात्।।* *अर्थ0, अधि0 5, अ0 6, वार्ता 31 ।*
5. *स्वयमारूटा हि स्त्री त्यज्यमानाभि प्रतीति लोकप्रवादः।।* *अर्थ0, अधि0 5, अ0 6, वार्ता 35 ।*
6. *प्रकृतिकोपकमधर्मिष्ठमनैकान्तिकं चैतदिति कौटल्यः ।। राजपुत्रमात्मसंपन्नं राज्ये स्थापयेत्।।*
अर्थ0, अधि0 5, अ0 6, वार्ता 37–38 ।

इस प्रकार हम देखते है कि कौटिल्य धर्मानुकूल व्यवहार के पक्ष में थें और उनको राज्य का किंचित मात्र लालच नहीं था, इसीलिए वह राजपुत्र के अधिकार से उसे वंचित करने के पक्ष में नहीं थे।

6. मण्डलयोनि अधिकरण

मण्डलयोनि नामक षष्ठ अधिकरण में प्रकृतियों के गुण तथा शान्ति एवं उधोग को ही लिया है। स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड, (सेना) मित्र ये सात प्रकृति कहलाते हैं,[1] और इस अधिकरण में कौटिल्य ने इन्ही सातों के आवश्यक गुणों का वर्णन किया है। इस अधिकरण के दूसरे अध्याय में शम अर्थात् शन्ति और व्यायाम अर्थात् कर्मोद्योग, क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तु का उचित भोग एवं योग अर्थात् अप्राप्त वस्तु के लाभ, इन सबकी विधि का वर्णन किया गया है। एक विजिगीषु नेता को राजमण्डल रूपी चक्र में एक राज्य से व्यवहित मित्र राजाओं को नेमि, समीप के राजाओं को अरि और अपने आप को नाभि के स्थान में समझना चाहिए। बलवान शत्रु भी, विजिगीषु और मित्र इन दोनों के बीच में आ जाने पर या तो नष्ट कर दिया जाता है, अथवा बहुत पीड़ित किया जाता है।[2]

7. षाड्गुण्य अधिकरण

षाड्गुण्य नामक सप्तम अधिकरण राजनीति के विषय की दृष्टि से महत्वपूर्ण है जिसमें छः गुणों का उल्लेख है, और क्षय, स्थान व वृद्धि का निश्चय, बलवान् राजाओं के चरित्र, हीन राजा के साथ सम्बन्ध विग्रह, बलवान् का आश्रय प्राप्त करके आसन और यान का अवलम्बन, यान सम्बन्धी विचार, ज़ोभ तथा विराग के हेतु सामूहिक प्रयाण और देश, काल तथा कार्य के अनुसार संधियाँ द्वैधीभाव, सन्धि, विग्रह यातव्य सम्बन्धी व्यवहार, मित्रों के प्रति कर्त्तव्य सन्धि विचार, पार्ष्णिग्राह चिन्ता, दुर्बल विजिगीषु के लिए शक्ति संचय के साधन, बलवान् शत्रु और विजित शत्रु के साथ व्यवहार, अधीनस्थ राजाओं के प्रति विजेता विजिगीषु का व्यवहार, सन्धि कर्म और सन्धि योदज, मध्यम, उदासीन और राज़मण्डल चरित आदि विषयों को अपना कर उन पर भली–भाँति प्रकाश डाला गया है।

---

1. *स्वाम्यमात्यजनपददुग्रकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।।* अर्थ0, अधि0 6, अ0 1, वार्ता 1।
2. *नेमिमेकान्तरान् राज्ञः कृत्वा चानन्तरानरान्। नभिमात्मानमायच्छेन्नेता प्रकृतिमण्डले।। मध्येडम्युपहितः शत्रुर्नेतुर्मित्रस्य चौभयोः। अच्छेधः पीडनियो वा बलवानपि जायते।।* अर्थ0, अधि0 6, अ0 2, वार्ता 64–65।

सन्धि, विग्रह यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव, ये छः गुण है।[1] वातव्याधि दो ही गुण मानते हैं–सन्धि और विग्रह। शेष का अन्तर्भाव भी इनमें ही कर लेते हैं।[2] लेकिन कौटिल्य इस पक्ष में नहीं है अतः वे छः ही गुण मानते है और उनकी स्पष्ट व्याख्या भी करते हैं कि दो राजाओं का किन्ही शर्तो पर मेल हो जाना ' सन्धि' कहलाता है। शत्रु का कोई अपकार करना 'विग्रह' कहा जाता है। सन्धि आदि का प्रयोग न करके उपेक्षा कर देना 'आसन' कहलाता है। शक्ति आदि का अत्यधिक हो जाना ही यान का हेतु होने से 'यान' कहलाता है। दूसरे बलवान् राजा के सामने अपने पुत्र, स्त्री, आत्मा तथा सर्वस्व को अर्पण कर देना 'संश्रय' कहलाता है। सन्धि और विग्रह दोनों का उपयोग करना द्वैधीभाव कहाता है। इस प्रकार ये छः गुण हैं।[3] इन गुणों का प्रयोग एक विजिगीषु राजा कब और कैसे करे इसका सम्यक् निरूपण भी कौटिल्य ने किया है। इन गुणों के द्वारा एक राजा अपने राज्य को उचित रूप से संचालन करने में समर्थ होता है। एक विजिगीषु अपने समीप देश में स्थित शत्रु को अपनी सहायता के लिए कैसे तैयार करे, इसके विविध उपायों का विशद् वर्णन भी इसी अधिकरण में किया गया है।

इसके साथ ही सन्धियों के अनेक प्रकारों–मित्र, हिरण्य, भूमि तथा कर्म के द्वारा की हुई सन्धि, अनवासित सन्धि, कर्म–सन्धि के बारे में व्यापक वर्णन किया गया है। एक राजा को सन्धि तभी करनी चाहिए, जब वह शत्रु से अपने आप को निर्बल समझे।[4] राज्य में कभी–कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है, जब एक साथ बहुत से राजा मिलकर विजिगीषु पर आक्रमण कर दें। इसके लिए कौटिल्य ने अति महत्वपूर्ण उपाय बताये हैं कि उस समय विजिगीषु अपनी रक्षा और वृद्धि का विचार करके उन सभी राजाओं, के मुखिया (यदि वह धर्मात्मा हो तो) से कहे कि तुम्हारे साथ मेरी सन्धि रही।[5] यदि वह मुखिया लोभी, हो तो उसे लालच देते हुए कहे कि यह हिरण्य है और मैं तुम्हारा मित्र हूँ अब समझो कि तुम्हारी दुगुनी बृद्धि हो गई है, इसलिए अपने जन और धन का नाश करके मित्रता का ढाग करने वाले इन शत्रुओं का तुम्हें साथ नहीं देना

---

1. *संधिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यमित्याचार्याः ।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 2 ।
2. *द्वैगुण्यमिति वातव्याधिः । संधिविग्रहाभ्यां हि षाड्गुण्यं संपद्यत इति ।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 3.4 ।
3. *षाड्गुण्यमेवैतदवस्थाभेदादिति कौटल्यः तत्र पणबन्धः सधि ।। अपकारो विग्रहः ।। उपेक्षणमासनम् ।। अभ्युच्चयोयानम् ।। परर्पणं संश्रयः ।। संधिविग्रहापादानं द्वैधीभाव इति षड्गुणाः ।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 5–11 ।
4. *परस्माद्धीयमानः संदधीत ।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 12 ।
5. *सामवायिकैरेवमभियुक्तो विजियगीषुर्यस्तेषां प्रधानस्तं ब्रूयात् । त्वया मे सन्धिः ।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 14, वार्ता 12 ।

चाहिए।[1] इसी प्रकार के अन्य उपायों का वर्णन भी बड़ी कुशलता के साथ किया गया है।

इस अधिकरण में एक विशेष महत्वपूर्ण बात यह दृष्टिगोचर होती है कि कौटिल्य (जिनको कि कुटिल राजनीतिज्ञ कहा जाता है) भी धर्मयुक्त आचरण के पक्ष में थे तथा परलोक की बात को सत्य मानते थे उदाहरणार्थ– कुछ आचार्य उस सन्धि को स्थिर नहीं मानते जो सत्यतापूर्वक वचन मात्र से ही की जाती है या पूज्य पिता आदि के पैर छूकर शपथपूर्वक की जाती है।[2] कौटिल्य इस बात को नहीं मानते। उनके अनुसार सत्यतापूर्वक व शपथपूर्वक की गई सन्धि अत्यन्त विश्वास के योग्य होती है तथा स्थायी होती है क्योंकि उसमें सन्धि करने वालों को इस बात का भय रहता है कि इस सन्धि का उल्लंधन करने पर नरक में पडेंगे और इस लोक में झूठें माने जायेंगे तथा बदनाम होंगे।[3]

इस प्रकार हम देखते है कि प्रस्तुत अधिकरण में सन्धि की महत्ता का वर्णन अत्यन्त विस्तृत रूप से किया गया है। इसके साथ ही एक विजेता विजिगीषु का व्यवहार एक मध्यम, उदासीन और अन्य राजामण्डल के प्रति कैसा हो, इसका भी विशद् वर्णन है।

8. व्यसनाधिकारिक अधिकरण

अष्टम अधिकरण 'व्यसनाधिकारिक' संज्ञा से विभूषित है जिसमें प्रकृति के व्यसन, राजा और राज्य पर आए संकट, सर्व साधारण पुरुषों के व्यसन, पीड़न, स्तम्भ एवं कोश संवर्ग तथा सेना और मित्र पर आई हुए संकटों अर्थात् विपत्तियों का वर्णन किया गया है, तथा उनका प्रतिकार भी बताया गया है।

इस अधिकरण के प्रायः सभी विषयों पर कौटिल्य ने अनेक आचार्यों के मत प्रकट किये है तथा उनसे अपनी सहमति अथवा असहमति भी प्रकट की है। उदाहरणार्थ भारद्वाज के मत में राजव्यसन और मन्त्रिव्यसन में मन्त्रिव्यसन अधिक दुःखदायी होता है,[4] किन्तु कौटल्य कहते है कि अमात्य संकट की अपेक्षा राजसंकट विशेष गुरूत्वपूर्ण है।[5] व्यसन दो प्रकार का होता है–

---

1. *इदं हिरण्यं।। अहं च मित्रम्।। द्विगुणा ते बृद्धिः।। नहिस्यात्मक्षयेण मित्रमुखानमित्रान्वर्धयितुम्।। ऐते हि बृद्धास्त्वामेव परिभविष्यन्तीति।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 14, वार्ता 37 ।*
2. *सत्यं शपथो वा चल संधिः ।। प्रतिभूः प्रतिग्रहो वा स्थावरः इत्याचार्याः।। अर्थ0,अधि0 7,अ0 17, वार्ता 34।*
3. *नेति कौटल्यः ।। सत्यं वा शपथो वा परत्रेह च स्थावरः संधि।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 17, वार्ता 56।*
4. *नेति भारद्वाजः। स्वाभ्यमात्यव्यसनयोरमा त्यव्यसनं गरीय इति।।* *अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 67।*
5. *नेति कौटल्यः । मन्त्रिपुरोहितादिभृत्यवर्गमध्यक्ष प्रचारं पुरुषद्रव्यप्रकृतिव्यसनप्रतीकारमेधनं च राजैव करोति।।* *अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 11–12।*

एक दैव और दूसरा मानुष। अमात्य आदि प्रकृतिवर्ग के ये व्यसन अनय, और अपनय से ही पैदा होते हैं। सन्धि आदि की उचित की व्यवस्था न करना अनय, शत्रुसमूह से पीड़ित होते रहना 'अपनय' कहलाता है।[1] कुछ आचार्यों के मतानुसार सेना और मित्र पर एक साथ विपत्ति आने पर आई हुई विपत्ति अधिक भयावह होती है।[2] परन्तु कौटिल्य के अनुसार जिसके पास सेना की अच्छी शक्ति होती है, उसके मित्र तो मित्र बने ही रहते है, किन्तु शत्रु भी मित्र बन जाता है।[3] एक विजिगीषु का क्या कर्त्तव्य है जब उसके सामने प्रकृतियों मे से दो प्रकृतियों पर विपत्ति आ जाए, इस सम्बन्ध में कौटल्य का कथन है कि यदि एक प्रकृति पर व्यसन आने से शेष प्रकृतियों का भी नाश होता है, तो चाहे वह व्यसन प्रधान प्रर्कृति सम्बन्धी हो, या अप्रधान प्रकृति सम्बन्ध ी हो, उसे सभी व्यसनों की अपेक्षा गुरूतर अर्थात् अत्याधिक हानिकार समझना चाहिए। विजिगीषु को आवश्यक है कि ऐसे व्यसनों का सर्वथा प्रतिकार करे।[4]

एक राज्य की समृद्धि सेना पर निर्भर करती है, क्योंकि सेना ही युद्ध के समय शत्रु को भगाने या उसे मार गिरा कर अपने राजा को विजय दिलाती है। अतः कौटल्य ने सेना और मित्र पर आई हुई विपत्तियों तथा उनके प्रतिकार का विशद् वर्णन किया है। सैनिक व्यसनों के परिहार के सम्बन्ध में कौटिल्य का विचार है कि अमानन, विमानन आदि दोषों का प्रायश्चित करना, दोष–रहित सेना को दूसरी सेना के साथ ठहराना, जंगल में सेना की स्थिति रखना तथा कूट उपायों से शत्रु सेना का भेद करना, अपने से बलवान् पक्ष के साथ सन्धि करना–ये बल व्यसनों के हटाने के साधन हैं।[5] जिस प्रकार एक मित्र भिन्न हो जाए तो वह बड़ी कठिनता से वश में आता है। विजिगीषु को इसके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए कि वह मित्रों के साथ भेद डालने वाले विभिन्न दोषों को कभी उत्पन्न न होने दे। यदि कोई दोष उत्पन्न हो भी जायें, तो उन्हें दोषो को नाश करने वाले गुणों के द्वारा तत्काल शान्त कर दें।[6] इस प्रकार इस अधिकरण में व्यसनों

---

1. *दैवं मानुषं वा प्रकृतिव्यसनमनयापनयाभ्यां संभवति।।* *अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 2 ।*
2. *दण्डमित्रव्यसनयोर्मित्रब्यसनमिति वातब्याधिः।।* *अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 56 ।*
3. *नेति कौटल्यः। दण्डवतो मित्रं मित्रभावे तिष्ठत्यमित्रो वा मित्रभावे।।* *अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 60–61 ।*
4. *शेषप्रकृतिनाशस्तु यत्रैकव्यासनादुभवेत। व्यसनं तदरीयः स्यात्प्रधानस्येतरस्य वा।*
   अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 68 ।
5. *दोषशुद्धिर्वलावापः सत्रस्थानातिसहितम्। संधिश्चोत्तरपक्षस्य बलव्यसनसाधनम्।।*
   अर्थ0, अधि0 8, अ0 5, वार्ता 20 ।
6. *तस्मान्नोत्पादयेदेनान्दोषन्मित्रोपघातकान्। उत्पन्नान्वा प्रशमयेद्गुणैर्दोषापघातिभिः।।*
   अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 30 ।

की व्याख्या व उनके प्रतिकार के उपाय तथा उन विपत्तियों से होने वाले दुष्परिणामों के बारे में वर्णन करके कौटिल्य ने कहा है कि एक विजिगीषु को चाहिए कि जिन कारणों, स्वामी अमात्य आदि प्रकृतियों के सम्बन्ध में जो व्यसन प्राप्त होवें, उसके विषय में आलस्य रहित होकर वह उस व्यसन के उत्पन्न होने से पहले ही उसके कारणों को समाप्त कर दे।[1]

9. अभियास्यत्कर्म अधिकरण

इस अधिकरण के मुख्य विषय इस प्रकार हैं–शक्तियों, देशकाल की अनुकूलता का बल और प्रतिकूलता की निर्बलता तथा यात्राकाल, सेना के तैयार होने का समय, सेना के उद्योग एवं शत्रु सेना से टक्कर लेने वाली सेना के संगठन, पश्चात और ब्राह्यभ्यन्तर कोप, क्षय, व्यय, लाभविमर्श बाहरी और भीतरी आपदायें और दुर्जन व शत्रुजन्य विपत्तियों का प्रतिकार।

इस अधिकरण में महत्वपूर्ण विषय सेनाओ की तैयारी तथा शत्रुपक्ष से टक्कर लेने वाली सेना का संगठन है।

कौटिल्य पूर्णरूपेण कुशल राजनीतिज्ञ होने पर भी नास्तिक नहीं थे। यद्यपि वे 'अर्थ' के लाभ को सर्वार्थसिद्धि के नाम से पुकारते थे फिर भी दैवी आपदाओं का प्रतिकार देवता तथा ब्राह्मणों को नमस्कार करने से ही किया जा सकता है ऐसा उनका मत था।[2] इसी प्रकार वे यज्ञों की महत्ता स्वीकार करते थे। आवृष्टि (वर्षा का न होना) अतिवृष्टि आवश्यकता से अधिक वर्षा होना, अथवा आसुरी सृष्टि (चूहे आदि जन्तुओं का बढ़ जाना) इस सबके कारण उत्पन्न आपदाओं के प्रतिकार के लिए अथर्ववेद में प्रतिपादित शन्ति कर्मो का अनुष्टान करना चाहिए, तथा सिद्ध तपस्वी महात्मा पुरुषों के द्वारा प्रारम्भ किए गए शान्ति कर्मो को भी इन आपदाओं के प्रतीकार करने में कारण समझना चाहिए।[3] इस प्रकार यह अधिकरण भी अनेक आपदाओं के प्रतिकार के उपायों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

10. सांग्रामिक अधिकरण

दशम अधिकरण को 'सांग्रामिक' नाम से अभिहित किया है, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें संग्राम अर्थात युद्ध से सम्बन्धित बातों का वर्णन है। इस अधिकरण में स्कन्धावार

---

1. *यतोनिमिन्तं व्यसनं प्रकृतीनामवाप्नुयात्। प्रागेव प्रतिकुर्वीत तन्निमित्तमतन्द्रितः।।*
अर्थ0, अधि0 8, अ0 5, वार्ता 31 ।
2. *तासां दैवब्राह्मणप्राणिपाततः सिधि।।* *अर्थ0, अधि0 8, अ0 7, वार्ता 98 ।*
3. *अवृष्टिरतिवृष्टिर्वा सृष्टिर्वा यासुरी भवेत्। तस्यामाथर्वणं कर्म सिद्धरम्भाश्च लिद्वयः।।*
अर्थ0, अधि0 8, अ0 7, वार्ता 99 ।

(छावनी) के निर्माण, स्कन्धावार प्रयाण, आपत्ति एवं आक्रमण के समय सेना की रक्षा, कूट युद्ध के भेद, अपनी सेना को प्रोत्साहन तथा अपनी और पराई सेना का व्यवस्थापन, युद्ध–योग्य भूमि तथा चतुरंगिणी सेना के कार्य, व्यूह–रचना, सेना के विभाग और चतुरंग–सेना का युद्ध, दण्डव्यूह, भोग व्यूह, प्रकृतिव्यूह आदि व्यूह की रचना आदि युद्ध सम्बन्धी नियम तथा युद्ध से सम्बन्धित मुख्य विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

युद्ध के समय छावनी के निर्माण में विशेष सजगता की आवश्कता होती है। इसी के निर्माण के विषय के अन्तर्गत ही कौटिल्य की दूरदृष्टि परिलक्षित होती हे। जिस मार्ग से शत्रुओं के आने की सम्भावना हो, उस मार्ग में कुएं, छिपे हुए धोखे के गड्ढे को खोदकर, और काँटों या लोहे की कीलों से युक्त तख्तों को जमीन पर बिछा कर शत्रु के रोकने का प्रबन्ध किया जाये।[1] इसके साथ ही शत्रु के गुप्तचरों के बारे में पता करने के लिए दिन–रात अपने आदमियों के इधर–उधर घूमने का भी नियम करे।[2]

इस तरह हम देखते हैं कि शिविर का निर्माण आत्मसुरक्षा की दृष्टि के साथ–साथ शत्रु के विनाश करने के उपाय की दृष्टि से भी किया गया है। कौटिल्य इस पक्ष में नहीं थे कि एक परास्त शत्रु को बार–बार कष्ट दिया जाये, क्योंकि वे इस बात से अच्छी तरह परिचित थे कि हीनबल शत्रु यदि जीवन से निराश होकर लड़ने को लौट पड़े तो उसके युद्ध वेग का निवारण कठिन हो जाता है।[3]

इस अधिकरण के अन्त में कौटिल्य ने अत्यन्त उपयुक्त बात कही है कि युद्ध से मंत्र बुद्धिमान होता है। धनुर्धारी के धनुष से छोड़ा हुआ वाण, सम्भव है, किसी एक भी पुरुष को मारे या न मारे, परन्तु बुद्धिमान व्यक्ति के द्वारा किया हुआ बुद्धि का प्रयोग, गर्भस्थित प्राणियों को भी नष्ट कर देता है। अतः युद्ध की अपेक्षा बुद्धि को शक्ति–सम्पन्न समझना चाहिए।[4]

11. संघवृत्त अधिकरण

इस अधिकरण में भेद के प्रयोग व प्रच्छन्न भाव से मारण के उपायों का निरूपण किया गया है।

---

1. *शत्रूणामापाते कूपकूटावपातकण्टकिनीश्च स्थापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 12 ।*
2. *दिवायामं च कारयेदपसर्पज्ञानार्थम्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 14 ।*
3. *न त्वेव स्वभूमिप्राप्तं त्यक्तात्मानं वा।। पुनरावर्तमानस्य निराशस्य च जीविते। अधार्यो जायते वेगस्तस्मृद्भग्नं न पीडयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 72–75 ।*
4. *एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुः क्षिप्तो धनुष्मता। प्राज्ञेन तु मति क्षिप्ता हनयादगर्भतानपि।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 6, वार्ता 55 ।*

संघलाभ, मित्रलाभ व सेना लाभ, इन सभी में से संघलाभ उत्तम होता है क्योंकि एकत्रित रहने से संघों को शत्रु नहीं दबा सकते।[1] संघ में फूट डालकर ही उन पर विजय पायी जा सकती है। अतः संघ में फूट डालने के लिए विजिगीषु को साम–दाम–दण्ड–भेद सभी नीतियों का आवलम्बन लेना चाहिए।[2] संघों में फूट पड़ जाने पर विजिगीषु थोड़ी शक्ति वाले संघमुख्य को धन आदि के द्वारा वश में कर ले और उसी के द्वारा अन्य संघों पर आक्रमण करा दे। इस प्रकार से कार्य करने पर विजिगीषु समस्त संघ समूह का एक मात्र राजा होगा।[3]

यदि कोई विजिगीषु संघों मे फूट डलवा देता है तथा उपांशु दण्ड के प्रयोग के द्वारा उनमें से शत्रुओं को एक–दूसरे के हाँथ मरवा कर स्वयं संघों का प्रमुख हो जाता है, फिर भी उसे संघ–मुख्य की दृष्टि से उचित व्यवहार करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह संघों में सदा न्याययुक्त, हितकारी तथा प्रिय व्यवहार करे। कभी उद्धतता से काम न लें, तथा अपने अनुकूल पुरुषों को, ही अपने समीप रखे और सब संघ के पुरुषों के मतानुसार ही व्यवहारों को करें,[4] तभी वह संघ के संचालन में समर्थ होकर उसे अपनी विजय में सहायक बना सकता है।

12. आवलीयस अधिकरण

इस अधिकरण के पांच अध्यायों में दूतकर्म, मन्त्रयुद्ध, शत्रु के सेनापतियों का वध और मित्र आदि राजमण्डल का प्रोत्साहन, शस्त्र अग्नि व रसों का गूढ़ प्रयोग, योगातिसन्धान, दण्डातिसन्धान और एक विजय का विवेचन किया गया है।

एक प्रबल अभियोक्ता के प्रति दुर्बल राजा को क्या करना चाहिए? इस विषय में कौटिल्य का मत है कि दुर्बल राजा को चाहिए कि वह अपने प्रतिद्वन्दी राजा के समान या उससे भी अधिक शक्ति रखने वाले अन्य राजा का आश्रय ले लें अथवा ऐसे दुर्ग में जाकर अपना कार्य आरम्भ करे, जिस पर शत्रु का कुछ बस न चल सकता हो। अर्थात् ऐसे राजा या दुर्ग का आश्रय लेकर ही दुर्बल राजा अपने शत्रु का सामना करें[5] जो अभियोक्ता (दुर्बल राज पर आक्रमण करने वाला बलवान् राजा) जिस उपाय से संतुष्ट हो, उसे उसी प्रकार सन्तुष्ट करे। यदि कोई अन्य

---

1. *संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्मः। संघा हि संहतत्वादधृत्याः परेषाम्।। अर्थ0, अधि0 11, अ0 1, वार्ता 12 ।*
2. *ताननुगुणान्भुञ्जीत सामदानाभ्याम्। विगुणान्भेददण्डाभ्याम्।। अर्थ0, अधि0 11, अ0 1, वार्ता 34 ।*
3. *संघष्वेवमेकराजो वर्तेत्।। अर्थ0, अधि0 11, अ0 1, वार्ता 76 ।*
4. *संघमुख्यश्च संघेषु न्यायवृत्तिहितः प्रियः। दान्तो युक्तजनस्तिष्ठेत्सर्वचित्तानुवर्त्तकः।। अर्थ0, अधि0 11, अ0 1, वार्ता 78 ।*
5. *तद्विशिष्टं तु राजानमाश्रितो दुर्गमविषत्यं च चेष्टेत।। अर्थ0, अधि0 12, अ0 1, वार्ता 10 ।*

प्रबल अभियोक्ता, बलपूर्वक अपने (दुर्बल राजा के) धन आदि का अपहरण करे तो उस धन आदि सम्पत्ति को सन्धि के बहाने उसे ही देकर धन की अपेक्षा अपने प्राण की ही सर्वथा रक्षा करे, क्योंकि स्वयं नष्ट होकर धन पर दया दिखाना व्यर्थ है क्योंकि प्राण सुरक्षित होने पर धन पुनः प्राप्त किया जा सकता है।[1] बुद्धिमता से शत्रु को ठगना ही 'मन्त्रयुद्ध' कहलाता है। जब शत्रु सन्धि की याचना करने पर भी सन्धि न करे, तो उसे मन्त्र–युद्ध के द्वारा ही सीधा करना चाहिए। इसमें सर्वप्रथम तो उपदेश से ही दुर्बल राजा अभियोक्ता को समझाने की प्रयत्न करे यदि इससे कार्य सम्पन्न न हो तो गुप्तचरों को नियुक्त करे तथा अन्यान्य युक्तियों से उसके प्रजा वर्ग में असंतोष पैदा कर दे। बाद में गुप्तचर शत्रु के प्रमुख स्थानों को जलाकर वहाँ नियुक्त रक्षकों का वध करके यह प्रकट करे कि सब कार्य तो नगर व जनपद के निवासियों ने ही किया है।[2]

इसके अतिरिक्त अत्यन्त गुप्त उपायों से सेनापतियों तथा शत्रु के प्रमुख पदाधिकारियों का वध करने का वर्णन इस अधिकरण में किया गया है। कौटिल्य ने शत्रु पक्ष में विद्रोह तथा उसके विनाश के इतने रहस्यमयी तरीके बताये हैं जिसमें वधकर्त्ता स्पष्ट बच जाता है तथा उस पर कोई संदेह भी नहीं करता। क्योंकि इसमें गुप्त पुरुष, शत्रु पक्ष के ही व्यक्तियों द्वारा ही वहाँ के प्रमुख लोगों को विष देकर या सर्प आदि के द्वारा मरवा देते हैं और इस प्रकार स्वयं साफ बचकर अपने शत्रु को दुर्बल बना देने वाले कष्ट पहुँचाते हैं।

13. दुर्बलम्भोपाय अधिकरण

'दुर्गलम्भोपाय' नामक तेरहवें अधिकरण में शत्रु के दुर्गों को प्राप्त करने के उपायों, शत्रु को दुर्ग से बाहर निकाल देने के उपायों, गुप्तचरों को शत्रु देश में रखने, शत्रु दुर्ग को घेरकर अपने अधिकार में लेने, विजित राज्य में शन्ति स्थापित करने के उपायों को विशद् वर्णन किया गया है।

शत्रु के दुर्ग को विजित करने के उपायों का वर्णन करते हुए कौटिल्य का कहना है कि शत्रु के नगर आदि पर अधिकार की इच्छा वाला राजा अपनी सर्वज्ञता और देव–साक्षात्कार की विशेषता को प्रचारित कर स्वपक्ष को उत्साहित और परपक्ष को उद्विग्न करे।[3] इस कार्य को

---

1. *यत्प्रसह्य हरेदन्यः तत्प्रयच्छेदुपायतः। रक्षेत्स्वदेहं न धनं का ह्यनित्ये धने दया।*

अर्थ0, अधि0 12, अ0 1, वार्ता 37 ।

2. *अन्तः पुरपुरद्वारद्रव्यधान्यपरिग्रहान्। दहयुस्ताश्च हन्युर्वा ब्रयुरस्यतिवादिनः।।*

अर्थ0, अधि0 12, अ0 2. वार्ता 48 ।

3. *विजिगीषुः परग्राममवाप्तुकामः सर्वज्ञदैवतसंयोगख्यापनाभ्याः स्वपक्षमुद्धर्षयेत्।।*

अर्थ0, अधि0 13, अ0 1, वार्ता 1 ।

कार्तान्तिक दैवज्ञ, मौहूर्तिक, पौराणिक, एवं ईक्षणिक रूप में रहने वाले गुप्तचर देश भर में प्रचारित कर सकते हैं।

धन और अन्न संकट के अवसर पर शत्रु राजा की प्रकृति, वर्ग की भाँति सहायता देती है। शत्रु के देश में दुर्भिक्ष चोरों का भय, वनचरों के आक्रमण का भय होने पर पुरवासियों को उस राजा के विरूद्ध भड़कावे।[1] जो व्यक्ति उनकी बात मान लें तो उन्हें विजिगीषु धन–धान्य और निवास–स्थान आदि देकर उनकी सहायता करे। शत्रु के आदमियों को शत्रु से भेद, डालने के लिए यह बहुत ही अचूक उपाय है।[2] कौटिल्य ने ऐसे अनेक उपायों के वर्णन इस अधिकरण के दूसरे अध्याय में किया है, जिनके प्रयोग के द्वारा विजिगीषु, शत्रु राजा को वश में करके उसको अपने दुर्ग से बाहर निकलवा कर मरवा सकता है। शत्रु राजा का वध कर, जिस प्रकार से शत्रुओं के बीच में गुप्तचरों ने प्रवेश किया था उसी प्रकार कपटपूर्वक उन्हें बाहर निकल आना चाहिए अन्यथा उनके पकड़े जाने की संभावना हो सकती है।

शत्रु के कोष और सेना का नाश करते हुए तथा अमात्य आदि का वध करके विजिगीषु को चाहिए कि वह उसके दुर्ग के चारों ओर घेरा डाल दे, किन्तु इस अवस्था में वह यह ध्यान रखे कि जनपद को किसी तरह की पीड़ा न हो, प्रत्युत उसकी रक्षा ही करे।[3] क्योंकि कौटिल्य के मत में मनुष्यों से रहित प्रदेश, को जनपद नही कहा जा सकता और जनपद से रहित राज्य नहीं हो सकता, क्योंकि यदि जनपद ही नही होगा तो राज्य किस पर किया जाएगा।[4]

उपजाप, अपसर्ग, वामन, पर्युपासन ओर अवमर्द ये ही पांच उपाय शत्रु के दुर्ग को प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होते है।[5] विजित राज्य में शन्ति स्थापन के उपाय बताते हुए अन्त में अति महत्वपूर्ण बात कौटिल्य ने कही है कि विजिगीषु नवलब्ध राज्य में धर्मसंगत व्यवहार का प्रचलन करे और अधर्मयुक्त आचार व्यवहार को बिल्कुल न चलने दे।[6] इस प्रकार राज्य करने

---

1. *दुर्भिक्षस्तेनाटव्युपघातेषु च पौरजानपदानुत्साहयन्तः। सत्रिणो ब्रयुः। राजानमनुग्रहं याचामेह। निरनुग्रहाः परत्र गच्छाम इति।* *अर्थ0, अधि0 13, अ0 1, वार्ता 38–40 ।*
2. *यथैव प्रविशेयुश्च द्विषतः सत्रहेतुभिः। तथैवं चापगच्छेयुरित्युक्तं योगवामनम्।।* *अर्थ0, अधि0 13, अ0 2, वार्ता 62 ।*
3. *कार्शनपूर्व पर्युपासनकर्म। जनपदं यथानिविष्टमभये स्थापयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 13, अ0 4, वार्ता 12 ।*
4. *न ह्यजनो जनपदो राज्यमजनपदं वा भवतीति कौटल्यः।।* *अर्थ0, अधि0 13, अ0 4, वार्ता 5 ।*
5. *उपजापापसर्पो च वामनं पर्युपासनम्। अवमर्दश्च फचेते दुर्गलम्भस्य हेतवः।।* *अर्थ0, अधि0 13, अ0 4, वार्ता 82 ।*
6. *चरित्रमकृतं धर्म्य कृतं चान्यैः प्रवर्तयेत्। प्रवर्तयेन्न चाधर्म्य कृतं चान्यैर्निवर्तयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, वार्ता 35 ।*

पर वह शीघ्र ही विजित राज्य में शन्ति स्थापित करने में सफल हो सकता है।

14. औपनिषदिक अधिकरण

इस चौदहवें अधिकरण का नाम 'औपनिषदिक' है। औषधि और मन्त्रों के रहस्य को 'उपनिषद्' कहते हैं। इसी का निपरूण करने के कारण यह अधिकरण 'औपनिषदित' कहलाता है।

इस अधिकरण में शत्रु को मारने के लिए मन्त्र, औषधि आदि के प्रयोग, शत्रु को वंचित करने के लिए विविध योग, शत्रु को धोखा देने के लिए विविध औषधियों और मन्त्रों का प्रयोग तथा अपनी सेना पर शत्रु द्वारा किए गये प्रयोगों के प्रतिकार के उपायों का वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त बातों के वर्णन से ज्ञात होता है कि कौटिल्य को मन्त्र–औषधि के प्रयोग तथा उनके प्रतिकार के उपायों के विषय में गहन ज्ञान था। उनके इसी ज्ञान को चरितार्थ करने वाला यह उदाहरण दृष्टव्य है जिसका अर्थ है कि जीवन्ती (गिलोय) यदि औषधियों से पोते हुए बाजों का शब्द, विष को नष्ट करने वाला होता है। इसी प्रकार इन औषधियों से लिप्त शिखर वाली झंडी को देखकर भी विष का प्रभाव नही रहता। इन औषधियों के द्वारा अपनी सेना और स्वयं की रक्षा करके, विजिगीषु विष, धूम और जल–दूषणों का सदा शत्रुओं में ही प्रयोग करे।[1]

15. तन्त्रयुक्ति अधिकरण

'तन्त्रयुक्ति' नामक इस पन्द्रहवें अधिकरण में ('तन्त्र' शब्द का अर्थ है ' अर्थशास्त्र') तन्त्रयुक्ति का वर्णन किया गया है। इस अधिकरण में अति संक्षिप्त रूप में अर्थशास्त्र का रचना का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया गया है और यह अधिकरण इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें अर्थशास्त्र के रचयिता सम्बन्धी विवाद के समाप्त किया गया है और कौटिल्य को ही इसका रचयिता बताया गया हैं।[2]

मनुष्यों के व्यवहार या जीविका को ही 'अर्थ' कहते हैं मनुष्यों से युक्त भूमि का नाम भी 'अर्थ' है। इस भूमि को प्राप्त करने और रक्षा करने के उपायों का निरूपण करने वाला शास्त्र

---

1. *तूर्याणां तैः प्रलिप्तानां शब्दो विषविनाशनः। लिप्तध्वजं पपाकां वा दृष्टवा भवति निर्विषः।।*
   एतैः कृत्वा प्रतीकारं स्वसैन्यानामथत्मनः। अभित्रेषु प्रयुज्जीत विषधूमाम्बुदूषणान्।।
   अर्थ0, अधि0 14, अ0 4, वार्ता 12–13 ।
2. *येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः। अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्।।*
   अर्थ0, अधि0 15, अ0 1, वार्ता 80 ।

'अर्थशास्त्र' कहलाता है।[1] यह अर्थशास्त्र बत्तीस प्रकार की युक्तियों से युक्त है अतः इस अधिकरण में उन बत्तीस युक्तियों की व्याख्या की गई है, उदाहरणार्थ– जिस अर्थ का अधिकार करके प्राप्त किया जाए, उसे अधिकरण कहते हैं।[2] इसी प्रकार अन्य इकतीस युक्तियों की व्याख्या की गई है।

कौटिल्य ने अपने इस ग्रन्थ को इस लोक और परलोक की प्राप्ति तथा रक्षा करने वाला बताया है। क्योंकि यह अर्थशास्त्र धर्म, अर्थ और काम को प्रवृत्त करता है तथा उनकी रक्षा करता है और अर्थ के साथ विरोध करने वाले अधर्मों को नष्ट करता है।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कौटिल्य इस संसार के पश्चात् भी एक संसार को स्वीकारते हैं, तथा उसे भी सुधारने में प्रयत्नशील रहते थे। ऐसा नहीं था कि वे कुटिल राजनीतिज्ञ ही थे अपितु वे तो अधर्मों को नष्ट करने में भी अपने ग्रन्थ को सहायक मानते हैं। अन्त में अपने इस विशाल ग्रन्थ की समाप्ति करते हुए उन्होंने लिखा है–दृष्टवा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषुभाष्यकाराणाम्। उद्वेभाव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च।।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'अर्थशास्त्र' में सूत्र और भाष्य दोनों की विष्णुगुप्त अर्थात् कौटिल्य के द्वारा ही प्रयोग किए गए हैं। यह ग्रन्थ आज भी एक कुशल राजनीतिज्ञ के लिए दिग्दर्शक का कार्य कर सकता है, क्योंकि इसमें उन सभी नीतियों के विशद् प्रयोगों के बारे में स्पष्ट वर्णन किया गया है, जिनका प्रयोग जानना एक राजनीतिक नेता अर्थात् विजिगीषु राजा के लिये आवश्यक है। इसमें कोई भी विषय अछूता नहीं है। अतः 'अर्थशास्त्र' एक उच्च कोटि का ग्रन्थ है जो युगों–युगों तक सभी का मार्ग दर्शन करता रहेगा।

---

1. *मनुष्याणां वृत्तिरर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।।*
   तस्या पृथिव्याः लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति।। — *अर्थ0, अधि0 15, अ0 1, वार्ता 13 ।*
2. *यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणम ।।* — *अर्थ0, अधि0 15, अ0 1, वार्ता 6 ।*
3. *एवं शास्त्रमिदं युक्तगेताभिस्तन्त्रयुक्तिभिः। अवाप्तौ पालने चोक्तं लोकस्यास्य परस्य च।।*
   धर्ममर्थ च कामं च प्रवर्तयति पाति च। अधर्मानर्थविद्वेषानिदं शास्त्रं निहन्ति च।।
   अर्थ0, अधि0 15, अ0 1, वार्ता 78–79 ।

अध्याय द्वितीय

राज्य

अध्याय द्वितीय

राज्य

राज्य की उत्पत्ति

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के दो सिद्धान्तों की ओर संकेत किए हैं, जिनके आधार पर प्रतीत होता है कि कौटिल्य राज्य की उत्पत्ति के विषय में समाज अनुबन्धवाद तथा सावयव सिद्धान्त में आस्था रखते थे।[1]

समाज अनुबन्धवाद

राज्य की उत्पत्ति समाज अनुबन्धवाद के आधार पर हुई है, कौटिल्य ने इस सिद्धान्त की ओर अप्रत्यक्ष रूप से इंगित किया है। प्रजा में राजा के महत्व की स्थापना करने एवं प्रजा को अपने राजा की धन से सहायता करनी चाहिए इस पक्ष के प्रतिपादन करने के निमित्त तत्सम्बन्धी विचारों को प्रजा में प्रसारित करने के हेतु गुप्तचरों को आदेश देने की व्यवस्था करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि गुप्तचरों को राज्य की प्रजा में इस प्रकार के विचार प्रसारित करने चाहिए– कि पूर्वकाल में एक ऐसा युग था जब प्राणियों में मात्स्यन्याय का प्रावल्य था। जल में जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निरन्तर नष्ट करती रहती हैं इसी प्रकार उस युग में सबल मनुष्य निर्बल मनुष्यों को निरन्तर नष्ट करते रहते थे। इस यातनामय जीवन से मुक्ति पाने के लिए लोगों ने विवस्वान के पुत्र मनु को अपना राजा चुना।[2] प्रजाजनों ने उत्पन्न हुए अन्न का छठवाँ भाग, व्यापार द्वारा प्राप्त हुए धन का दसवां भाग तथा सुवर्ण का कुछ भाग कर के रूप में राजा को देना नियत किया।[3] इस भाँति करों द्वारा प्राप्त धन से राजा प्रजा की रक्षा करते हुए उनके कल्याण के कार्य करते रहे हैं। जो राजा अपनी प्रजा पर कठोर दण्ड का प्रयोग नहीं करता, न ही प्रजा के दुःखों के हरण करने में समर्थ होता हैं और जो कठोर दण्ड देने वाला होता हैं, वह प्रजा के योगक्षेम के विनाशक और प्रजापीड़क होता हैं।[4] ऋषि–मुनि भी बीन कर लाये गये अन्न का छठवाँ भाग कर के रूप में अपने राजा को प्रदान करते हैं। अस्तु प्रजा की

---

1. *डी0आर0 भण्डारकर : सम आसपेक्ट्स ऑव एशियंट हिन्दू पॉलिटी,, पृ0 140 ।*
2. *मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजामनुं वैवस्वतं राजाम चक्रिरे।। अर्थशास्त्र, अधि01, अ0 13, वार्ता0 6।*
3. *धान्यषड्भागं पण्यद्रशभागं हिररायं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 13, वार्ता 7।*
4. *तेन भृता राजनः प्रजानां योगक्षेमंवहास्तेयां किल्विषमदण्डकरा हरन्ति अयोगक्षेमवहाश्च प्रजानाम्।।*
   अर्थशास्त्र अधि0 1, अ0 13, वार्ता 9।

रक्षा करने में तत्पर राजा ही कर द्वारा प्राप्त धन–धान्य का अधिकारी होता है।[1]

कौटिल्य के उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण करने से अनेक सिद्धान्तों की स्थापना होती है। इस वर्णन के आधार पर यह विदित होता है कि पूर्व काल में एक ऐसा भी युग था जब राजा एवं राज्य व्यवस्था का निर्माण नहीं हुआ था। उस युग में मनुष्य बर्बर अवस्था में था। मनुष्य अपने स्वार्थ साधन हेतु दूसरों के विनाश में लिप्त था। मनुष्य जीवन अस्थिर, यातनामय और पशुवत था। जिस प्रकार जल में बड़ी मछली छोटी मछलियों को नष्ट करती रहती है उसी प्रकार उस युग में सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य को नष्ट करने में संलग्न था। इस प्रकार कौटिल्य ने भीष्म की भाँति प्रकृति युग की कल्पना की हैं,[2] और उसके लगभग वही लक्षण बताये हैं जिनका विचार इंग्लैण्ड के तत्ववेत्ता हाब्स ने प्राकृतिक अवस्था में किया है।

वस्तुतः मानव जीवन उस समय अत्यन्त दुखी था। वह येन–केन प्रकारेण इस अवस्था से निवृत्ति पाने के लिए प्रयत्नशील था। व्यक्तियों ने विचार किया कि कोई ऐसा शक्तिसम्पन्न व्यक्ति होना चाहिए जो मात्स्यन्याय की अवस्था से निवृत्ति प्रदान कर उनमें न्याय एवं सुरक्षा–व्यवस्था स्थापित कर सके। उन्होंने आपस में मिलकर विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना स्वामी बनाया तथा उनको राजा स्वीकार किया। इस प्रकार प्राकृत युग के मनुष्य ने राजा का सृजन कर राज्य व्यवस्था की स्थापना की। परन्तु उन्होंने अपने राजा से यह अनुबन्ध किया कि वह उनके योगक्षेम के लिए सतत प्रयत्नशील रहेगा। राजा को इस कार्य के निष्पादन हेतु प्रजा धन, जन आदि से सदैव सहयोग करते रहेंगे। प्रजा का स्पष्ट मत था कि यदि वह अपने इस कर्तव्य रो च्युत होगा तो उसकी धन, जन आदि की सहायता बन्द कर दी जायेगी और वह राजा के पद से वंचित कर दिया जायेगा।

कौटिल्य ने राजा एवं राज्य व्यवस्था के निर्माण में समाज अनुबन्धवाद के सिद्धान्त का आश्रय लिया है जिसका स्वरूप किसी अंश तक उसी प्रकार का है जैसा कि महाभारत में भीष्म ने तत्सम्बन्धी सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

प्राचीन यूनान में सोफिस्टों का कहना था कि राज्य अप्राकृतिक संस्था है और इसकी उत्पत्ति समझौते के द्वारा हुई है।[3] प्लेटो ने अपनी पुस्तक रिपब्लिक में इस सिद्धान्त की आलोचना

---

1. *तस्मादुश्रछ षड्भागमारण्यका ऽपि निवपन्ति तस्यैतद्भागधेयं योअस्मान्‌गो पायतीति।।*

   अर्थशास्त्र अधि0 1, अ0 13, वार्ता 9।

2. *अराजकाः प्रजाः पूर्व विनेशुरिति नः श्रुतम्। परस्परं भक्षयन्ती मत्स्या इव जले कुशान्।।*

   महा0, शा0 प0, अ0 67, श्लोक 17 ।

3. *गेटेल : हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल थॉट, पृ0 44 ।*

की है और इसे असत्य बतलाया है।[1] रोम में शासन सत्ता के अनुबन्ध की धारणा विकसित थी।[2] बारहवीं शताब्दी में रोमन लॉ के अध्ययन का सूत्रपात हुआ, जिसके साथ ही समझौते का सिद्धान्त भी युक्त–युक्त जान पड़ा।[3] मध्ययुगीन यूरोप में सामन्तशाही व्यवस्था थी और इस व्यवस्था का आधार भी समझौता ही था।[4] आधुनिक युग में हॉब्स, लॉक, तथा रूसो ने इस सिद्धान्त को पूर्णतः विकसित कर राज्य के आधार, निर्माण, स्वरूप एवं लक्ष्य को इसकी सीमा में विबद्ध कर दिया।

यदि हॉब्स, लॉक तथा रूसो का समाज– अनुबन्धवाद तात्कालिक राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का प्रतिफल था तो कौटिल्य का यह राज्य– विश्लेषण भी सम्भवतः मौर्य पूर्वकालीन सामाजिक तथा राजनीतिक टकरावों पर ही आधृत था। हॉब्स ने इस सिद्धान्त के द्वारा राज्य की स्वेच्छाचारिता का समर्थन किया और लॉक ने जनवाद के आश्रय में सीमित–राजसत्ता का। किन्तु कौटिल्य ने राज्य निर्माण में कदाचित् समाज–अनुबन्ध वाद का अनुमोदन नही किया। मनु और प्रजा का अब्यक्त अनुबन्ध अथवा उसके पणात्मक सम्बन्ध का अपरोक्ष आशय यही है कि कोई स्थायी राज्य उसके घटकों की पारस्परिक सहमति के बिना नही टिक सकता। वही राज्य का निर्माण करते हैं। उन्होंने ही राजा को सत्ता प्रदान की है।[5] राज्य की सत्ता की व्यापकता स्वीकार करते हुये भी कौटिल्य स्वेच्छाचारिता के परिसीमन के साथ ही प्रजा के द्वारा राजभाग निश्चित हो जाने के पक्ष मे था। 'पूर्वकाल' भी पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के समाज- अनुबन्धवाद की प्राकृतिक अवस्था के समान नहीं है, जब व्यक्ति के पास कुछ नैसर्गिक अधिकार थे और वह यत्किंचित् नैसर्गिक नियमों का पालन करता था। मत्स्य–न्याय में सामाजिक अव्यवस्था ही सांकेतित है। सामाजिक अव्यवस्था के निराकरण के लिये राज्य–संस्था अनिवार्य है, जिसमें जनसहयोग तथा जनअनुमति रहे।[6] यही कौटिल्य के विचारो का भाव है। इस अर्थ मं उसे प्राचीन ही नही अर्वाचीन विचारक भी कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा।

---

1. *प्लेटो : रिपब्लिक (जोवेट का अनुवाद) पृ0 359–367 ।*
2. *गेटेल : हिस्ट्री ऑव पालिटिकल थॉट, पृ0 79 ।*
3. *हेनरीमैन : एशियन्ट लॉ (दशवां संस्करण) पृ0 301 ।*
4. *विलोबी : नेचर ऑफ द स्टेट, पृ0 57 ।*
5. *इन इन्ट्रोडक्सन टू पॉलिटिक्स, पृ0 54 ।*
6. *जन संप्रभुता की धारणा का विकास वेदकालीन है। धर्म सूत्रों में आय का छठा भाग (राजकर) राजा का वेतन कहा गया है। कौटिल्य ने अवश्य इस सिद्धान्त को प्रथम बार स्पष्ट राजनीतिक स्वरूप दिया।*

राज्य का सावयव स्वरूप

हिन्दू विचारकों को एक राजनीतिक सावयव के रूप में राज्य की अवधारणा ज्ञात थी।[1] कौटिल्य ने राज्य की सप्तप्रकृतियुक्त स्वीकारा है। यह सात प्रकृतियाँ स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र है।[2] उन्होंने राज्य की प्रकृतियों को राज्य के अवयव कहकर सम्बोधित किया है।[3] इससे यह विदित होता है कि कौटिल्य राज्य को एक ऐसा अवयवी मानते थे जिसका निर्माण सात अवयवों के संयोग से माना गया है। इस आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कौटिल्य राज्य के सावयव स्वरूप में आस्था रखते थे परन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित राज्य के सावयव सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप क्या था, इस विषय का निरूपण करने के लिए अर्थशास्त्र में सम्यक् प्रामाणिक सामाग्री का सर्वथा अभाव है।

कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सावयव सिद्धान्त के चिन्ह भारत के प्राचीनतम साहित्य में भी पाये जाते है। ऋग्वेद में समस्त जगत की कल्पना विराट पुरूष से की गयी है। उस विराट पुरूष के विभिन्न अवयवों द्वारा सृष्टि की किस प्रकार रचना हुई है इस विषय का बोध कराया गया है। उस विराट पुरूष के चार अंगों से चार प्रकार के व्यक्तियों की उत्पत्ति मानी गयी है। विराट पुरूष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरूओं से वैश्य और पादों से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[4] यजुर्वेद में दिए हुए पुरूषसूक्त में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। इस प्रसंग में स्पष्ट बतलाया गया है कि विराट पुरूष का मन चन्द्र है और उसकी आँखे सूर्य हैं।[5] यजुर्वेद में कुछ ऐसी ऋचाएं हैं जिनमें राज्य के सावयव सिद्धान्त का कुछ अधिक स्पष्टता से वर्णन उपलब्ध है। यजुर्वेद की एक ऋचा में वर्णन किया गया है – कि मेरी (विराट पुरूष की) पीठ राष्ट्र है, मेरा उदर, कन्धे, कटि, जंघा और घुटने यह सब अंग मेरी प्रजा है।[6] इस प्रकार ऋग्वेद और यजुर्वेद इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति का सावयव सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितनी कि ऋग्वेद और यजुर्वेद की ऋचाऐं प्राचीन हैं।

---

1. *हिन्दू एडिमिनिस्ट्रेशन इंस्टीट्यूट, पृ0 5 ।*
2. *स्वाम्यमात्य जनपद दुर्ग कोश दण्ड मित्राणि प्रकृतयः। अर्थशास्त्र, अधि0 6, अ0 1, वार्ता0 1।*
3. *प्रकृत्यवयवानां तु व्यसनस्य विशेषतः।। अर्थशास्त्र, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 66।*
4. *ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्वाहूराजन्यः कृतः। उरू यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत।।*
   ऋग्वेद, मण्डल 10, सूत्र 9, मंत्र 12।
5. *चन्द्रमा मनसोजातश्चक्षोः सूर्योऽजायत। श्रीत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखदग्निरजायत।।*
   यजुर्वेद, अध्याय 31, मन्त्र 12 ।
6. *पृष्टी मेराष्ट्रमुदरं सौग्रीवाश्च श्रोणी। ऊरू अरत्नी जानुनी विशोमेऽगनि सर्वतः।।*
   यजुर्वेद, अ0 20, मन्त्र 8।

महाभारत में राज्य को सप्तांग माना गया है। इसके अनुसार राज्य का निर्माण सात अंगों (अवयवों) के संयोग से बतलाया गया है। राज्य के यह सात अंग आत्मा (राजा), अमात्य, कोश, दण्ड, मिश्र, जनपद और पुर माने गए हैं।[1] महाभारत के रचनाकार ने भी राज्य की उत्पत्ति के सावयव सिद्धान्त की पुष्टि कौटिल्य की भांति की है।

मनु ने भी की सप्तात्मक अथवा सप्तांग मानकर सावयव सिद्धान्त की पुष्टि की है। राज्य के यह सात अंग अथवा अवयव स्वामी, अमात्य सहृद, पुर राष्ट्र, कोश और दण्ड बतलाए गए हैं। [2] उनका का मत है कि इन सात अंगों के संयोग से राज्य उसी प्रकार स्थिर रहता है जैसे कि तीन डण्डे एक दूसरे के सहारे खड़े रहते हैं। [3] मनु राज्य के इन सात अंगों में से प्रत्येक अंग को महत्व की दृष्टि से सामन ही मानते है। इनमें से किसी को भी एक दूसरे से छोटा अथवा बड़ा नही मानते। जिस अंग से जो कार्य सिद्ध होते हैं वह अंग उसी में श्रेष्ठ माना गया है।[4] इस प्रकार मानव धर्मशास्त्र में भी सावयव सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है।

शुक्र ने भी राज्य की उत्पत्ति के सावयव सिद्धान्त का समर्थन किया है। उन्होंने राज्य को सप्तांग रूप में मान कर स्वामी, अमात्य, सृहृद, कोश, दुर्ग राष्ट्र और बल यह राज्य के सात अंग इंगित किये हैं। इनमें राजा (स्वामी मस्तक), अमात्य राज्य रूपी पुरूष के नेत्र सृहृद, कान कोश, मुख दुर्ग हाथ, राष्ट्रपाद, और बल उस पुरूष का मन माना गया है। [5] इस प्रकार शुक्र भी राज्य की कल्पना पुरूष रूप में करते हैं। शुक्रनीति के एक प्रसंग में शुक्र ने राज्य को वृक्ष माना है। इस वृक्ष का मूल राजा, मन्त्री स्कन्ध, सेनापति शाखा, सेना पल्लव और कुसुम, प्रजा

---

1. *आत्मामात्याश्च कोषाश्च दण्डोमित्राणि चैवहि।।* *शा0 पर्व, अ0 69, श्लोक 64।।*
   तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरूनन्दन। एतासप्ताष्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः।।
   शा0 पर्व, अ0 69, श्लोक 65।।
2. *स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्र कोशदण्डों सुहतथा। सत्पप्रकृतयोह्मेताः सप्तांगं राज्यमच्यते।।*
   मनु0, अ0 9, श्लोक 294।।
3. *सप्तांगस्येह राज्यस्य विष्टधस्य त्रिदण्डवत्।।* *मनु0, अ0 9, श्लोक 296।।*
4. *अन्योन्य गुणवैशेष्यान्न किष्चिदतिरिच्यते।।* *शा0पर्व, अ0 9, श्लोक 296।।*
   तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदृगं विशिष्यते। येनयत्साध्यते कार्य तत्तस्मिन्श्रेष्ठमुच्यने।।
   मनु0, अ0 9 श्लोक 296।।
5. *स्वाम्यमात्य सुहृत्कोष राष्ट्र दुर्ग बलानि च। सप्तांगमुच्यते राज्यं।।* *शुक्रनीति, अ0 1, श्लोक 61।।*
   x x x यत्र मूर्घा नृपः स्मृस्त।। *शुक्रनीति, अ 1, श्लोक 61।।*
   दृग्मात्या सुहृच्छोत्रं मुखं कोषो बलंमनः। हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्यांगानिस्मृतानि हि।।
   शुक्रनीति, अ0 1, श्लोक 62 ।।

फल और भूभाग बीज से सम्बोधित किए गए हैं।[1] इस प्रकार शुक्र ने भी राज्य के सावयव सिद्धान्त का समर्थन किया है।

वस्तुतः प्राचीन भारत के साहित्य में ऐसे प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है जो इस विषय की पुष्टि करते हैं कि प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति के सावयव स्वरूप को स्थिर किया गया था। इसी विचारधारा के पोषक कौटिल्य भी रहे हैं।

राजशास्त्र की व्यवहारिक परिणति में प्राचीन भारतीय आचार्यों का राज्य के सम्बन्ध में सावयव सिद्धान्त सहज और स्वाभाविक था। उन्होंने राज्य क्या है? इसका विश्लेषण किया, न कि इसे क्या होना चाहिए। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में राज्य की अवधारणा का यह एक प्रमुख सिद्धान्त हैं। किन्तु दार्शनिक चिन्तन की पराकाष्ठा में पाश्चात्य विचारकों ने प्रायः इसे वास्तविकता से दूर आदर्शवाद की शिक्षा पर रख दिया। फिर भी इसकी यथार्थता स्वीकृत है। जैलिनिक कहता है कि समस्त राज्य सिद्धान्तों में यह सबसे अधिक प्राचीन तथा लोकजन्य हैं।[2] प्लेटों ने राज्य तथा व्यक्ति की सादृश्यता स्थापित करते हुए कहा है कि दोनों के कार्यों मे बडी सारूप्यता है।[3] अरस्तू ने भी राज्य और व्यक्ति की समता स्थापित की है।[4]

राज्य की आंगिक एकता

कौटिल्य के अनुसार राज्य के विभिन्न अंगों के बीच आंगिक एकता है, यद्यपि इसे स्पष्ट रूप से उल्लिखित नही किया गया है। उनके अनुसार राज्य में राजनीतिक संतुलन बनाए रखने के लिए सभी अंगों में सहयोग आवश्यक है। कौटिल्य ने कहा कि यदि वे तत्व उदासीन रहकर पारस्परिक रूप से एक–दूसरे की सहायता नहीं करते हैं तो राज्य के लिए व्याधि उत्पन्न हो सकती है। कौटिल्य के अनुसार इ– अंगों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उनका महत्व एक–दूसरे के सम्बन्ध में रहकर ही है। महाभारत के मोक्षधर्म पर्व के अन्तर्गत भी राज्य कें अंगो के बीच आंगिक एकता का संकेत मिलता है। कौटिल्य ने कहा है कि राज्य का अस्तित्व तथा कार्यकुशलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके सभी अंग एक–दूसरे के साथ

---

1. *राज्य वृक्षस्य मृपतिर्मूलं स्कन्धाश्च मंत्रिणः।। — शुक्रनीति, अ0 4, श्लोक 1257।।*
   शाखाः सेनाधिपा सेनाः पल्लवाः कुसुमानिच। प्रजाःफलानि भूभागों वीजंभूमिः प्रकल्लिता।।
   शुक्रनीति, अ0 4 ,श्लोक 1258।।
2. *गार्नर : पॉलिटिकल साइंस एण्ड गर्वमेन्ट पृ0 312*
3. *प्लेटो : रिपब्लिक (जोवेट द्वारा अनुवादित) पृ0 327*
4. *अरस्तू : पॉलिटिक्स (जोवेट द्वारा अनुवादित) पृ0 113*

अन्योन्याश्रित रूप से जुड़े रहकर एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं। मनु ने भी कहा है कि जिस प्रकार एक–दूसरे के सहारे खड़ी तीन लाठियों की संरचना किसी एक के हट जाने से ध्वस्त हो जायेगी, उसी प्रकार राज्य रूपी शरीर अपने एक अंग के समाप्त हो जाने से खड़ा नहीं रह सकेगा।[1] कौटिल्य ने यह माना है कि राज्य के किसी एक अंग में गड़बड़ी होने से अन्य अंगों पर भी उसका कुप्रभाव पड़ सकता है, परन्तु साथ–ही–साथ उसने यह भी माना है कि यदि राजा योग्य, निपुण और समझदार है तो एक या दो अंगो में गड़बड़ी होने पर राज्य के कार्य–संचालन में रूकावट नहीं आ सकती है। शुक्र ने भी कहा है कि ''राजा राज्य रूपी वृक्ष का मूल है, मंत्रिपरिषद् उसका धड़ है, सेनापति उसकी शाखा है, सैनिक उसके पल्लव हैं, प्रजा उसके पुष्प है, देश की संपन्नता उसका फल है और संपूर्ण देश उसका बीज है।''[2]

स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राज्य को एक संपूर्ण शरीर के रूप में देखा जाता था, यद्यपि राजा को सर्वश्रेष्ठ और सबसे महत्वपूर्ण समझा जाता था। कौटिल्य ने भी राज्य कें अंगों में आंगिक एकता का प्रतिपादन करते हुए स्वामी या राजा को सबसे महत्वपूर्ण अंग माना है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि कौटिल्य ने राज्य के अंगों के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध का उल्लेख किया है, परन्तु उसकी आंगिक एकता का सिद्धान्त प्लेटो और अरस्तू की आंगिक एकता के सिद्धान्त की तरह स्पष्ट नहीं है।

राज्य की इस सावयवी अवधारणा में कौटिल्य ने इस सिद्धान्त के प्रायः सभी मूलांशों की परिव्याख्या की है। इन राज्य अंग की अन्तनिर्भरता, विशिष्टता, आवश्यकता एवं भिन्नता में भी अभिन्नता की व्याख्या कर उसने राज्य की अवयवी धारणा को तर्कजन्य आधार दे दिया, जो केवल सिद्धान्तिक ही नहीं अपितु व्यवहारिक भी था। राज्य–कार्यों के संचालन के लिये ये सभी अंग आवश्यक थे। वास्तव में कौटिल्य की इस अवयवी अवधारणा में राजसत्ता के स्वरूप अथवा राज्य–संप्रभुता के सिद्धान्त का विवेचन परिछिन्न है। संप्रभुता का अभिप्राय है राज्यशक्ति। कौटिल्य से पूर्व प्रभुसत्ता का इतना स्पष्ट विश्लेषण प्राचीन भारत में नही हुआ था।[3] राजत्व इन प्रकृति –तत्वों के आधार पर निर्मित हैं। राजा मन्त्रियों की सहायता के बिना, अकेले कार्य नही कर सकता है। कौटिल्य ने कहा है कि राज्य का रथ अकेले राजा के एक चक्र से नहीं चला

---

1. *मनुस्मृति, अ0 9, पृ0 296।*
2. *शुक्रनीति, अ0 5, श्लोक 12।*
3. *डॉ0 एच0 एन0 सिन्हा : द डेवलपमेंन्ट ऑफ इण्डियन पॉलिटी ,पृ0 125।*

करता। इसको अमात्यादि रूपी दूसरे चक्र की आवश्यकता है। यह सब सोच कर सचिव अवश्य रखने चाहिए और उनकी सम्मति का ध्यान रखना श्रेयस्कर है।[1] अतः राज्यशक्ति के ये अंग निर्माण–तत्व हैं। इन सात अंगों मे राज्य के उन चार सारभूत तत्वों की भी विवेचना है, जिनकी व्याख्या आधुनिक लेखक 'गेटेल' तथा 'लीकाक' ने की है।[2]

कदाचित् राज्य की इस सावयवी अवधारणा में यह परिलक्षित है कि राज्य का अंग की भांति एक क्रमिक विकास हुआ जो व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्वाह के लिये स्वाभाविक संस्था के रूप निर्मित हुआ। राज्य में शक्ति संचित है, जिसका श्रोत स्वयं राज्य नहीं, अपितु किसी संगठित समाज के विभिन्न अवयव हैं। इसका एक यह भी निष्कर्ष हुआ कि स्वयं ध्येय नहीं प्रत्युत सामान्य हित की पूर्ति में साधन है। राजा का अपना प्रिय और हितकारी कोई पृथक कार्य नहीं है।[3]

राज्य की सावयवी अवधारणा में यह निहित ही है कि राज्य के निर्माण–तत्वों का पारस्परिक सहयोग बना रहे। राजा दण्ड का उपयोग सम्यक् एवं न्यायोचित् रूप से करे, न कि किसी स्वार्थभावना से प्रेरित होकर। इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार राज्य की यह प्रतिरोधी शक्ति एक विशेष स्थिति है न कि उसका सार और आधार।

कौटिल्य का सप्तांग निश्चित रूप से एक विशिष्ट है। अनेक सभीक्षकों ने इसके महत्व की चर्चा की है, परन्तु आलोचकों ने इसकी आलोचना भी की है। आलोचकों का कथन है कि सप्तांग सिद्धान्त आधुनिक राज्य के लिए लागू होता है। आधुनिक राज्य के तत्वों में संप्रभुता सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, परन्तु कौटिल्य ने सप्तांग में संप्रभुता का उल्लेख नहीं किया है। डा0वी0पी0 वर्मा ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "कौटिल्य के सप्तांग सिद्धान्त में संप्रभुता की अवधारणा की चर्चा नहीं की गयी है।"[4]

कुछ आलोचकों ने कहा है कि कौटिल्य ने अपने सप्तांग सिद्धान्त के अन्तर्गत ऐसे तत्वों का उल्लेख किया है जो वास्तव में राज्य के तत्व नहीं है। उदाहरण के लिए ' मित्र ' को राज्य का तत्व नहीं कहा जा सकता है। डॉ0 वी0पी वर्मा ने भी कहा है कि "मित्र को राज्य के तत्व

---

1. *अर्थ0, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 9 ।*
2. *डी0आर0 भण्डारकर : सम आसपेक्ट्स् ऑफ एशियन्ट हिन्दू पॉलिटी , पृ0 103 ।*
3. *अर्थ0, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 34 ।*
4. *डॉ0 वी.पी.वर्मा : स्ट्डीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउन्डेशन्स, पृ0 62 ।*

के रूप में नहीं रखा जाना चाहिए था।"[1]

कौटिल्य ने यद्यपि राज्य के विभिन्न तत्वों का उल्लेख किया है, परन्तु उसने स्वामी को ही सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना है। उसके अनुसार राजा ही राज्य है। राज्य के अन्य तत्व गौण तत्व हैं।

कौटिल्य का सप्तांग सिद्धान्त वस्तुतः राजतंत्र के तत्वों की अभिव्यक्ति है। यह लोकतांत्रिक राज्य के लिए उपयुक्त नहीं है।

अनेक आलोचनाओं के बावजूद कौटिल्य के सप्तांग सिद्धान्त का व्यापक महत्व है। उसके सप्तांग सिद्धान्त का सबसे बड़ा महत्व यह है कि इसके द्वारा राज्य जैसी अमूर्त्त संस्था को मूर्त रूप देकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। कौटिल्य ने राज्य के विभिन्न तत्वों या अंगों का उल्लेख करते समय राज्य के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया है। उदाहरण के लिए उसने कोष एवं दुर्ग का उल्लेख करते समय न केवल उनके महत्व पर प्रकाश डाला है, वरन् उनके निर्माण स्थल और निर्माण विधि का भी उल्लेख किया है। मित्र को राज्य का आवश्यक तत्व मानकर उसने राज्य को विभिन्न राज्यों के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि कौटिल्य का चिन्तन प्लेटों और अरस्तू से अधिक व्यापक है। प्लेटो और अरस्तू ने अपने राजनीतिक चिन्तन को यूनानी नगर राज्य तक ही सीमित रखा है, जबकि कौटिल्य ने मगध राज्य को अपने चिन्तन का केन्द्रबिन्दु बनाते हुए अन्य राज्यों से उसके संम्बन्धों के स्वरूप पर विचार किया है।

वस्तुतः कौटिल्य की राज्य धारणा के कुछ सैद्धान्तिक निष्कर्ष प्रतिपादित होते हैं। वह राज्य को एक मानवी, स्वाभाविक तथा अनिवार्य संस्था के रूप में मानता था जिसका स्वरूप सावयवी था। इस सावयवी रूप में राज्य के हित उसके निर्माण—तत्वों के हित से भिन्न नहीं है। राज्य एक प्रभुसत्तासम्पन्न इकाई है, जिसके निर्माण मे ही सामाजिक स्थिरता सम्भव है। राज्य की " आबाधसत्ता" के लिये इस दृष्टिकोण में स्थान नही है। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न रही हो, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भण्डारकर कहते हैं कि मौर्ययुगीन शासक अपेक्षाकृत निरंकुश थे।[2] यह कथन सर्वथा अग्राह्य नहीं है। कौटिल्य के राज्य एवं राजनीतिक सिद्धान्तों में स्वयं विरोधाभास है। एक ओर उसने राजनीति में नैतिक तत्वों का निम्न मूल्यांकन कर

---

1. *डॉ0 वी.पी.वर्मा : स्टडीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउन्डेशन्स, पृ0 63।*
2. *डी0आर0 भण्डारकर : सम आसपेक्टस् ऑफ एशियन्ट हिन्दू पॉलिटी, पृ0 167 ।*

अभिलाभ–सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और दूसरी ओर राज्य के स्वरूप में अधिकार–समता (सभी अंगो की समान महत्ता) का। परिणामतः महत्वाकांक्षी शासकों ने उसके प्रथम सिद्धान्त का ही आश्रय विशेषतया लिया।

निःसंदेह कौटिल्य का सप्तांग सिद्धान्त अपने समकालीन चिन्तन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उसने स्वामी, जनपद दुर्ग दण्ड तथा मित्र को राज्य की प्रकृतियां मानकर तथा उनके गुणों की चर्चा कर राज्य को एक सफल और प्रभावी संस्था के रूप में देखने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में इस बात का संकेत करना अत्यावश्यक है कि कौटिल्य के मस्तिष्क के राजतंत्र का स्वरूप था और उसी को ध्यान में रखते हुए उसने अपने सप्तांग सिद्धान्त में राज्य के विभिन्न तत्वों या अंगों का उल्लेख किया है। कुछ समीक्षकों के अनुसार कौटिल्य का सप्तांग सिद्धान्त आधुनिक राज्य के लिए उपयुक्त नहीं है, परन्तु अनेक विद्वानों का यह मत है कि कौटिल्य का सप्तांग सिद्धान्त आधुनिक राज्य के लिए भी संगत है। यद्यपि उसने स्पष्ट रूप से सरकार और संप्रभु का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु जब हम विभिन्न तत्वों के गुणों का विश्लेषण करते हैं तो हम पाते है कि स्वामी संप्रभुता का, अमात्य सरकार का और जनपद क्षेत्रफल और जनसंख्या का प्रतीक है। इस दृष्टि से कौटिल्य के सप्तांग सिद्धान्त को आधुनिक राज्य की अवधारणा का मार्गदर्शक सिद्धान्त कहा जा सकता है।

अध्याय तृतीय

राजा

अध्याय तृतीय

राजा

राजा का महत्व, आवश्यकता एवं उपयोगिता

समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापनां, उत्पीड़न की इतिश्री, वर्णसंकरता को रोकने तथा लोकमर्यादा की रक्षा के लिए राजा की परम आवश्यकता है। समस्त राजशास्त्र वेत्ताओं ने राजा की आवश्यकता एवं महत्व को स्वीकार किया है। कौटिल्य ने राजतंत्र के अधिकारी को राजा नाम से सम्बोधित किया है। राजा शब्द के अर्थ से उसकी आवश्यकता प्रतिबिम्बित होती है। ''राजन'' शब्द और उसके मूल रूप राष्ट्र का शब्दार्थ ''शासक'' है और इसका सम्बन्ध लैटिन भाषा के शब्द ''रैक्स'' से है किन्तु भारतीय राजशास्त्रियों ने राजपद के अधिकारी को इसलिए राजा की संज्ञा दी है क्योंकि वह प्रजा का रंजक होता है।[1] ''शान्ति पर्व'' में राजा शब्द की व्युत्पत्ति ' रंज ' धातु से स्वीकरते हुए इसका अर्थ प्रसन्न करना बताया है, अर्थात राजा प्रजा की प्रसन्नता एवं आनन्द का श्रोत है। राजा शब्द का अभिप्राय प्रजा का रंजन करने वाले तथा धर्म की मूर्ति है और यही उसका सर्वप्रधान लक्षण एवं कर्त्तव्य है। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा राजा शब्द की व्याख्या करने का आग्रह किये जाने पर भीष्म उनके प्रश्न का उत्तर देत हुए कहते हैं कि समस्त प्रजा को प्रसन्न प्रजा को प्रसन्न करने के कारण उसे राजा की संज्ञा दी है।[2]

कालीदास ने राजा रघु के संदर्भ में भी उपर्युक्त अर्थ स्वीकार किया है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में रधु का वर्णन करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सभी का आवाह्मन कर चन्द्रमा ने अपना नाम सार्थक किया और सबको तपाकर सूर्य ने अपना नाम सार्थक किया, उसी प्रकार रघु ने भी प्रजा का रंजन करके अपना 'राजा' नाम सार्थक कर दिया।[3] अतः प्रजा का रंजन करने के कारण ही उसे 'राजा' कहा जाता है।

शुक्र ने राजा का कर्त्तव्य बताया है कि वह प्रजा का रंजन करे।[4] राजा के कारण ही समाज में शान्ति–व्यवस्था स्थापित रहती है तथा प्रजा निर्बाधरूप से निवास करती है। उसी के

---

1. डॉ0 के0 पी0 जायसवाल : हिन्दू राजतंत्र (द्वितीय खण्ड), पृ0 1 ।

2. महाभारत, शान्तिपर्व: अ0 59, श्लोक 125 ।

3. रघुवंश : अ0 4, श्लोक 12 ।

4. शुक्रनीतिसार : अ0 1, पृ0 744 ।

कारण धर्म, अर्थ एंव काम रूप त्रिवर्ग के फल की प्राप्ति करती है।

सोमदेव सूरि ने भी राजा के महत्त्व को उसके महान् कर्त्तव्यों के संदर्भ में व्यक्त किया है। वह अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही धर्म, अर्थ काम रूप त्रिवर्ग फल के दाता, राज्य को नमस्कार करते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि समस्त सुखों की प्राप्ति राज्य के द्वारा ही प्रजा को होती है। सोमदेव सूरि ने दुष्टों का निग्रह करना तथ सज्जन पुरुषों का पालन करना राजा का परम धर्म बतलाया है।[1]

बाल्मीकि रामायण में राजा के. महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार ध्वजा द्वारा रथ पहचाना जाता है, धूम से अग्नि का बोध होता है। उसी प्रकार प्रजा का परिचय राजा के द्वारा होता है।[2] वृहस्पति के अनुसार राजा रहित देश में कृषि, वाणिज्य, लेन–देन, प्रजा लक्षण कार्य प्रतिपादित नहीं दिये जा सकते। वर्णाश्रम धर्म के सम्यक् पालने करने के लिए मनुष्यों का नेता (राजा) निर्मित किया गया है।[3]

राजा की आवश्यकता एवं महत्त्व का वर्णन महाभारत के शान्तिपूर्व में उपलब्ध है। कौशल नरेश वसुमना द्वारा प्रश्न किये जाने पर कि राज्य में रहने वाले प्राणियों की वृद्धि कैसे होती है, उनका ह्रास कैसे होता है, किस देवता की पूजा करने वाले व्यक्तियों को अक्षय सुख की प्राप्ति होती है? आचार्य वृहस्पति कौशल नरेश के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि लोक में जो धर्म देखा जाता है, उसका मूल कारण राजा ही है। राजा के भय से ही प्रजा एक– दूसरे का भक्षण नहीं करती। राजा ही मर्यादा का उल्लंधन करने वाले तथा अनुचित भोगों में आसक्त रहने वाले सम्पूर्ण जगत् के लोगों को धर्मानुकूल शासन द्वारा प्रसन्न रखता है और स्वयं भी प्रसन्नतापूर्वक रहकर अपने तेज से प्रकाशित होता है। जैसे सूर्य और चन्द्रमा का उदय न होने पर समस्त प्राणी घोर अंधकार में डूब जाते हैं, एक–दूसरे को देख नहीं पाते, जैसे अल्प जल वाले सरोवर में मत्स्यगण, तथा रक्षकरहित उपवन में पक्षियों के झुण्ड परस्पर एक –दूसरे पर निरन्तर आघात करते हुए स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हैं, वे कभी तो अपने प्रहार से दूसरों को कुचलते और मन्थन करते हुए आगे बढ़ जाते हैं और कभी दूसरों की चोट खाकर व्याकुल हो उठते हैं। इस प्रकार आपस मे लड़ते हुए वे थोड़े ही दिनों में नष्ट–भ्रष्ट हो जाते है, इसमें संदेह

---

1. नीतिवाक्यमृतम् – अ0 5, श्लोक 2 ।

2. ध्वजा रथस्य– देवत्व मितांगतः ।। *अ0का0, सर्ग0 6, श्लोक 30 ।*

3. नाराज के कृषि वाणिक – निर्मितः पुरा।। *वृहस्पतिस्मृति, अ0 1, श्लोक 8–9 ।*

नहीं हैं। इसी प्रकार राजा के अभाव में प्रजा आपस में लड़–झगड़कर नष्ट हो जायेगी और बिना चरवाहे के पशुओं की भांति दुःख के घोर अन्धकार में डूब जायेगी।

यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो शक्तिशाली पुरुष दुर्बल मनुष्यों की स्त्रियों तथा पुत्रियों को अपहरण कर ले और अपने घर की रक्षा में प्रयत्नशील मनुष्यों का विनाश कर दें। यदि राजा रक्षा न करे तो इस जगत में स्त्री, पुत्र, धन अथवा परिवार कोई भी ऐसा संग्रह नहीं हो सकता जिसके लिए कोई कह सके कि यह मेरा है, सब ओर सबकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का लोप हो जाये। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो पापाचारी लुटेरे सहसा आक्रमण करके वाहन, वस्त्र, आभूषण और विविध प्रकार के रत्न लूट ले जायें। यदि राजा रक्षा न करें तो धर्मात्मा पुरुषों पर बारम्बार नाना प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों की मार पड़े और विनाश होकर लोगों को अधर्म का मार्ग ग्रहण करना पड़े। यदि राजा प्रजा का पालन न करे, तो दुराचारी मनुष्य माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु को क्लेश पहुंचावें अथवा मार डालें। यदि राजा रक्षा न करे, यदि राजा प्रजा का पालन न करे, तो अकाल में ही लोगों की मृत्यु होने लगे, यह समस्त जगत् डाकुओं के अधीन हो जाये, और पाप के कारण घोर नरक में गिर जाये। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो व्यभिचार से किसी को घृणा न हो, कृषि नष्ट हो जाये, धर्म डूब जाये, व्यापार चौपट हो जाये और तीनों वेदों का लोप हो जाये।

यदि राजा जगत की रक्षा न करे तो विधिवत् पर्याप्त दक्षिणाओं से युक्त यज्ञों का अनुष्ठान बन्द हो जाये, विवाह न हो और सामाजिक कार्य अवरुद्ध हो जायें। यदि राजा पशुओं का पालन न करे तो दूध– दही से भरे हुए घड़े कभी मथे न जायें और गौशालाएं नष्ट हो जायें। यदि राजा रक्षा न करें तो सारा जगत् भयभीत, उद्विग्नचित्त, हाहाकार–परायण तथा अचेत हो क्षणभर में नष्ट हो जाये। यदि राजा पालन न करे तो उनमें विधिपूर्वक दक्षिणाओं से युक्त वार्षिक यज्ञ यथोचित प्रकार से न हो सकें। यदि राजा पालन न करे तो विद्या पढ़कर स्नातक हुए ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने वाले और तपस्वी तथा ब्राह्मण चारों वेदों का अध्ययन छोड़ दें। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो मनुष्य हताहत होकर धर्म का सम्पर्क छोड़ दे और चोर घर का माल लेकर अपने शरीर और इन्द्रियों पर चोट आये बिना ही सकुशल लौट जायें। यदि राजा प्रजा का पालन न करें तो चोर और लुटेरे हस्तगत वस्तु को भी छीन लें, सारी मर्यादाएं भंग हो जायें और सब लोक भय से पीड़ित हो चारों ओर भागते फिरें। यदि राजा पालन न करे तो सर्वत्र

अन्याय एवं अत्याचार फैल जाये, वर्णसंकर संतान उत्पन्न होने लगे और समस्त देश में दुर्भिक्ष फैल जाये।

राजा से रक्षित हुए प्राणी सब ओर से निर्भय हो जाते हैं, और अपनी इच्छानुसार घर के द्वारा खोलकर सोते हैं। यदि धर्मात्मा राजा भली–भांति पृथ्वी की रक्षा न करे तो कोई भी मनुष्य अपशब्द अथवा हाथ से पीटे जाने का अपमान कैसे सहन करे। यदि पृथ्वी का पालन करने वाला राजा अपने राज्य की रक्षा करता हैं तो समस्त आभूषणों से विभूषित हुई सुन्दरी स्त्रियां किसी पुरुष को साथ लिये बिना ही निर्भय होकर मार्ग से आती जाती हैं। जब राजा रक्षा करता है तो सब लोग धर्म का ही पालन करते हैं, कोई किसी की हिंसा नहीं करता और सभी एक–दूसरे पर अनुग्रह करते हैं। जब राजा रक्षा करता है तब तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लोग बड़े–बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं और मनोयोगपूर्वक विद्याध्ययन मे रत रहते हैं। कृषि आदि समुचित जीविका की व्यवस्था ही इस जगत् के जीवन का मूल है तथा वृष्टि आदि के हेतुभूत त्रयी विद्या से ही सर्वदा जगत् का पालन होता है। जब राजा प्रजा की रक्षा करता है तभी सब कुछ ठीक प्रकार से चलता है जब राजा विशाल सैनिक शक्ति के सहयोग से भारी भार, वहन करके प्रजा की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लेता है तब यह सम्पूर्ण जगत् प्रसन्न हो जाता है। जिसके न रहने पर सब ओर से समस्त प्रणियों का अभाव होने लगता हैं और जिसके रहने पर सर्वदा सबका अस्तित्व बना रहता है। जो उस राजा के प्रिय हित–साधन में संलग्न रहकर उसके भयंकर शासन भार को वहन करता है, वह इस लोक और परलोक में विजय पाता है।[1]

वसुमना और वृहस्पति के उपर्युक्त संवाद से राजा की आवश्यकता एवं उसका महत्त्व भली–भाँति स्पष्ट हो जाता है कि राजा के अभाव में कौन–कौन सी हानियाँ होती है तथा उसके होने से प्रजा को क्या–क्या लाभ होता है, इन समस्त बातों पर प्रकाश डालने वाला यह संवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

राज की आवश्यकता के विषय में अन्य ग्रन्थों में भी उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण मे वर्णित है कि " देवताओं ने राक्षसों द्वारा अपनी निरन्तर पराजय के कारणों पर विचार किया, तो वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उनकी पराजय इसलिए होती है कि उनका कोई राजा नहीं है। अतः उन्होंने सर्वसम्मति से राजा का निर्वाचन किया।" इससे प्रकट होता है कि युद्ध की

---

1. डॉ एम० एल० शर्मा : नीतिवाक्यामृतं में राजनीति, पृ० 54–55 ।

आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप राजसत्ता का प्रादुर्भाव हुआ।

मनु, भीष्म, कामन्दक, शुक्र आदि आचार्यो ने राजा की उपयोगिता सम्बन्धी धारणा को स्वीकार किया है। मनु के मतानुसार राजा का स्वरूप दण्डधारी धर्म संस्थापक का है। दण्ड का सम्यक् प्रयोग करने के निमित्त जिस पुरुष का निर्माण किया गया उसको मनु ने राजा की संज्ञा दी है और उसके पद को ''राजपद '' नाम से सम्बोधित किया गया है। अपने इस सिद्धांत की पुष्टि वह इस प्रकार करते हैं– ''सत्यवादी समीक्षा–परायण, बुद्धिमान तथा धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ण के वास्तविक रहस्य का ज्ञाता व्यक्ति दण्ड धारण कर सकता है'' ।[1]

शुक्र ने राजपद का महत्व स्वीकारते हुए राजा को काल कारण (युगनिर्माता) कहा है, और बताया है कि राजा के बिना प्रजा स्वधर्म में स्थित नहीं रहती है।[2]

कौटिल्य के मतानुसार राजा राज्य की कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी है। वह दण्ड का प्रतीक है। राजा अपने प्रजा का परमहित है उसकी समस्त क्रिया अपनी प्रजा के कल्याण हेतु होती है। प्रजा के कल्याण में ही राजा का कल्याण माना गया है।[3]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजपद को उसकी भौतिक शक्ति के कारण नही, अपितु प्रजा के प्रति भव्य कर्त्तव्यपरायणता के आधार पर मान्यता मिली थी। इस पद की उपयोगिता को ही इसका औचित्य माना गया था।

स्वामीसम्पद्

प्रजा को आकृष्ट करने वाले, प्रजा सम्बन्धी, उत्साह उत्पन्न करने वाले आदि गुणों को धारण करना राजा का क़र्तव्य बतलाया गया है। कौटिल्य ने यह कहा कि राजा को योग्य, सर्वगुणसम्पन्न धर्मपरायण तथा परोपकारी होना चाहिए। इसी आधार पर उन्होंने राजा के गुणों और योग्यताओं का वर्णन किया है। कौटिल्य की दृष्टि में राजा को गुणवान और शीलवान होना चाहिए। उनके अनुसार उसी व्यक्ति को राजा होना चाहिए जो राज्य का मूल निवासी हो, जो शास्त्रों के निर्देशों का पालन करता हो और जो कुलीनवंश का हो, बलवान हो तथा व्याधियों एवं व्यसनों से मुक्त हो।

---

1. मनु0, अ0 7 श्लोक 26 ।

2. शुक्रनीतिसार, अ0 1 पृ0 119, 120, 131, एवं 132।

3. अर्थ0, अधि0 1, अ0 19. श्लोक 39।

कौटिल्य ने राजा के तीन प्रकार के गुणों की चर्चा की है –**(क)** अभिगामिक गुण **(ख)** प्रजा गुण और **(ग)** उत्साह गुण। उत्तम कुलोत्पन्न, आस्तित्व, बलशाली, दूरदर्शी, वृद्धों के द्वारा निर्दिष्ट किए गए पथ पर चलने वाला, धार्मिक, सत्यवादी, वार्तालाप में विशेष योग्य, कृतज्ञ, उच्च उद्देश्यवाला, महान उत्साहयुक्त, शीघ्र कार्य करने वाला, सामंतों को वश में करने वाला, दृढ़ वुद्धि, उत्तम मनुष्यों की सभा में बैठने वाला और शास्त्रमर्यादा का अभिलाषी–यह राजा के वह अभिगामिक गुण है जिन से आकृष्ट होकर प्रजाजन राजा के निकट जाने को उत्सुक होते है।[1] शास्त्र ज्ञान, सुनने की उत्कंठा, उचित बात या शास्त्र का सुनना, सुनकर उसको ग्रहण करने की क्षमता, ग्रहण करने के उपरान्त उसका धारण करना, अच्छी स्मरण शक्ति, तर्क करने की क्षमता, गुणियों की पहचान बुरे पक्ष को त्यागने की क्षमता राजा के प्रज्ञा गुण माने गये हैं।[2] शौर्य, अमर्ष, कार्य में शीध्रता, दक्षता– यह चार गुण राजा के चार उत्साह गुण माने गए है।[3]

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त राजा को अर्थपूर्ण वचन बोलने में कुशल, प्रगल्भ, भाषण करने में समर्थ, स्मृतिवान, वुद्धि और बल–सम्पन्न, उन्नतचित्त, संयमी, समस्त कलाओं में दीक्षित, यथासमय शत्रु पर आक्रमण करने में समर्थ, उपकार और अपकार का बदला देने में समर्थ, लज्जाशील, आपत्ति एवं प्रकृति के ऊपर अधिकार रखने वाला, दूरदर्शी परिणामदर्शी, देश व काल के अनुसार पुरूषार्थ के करने में प्रधान शक्तियुक्त, सन्धि विग्रह के रहस्य का ज्ञाता, त्यागी प्रणपालक, शत्रु छिद्रदृष्टा, अपने आकार को गुप्त रखने वाला, दीन पुरूष की हँसी न करने वाला, ढेढ़ी भृकुटी से न देखने वाला, काम , क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, उपताप, छल, कपट, आदि दुर्गुणों से रहित, प्रियभाषी, प्रसन्नचित्त सहित उत्तम बोलने में समर्थ, वृद्धों के आचार और उपदेश का ज्ञाता राजा श्रेष्ठ है।

कौटिल्य ने राजा के गुणों की चर्चा करने के क्रम में यह भी कहा है कि उसमें संकट में पड़े शत्रुओं पर आक्रमण करने तथा विपत्ति के समय सेना की रक्षा करने की क्षमता होनी चाहिए। राजा में प्रजा को बिना कष्ट में दिये हुए कोष में वृद्धि करने की क्षमता होनी चाहिए।

---

1. महाकुलीनों दैवबुद्धिः सत्वसम्पन्नों वृद्धदर्शी धार्मिकः सत्यबागविसंवादकः कृतज्ञः स्यूललक्षों महोत्साहोऽदीर्घसूत्रः शश्यसामन्ती दृढ़बुद्धि रक्षुद्रपरिर्षत्की विनयकाम इत्याभिंगामिका गुणाः।।

अर्थशास्त्र, अधि0 6 ,अ0 1 ,वार्ता0 3 ।

2. शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोंहाषोहतत्वभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः।। *अर्थशास्त्र, अधि0 6, अ0 1, वार्ता 4 ।*

3. शौर्यमर्मषः शीध्रता दाक्ष्यं चौत्साह गुणाः।। *अर्थशास्त्र, अधि0 6, अ0 1, वार्ता 5 ।*

प्राकृतिक विपदाओं के समय राजा को प्रजा को आर्थिक सहायता करनी चाहिए। कौटिल्य ने कहा कि उपर्युक्त गुणों का संग्रह स्वामिसम्पद् अथवा आत्मसम्पद् कहलाता है।[1] इसलिए उपर्युक्त गुणों को धारण करना और उनके अनुसार आचरण करना राजा का परम धर्म माना गया है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के एक अन्य स्थल पर राजा के आचरण सम्बन्धी विशेष गुणों का उल्लेख करते हुए इस प्रकार व्यवस्था दी है–राजा को कामादि षड्वर्ग पर विजय प्राप्त कर इन्द्रिय जय करना चाहिए।[2] राजा को विद्या, वृद्धों के सहवास से बुद्धि, गुप्तचरों के चक्षु उद्योग से योगक्षेम के साधनों की प्राप्ति, अपने कार्य में प्रजा को लगाकर उनके धर्मो में उनकी स्थिति, विद्या के प्रचार से शिक्षा तथा उचित दानोपहार आदि देकर प्रजा की प्रियता एवं हितकारी कार्यों के द्वारा अपने व्यवहार को चलाते रहना चाहिए।[3] इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर राजा को परस्त्री, परधन और व्यर्थ की हिंसा से बचते रहना चाहिए।[4] अधिक शयन, लोभ मिथ्याव्यवहार, उद्धतवेष तथा अनर्थ के अन्य कार्यों का राजा को त्याग कर देना चाहिए।[5] राजा को अधर्मपूर्ण और अनर्थ उत्पादन करने वाले व्यवहार के पास जाना उचित नहीं है।[6] धर्म और अर्थ का विरोध कर काम का सेवन नहीं करना चाहिए।[7] अपने सुख का त्याग नहीं करना चाहिए।[8] एक दूसरे से बँधे हुए अर्थ, धर्म और काम का समय पर सेवन करना चाहिए।[9] यदि राजा धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में से किसी एक का दूसरे की अपेक्षा अधिक सेवन करेगा तो राजा अपना अथवा धर्म, अर्थ और काम में से किसी एक का नाश अवश्य कर लेता है।[10]

इस प्रकार राजा को एक महान उच्च आचरणधारी व्यक्ति होना चाहिए जिससे उसकी

---

1. वाग्मी प्रगल्भः स्मृतिमतिबलवानुदग्रः स्ववग्रहः कृतशिल्पोष्प्रसने दण्डानाथ्युपकारापकारयो दृष्टे प्रतीकारी हीमानापत्र कृत्योर्विनियोक्ता दीर्धदूरदर्शी देशकाल–पुरुष कारकार्याप्रधानः संधिविक्रमत्यागसंयपण परच्छिदविभागी संवृतोऽदीनाभि हास्यजिह्यभ्रकुटीक्षणः कामक्रोधलोभ स्तम्भ चापलोपतापपैशुन्यहीनः शक्लः स्मितोदग्राभिभाषी बृद्धोपदेशाचार इत्यात्मसम्पत्।। अर्थशास्त्र, अधि0 6, अ0 1, वार्ता 6 ।

2. तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजय कुर्वीत।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 1 ।

3 वृद्धसंयोगेन प्रजां चारेण चक्षु रूत्थानेन योगक्ष मसांधनं कार्पनुशासनेन स्वधर्मस्थापनं विनयं विधोपदेशेन लोकप्रित्वमर्थसंयोगेन हितेन वृत्तिम्।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 2 ।

4. एवं वश्येन्द्रियः परस्त्रीद्रव्यहिंसाश्च वर्जयेत।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 3 ।

5 स्वप्मंलौल्यमनृतमुद्धतवेषत्वमर्थसंयोग च।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 4 ।

6. अधर्मसंयुक्तं चानर्थसंयुक्तं च व्यवहारम्।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 7 वार्ता 5 ।

7. धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 6 ।

8. न निः सुखः स्यात्।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 7 ।

9. सम वा त्रिवर्गमन्योग्य नुबन्धम्।। अर्थशास्त्र अधि0 1 अ0 7 वार्ता 8 ।

10. एको ह्मत्यासेवितो धर्मार्थ कामानामात्मानमतरी च पीडयति।। अर्थशास्त्र अधि0 1, अ0 7, वार्ता 9 ।

प्रजा उसकी ओर कदापि उंगली न उठा सके।

राजा के गुणों की चर्चा अन्य शास्त्रों में भी की गयी है, परन्तु कौटिल्य ने इन गुणों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। कौटिल्य द्वारा इंगित गुणों के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य ने राजा के संस्थागत और व्यक्तिगत दोनों प्रकार कें गुणों का उल्लेख किया। उसके मतानुसार एक कुशल और प्रभावी शासक के लिए दोना प्रकार के गुणों और योग्यताओं की आवश्यकता है। कौटिल्य की इस विस्तृत विवरणी को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि राजा के गुणों की सूची इतनी विस्तृत है कि कुछ लोगों ने इस रोमानी आदर्शवाद की संज्ञा दी है।[1] प्लेटो ने भी अपने दार्शनिक शासक के लिए अनेक गुणों और अहर्ताओं का उल्लेख किया है, परन्तु प्लेटो की अपेक्षा कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत गुणों की सूची अधिक विस्तृत है। दोनों के बीच इस बिन्दु पर भी भेद है कि जहाँ कौटिल्य ने प्रजाजनों के हित को ध्यान में रखते हुए राजा के गुणों का उल्लेख किया है, वहाँ प्लेटो ने शासनकला में प्रवीणता को दृष्टिगत रखते हुए राजा के गुणों का उल्लेख किया है।

राजा की दिनचर्या

कौटिल्य ने राजा से मर्यादित और नियमित जीवन की अपेक्षा की है। इसके लिए उसने न केवल राजा के गुणों और उसकी शिक्षा–दीक्षा पर ही बल दिया है, प्रत्युत राजा की दिनचर्चा और क्रिया–कलापों का भी विशद विवरण प्रस्तुत किया है। राजा के चरित्र की उच्चता पर कौटिल्य ने विशेष महत्व दिया हे उनका मत है कि जब राजा उदार आचरण से सम्पन्न होता है तो उसके राजकर्मचारी भी उन्नत विचार एवं आचरण के होगें।[2] जो राजा प्रमाद करेगा तो उसके राजकर्मचारी भी उसी प्रकार प्रमादी हो जायेंगे।[3] यदि राजा उद्योग भी करेगा तो इस प्रकार के उसके कर्मचारी गण अपने प्रमाद के कारण सर्वनाश कर देगें।[4] यहाँ तक कि राजा को प्रमादग्रस्त देखकर यह शत्रु से भी सन्धि कर लेते है।[5] अतः राजा को अपनी उन्नति का प्रयत्न सावधानी से करना चाहिए।[6]

---

1. हिलब्रान्ट : अल्टिनडिश्चे पॉलीटिक, "द लास्ट ऑफ क्वालिफाइज इज क्वाइट इक्जक्यूटिव एण्ड नाट फ्री फ्राम रोमंटीक आइडीलिज्म", पृ0 63।

2. राजनमुत्तिष्ठमानमनूत्तिष्ठन्ते भृत्याः।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 1 ।

3. प्रमाद्यन्तमनुप्रमाद्यन्ति ।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 2 ।

4. कर्माणि चास्य भक्षयन्ति।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 3 ।

5. द्विषद्भिश्चातिसधीयते।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 4 ।

6. तस्मदुत्थानमात्मनः कुर्वीत।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 5 ।

कौटिल्य द्वारा राजा की दिनचर्या का उल्लेख करने के पीछे एक बड़ा कारण यह है कि राजा अपने कार्यों में व्यस्त रहने के फलस्वरूप दुर्गुणों, व्यसनों तथा बुरे लोगों की संगतियों से बचा रहेगा। इसके अतिरिक्त वह राज्य के कार्यों में व्यस्त रहकर प्रजाजनों के हित सम्पादन कर सकेगा। यदि राजा ठीक ढंग से अपने राज्य के कार्यों में व्यस्त नहीं रहता है और अपना समय अन्यत्र व्यतीत करता है तो निश्चित रूप से उसका प्रतिकूल प्रभाव राजा के कर्मचारियों और सेवकों पर पड़ेगा जिसके परिणामस्वरूप राज्य अवनति के गर्त्त में चला जायेगा।

अपनी स्वयं की सुरक्षा की दृष्टि से भी राजा को अपनी दिनचर्या निर्धारित करनी चाहिए तथा उसका नियमित रूप से पालन करना चाहिए।

कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या को अनेक भागों में विभाजित किया है उनके मतानुसार राज्य के कार्यों को व्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए राजा को दिन और रात को आठ–आठ घड़ियों में बांट देना चाहिए।[1] उसने पुरुष की छाया को समय विभाजन का आधार बनाया है।[2] प्रातः जब तक पुरूष की छाया उसके आकार से तीन गुनी से कम न हो इतने काल को एक भाग, जब तक पुरुष की छाया की लम्बाई पुरूष के आकार के समान रहे यह दूसरा भाग, जब पुरुष के आकार से घटकर केवल चार अंगुल की रह जाए तो इतने काल को तीसरा भाग समझाना चाहिए। इसके पश्चात मध्याह्नकाल चतुर्थ भाग समझना चाहिए। इसी प्रकार उलटे क्रम से दिन के उत्तरार्द्ध के भी भाग बना लेने चाहिये और इस भाँति दिन के आठ भाग कर लेने चाहिये।[3]

कौटिल्य का विचार है कि पूर्वार्द्ध के प्रथम चरण में राजा को रक्षा सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए और पिछले दिन के आय–व्यय की जाँच करनी चाहिए।[4] दिन के दूसरे भाग में उसको राजधानी और राष्ट्र के लोगों के कार्यों का अवलोकन करना चाहिये।[5] तीसरे भाग में स्नान, भोजन तथा स्वाध्याय में लीन रहना चाहिए।[6] चौथे भाग में बीते हुए दिन की अवशिष्ट

---

1. *नाडिकाभिरदृरष्टधा रात्रिं च विभजेत।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 6 ।*
2. *छाया प्रमाणेन चा ।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 7 ।*
3. *त्रिपौरुषी पौरुषी चतुरड़ंलाच छाया मध्यान्ह अति पूर्वे दिवसस्याष्टभागाः।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 8 ।*
4. *तत्र पूर्वे द्विवसस्याष्टभागे रक्षविधानमायत्ययौ च श्रृणुयात्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 10।*
5. *द्वितीये पौरजनपदानां कार्याणि पश्येत्।।* — *अर्थशास्त्र ,अधि0 1, अ0 19, वार्ता 11 ।*
6. *तृतीये स्नानभोजनं सेनेत।।* — *अर्थशास्त्र ,अधि0 1, अ0 19, वार्ता 12 ।*
   स्वाध्याथं च कुर्वति।। — *अर्थशास्त्र अधि0 1 अ0 19 वार्ता 13 ।*

आमदनी को सँभालना चाहिए तथा उसी भाग में विभिन्न विभागों के अध्यक्ष तथा अधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए।[1] उतरार्द्ध के पंचम भाग में उसे गुप्तचरों के कार्यों एवं गुप्त सूचनाओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।[2] छठे भाग में वह स्वच्छंद विहार तथा विचार करे।[3] सातवें भाग में उसे हाँथी, घोड़े, रथ आदि अस्त्रशास्त्रों का निरीक्षण करना चाहिए।[4] आठवें और अंतिम भाग में उसे युद्ध के सम्बन्ध में सेनापति से आवश्यक विचार–विमर्श करना चाहिए[5] और सायंकाल हो जाने पर संध्योपासना करनी चाहिए।[6]

कौटिल्य ने दिन की तरह रात्रि को भी आठ भागों में बाँटा है। रात्रि के प्रथम भाग में उसे गुप्त पुरुषों से वार्तालाप करना चाहिए।[7] रात्रि के दूसरे भाग में राजा को स्नान, भोजन और स्वाध्याय करना चाहिये।[8] तीसरे भाग में तूर्यध्वनि के साथ रनिवास में प्रवेश करना चाहिये और रात्रि का चतुर्थ और पंचम भाग सोने में व्यतीत करना चाहिए।[9] रात्रि के छठे भाग में उसी तूर्यध्वनि के साथ राजा को निद्रा का त्याग कर देना चाहिये और शास्त्रों का अध्ययन कर दिन में किये हुए कार्यों और अर्थ सम्बन्धी कार्यों पर विचार करना चाहिये।[10] रात्रि के सातवें भाग में गुप्त मंत्रणा कर गुप्तचरों को उनके कार्यों पर नियुक्त कर उनको यथास्थान भेजने के कार्य का सम्पादन करना चाहिये।[11] रात्रि के अन्तिम आठवें भाग में ऋत्विक, आचार्य और पुरोहित के साथ स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन कर आर्शीवाद ग्रहण करना चाहिए।[12] वैद्य, भोजनालय के कार्यकर्ताओं और ज्योतिषियों से बात–चीत करके अपने शरीरादि के विषय में विचार करना चाहिये।[13]

---

1. *चतुर्थेहिरण्यप्रतिग्रहमध्यक्षांश्च कुर्वीत।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 14 ।*
2. *पंचमें मंत्रिपरिषदा पत्रसंप्रेषणेन मंत्रयेत्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 15 ।*
   चार गुह्य बोधनीयानि च बुद्धयेत।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 16 ।*
3. *पष्ठे स्थैविहारं मंत्रं वा सेवेत।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 1, अ0 19, वार्ता 17 ।*
4. *सप्तमें हस्त्यश्चरथायुधीयान्पश्येत्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 18 ।*
5. *अष्टमं सेनापतिसखो विक्रमं चिन्तयेत्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 19 ।*
6. *प्रतिष्ठितेऽहानि संध्यामुपासीत।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 20 ।*
7. *प्रथमे रात्रिभागे गूढपुरूषान्पश्येत्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 21 ।*
8. *द्वितीये स्नानभोजनं कुर्वीत स्वाध्यार्थ च ।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 22 ।*
9. *तृतीये तूर्यघोषेण संविष्टश्चतुर्थपंचमौं शयीत।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 23 ।*
10. *पष्ठे तूर्यघोषेण प्रतिबुद्ध : शास्त्रमितिकर्तव्यतां च चिन्तयेत्।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 24।*
11. *सप्तमे मंत्रमध्यासीत गूढ़पुरुषांश्च प्रेषयेत्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 25 ।*
12. *अष्टम ऋत्वगाचार्यपुरोहितसखः स्वश्स्ययनाति प्रतिगृहीयात्।। अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 26 ।*
13. *चिकित्सकमादानसिकमौहूतिकांश्य पश्येत्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 27 ।*

प्रातःकाल होने पर वत्सवतीधेनु और वृष की प्रदक्षिणा करके राजा को राजदरबार में प्रवेश करना चाहिये।[1]

कौटिल्य द्वारा राजा की दिनचर्या अत्यधिक कठोर है। सामान्य रूप में उसका पालन सहज एवं संभव नहीं है। कौटिल्य भी इस बात को समझता था, इसलिए उसने कहा है कि राजा समय और परिस्थितियों के अनुसार अपनी दिनचर्या में परिवर्तन कर सकता है या उसे अपने ढंग से निर्धारित कर सकता है।

उनका कथन है कि राजा अपनी शक्ति की अनुकूलता के अनुसार रात–दिन का विभाग कर सकता है और उनमें पृथक–पृथक कार्यों का अवलोकन कर सकता है। राजा कार्यक्रम चाहे जिस प्रकार का क्यों न बनाए परन्तु राजा को स्वयं कार्य अवलोकन करना चाहिए और उसके अवलोकन में प्रमाद नहीं करना चाहिए।[2] कौटिल्य द्वारा राजा की व्यस्त दिन चर्या के पीछे प्रबल कारण यही था कि राजा व्यसनों में लिप्त नहीं हो सके।

राजा की दिनचर्या का उल्लेख करने के क्रम में कौटिल्य ने कई अन्य बातों का भी संकेत किया है। उसने कहा है कि जब राजा दरबार कर रहा हो तो प्रत्येक कार्यार्थी को दरबार में प्रवेश करने की अनुमति प्रदान की जाये। इससे राजा जनसामान्य की समस्याओं से अवगत होगा और प्रजा से उसका सीधा सम्पर्क बना रहेगा। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने राजा को और भी कई प्रकार के परामर्श दिये हैं। उसने कहा है कि राजा को उन कार्यों के निष्पादन को प्राथमिकता देनी चाहिए जिसकी समय–सीमा बीत चुकी हो। विलम्ब करने से कार्य असाध्य हो जाता है। कौटिल्य ने राजा को यह भी परामर्श दिया है कि वह आचार्य एवं पुरोहित के साथ यज्ञशाला में उपस्थित होकर विद्वानों एवं तपस्वियों के कार्यों का आदरपूर्वक अवलोकन करे।

इस प्रकार कौटिल्य ने राजा को उद्यमी, विवेकी और धर्मपरायण होने की शिक्षा दी है। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राजा यदि उद्यमी नहीं है तो उसके प्राप्त अर्थों और प्राप्तव्य अर्थों दोनों का विनाश हो जाता है।

राजा के कर्तव्य

कौटिल्य ने राजा के कर्तव्यों को राजा के व्रतों के नाम से सम्बोधित किया है। उन्होंने

---

1. सवत्सां धेनु वृषभं च प्रदक्षिणीकृत्योपस्थानं गच्छेत्।। *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 28 ।*

2. आत्मबलानुकूल्येन वा निशाहर्भागान्प्रविभज्य कार्याणि सेवेत।। *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 19, वार्ता 29।*

राजा के प्रमुख व्रतों का उल्लेख किया है। प्रत्येक प्रकार की उन्नति, यज्ञ, प्रजा द्वारा किए जाने वाले कार्यों की उचित व्यवस्था करना अथवा उनके परस्पर मतभेद एवं कलह सम्बन्धी विषयों में निर्णय देना, दान देना, सम्पूर्ण प्रजा पर समदृष्टि रखना और उसके सम्यक पालन–पोषण की समुचित व्यवस्था करना, अथवा शत्रु, मित्र और उदासीन की देख–रेख करके तदनुकूल उनसे व्यवहार करना तथा विधिवत दीक्षा प्राप्त किए हुये व्यक्तियों को राज्य के विभिन्न पदों पर नियुक्त करना आदि राजा के व्रत माने गये हैं।[1]

इस प्रकार सार्वजनिक उत्थान, दान, यज्ञ, प्रजा के दैनिक कार्यों पर उचित नियंत्रण एवं राज्य में विभिन्न पदों पर योग्य पुरुषों की नियुक्ति करना राजा के व्रत माने गए हैं।

कौटिल्य के विचारानुसार प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित है। अपने आपको अच्छे लगने वाले कार्यों को करने में राजा का हित नहीं है, बल्कि उसका हित तो प्रजाजनों को अच्छे लगने वाले कार्यों के सम्पादन करने में है। राजा का अपना व्यक्तिगत, प्रिय एवं कल्याणकारी कोई कार्य पृथक नहीं होता है। प्रजा–प्रिय और प्रजा–कल्याणकारी कार्य ही राजा का प्रिय और कल्याणकारी कार्य होता है।[2]

अतः राजा को चाहिए की वह राज्य सम्बन्धी कार्यों को उचित रूप से सम्पन्न करे। यद्यपि उस समय आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का उदय नहीं हुआ था फिर भी कौटिल्य ने राज्य या राजा के जिन कार्यों का उल्लेख किया है, वे लोक कल्याणकारी राज्य के कार्य कहे जा सकते हैं। कौटिल्य द्वारा व्यक्त राजा के कर्तव्य इस प्रकार हैं–

(क) प्रजारक्षण

राजा का सर्वोपरि कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना है। इसकी व्याख्या करते हुए कांग्ले ने कहा है कि राजा का प्रथम और प्रमुख कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना है।[3] प्रजा की रक्षा का अर्थ है, प्रजा के शरीर और सम्पत्ति की रक्षा करना। कौटिल्य ने शिल्पियों, व्यापारियों, चोर, डकैत, हत्यारा तथा गुप्त षड़यन्त्रकारियों से प्रजा की रक्षा करने का निर्देश दिया है। उन्होंने दैवी आपदाओं से भी प्रजा की रक्षा करने का प्रावधान किया गया है। कौटिल्य ने जिन आठ प्रकार

---

1. राज्ञो हिव्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम्। दक्षिणावृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषे चनम्।।

अर्थ0, अधि01, अ0 19 श्लोक 38 ।

2. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। आत्म प्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ।।

अर्थ0, अधि01, अ0 19 श्लोक 39 ।

3. आर, पी, कांगले– द कौटिल्य अर्थ0 भाग–3 पृ0 117।

की दैवी आपदाओं से प्रजा की रक्षा की बात कही है वे हैं– (1) अग्नि से रक्षा, (2) जल से रक्षा, (3) रोग एवं बीमारी से रक्षा, (4) दुर्भिक्ष से रक्षा, (5) चूहों से रक्षा, (6) व्याघ्र तथा हिंसक पशुओं से रक्षा, (7) सर्प से रक्षा, (8) राक्षसों से रक्षा।

कौटिल्य ने दैवी आपदाओं से प्रजा की रक्षा के लिए विभिन्न प्रकार के उपायों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि राजा को प्रजा की रक्षा अपनी संतान की भाँति करनी चाहिए। इस हेतु राजा को चाहिए कि वह दैवी विपदाओं का प्रतिकार करने वाले अथर्ववेद के ज्ञाताओं, तांत्रियों, सिद्धों और तपस्वियों को अपने देश में सम्मानपूर्वक रखे।

राजा द्वारा प्रजा की रक्षा का अर्थ केवल प्रजा के शरीर और सम्पत्ति की रक्षा करना नहीं है, अपितु उसके योगक्षेम को बनाये रखना है। इसलिए यह कहा जा सकता हे कि कौटिल्य द्वारा प्रयुक्त शब्द 'रक्षा' अत्यधिक व्यापक है।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में कौटिल्य और हॉब्स में समानता के बिन्दु दृष्टिगोचर होते हैं। जिस प्रकार हॉब्स ने आत्मसंरक्षण के लिए राज्य के निर्माण की बात की है, उसी प्रकार कौटिल्य ने भी कहा है कि रक्षा की भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्यों ने राजा का वरण किया था।

(ख) जनकल्याण

कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि राजा का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजाजनों की भलाई करना है। प्रजा के हित के अलावा राजा का कोई अपना हित नहीं होता है। उसका प्रमुख कार्य प्रजा की भलाई के लिए आवश्यक कार्यों का सम्पादन करना है।[1] इस संदर्भ में कांग्ले ने कहा है कि " राजा का सम्बन्ध केवल प्रजाजनों की भलाई से है, यह तथ्य इस ओर संकेत करता है कि उस समय भी कल्याणकारी राज्य का स्वरूप विद्यमान था "[2] राजा के कल्याणकारी कार्यों के अन्तर्गत अनेक प्रकार के कार्य आते हैं। बंजर भूमि का उपजाऊ बनाना, दुर्भिक्ष, बाढ़, अग्नि तथा अन्य प्राकृतिक विपदाओं में प्रजाजनों को सहायता पहुँचना, स्त्रियों, पीड़ितों तथा निराश्रितों का संरक्षण आदि राजा के प्रमुख कल्याणकारी कार्य माने जा सकते हैं। विद्वानों का सम्मान करना और उन्हें संरक्षण देना, राज्य में चिकित्सालयों, धर्मशालाओं एवं सरायों का निर्माण करना, विधवा, रूग्ण, एवं अनाथ बच्चों को संरक्षण देना, विद्यार्थियों को ज्ञानोपार्जन मे आवश्यक सहायता देना भी

---

1. सी0 पी0 रामस्वामी : इण्डियन पॉलिटिकल थ्योरीज, पृ0 196–197 ।
ड्रेकमीयर : किंगशिप एण्ड कम्युनिटी इन अर्ली इण्डिया, पृ0 255 ।
2. आर0 पी0 कांग्ले : दि कौटिल्य अर्थशास्त्र (भाग–3), पृ0 119 ।

राजा के प्रमुख कल्याणकारी कार्यों के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं।

(ग) शांति व्यवस्था की स्थापना

प्रजा की रक्षा करने के क्रम में राजा को शांति–व्यवस्था बनाए रखने के लिए भी प्रयास करना चाहिए, क्योंकि शांति व्यवस्था के बिना प्रजाजनों की रक्षा नहीं हो सकती है। इस कार्य के लिए उसे साम, दाम, दण्ड तीनों प्रकार की विधियों को अपनाने का अधिकार है। राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह अच्छे लोगों को पुरस्कृत करे और बुरे एवं दुष्ट लोगों को दंडित करे।

उल्लेखनीय है कि कौटिल्य ने यह चेतावनी भी दी है कि राजा को दण्ड का प्रयोग करते समय अत्याधिक सावधानी बरतनी चाहिए। दण्ड के उचित प्रयोग से ही प्रजाजनों की सुरक्षा सम्भव है। दण्ड के अनुचित एवं अन्यायपूर्ण प्रयोग से अनेक प्रकार के दुष्परिणाम प्रगट हो सकते हैं,प्रजा द्वारा राजा के विरूद्ध विद्रोह भी किया जा सकता है।

(घ) राजकर्मचारियों की नियुक्ति

कौटिल्य का मत है कि राजा कितना भी योग्य और गुणी क्यों न हो, यदि उसका अमात्य और अन्य अधिकारी सुयोग्य, कार्यकुशल और सत्यनिष्ठ न हो तो शासन का संचालन उचित रूप से नहीं हो सकता है। अतः राजा का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह योग्य, कर्मठ, ईमानदार और राज्य के प्रति अनुरागी व्यक्तियों को अमात्य तथा अन्य अधिकारियों के रूप में नियुक्ति करे। अमात्यों और अन्य अधिकारियों की नियुक्ति के समय पात्रों की विद्या, बुद्धि, साहस के साथ–साथ उसके गुण–दोष, देशकाल आदि बातों पर विचार किया जाना चाहिए। आचार्य भारद्वाज का मत है कि राजा अपने सहापठियों को ही अमात्य पद पर नियुक्त करे क्योंकि राजा उनके हृदय की पवित्रता तथा उनकी कार्य कुशलता से परिचित होता है। आचार्य विशालाक्ष तथा आचार्य पारासर ने अमात्य की नियुक्ति के सम्बन्ध में पृथक–पृथक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। आचार्य विशुन के मतानुसार राजा के प्रति भक्ति रखने वाले तथा बिशेष योग्यता से कार्य करने वाले व्यक्तियों को ही अमात्य पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए। आचार्य कौणावदंत के अनुसार अमात्य की नियुक्ति वंशानुगत आधार पर की जानी चाहिए। कौटिल्य ने कहा है कि अमात्यों की नियुक्ति में उनकी कार्यक्षमता तथा उनकी विद्या–बुद्धि पर विचार किया जाना चाहिए। उसके शब्दों में "किसी भी पुरूष की सामर्थ्य की स्थिति उसके कार्यों की सफलता पर

निर्भर करती है, और उसकी यह कार्यक्षमता उसकी विद्या–बुद्धि के बल पर ही आँकी जाती है।"[1] कौटिल्य ने यह भी कहा है कि अमात्यों की नियुक्ति करने के पूर्व उनके गुणों तथा उनके आचरणों का पता लगा लेना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार अमात्य के अलावा पुरोहित, गुप्तचर विभागों के प्रधान तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार राजा को ही होना चाहिए। उनकी नियुक्ति करते समय उनकी कार्यक्षमता, विद्या–बुद्धि, साहस और राजभक्ति को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

कौटिल्य का मत है कि इन पदाधिकारियों को पदच्युत करने का अधिकार भी राजा को ही प्राप्त होना चाहिए, परन्तु साथ ही कौटिल्य ने यह भी कहा है कि अकारण या बिना किसी आरोप के किसी पदाधिकारी को पदच्युत करना उचित नहीं है।

(ङ) राजकर्मचारियों की निगरानी

राज्य में कार्यों का क्षेत्र इतना व्यापक और विविध होता है कि स्वयं राजा के लिए उन कार्यों का सम्पादन करना न तो सहज है और न ही संभव है। वह कार्यों को विभागाध्यक्षों एवं अधिकारियों के बीच विभाजित कर देता है। वह स्वयं इन पदाधिकारियों के कार्यों, आचरणों एवं गतिविधियों की निगरानी करता है। यदि राजा अपने अमात्यों एवं अधिकारियों के कार्यों और गतिविधियों की निगरानी नहीं करे तो उससे अनेक प्रकार की गड़वड़ियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। विभागाध्यक्षों एवं अधिकारियों को सजग एवं सतर्क रहने के लिए राजा द्वारा निगरानी आवश्यक है। कौटिल्य ने कहा है कि राजा को चाहिए कि वह गुप्तचरों के माध्यम से अपने अमात्यों, पुरोहितों तथा अन्य पदाधिकारियों के आचरणों और गतिविधियों के बारे में नियमित रूप से जानकारी प्राप्त करता रहे। उसे अपने पुत्रों के आचरणों और गतिविधियों का भी पता लगाते रहना चाहिए और समय– समय पर भिन्न– भिन्न विधियों से उनकी परीक्षा भी करते रहना चाहिए।

(च) विधि निर्माण

राजा विधि का स्त्रोत भी है और आधार भी। राजा का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने राज्य के लिए अच्छी विधियों का निर्माण करे। इसके लिए उसे अपने अमात्यों और अधिकारियों से सहायता लेनी चाहिए। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का यह मत है कि राजा को मनमाने ढंग से

---

1. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 7 ।

विधि का निर्माण नहीं करना चाहिए। विधि निर्माण करते समय धर्मशास्त्र, नैतिकता और प्रचालित परम्पराओं को ध्यान में रखना अति आवश्यक है।

(छ) न्यायिक कर्त्तव्य

न्याय करना राजा का प्रथम और प्रमुख कर्त्तव्य है। राजा न्याय का स्त्रोत है। राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात राजा को विवेकपूर्ण ढंग से न्याय करना चाहिए। कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या की चर्चा करने के क्रम में यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि राजा को प्रत्येक दिन दरबार में बैठना चाहिए तथा प्रजा के परिवाद सुनने चाहिए। उसने यह भी निर्देश दिया है कि जब राजा दरबार कर रहा हो तो राजा से मिलने वाले प्रत्येक इच्छुक व्यक्ति को दरबार में जाने की अनुमति प्रदान की जाये। राजा को राज्य के नियमों, परम्पराओं तथा धर्म एवं शास्त्रों में दिये गये निर्देशों के अनुसार न्याय करना चाहिए।

'कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के अपराधों तथा उनके लिए दिये जाने वाले दण्डों का विस्तृत विवेचन किया है। राजा को चाहिए कि वह अपराधों के स्वरूप और मात्रा के अनुसार दण्ड निर्धारित करे। राज्य का स्वामी होने के फलस्वरूप वह राज्य का अंतिम न्यायालय है जिसके सम्मुख अपील की जा सकती है। इस प्रकार अपने प्रजाजनों के बीच न्याय करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य एवं दायित्व है।

(ज) वित्तीय कार्य

वित्तीय क्षेत्र में राजा के कर्त्तव्य, शाक्तियाँ और दायित्व अत्याधिक व्यापक है। कर निर्धारण, कर वसूली तथा करों से प्राप्त राजस्व के उचित और संतुलित उपयोग में राजा की प्रमुख भूमिका होती है। कौटिल्य ने कहा है कि राजा को प्रत्येक दिन बीते हुए दिन के आय–व्यय सम्बन्धी लेखा की जॉच करनी चाहिए। अपने राज्य में वित्तीय व्यवस्था के समुचित संचालन के लिए राजा समाहर्ता, कोषाध्यक्ष तथा गणनिकों की नियुक्ति करता है तथा उनके कार्यों पर निगरानी रखता है। राजा अपने कोषागार की व्यवस्था पर भी निगरानी रखता है। यह सुनिश्चित करना कि कोष में जमा धनराशि का दुरुप्रयोग न हो, राजा का प्रमुख उत्तरदायित्व है। उसे यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि कोई भी राजकर्मचारी धन का अपहरण न कर सके।

राज्य की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए राजा राज्य में अनेक प्रकार के

उद्योगों की स्थापना कर सकता है तथा उनके संचालन के लिए आवश्यक नियमों का निर्माण कर सकता है।

(झ) सैन्य विषयक कर्त्तव्य

कौटिल्य ने राजा के लिए सेना से सम्बन्धित अनेक कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। राजा न केवल सेनापति की नियुक्ति करता हैं, वरन् समय–समय पर उससे मंत्रणा करता है, उसके कार्यों की निगरानी करता है। वह सेनापति को आक्रमण करने, राज्य की रक्षा करने तथा इस प्रकार के और भी अनेक आदेश निर्गत करता है। कौटिल्य के अनुसार राजा को अपनी दिनचर्या के अन्तर्गत सातवें भाग में हाथी, घोड़े, रथ तथा अस्त्र–शस्त्रों का निरीक्षण करना चाहिए तथा आठवें भाग में सेनापति के साथ युद्ध के सम्बन्ध में विचार–विमर्श करना चाहिए। युद्ध के समय राजा भी सेना के साथ युद्ध में भाग लेता है तथा अपनी सेना को आवश्यक निर्देश देता है। कौटिल्य ने कहा है कि युद्ध के दौरान राजा को युद्धभूमि से दो सौ धनुष की दूरी पर ठहरना चाहिए जिससे शत्रु द्वारा भिन्न–भिन्न अपनी सेना को फिर से एकत्र कर सके। [1] अपनी सेना की रक्षा करना भी राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। सेना को अच्छे भोजन तथा अच्छे वस्त्र के साथ–साथ अस्त्रों–शस्त्रों से सुसज्जित करना चाहिए। युद्ध के दौरान भी सेना की रक्षा करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु राजा को चाहिए कि वह लम्बा रास्ता तय करने वाली तथा जंगल से होकर यात्रा करने वाली सेना की यथासम्भव रक्षा करे। [2] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजा यथार्थतः सेनानायक है, क्योंकि सेनापति उसी के निर्देशानुसार सेना की गतिविधियों का संचालन करता है।

(ट) परराष्ट्र सम्बन्धी कर्त्तव्य

परराष्ट्रों के सम्बन्ध में भी राजा के अनेक कर्त्तव्य है। वह परराष्ट्रों के साथ युद्ध एवं संधि की घोषणा करता है। वह विदेशों के लिए दूतों को नियुक्त कर विशेष संदेशों के साथ भेजता है तथा विदेशी दूतों द्वारा लाये गये संदेशों को ग्रहण करता है। वह शत्रु राजा पर आक्रमण करने तथा मित्र राजाओं के साथ संधि की घोषणा करता है। वह पड़ोसी राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का निर्णय लेता है। कौटिल्य ने षाड्गुण्य सिद्धांत के अन्तर्गत राजा की परराष्ट्रा सम्बन्धी नीतियों की विस्तृत विवेचना की है तथा विदेशी राज्यों के साथ उसके

---

1. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 10, अध्याय – 5।

2. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 10, अध्याय – 2।

महत्त्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख किया है।

(ठ) सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी कर्त्तव्य

कौटिल्य के अनुसार राजा का यह प्रमुख कर्त्तव्य होता है कि वह सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक परम्पराओं तथा धर्म और नैतिकता की मूल मान्यताओं को स्थापित रखे। उनके अनुसार वर्णाश्रम व्यवस्था को बनाये रखना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। राजा को यह देखना चाहिए कि वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण अपने–अपने धर्म और कर्त्तव्यों का समुचित ढंग से पालन करता है। कौटिल्य के अनुसार वर्ण–व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति को सामूहिक हित चिन्तन की ओर ले जाना है जबकि आश्रम व्यवस्था व्यक्तिगत उन्नयन की ओर आकर्षित करती है। इस प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था व्यक्तियों के सामूहिक एवं व्यक्तिगत हितों का उन्नयन करती है। अतः राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह वर्णाश्रम व्यवस्था को नष्ट होने से बचाये और उसे मूल रूप में स्थापित रखे।

उपर्युक्त कर्त्तव्यों के अलावा राजा के और भी अनेक कर्त्तव्य एवं दायित्व है। वस्तुतः राजा की शक्तियों और कर्त्तव्यों का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक और विस्तृत है। राजा के कर्त्तव्यों का अवलोकन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने राजा को नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के उन्नायक के रूप में चित्रित किया है। राजा सम्राट होते हुए भी जनसेवक है और प्रजा के न्यासी के रूप में कार्य करता है। अग्नि पुराण में यह कहा गया है कि " जिस तरह एक गर्भवती माँ अपनी इच्छाओं और खुशियों को इसलिए त्याग देती है कि उनका प्रतिकूल प्रभाव गर्भस्थ बच्चे पर न पड़े, उसी प्रकार राजा के लिए भी यह आवश्यक है कि वह अपने प्रजाजनों के हित के लिए अपनी इच्छाओं और खुशियों को त्याग दे। [1] मार्कण्डेय पुराण में वर्णित है कि राजा का शरीर अपनी खुशियों और इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं बना है, प्रत्युत उसका उद्‌देश्य कष्ट सहकर भी प्रजाजनों तथा धर्म की रक्षा करना है। [2] कौटिल्य के अनुसार राजा का गुरूतर उत्तरदायित्व यह है कि वह अपने प्रजाजनों के योगक्षेम को अक्षुण्ण रखे। राजा तथा प्रजा में एक प्रकार का तादात्म्य होता है और उस तादात्म्य का आधार पारस्परिक हित की भावना है। कौटिल्य के अनुसार राजा के कुछ नैतिक अधिकार एवं दायित्व होते है। निःसंदेह राजा सम्पूर्ण राज्य का प्रतीक माना जाता है और यही कारण है कि कौटिल्य

---

1. अग्नि पुराण, 222।

2. मार्कण्डेय पुराण, 130–133।

के 'अर्थशास्त्र' और भारत के अन्य प्राचीन ग्रंथों में राजा और राज्य को पर्यायवाची मानकर वार्णित किया गया है।

राजा की शक्ति एवं उसके प्रतिबन्ध

सामान्यतः प्राचीन भारत के राजतंत्रीय राज्य इन कार्यों को करते रहे, किन्तु राज्यों की विशालता के साथ इन कार्यों की जटिलता बढ़ती गई और राज्य–शक्ति राजाओं में केन्द्रीभूत होती गई । कौटिल्य ने इन कार्यों के क्रियान्वयन, संचालन एवं सम्पादन की प्रक्रिया–विधि में राजसत्ता की अभिवृद्धि को अधिक अवसर दिया।[1]

भारतीय राजनीति–शास्त्रकार कभी भी राज्य की निरंकुशता के परिपोषक न थे। समाज–विज्ञान को मान्यता देते उन्होंने राज्य के कुछ मूलभूत प्रतिबन्धों को, जो राज्य–संगठन के स्वरूप में थे, शास्त्रांकित कर राजशक्ति को सीमित कर दिया। प्रतिबन्धों की यह विशिष्टता संवैधानिक न होते हुए भी उनको वैधानिक स्वरूप दिलाने में समर्थ कही जा सकती है।

कौटिल्य ने राज–शक्ति को समाज के सूक्ष्मतम किन्तु गण्यमान तथ्यों से सम्बन्धित कर दिया। निःसंदेह राज–शक्ति की अप्रमेयता को पूर्ण अवसर था। पर पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत राज्य–संगठन के स्वरूप में, जिसकी पूर्ण स्वीकृति कौटिल्य ने भी दी है, राजा को अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकने का कम अवसर था। नैतिक दृष्टि से राज्य में पूरोहित की परम्परागत महत्ता थी। कौटिल्य कहता है कि राजा पुरोहित को पिता एवं स्वामी की भांति सम्मान दे। [2] पुरोहित के द्वारा बढ़ा हुआ और मन्त्रियों की मन्त्रणा से युक्त राजवंश सदा विजयी होता है।[3] ब्राह्मणों पर कोप से राजा जनमेजय तथा तालजंघ का विनाश हुआ। [4] अतः राजा के किसी कार्य का पुरोहित के द्वारा विरोध निरर्थक नही होता था। कदाचित् इस कारण कौटिल्य पुरोहित की महत्ता पर विशेष बल देता है।

पुनः राजा को धर्म के अनुसार शासन करने का आदेश देकर कौटिल्य ने राजशक्ति मर्यादित कर दी, उसे पुर, ग्राम, देश तथा सामाजिक संगठनों, श्रेणी, निमग और पूग आदि की विधियों को ध्यान में रखने का आदेश दिया था। [5] शासन चक्र को परिचालित करने के लिये

---

1. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 5, वार्ता 17।

2. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 9, वार्ता 10।

3. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 9, वार्ता 11।

4. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 9, वार्ता 12।

5. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 2, अध्याय – 7, वार्ता 2।

इनकी नियम–परम्परायें भी आधार रूप थी। राजा को वर्णाश्रम–धर्म को पूर्णतया स्थापित एवं संरक्षित रखना था[1] जो स्वतः राज–शक्ति पर एक प्रतिबन्ध हो गया। राज्य कर व्यक्ति शोषण की एक राजनीतिक विधि होती है। कदाचित् राजा इसमें भी निर्बाध नही था। कौटिल्य ने तो भिन्न–भिन्न करो में राजा का भाग तथा जन–हित में व्यव होने वाला भाग दोनों निश्चित कर दिये थे।[2] कर की दर का निर्धारण करने में राजा को क्षेत्र विशेष की विधि–परम्पराओं को प्रधानता देने का आदेश था। राजा को षड्भाग उसके वेतन रूप में प्रजा के रक्षणार्थ ही मिलता था।[3] कर के स्वरूप और अंश को तथा कौन–कौन से कर राजा किन–किन मदो पर व्यय कर सकता है, यह निश्चित कर कौटिल्य ने राज शक्ति पर व्यवहारिक प्रतिबन्ध लगा दिये।

मन्त्रि–परिषद् भी राजा पर एक प्रतिबन्ध स्वरूप ही थी। कौटिल्य का मत है कि राजा किसी कठिन समस्या के उपस्थित होने पर मन्त्रि एवं मन्त्रि–परिषद् की बैठक बुलाये। उसे समय अधिकांश व्यक्ति जिस बात की पुष्टि करें उसको ही कार्यान्वित रूप में परिणित करें।[4] कार्य–सिद्ध के लिये राजा को उचित मन्त्रणा मिल सके इसलिये कौटिल्य मन्त्रि–परिषद् के तीन या चार सदस्यों से मन्त्रणा करने की सम्मति देता है।[5] राजा को उचित परामर्श मिले, जिसकी वह सहज ही अवहेलना न कर सके, इसके लिये वह मन्त्रियों की शिक्षा, कुलीनता एवं चारित्रिक विशिष्टताओं पर विशेष बल देता है।[6]

दण्ड धर्म की सीमा में परिबद्ध था। राज्य की प्रतिरोधी सत्ता का प्रयोग राजा निरंकुशता–पूर्वक नहीं कर सकता था। राजा नहीं, प्रजा का हित प्रधान था। प्रजा के साथ राजा का व्यवहार पिता तुल्य होने का आदेश दिया था।[7] यह पिता तुल्य आचरण है, कि स्वाहित के त्याग में राजा को अपनी प्रजा के हित साधन का प्रयास करना चाहिए।[8] यह शक्ति प्रजा के

---

1. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 3, वार्ता 16।

2. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 2, अध्याय – 3, वार्ता 6।

3. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 13, वार्ता 6–9।

4. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 15, वार्ता 58–59।

5. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 15, वार्ता 37–39।

6. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 9, वार्ता 1–3।

7. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 1, वार्ता 20।

अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 19, वार्ता 34।

8. सी0 पी0 रामास्वामी अय्यर : इण्डियन पॉलिटिकल थ्योरीज, ज0 म0 पु0, खण्ड 9, सं0 3, पृ0 196–197।

हितार्थ उसके त्याग और कर्त्तव्यों की प्रतीक है।[1] कर्त्तव्य की यह चेतना राजा के किसी अनाधिकार चेष्टा की बाधक थी। राजा भी अदण्ड्य नहीं था, अन्यायी राजा का प्रजा विनाश कर सकती थी।

जन–शक्ति की इस महत्ता का परिणाम यह हुआ कि राजा को जनमत को जानने के लिये चेष्टाभिमुख रहना पड़ता था। कौटिल्य ने कहा है कि गुप्तचर नगर या राष्ट्र में फैली हुई राज–चर्चा का पता लगाते रहें, [2] और असंतुष्टों को राजा, धन–दान या शन्ति के उपायों से संतुष्ट करें।[3]

राजा ही राज्य है तथा राज्य की समस्त सत्ता उसी में केन्द्रीभूत है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भी कौटिल्य ने शास्त्रांकित उन सभी राजसत्ता –प्रतिरोधी तत्वों को स्वीकार ही नहीं किया प्रत्युत् वैधानिक क्रियान्वयन की व्यवहारिक युक्तियों की भी परिव्याख्या परिणामतः की। ये प्रतिबन्ध वैधानिक न होते हुए राजा की स्वेच्छाचारिता को प्रतिबन्धित करने में समर्थ थे। ऐसी परिस्थिति में ही सिद्धान्ततः राज्य के महान लक्ष्य जनहित के संवर्द्धन एवं वृहत् कार्यों की सम्पुष्टि, सन्तुलित रूप से की जा सकती थी। यथार्थ में यह सन्तुलन शासक–विशेष की मनोवृत्ति पर आधारित था तथा उसकी मनोवृत्ति पर यथेष्ट नियंत्रण था।

राजा की रक्षा

नृपतंत्रात्मक राज्यों का प्राण राजा होता है इसलिए प्रत्येक प्रकार के संकट से राजा की रक्षा होनी चाहिए। कौटिल्य की यह मान्यता थी कि राजा के मित्र और शत्रु दोनों होते हैं। शत्रु उस पर कभी भी घात कर सकता है, इसलिए उसने राजा की सुरक्षा सम्बन्धी उपायों पर भी बल दिया है। उन्होंने राजा के जीवन नष्ट करने वाले अथवा राजा के जीवन को संकटग्रस्त करने वाले षड्यंत्रों एवं कुचक्रों से रक्षार्थ अनेक सावधानियों एवं उपायों का उल्लेख किया है। उसके सुझाव विविध और व्यापक है जिनके अन्तर्गत महल निर्माण से लेकर राजा के आने–जाने की गतिविधियाँ निहित हैं। उनके अनुसार राजा के अन्तःपुर का निर्माण ऐसी जगह किया जाना चाहिए जिसके चारों ओर परकोटा एवं खाई हो तथा जिनमें अनेक डयौढ़ियाँ हो।

राजा का महल इस प्रकार से बना हुआ हो जिसकी दीवारों तथा गलियों का पता न

---

1. ड्रेकमीयर : किंगशिप एण्ड कम्युनिटी इन अर्ली इण्डिया, पृ0 255 ।

2. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 13, वार्ता 1 ।

3. अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 11, वार्ता 21 ।

लगें। उसमें आने–जाने के लिए गुप्त सुरगें हों या जिसकी दीवारों के भीतर गुप्त मार्ग हों। राजा को राजपरिवार के सभी सदस्यों पर बिना झिझक विश्वास नहीं करना चाहिए। राजा के जीवन का एक विशेष अंश राज भवन में व्यतीत होता है, इसलिए उन्होंने सर्वप्रथम राजा के जीवन के इस बिशेष अंश में आने वाले संकटों के निवारण हेतु कुछ उपाय बतलाए हैं। राजभवन में धनुष–धारण करने वाली स्त्रियाँ होनी चाहिए। प्रातः समय जब राजा निद्रा से जागकर अपनी शय्या से उठता है उस समय यह धनुषधारिणी स्त्रियाँ राजा के साथ रहे जिससे राजा की रक्षा होती रहे।[1] इस तथ्य की पुष्टि यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने की है कि राजा की रक्षा हेतु सशस्त्र स्त्रियाँ रनिवास में नियुक्त थी। यह स्त्रियाँ उनके माता–पिता से क्रय की गयी होती थीं। इसके उपरान्त जब राजा शयनगृह से निकल कर दूसरे कमरे में प्रवेश करता है तो वहाँ कंचुक और पगड़ी पहने हुए राज्य की ओर से नियुक्त नपुंसक और राजभवन के प्रबन्धकों को राजा की रक्षा में तत्पर रहाना चाहिए।[2] तीसरे कमरे में राज्य की ओर से नियुक्त कुबड़े, बौने और किरातों द्वारा राजा की रक्षा की जानी चाहिए।[3] चौथी कक्ष्या अर्थात् राजसभा–भवन में राजा के मंत्रीगण, राजा के सम्बन्धी और द्वारपाल नामक कर्मचारी शस्त्र धारण किए हुए राजा की रक्षा में तत्पर रहें।[4] राजभवन में रनिवास की रक्षा करने वाली सेना की व्यवस्था की जानी चाहिए।[5] राजा को राजभवन में रहने वाली राजमहिषी को अपने कमरे में ही बुलाना चाहिए। राजमहिषी के कमरे में स्वयं नहीं जाना चाहिए।[6] सम्भव है राजमहिषी के कमरें में छिपा हुआ उसका शत्रु बैठा हो। कौटिल्य ने इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए हैं जिनमें ऐसी घटनाएँ हुई हैं। अतः कौटिल्य का मत है कि राजभवन में राजा के जीवन–रक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

राजा को चाहिए कि वह रानियों का धूर्त, चालाक और बाहरी दासियों के साथ सम्पर्क न होने दे। रानियों के सगे–सम्बन्धियों को भी रानियों से मिलने की अनुमति न दे।

अन्तःपुर के सभी परिचालकों एवं परिचारिकाओं को महल से अधिक बाहर आने–जाने की अनुमति न दे।

---

1. *शयनादुत्थितः स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृहोत्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि० 1, अ० 21, वार्ता 1।*
2. *द्वितीयस्यां कचप्रायां कंचुकोष्णीषिभिर्वर्षवराभ्यागारिकैः।।* — *अर्थशास्त्र, अधि० 1, अ० 21, वार्ता 2।*
3. *तृतीयस्यां कुब्जवामनकिरातैः।।* — *अर्थशास्त्र, अधि० 1, अ० 21, वार्ता 3।*
4. *चतुर्थ्यां मंत्रिभः संबन्धिभिदौवारिकैश्च प्रासपाणिभिः।।* — *अर्थशास्त्र, अधि० 1, अ० 21, वार्ता 4।*
5. *कक्ष्यांतरेष्वन्तर्वंशिकसैन्यं तिष्ठेत्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि० 1, अ० 20, वार्ता 20।*
6. *न कांचिदभिगच्छेत्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि० 1, अ० 20, वार्ता 21।*

महल से बाहर आने–जाने वाली चीजों का पूर्ण निरीक्षण किया जाना चाहिए।

राजा की सुरक्षा के लिए अन्तः पुर में धनुषवाण के साथ स्त्रियों, नपुसकों, कुबडे, बौनों तथा अन्य सेवकों का उपस्थित रहना आवश्यक है।

कुलीन, शिक्षित, अनुरक्त और सभी कार्यों को भली–भाँति समझने वाले पुरुषों को अंगरक्षक नियुक्त किया जाना चाहिए।

पाकशाला के अध्यक्ष को चाहिए कि वह राजा के लिए तैयार होने वाले भोजन को सुरक्षा की दृष्टि से अपनी देख–रेख में तैयार कराये।

किसी सिद्ध पुरुष या तपस्वी से मिलते समय भी राजा को विश्वस्त एवं सशस्त्र पुरुषों को रखना चाहिए। उसे मंत्रिपरिषद के सदस्यों के साथ ही सामंत राजा के दूतों से मिलना चाहिए। बाहर जाते अथवा बाहर से आते समय राजा के साथ दोनों ओर दंड लिए रक्षकों का घेरा होना चाहिए। उसे पुरुषों की भीड़ में प्रवेश नहीं करना चाहिए तथा किसी देवालय, सभा, उत्सव या समारोहों में अकेले नहीं जाना चाहिए। उसके साथ सदैव सेनानायक और कम–से–कम दस सिपाहियों का रहना आवश्यक है। उसे अपने पुत्रों से भी सतर्क रहना चाहिए। कौटिल्य का कथन है कि राजपुत्र कीड़े की तरह होते हैं जो अपने पिता का ही भक्षण करते हैं। इसके लिए उन्होंने जन्म से ही राजपुत्रों पर कड़ी निगरानी रखने का परामर्श दिया है।[1]

इनके अलावा कौटिल्य ने राजा को सतर्क रहने के लिए और भी अनेक उपाय बताये हैं। विचारणीय है कि जनहित में कार्य करने वाले राजा को इतनी कड़ी सुरक्षा की क्या आवश्यकता है? अपनी रानियों एवं पुत्रों से भी सुरक्षा सम्बन्धी बातों को लेकर विवाद का प्रश्न उठ सकता है। कौटिल्य एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ और कूटनीति का प्रकांड विद्वान था। वह इस तथ्य से भली–भाँति अवगत था कि राजा पर शत्रु राजा द्वारा उसके भेदियों के माध्यम से प्रहार किया जा सकता है। इसलिए बाहरी व्यक्तियों से मिलते–जुलते समय कड़ी सुरक्षा आवश्यक है।

वर्तमान समय में भी लोकतांत्रिक देशों में शासकों की कड़ी सुरक्षा व्यवस्था की जाती है। जहाँ तक पुत्रों और रानियों से सतर्क रहने की बात है, कौटिल्य ने इतिहास से ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें रानियों ने धोखे से अपने पतियों को मार डाला है। पुत्रों द्वारा राजा का

---

1. ''पुत्ररक्षणं जन्मप्रभृति राजपुत्राण रक्षेत।
कर्कट कस धर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्राः ।। *अर्थशास्त्र, अधिकरण– 1, अध्याय – 18 ।*

वध किये जाने के अनेक उदाहरण भी इतिहास में उपलब्ध हैं। इन्हीं कारणों से कौटिल्य ने आंतरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में राजा की कड़ी सुरक्षा की व्यवस्था पर बल दिया है।

ध्यातब्य है कि आधुनिक युग में भी राष्ट्रध्यक्ष एवं प्रधानमंत्री की सुरक्षा व्यवस्था पर अत्याधिक ध्यान दिया जाता है। उनकी सुरक्षा व्यवस्था हेतु विभिन्न देशों में विशेष सुरक्षा बलों का सृजन किया गया है। भारत में ब्लेक कैट्स, एस0पी0जी0, जेड–सुरक्षा, रॉ, इन्टेलीजेन्ट, सृदश विभागों का संगठन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

राजा के आत्मरक्षक

राजा के समीप सदैव कुछ विशेष व्यक्ति रहने चाहिए जिनका एक मात्र कर्त्तव्य राजा के जीवन की रक्षा करना होता है। यह व्यक्ति किस प्रकार के होने चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है– पिता–पितामह से जिस वंश के लोग उस राजवंश की सेवा करते आए हैं उस वंश में उत्पन्न हुए पुरुष, राजा के बहुत समीप के सम्बन्ध में अनुबद्ध, शिक्षित, प्रेमी और सांसारिक जीवन के अनुभव से सम्पन्न पुरुषों को राजा को अपना आत्मरक्षक नियुक्त करना चाहिए।[1] राजा के आत्मरक्षकों के पद पर विदेशी को नियुक्त नहीं करना चाहिए और न अपने राज्य के ही उन पुरुषों को यह पद दिया जाना चाहिए जिन्होंने राज्य की कोई विशेष सेवा कर विशेष सत्कार एवं पुरस्कार प्राप्त नहीं किए हैं अथवा जिनके द्वारा किसी प्रकार का भी राज्य का अपकार हुआ है।[2] इस कोटि के पुरुषों को राजा के आत्मरक्षकों अथवा राजा के अन्तःपुर के रक्षकों के पद पर नियुक्त नहीं किया जाए।[3] कौटिल्य का मत है कि जब कभी राजा किसी यात्रा सभा अथवा उत्सव में जाए तो उसकी रक्षा में कम से कम दस रक्षक अवश्य होने चाहिए।[4]

राजा के भोजन में विशेष सावधानी

राजा का भोजन प्रत्येक प्रकार से सुरक्षित स्थान पर बनना चाहिए। राजा के मुख्य रसोयिए की देख रेख में राजा के निमित स्वादिष्ट भोजन निश्चित स्थान पर तैयार करना चाहिए।[5] जिस भोजन को राजा खाने जा रहा है उसमें से कुछ अंक्ष की बलि, अग्नि और पक्षियों

---

1. पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबन्धं शिचितमनुरक्तं कृतकर्माणणं जनमासन्नं कुर्बीत।।
अर्थशास्त्र, अधि0 5, अ0 21, वार्ता 6 ।

2. नान्यतोदेशी प्रमकृतार्थमानं स्त्रदेशीयं वाप्यपकृश्योपगृहीतम्।। *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 6 ।*

3. अन्तवंशिकसैन्यं राजानमन्तः पुरं च रचोत्।। *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 7 ।*

4. यात्रासमाजोत्सव प्रवहणानि दशवर्गिकाधिष्ठतानि गच्छेत्।। *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 46 ।*

5. गुप्ते देश माहानसिकः सर्वमास्वादबाहुल्येन कर्म करियेत्।। *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 8 ।*

के निमित्त प्रदान करनी चाहिए।[1] यदि राजा के भोजन में विष मिलाया गया है तो अग्नि में नीली लपट नीला धुआँ निकलेगा और अग्नि में चट–चट शब्द होता है।[2] विष युक्त अन्न शीघ्र ठण्डा हो जाता है और उसके तोड़ने पर वह एक विशेष रंग का हो जाता हैं।

किसी–किसी विष के संयोग से भोजन में पानी छूट जाता है और किसी–किसी विष से भोजन बहुत शुष्क बन जाता हैं।[3] दाल–शाक में विष हो तो वह शीघ्र शुष्क हो जाते हैं। वह क्वाथ की भाँति दिखलायी पड़ते हैं। किसी साग का रंग काला, किसी में झाग और किसी का आकार विकृत दिखलाई पड़ने लगता है। इस प्रकार उसके गन्ध, स्पर्श और रस में भी अन्तर पड़ जाता है।[4] रसीले शाक के रस में पुरुष की छाया का आकार दूसरे ढंग का दिखलाई पड़ने लगता है।[5] उसमें झाग उठने लगता है, पानी अलग और शाक अलग हो जाता है अथवा उसके ऊपर रेखा सी दिखलायी पड़ने लगती है।[6] विषयुक्त खाद्य पदार्थों के लक्षण बतलाते हुए कौटिल्य कहते हैं कि शाकादि के रस में विष होने पर उसमें नीली पंक्ति दृष्टिगोचर होती है, दूध में लाल, मद्य और जल में काली, दही में श्याम और मधु में श्वेत धारी दिखायी पड़ती है।[7] तरल पदार्थों में विष होने पर वह शीघ्र ही बासी दिखायी देने लगेंगे अथवा सड से जाएंगें। यदि उनको पकाया जाएगा तो वह अच्छी तरह नहीं पकेगें और उनका रस नीला और काला सा दिखलायी पड़ेगा।[8] शुष्क पदार्थों में विष होने से वह शीघ्र कट जाएंगें और उनका रंग बदल जाएगा।[9] कठोर पदार्थ मृदु और मृदुल पदार्थ कठोर हो जाते हैं।[10] विषयुक्त पदार्थों के समीप आए हुए छुद्र जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।[11]

---

1. तद्राजा तथैव प्रतिभुंजीत पूर्वमग्नये वयोम्यश्च बलिं कृत्वा।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 9 ।*

2. अग्नेर्ज्वालाधूमनीलता शब्दस्फोटनं च विषयुक्तस्य वयसां विपत्तिश्च।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 10।*

3. अग्नेस्यांष्मा मयूरग्रीवाभः शैल्यामाशुकिलष्टस्यैव वैवणर्य सोदकस्बमलिलान्नत्वं च ।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 11 ।*

4. व्यंजनानामाशुशुष्कत्वं च नवावश्याम फेनपटलविच्छिन्नभावों गन्धपर्शरसवधश्व ।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 12 ।*

5. द्रव्येषु हीनातिरिक्तच्छायादर्शनम् ।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 13 ।*

6. फेनपटलसीमान्तोर्ध्वराजीदर्शनं च।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 14 ।*

7. रसस्य मध्यें नीला राजी मपसस्तत्रा मद्यतोययोः काली दध्नः श्यामा च मधुनः श्वेता।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 15 ।*

8. द्रव्याणामार्द्राणामाशुअम्लानत्व मुत्पक्काभावः काथनीलश्यामता च ।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 16 ।*

9. शुष्काणामाशुशातनं वैवर्ण्य च।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 17 ।*

10. कठिनानां भृदुस्वं भृदनां कठिनत्वं च।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 18 ।*

11. तदम्याशे क्षुद्रं सत्ववधश्च ।। — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 19 ।*

इस प्रकार विष युक्त भोजन एवं तत्सम्बन्धी अन्य पदार्थों के लक्षणों का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने बतलाया है कि राजा को इन लक्षणों के आधार पर विषयुक्त भोजन से अपनी रक्षा करनी चाहिए।

विषयुक्त वस्त्रों एवं अन्य सामग्री से सावधानी

राजा को विषयुक्त वस्त्रों के प्रयोग से भी बचते रहना चाहिए। बिछाने और ओढ़ने के जिन वस्त्रों में विष का प्रयोग किया जाता है उनमें काले धब्बे पड़ जाते हैं, अथवा उनके तन्तु और रोम कट जाते हैं।[1] धातु और मणियों के पात्रों में विष का सम्पर्क होते ही वह कीचड़ में लिपटे हुए दिखायी पड़ने लगते हैं।[2] इसी प्रकार विष के संयोग करने से पदार्थो की चिकनायी, रंगत, उन का प्रभाव, वर्ण और स्पर्श सब नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार कौटिल्य ने विषयुक्त पदार्थों के विशेष लक्षण बतलाए है।[3]

विष देने वाले पुरुष की पहचान

विष देने वाले पुरुष की मुख की कान्ति नष्ट हो जाती है। उसके मुख पर सूखापन और कालिमा छा जाती है। उस की वाणी रूक–रूक कर निकलती है उसका पसीना, जँभाई और अधिक कप–कंपी सी आती रहती है, बार– बार गति भंग होती है, बाहर की ओर टक–टकी बाँधे रहता है। उसको बहुत घबराहट रहती है और वह अपने कार्य एवं स्थान पर स्थिर नहीं रहता है।[4]

विष से उपचार करने के लिए वैद्यों की नियुक्ति

विष की परख में चतुर वैद्यों को राजा को सदैव अपने समीप रखना चाहिए।[5] वैद्यों को भी औषधालय में चख–चख कर निर्माण की गयी औषधियों को मँगा कर उन को पकाने, पीसने वाले पुरुष और स्वयं भी राजा के सम्मुख चख कर तब राजा को देना चाहिए।[6] इसी प्रकार पीने

---

1. *आस्तरणाप्रवरणनां श्याममणडलता तन्तुरोमपचमशातनं च।।* *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 20 ।*
2. *लोहामणिमयानां पक्डमलोपदेहृता।।* *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 21 ।*
3. *स्नेहरागगौरवप्रभा ववर्णस्पर्शवधचेति विषयुक्तलिरणांमि।।* *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 22 ।*
4. *विचप्रदस्य तु शुष्कश्यावधक्तता वाक् सड़ः स्वेदी विजृम्भणां चातिभात्रं वेपथुः प्रस्खलनं बाह्म विप्रेंचाणामावेगः स्वेंकर्मणिा स्वभूमौ चानवस्थनमिति।।* *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 23 ।*
5. *तस्मादस्य जारडंलीविदो भिषजश्चासन्नाः स्युः।।* *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 24 ।*
6. *भिपम्मैषज्यागारदास्वाद विशुद्धभौषधं गृहीवा पाचकपोषकभ्यामात्मना च प्रीतस्वाधराज्ञ प्रयच्छेत् ।।* *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 25 ।*

योग्य तरल पदार्थों का पान करने के बाद ही राजा को अर्पण करना चाहिए।[1]

क्षौर, स्नान, श्रृंगार आदि में सावधानी

क्षौर बनाने वाले अथवा स्नान कराने वाले या श्रृंगार कराने वाले पुरुषों को प्रथम स्वयं स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण किए हुए होना चाहिए। उनको मुद्रा से अंकित वस्त्र, उस्तरे, श्रृंगार की सामाग्री आदि राजभवन में रहने वाले सेवकों से प्राप्त कर राजा की सेवा में लगना चाहिए।[2]

स्नान कराने, पैर दबाने, शय्या तैयार करने, कपड़े धोने तथा माला बनाने आदि का कार्य दासियों से कराना चाहिए।[3] यदि दासी इन कार्यों के करने में समर्थ न हो तो यह कार्य शिल्पियों से लिया जाना चाहिए।[4] परन्तु वस्त्र, माला आदि उपकरण का दासियों को भली–भाँति निरीक्षण कर राजा को अर्पण करना चाहिए।[5] स्नान के उपयोगी उबटन, चन्दन, सुगन्धित द्रव्य आदि वस्तुओं को दासियों को प्रथम अपनी छाती और भुजाओं पर लगाना चाहिए।[6] इस प्रकार बाहर से आने वाले पदार्थों की परीक्षा कर लेनी चाहिए।[7]

अन्य सावधानियाँ

कौटिल्य के अनुसार शस्त्र, अग्नि और विष के व्यवहार के खेल राजा को नट–नर्तकों आदि के द्वारा न दिखाए जाएं।[8] इन नट नर्तकों आदि के बाद्ययंत्र भी राजा के अन्तः पुर में ही रहने चाहिए। राजा के उपयोग में आने वाले रथ, अश्व, हाथी और अलंकार आदि भी राजा के भवन में ही रहने चाहिए।[9] विश्वासी पुरुष के चढ़ने पर ही राजा को पालकी आदि यान और अश्व आदि वाहन पर चढ़ना चाहिए।[10] नाव पर भी आप्त नाविक के साथ ही राजा को सवारी करनी चाहिए।[11] किसी दूसरी नाव से बँधी हुई नाव अथवा वायु के वेग से गमनागमनवाली नाव पर

---

1. *पानं पानीयं चौषधेन व्याख्यातम्।।* — *अर्थशार अधि0 1, अ0 21, वार्ता 26।*
2. *करूपक प्रसाधकाः स्नान शुद्धवस्त्रहस्ताः समुद्रमुपकरणमन्तर्वशिकहस्तादादाय परिचरेयुः।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 27 ।*
3. *स्नापकसंवाहकास्तरकरजकमालाकारकर्म दास्यः कुर्युः ।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 28 ।*
4. *ताभिरधिष्ठिता वा शिल्पिना।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 29 ।*
5. *आरत्मचक्षुषि निवेश्य वस्त्रामाल्यं दद्युः।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 30 ।*
6. *स्नानानुलेपन प्रधर्षचूर्णावासस्नानीयानि स्ववक्षोबाहुषुच।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 31 ।*
7. *एतेन परस्मादागतकं च व्याख्यातम् ।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 32।*
8. *कुशीलवाः शस्त्राग्निरसवर्ज नर्मयेयुः।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 33 ।*
9. *आतोयानि चैषामन्त स्तिष्ठेयुरश्वरथ द्विपालंका राश्च।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 34 ।*
10. *मौलपुरुषाधिष्ठितं यानवाहनमारोहेत् ।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 35 ।*
11. *नावं चाप्तनाविकाधिष्ठिताम् ।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 36 ।*

राजा को नहीं चढ़ना चाहिए।[1] नौका की सवारी के समय सेना तट पर स्थित रहनी चाहिए।[2] ग्राह आदि हिंसक जलजन्तुओं से रहित जल में ही राजा को प्रवेश करना चाहिए।[3] हाथी और ग्राह आदि से रहित उद्यान में राजा को भ्रमण हेतु प्रवेश करना चाहिए।[4] कुत्ते रखने वाले शिकारियों के साथ चोर, सिंह, शत्रु आदि के भय से रहित वनवासी जन्तुओं से सम्पन्न वन में चंचल लक्ष्य के बेधन के निमित्त राजा को मृगया हेतु गमन करना चाहिए।[5]

शस्त्रधारी आप्त पुरुषों के साथ ही राजा किसी तपस्वी से मिल सकता है।[6] मंत्रियों से घिरे होने पर राजा को दूसरे राज्यों के राजदूतों से भेंट करना उचित है। स्वयं कवच पहन कर और शस्त्रों से सुसज्जित होकर अश्व, हाथी अथवा रथ पर आरूढ़ होकर सेना का निरीक्षण करना चाहिए।[7] राजधानी से किसी अन्य स्थान को जाने अथवा वहाँ से आने के समय राजमार्ग के दोनों ओर दण्डधारी पुरुष पंक्तिबद्ध खड़े रहें और मार्ग की रक्षा करते रहें। यह मार्ग शस्त्रधारी सन्यासी अथवा लंगड़े लूले पुरुषों से रहित होने चाहिए।[8] पुरुषों की भीड़ में राजा को कभी गमन नहीं करना चाहिए।[9] जिस प्रकार गूढ़ प्रयोगों का राजा शत्रु पर प्रयोग करता है उसी प्रकार शत्रु के गूढ़ प्रयोगों से राजा को अपनी रक्षा करते रहना चाहिए।[10]

इस प्रकार कौटिल्य ने राजा की आत्मरक्षा के निमित्त विशेष सचेत एवं सावधान रहने के लिए अनेक व्यवस्थाएं बतायी हैं।

राज्य उत्तराधिकार के नियम

राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कौटिल्य का विचार है कि सामान्य रीति से राज्य

---

1. *अन्यनौप्रतिबद्धां वातवेगवशां च नोपेयात् ।।* अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 37 ।
2. *उदाकान्ते सैन्यमासीत ।।* अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 38 ।
3. *मत्स्यग्राहविशुद्धमवगाहेत ।।* अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 2,1 वार्ता 39 ।
4. *ब्यालग्राहपरिशुद्धमुधानं गच्छेत् ।।* अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 40 ।
5. *लुब्धकैः श्वगणिभिर पास्तस्तेन ब्यालपराबाधभयं चललचापरिचर्यार्थं मृगरण्यं गच्छेत् ।।* अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 39 ।
6. *आप्तशस्त्रग्राहाधिष्ठितः सिद्धतापसं पश्येत् ।।* अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 42 ।
7. *मंत्रिपरिषदा सामन्तदूतं सन्नद्धोअश्वं हस्तिनं रथं वारूढः संन्नद्धमनीकं गच्छेत् ।।* अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 43 ।
8. *निर्याणोअभियाने च राजमार्ग मुभयतः कृतारचां दणिडभिरपास्तशस्त्रहस्त प्रब्रजितब्यङ़ गच्छेत् ।।* अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 44 ।
9. *न पुरुषसंबाधमवगाहेत ।।* अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 45 ।
10. *यथा च योगपुरुषैर न्यान्राजाधितिष्ठिति। तथयमन्य बाधेभ्यों चोदात्मानमारमवान् ।।* अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 47।

का अधिकार शासन करने वाले राजा के ज्येष्ठ पुत्र को मिलना चाहिए।[1] परन्तु राजा के ज्येष्ठ पुत्र का यह अधिकार तभी तक बैध माना गया है जब तक कि उसमें राजोचित गुण पाए जाते हैं। इन योग्यताओं से रहित होने पर राजा के ज्येष्ठ पुत्र को अपने पिता के सिंहासन के अधिकार से वंचित कर दिया जाना चाहिए।[2] कौटिल्य ने यह भी कहा है कि राजा की मृत्यु हो जाने पर जो राजकुमार उत्तम गुणों से सम्पन्न हो उसको ही रिक्त राजपद पर आरूढ़ करना चाहिए।[3] कौटिल्य राजकुमार के राजोचित गुणों पर अत्याधिक महत्त्व देते हैं। उनका स्पष्ट विचार है कि राजाओं के लिए जो निर्धारित गुण हैं यदि राजकुमार उनसे सम्पन्न है तो उस राजकुमार को सेनापति अथवा युवराज पद पर नियुक्त कर देना चाहिए।[4]

इस दृष्टि से कौटिल्य ने राजकुमारों को तीन कोटि में परिगणित किया है–बुद्धिमान, आहार्यबुद्धि और दुबुद्धि।[5] जो राजकुमार सिखाने से धर्म और अर्थ की दिशा को ठीक–ठीक ग्रहण कर लेता है और उचित रूप से उन पर आचरण भी करता है ऐसा राजकुमार बुद्धिमान कहलाता हैं।[6] जो धर्म और अर्थ को समझ तो लेता है परन्तु तदनुसार आचरण नहीं करता है तो वह आहार्यबुद्धि राजकुमार कहलाता है।[7] जो राजकुमार नित्य विपत्ति लाने के उपाय सोचा करता है और धर्म तथा अर्थ के विरूद्ध आचरण करता है वह दुर्बुद्धि होता है।[8]

इन तीनों प्रकार के राजकुमारों में प्रथमत : बुद्धिमान को राजपद दिया जाना चाहिए। उसके अभाव में आहार्य बुद्धि राजकुमार को, परन्तु दुर्बुद्धि राजकुमार को राजपद कभी नहीं मिलना चाहिए। वह स्पष्ट लिखते हैं कि यदि राजा के दुर्बुद्धि पुत्र ही हो तो ऐसी दशा में उसको राज्याधिकारी न समझकर उससे पुत्र उत्पन्न कराने का प्रयत्न करना चाहिए।[9] इस प्रकार उत्पन्न हुए राजा के पौत्र को राज्याधिकार मिलना चाहिए । यदि पुत्र के पुत्र उत्पन्न न हो तो अपनी पुत्री के पुत्र को योग्य बनाकर उसको राज्य का अधिकार दे देना चाहिए।[10] इस प्रकार

---

1. *अन्यत्रापद एश्वर्य ज्येष्ठभागिं तु पूज्यते।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 ।, अ0 21, श्लोक 54 ।*
2. *न चैकपुत्रमाविनीतं राज्ये स्थापयेत् ।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 21, वार्ता 53 ।*
3. *राजपुत्र भात्यसंपन्नं राज्ये स्थापयेत्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 5, अ0 6, वार्ता0 38 ।*
4. *आत्मसम्पन्नं सैनापत्ये यौवराज्ये वा स्थापयेत्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 17, वार्ता 45 ।*
5. *बुद्धिमानाहार्य बैद्धिरिति पुत्रविशेषाः।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 17, वार्ता 46 ।*
6. *शिष्यमाणो धर्माथौबुपलभते चानुतिष्ठति च बुद्धिमान्।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 17, वार्ता 47 ।*
7. *उपलभमानो नानु तिष्ठत्याहार्यबुद्धिः।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 17, वार्ता 48 ।*
8. *अपायनित्यो धर्मार्थद्वेशी चेति दुर्बुद्धि ।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 17, वार्ता 49 ।*
9. *स यधेकपुत्रः पुत्रोपत्पत्तावस्त्र प्रयतेत।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 17, वार्ता 50 ।*
10. *पुत्रिका पुत्रानुत्पादयेद्वा।।* — *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 17, वार्ता 51 ।*

कौटिल्य गुणवान पुत्र को ही राजपद का अधिकारी मानते हैं। परन्तु ऐसे पुत्र अथवा पौत्र के अभाव में पुत्री के पुत्र को राज्याधिकार सौंपने का मत व्यक्त करते हैं।

राजा के पुत्र अथवा पौत्र या पुत्री का पुत्र नहीं है तो ऐसी परिस्थिति में कौटिल्य राजसिंहासन पर समस्त राजवंश की पंचायत का अधिकार स्वीकार करते हैं। कुल समूह का शत्रु द्वारा जीता जाना बड़ा कठिन होता है। इस प्रकार के राज्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं आने पाती और राज्य व्यवस्था उचित रीति से चलती रहती हैं।[1]

कौटिल्य ने राजकन्या और गर्भिणी राजमहिषी को भी राजपद का अधिकारी माना है। राजा की मृत्यु हो जाने पर राजकुमार, राजकुमार का पुत्र, राजकन्या के पुत्र आदि के अभाव में राज–कन्या अथवा गर्भिणी राजमहिषी को राजपद पर नियुक्त करने की व्यवस्था दी है।[2]

कौटिल्य वंश की कुलीनता पर अधिक महत्त्व देते हैं। उनके मतानुसार राजा का वह पुत्र जो राजा की जाति की स्त्री में उत्पन्न नहीं हुआ है अथवा सत्य अर्थ में राजा की सन्तान नहीं है, ऐसे पुत्र को वह राज्य का अधिकारी नहीं मानते है।[3] कुलीन पुत्र चाहे मूर्ख ही क्यों न हो उसका अधिकार राज्य पर माना गया है। कुल–विहीन बुद्धिमान पुत्र मंत्रणा का अधिकारी नहीं माना गया है।[4] परन्तु इसका अर्थ यह कदापि न समझना चाहिए कि कौटिल्य मूर्ख पुत्र को राजपद देने के पक्षपाती थे। उन्होंने यह स्पष्ट कहा है कि अविनीत राजकुमार को राजपद कभी नहीं देना चाहिए।[5]

इस प्रकार कौटिल्य राजा के ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र को सर्वप्रथम राज्य का अधिकारी मानते हैं। ऐसे पुत्र के अभाव में उसके अन्य राजकुमारों में योग्य राजकुमार को अधिकार मिलना चाहिए। उसके अभाव में राजकुमार के योग्य पुत्र अथवा राजा की पुत्री के योग्य पुत्र को राजपद प्राप्ति का अधिकार होगा। इनके अभाव में राजकन्या अथवा गर्भिणी राजमहिषी का अधिकार माना गया है। यदि इनका भी अभाव हो तो राजकुल की पंचायत को राजपद सौंपा जाना चाहिए। राजा का अकुलीन पुत्र चाहे जितना योग्य क्यों न हो राज्य का अधिकारी नहीं माना गया है। उसको मंत्राधिकारी बतलाया गया है।

---

1. *कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसरंड़ों हि दुर्जयः। अराजव्यसनाबाधः शश्वदावसति क्षितिम्।।*
अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 17, श्लोक 55 ।

2. *कुमारं राजकन्यां गर्भिणी देवीं वाधिकुर्वीत।।* *अर्थशास्त्र, अधि0 5, अ0 6, वार्ता 46 ।*

3. *जात्यादजात्यो हि लुप्तदायादसंतानत्वादाधातुं अेंयान्।।* *अर्थशास्त्र, अधि0 7, अ0 17, वार्ता 22 ।*

4. *जात्प्राशयोर्जात्यभप्राशमैश्वर्यप्रकृतिरनुवक्त ते।। प्राज्ञमजात्यं मंत्राधिकाराः।। अर्थ0, अधि0 7, अ0 17, वार्ता 27,28।।*

5. *न चैकपुत्रमाविनींत राज्ये स्थापवेत् ।।* *अर्थशास्त्र, अधि0 1, अ0 17, वार्ता 53।।*

अध्याय चतुर्थ

मंत्रिपरिषद्

अध्याय चतुर्थ

मंत्रिपरिषद्

मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता तथा उपयोगिता

प्राचीन भारत में राजतंत्र के विकास के साथ मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता एवं महत्ता स्वीकृत की जा चुकी थी। कौटिल्य ने अत्याधिक अनिवार्यता घोषित करते हुये इसका प्रतिपादन करने के लिये यह तर्क दिया है कि राज्य एक रथ है जिसमें राजा और मन्त्री दो चक्र हैं। इसलिए राज्य के विधिवत संचालन हेतु राजा को मन्त्री रखना अनिवार्य हैं। जिस प्रकार रथ एक ही चक्र से गमन नही कर सकता उसको गमन करने के लिए दूसरे चक्र का आश्रय लेना होगा, इसी प्रकार राज्य को विधिवत संचालित करने के लिए मन्त्री रूपी दूसरे चक्र की आवश्यकता होगी।[1] इसी प्रसंग में राजा के लिए आमात्यों के रखने की आश्वयकता बतलाते हुए कौटिल्य ने दूसरा कारण भी दिया है और वह इस प्रकार हैं– "अमात्य विपत्ति से राजा की रक्षा करते हैं।[2] अमात्य गण समय विभाग रूपी चाबुक से प्रमाद–ग्रस्त राजा को सावधान किया करते हैं।"[3] ऐसे तथ्यों द्वारा कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद की आवश्यकता प्रमाणित की हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता का एक अन्य कारण कौटिल्य द्वारा बताया गया है और जिसको मंत्रिपरिषद् के निर्माण का एकमात्र आधार माना गया है वह है राज्य के विधिवत संचालन हेतु सद्मंत्रणा का प्राप्त करना यही राज्य का मूल मंत्र माना गया है। इसी सिद्धान्त में अटूट आस्था रखते हुए भीष्म ने यह स्पष्ट कहा है कि राज्य का मूल राजा के मंत्रियों की सद्मंत्रणा ही होती है।[4] मंत्रणा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते है– समस्त कार्यों का प्रारम्भ (तद्विषयक) मंत्रणा कर लेने के उपरान्त ही होना चाहिए।[5] मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में आचार्य विशालाक्ष का मत दिया गया है, जो इस प्रकार हैं "राजा के अकेले ही विचार करने

---

1. *सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।*
   कुर्वीत सचिवांस्तमात्ते पांच श्रृणुयान्मतम् ।। — अर्थ0, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 15 ।
2. *य एनमपायस्थानेभ्योवारयेयुः ।।* — अर्थ0, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 13 ।
3. *छायानालिकाप्रतोदेन वा रहसि प्रमाथन्तमभितुदेयुः ।।* — अर्थ0, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 14 ।
4. *मन्त्रिणां मंत्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते।।* — महा0 शा0प0, अ0 83, श्लोक 84 ।
5. *मंत्रपूर्वाः सर्वरम्भाः ।।* — अर्थ0, अ0 1, अधि0 15, वार्ता 2।।

से मंत्रिसिद्धि नहीं हो सकती।"[1] अज्ञात विषय को जान लेना, ज्ञात विषय का निश्चय करना, निश्चित विषय को दृढ़ बनाना, मतभेद से संशय न रहने देना, एक अंग का ज्ञान होने पर उसके अवशेष अंगों का ज्ञान प्राप्त करना आदि मंत्रियों का ही कार्य होता है।[2] इसलिए राजा को विशेष बुद्धिमान पुरुषों के साथ मंत्रणा अवश्य करनी चाहिए।[3]

प्राचीन हिन्दूं ग्रंथों के लेखकों ने यह कहा है कि मंत्री प्रशासनिक तंत्र का अनिवार्य और अंविच्छेद अंग था। शुक्र कें अनुसार कोई भी कार्य, वह छोटा–से– छोटा क्यों न हों, अकेले नहीं किया जा सकता है। अतः राजा मंत्रियों के परापर्श के बिना शासन संचालन का काम नहीं कर सकता है। यदि वह ऐसा करता है तो वह राज्य को विनाश की ओर धकेलता है। शुक्र ने वैसे राजा की तुलना जो मंत्रियों के परामर्श के बिना काम करता है, एक चोर या शोषक से की है।[4]

[3]मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या

मंत्रिपरिषद् का अर्थ है, कई मंत्रियों का समूह या निकाय। मंत्रिपरिषद् की संख्या के बारे में विभिन्न–विद्वानों ने अलग–अलग विचार व्यक्त किया हैं। महाभारत के अन्तर्गत मंत्रियों की संख्या आठ बतायी गयी है। वृहस्पति ने इसकी संख्या सोलह बतायी है। मनु के अनुसार मंत्रिपरिषद् में बारह आमात्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए। शुक्र ने मंत्रिपरिषद् में बीस मंत्रियों की संख्या निर्धारित की है। कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् की किसी निश्चित संख्या का संकेत नहीं किया है। उसने कहा है कि कार्य करने वाले पुरुषों के सामर्थ के अनुसार मंत्रियों की संख्या नियत होनी चाहिए।[5] कौटिल्य ने राज्य के आकार एवं आवश्यकताओं के अनुरूप मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या निर्धारित करने की बात कही है। मंत्रिपरिषद् में कितने सदस्य होने चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने अन्य आचार्यों के मत अर्थशस्त्र में दिए हैं जिनके अनुसार यह विदित होता है कि मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के विषय में प्राचीन भारत के राजशस्त्र के आचार्यों में एक मत नही रहा है।

मंत्रिपरिषद् की सदस्य–संख्या के विषय में मनु कें अनुयायियों का ऐसा मत है कि

---

1. *मैकस्य मंत्रसिद्धि रस्तीति विशालाचाः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता0 20।*
2. *अनुपलब्धस्य ज्ञानमुपलब्धस्य निश्वयो निश्चितस्य बलाधानमर्थ द्वै धस्य संशयस्छेदनमंकदेशदृष्टस्य शेषोपलाब्धिरिति मंत्रिप्पध्यमेतत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 22 ।*
3. *तस्मात्बुद्धिबृद्धैः सार्धमासीत् मंत्रम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता023 ।*
4. *शुक्र0. 2. 257 ।*
5. *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15 ।*

मंत्रिपरिषद् में बारह सदस्य होने चाहिए।[1] वृहस्पति के मतावलम्बियों के अनुसार राजा के मंत्रिपरिषद् में सोलह सदस्य होने चाहिए।[2] उशना ऋषि के अनुयायियों के मतानुसार मंत्रिपरिषद् में बीस सदस्य रखने चाहिए।[3] कौटिल्य का कहना है कि इन्द्र की मंत्रिपरिषद् में एक सहस्त्र सभासद सदस्य थे।[4] यह एक सहस्त्र सभासद जो कि इन्द्र की मंत्रिपरिषद् के सदस्य थे इन्द्र की आँखे माने गए हैं।[5] अर्थात् इन्ही की मंत्रणा के आधार पर इन्द्र को शासन–कार्यक्षेत्र में उचित अथवा अनुचित मार्ग का बोध होता था। यही कारण है कि इनके दो ही आँखे होने पर भी लोक में यह सहस्त्राक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुए।[6]

कौटिल्य के इस उल्लेख से ध्वनित होता है कि इनकी संख्या अधिक हो सकती थी। परन्तु कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि राजा को समय परिस्थिति और आवश्यकतानुसार अपनी मंत्रिपरिषद् में सदस्य रखने चाहिए।[7] उन्होंने इसी प्रसंग में एक स्थल पर इस विषय में कि कितने मंत्रियों से राजा को मंत्रणा लेनी चाहिए, अपना मत देते हुए बतलाया है कि तीन अथवा चार मंत्रियों से राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।[8] उनके विचार से इससे कम अथवा अधिक मंत्रियों से मंत्रणा लेनी उचित न होगा। कौटिल्य द्वारा दी गयी इस व्यवस्था के अनुसार ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य तीन अथवा चार सदस्यों की मंत्रिपरिषद् के निर्माण किए जाने के पोषक थे। 'जायसवाल' के अनुसार मंत्रिपरिषद् की एक अन्तरंग सभा थी।[9] इसमें तीन या चार सदस्य होते थे। इन्हें मन्त्र–वर या मन्त्री कहा जाता था।

मंत्रिपरिषद् की बैठक बुलाये जाने के विषय में उन्होने व्यवस्था दी है "कि अत्यन्त आवश्यक कार्य के उपस्थित होने पर मंत्रियों और मंत्रिपरिषद् को बुलाकर उनके समक्ष उस विषय को प्रस्तुत करना चहिए।"[10] कौटिल्य द्वारा दी गई इस व्यवस्था के आधार पर ऐसा विदित

---

1. *मंत्रिपरिषद द्वादशामात्यान्कुबतेति मानवाः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 53, वार्ता 53 ।*
2. *षोडषेति बार्हस्पत्याः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता0 54।।*
3. *विंशतिमित्यौशनसाः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता0 54 ।*
4. *इन्द्रस्प्रहि मंत्रिपरिषदषीणां सहस्त्रम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता0 60 ।*
5. *सप्तच्चुक्षः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता0 61 ।*
6. *तस्मादिभं द्वयक्षं सहस्त्राक्षमाहुः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता0 62 ।*
7. *यथा सामर्थ्यमिति कौटल्यः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता0 56 ।*
8. *मंत्रिभिमिस्प्रभिश्चतुर्भिर्वा सह मंत्रयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता0 37 ।*
9. *के0 पी0 जायसवाल : हिन्दू राजतंत्र (भाग– 2), पृ0 25 ।*
10. *आत्यायिके कार्ये भत्रिणो मंत्रिपरिषद चाह्य भू यात्।।* — *अर्थ0,अधि0 1,अ015,वार्ता0 63 ।*

होता है कि राजा के मंत्रिगण ही मंत्रिपरिषद् के सदस्य न रहे होंगे, वरन् कुछ और भी व्यक्ति होगें। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने जो तीन अथवा चार मंत्रियों के रखने का विधान किया है उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उनके द्वारा वर्णित मंत्रिपरिषद् में केवल तीन अथवा चार ही सदस्य होते होगें और जिसकी स्थापना उन्होंने की है। वास्तविक बात यह है कि मंत्रिपरिषद् में अधिक सदस्य रहते होंगे। परन्तु इन समस्त सदस्यों से राज्य के महत्त्वपूर्ण प्रत्येक विषय में मंत्रणा नहीं ली जा सकती। इस दृष्टि से वह राजा के मंत्राधिकारी माने जा सकते है। वह मंत्रिपरिषद् के सदस्य तो बनाए जा सकते थे परन्तु उन्हें मंत्रिपद नहीं दिया जा सकता था। इसी विचार की पुष्टि उस प्रसंग द्वारा होती है जिसमें कौटिल्य ने मंत्रियों की नियुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में उन्होंने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया हैं कि "राजा इस प्रकार, अमात्योचित गुण, देश, काल और कार्योचित व्यवस्था को देखकर उपर्युक्त योग्यता सम्पन्न किन्हीं भी पुरुषों को अमात्य बना सकता है, परन्तु उसको सहसा मंत्रिपद पर किसी व्यक्ति को नियुक्त नहीं करना चाहिए।"[1] इस व्यवस्था से यह स्पष्ट विदित होता हैं कि मंत्रिपद और अमात्यपदी भिन्न थे। मंत्री मंत्रिपरिषद् का सदस्य होता था और राजा को मंत्रणा भी देता था। अमात्य मंत्रिपरिषद् का सदस्य तो होता था परन्तु वह मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के अधिकार मात्र से मंत्रि पद ग्रहण नहीं कर सकता था। वास्तव में यह तीन अथवा चार मंत्री मत्रिपरिषद् की अन्तरंग समिति के सदस्य होते होंगे।

इस सिद्धान्त का समर्थन भीष्म ने भी किया है वह मंत्रिपरिषद् में सैंतीस सदस्यों को रखने की व्यवस्था देते हुए यह बतलाते हैं "कि इस बड़ी परिषद् में से सर्वगुण सम्पन्न पूज्यनीय, सर्वश्रेष्ठ कम से कम तीन मंत्रियों को परम अन्तरगं समिति का निर्माण राजा को करना चाहिए।"[2] इन्हीं तीन अथवा चार मंत्रियों से राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।

उपर्युक्त वर्णन से ऐसा विदित होता है कि अर्थशास्त्र में वर्णित मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या बड़ी रही होगी। परन्तु कौटिल्य मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या के विषय में मौन हैं।

मंत्रियों की नियुक्ति

मंत्रियों की नियुक्ति किस प्रकार की जानी चाहिए। इस विषय में भी कौटिल्य ने अपना

---

1. *विभज्यामास्यविभवं देशकालौ च कर्म च।*
   अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्मतु मत्रिणस्य।। — *अर्थ0, अधि0 1 अ0 8 वार्ता 33 ।*
2. *तस्माषैर्गुणौरेतैसपपन्नाः संपूजिता।* — *महा0, शा0प0, 35 ।*

मत प्रकट किया है राजा को किस प्रकार के व्यक्तियों कों मंत्री बनाने चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत प्रकट करते हुए अन्य आचार्यों का भी मत दिया है। भरद्वाज मुनि के अनुयायियों के मतानुसार राजा को अपने सहपाठियों में से अमात्य बनाने चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने यह हेतु दिया है कि राजा अपने सहपाठियों के पवित्र आचरण एवं उनकी सामर्थ्य को भलीभाँति जानता रहता है।[1] राजा के सहपाठी विश्वास पात्र रहेगें।[2] आचार्य विशालाक्ष इस मत का खण्डन करते हुए कहतें है[3] " कि सहपाठी, साथ में खेला हुआ होता है इसलिए वह मित्र राजा की आज्ञा की अवहेलना कर देता है।[4] जो व्यक्ति राजा की इच्छा के अनुकूल हो उनकों ही अमात्य पद दिया जाना चाहिए। चाहे वह सहपाठी रहे हों अथवा न रहे हों।[5] समान गुणधारी व्यक्ति ही विपत्ति में राजा का साथ दे सकते हैं। वह ही राजा के कर्म के जानने वाले और राजा से भय मानने वाले होते हैं। इस कारण वह राजा के विरूद्ध होकर राजा का कुछ अपराध नही करते।[6]

पाराशर मुनि आचार्य विशालाक्ष के इस मत को दोषपूर्ण मानते हैं।[7] अपने अमात्यों के मर्मज्ञ होने के कारण राजा उनसे भयभीत रहेगा। इसलिए अमात्य गण जो कुछ करेंगे राजा को उन का अनुसरण करना ही होगा।[8] पाराशर मुनि का मतानुसार उस व्यक्ति को अमात्य बनाना चाहिए। जिसने प्राण संकट के अवसर पर राजा की सहायता की हो।[9] क्योंकि ऐसा व्यक्ति अपनी भक्ति का परिचय पूर्व में ही दे चुका होता है।[10]

पिशुनाचार्य पाराशर मुनि के इस मत से सहमत नहीं है।[11] वह पारशर मुनि के मत का खण्डन इस आधार पर करते हैं। कि उन्होनें भक्ति गुण को महत्व दिया है परन्तु बुद्धि पर नहीं।[12] अमात्य

---

1. *सहाध्यायिनोऽमात्यान्कुर्वीत दृष्टशौचसामर्थ्यत्वादिति भारद्वाजः।।* अर्थ0,, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 1 ।
2. *ते ह्यस्य विश्वास्या भवन्तीति।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 2 ।
3. *नेति विशालाचाः ।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8,वार्ता 3 ।
4. *सहक्रोडितत्वात्परिभवन्त्येनम् ।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 4।
5. *ये हास्य गुह्यसंधर्माणस्तानमात्यान्कुर्वीत समानशीलत्यसनत्वात्।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 5 ।
6. *ते हास्य कर्मज्ञत्वभयान्नापराध्यन्तीति।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 6 ।
7. *साधारणा एष दोष इति पराशरः।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 7 ।
8. *तषामपि मर्गज्ञत्व भयात्कृता कृतान्यनुषर्तेत।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 8 ।
9. *य एनामापत्सु प्राणावाधयुक्तास्व नुगृहीयुस्तानमात्यान्कुर्वीत।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 10 ।
10. *दृष्टानुरागत्वादिति ।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 11।
11. *नेति पेशुनः।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 12 ।
12. *भक्तिरेषा न बुद्धिगुणः ।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 13 ।

आदि राजकर्मचारियों को विशिष्ट बुद्धिमान होना चाहिए, जो अपने कर्त्तव्य का विधिवत पालन कर सके वह अपनी बुद्धि के चमत्कार से अपने कर्त्तव्य का तो पालन कर ही दे परन्तु अन्य अधूरें कार्यों को भी पूरा कर सकें।[1] वही अमात्य उत्तम समझा जाएगा जो अपने कर्त्तव्य को भंली भाँति जानता है।[2]

आचार्य कौणपदन्त पिशुनाचार्य के मत का खण्डन करते हैं।[3] उनका कथन है कि बिशेष बुद्धिमान व्यक्ति होने पर भी वह अमात्योचित अन्य गुणों से रहित हो सकता हैं।[4] उनके मतानुसार पिता–पितामह आदि के क्रम से आने वाले पुरुषों को ही अमात्य बनाना उचित होगा।[5] ऐसे पुरुष अपने पैतृक प्रभाव से इस पद के योग्य समस्त अनुभवो का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।[6] अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में वह यह हेतु देते हैं कि कुल– क्रमागत आने वाले अमात्य राजा के प्रति दूषित कर्म किए जाने पर भी उसका त्याग नहीं करते क्योंकि उनका स्वार्थ राजा के स्वार्थ में ही रहता है।[7] मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं में भी ऐसा व्यवहार देखा जाता है।[8] गौएं दूसरे गोसमूह को त्याग कर अपने गोसमूह में ही रहती हैं।[9]

आचार्य बातव्याधि इस सिद्धान्त को नही मानते।[10] वंशपरम्परागत अमात्य राजा के अधीन सब कुछ पर अपना अधिकार करके उसे अपना समझा बैठते हैं।[11] इसलिए राजनीति विशारद नवीन व्यक्तियों को अपने अमात्य नियुक्त करने चाहिए, ऐसा उनका मत है।[12] नवीन अमात्य दण्डधारी राजा से यमराज की भांति भयभीत रहते है इसलिए वह (जान बूझ कर)

---

1. *संख्यातार्थेषु कर्मसु नियक्ता ये यथादिष्टमर्थ सविशेषं वा कुर्युस्तानमात्यान्कुर्वीत।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 14 ।
2. *दृष्टगुणात्वादिति।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 15 ।
3. *नेतिकोणपदन्तः ।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 16 ।
4. *अन्यैरमात्यगुणौरयुक्ता ह्येते।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 17 ।
5. *पितृपैतामहानमात्यान् कुर्वीत।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 18 ।
6. *दृष्ट पादानत्वात्।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 19 ।
7. *ते ह्मे नम्रपचरन्तमपि न त्यजन्ति सागन्धत्वात् ।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 20 ।
8. *अमानुषेष्वपि चैतदृष्यते।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 21 ।
9. *गावो ह्यसगन्धं गोगणामतिक्रम्य सगन्धेष्वेवावतिष्टन्त इति।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 22 ।
10. *नेति वातब्याधिः।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 23 ।
11. *ते हास्य सर्वम पगृहा स्वामिवठाचरन्तीति।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 24 ।
12. *तस्मान्नीतिविदो नवान मात्यान्कुर्वीन ।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 25 ।

अपराध नहीं करते।[1] आचार्य बाहुदन्ती पुत्र ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है।[2] शास्त्र के ज्ञाता होने पर भी अमात्य पद से सम्बन्धित कार्यो के अनुभव से रहित होने पर तत्सम्बन्धी कार्य–सम्पादन में क्लेश सहन करते है।[3] इन समस्त विषयों पर विचार कर कुलीन, बुद्धिमान, पवित्र हृदय, शौर्य सम्पन्न एवं अनुराग युक्त व्यक्तियों में से अमात्य नियुक्त किए जाने चाहिए।[4] अमात्म पद उन्हीं व्यक्तियों को दिंया जाना चाहिए जो गुणों में प्रधान हों।[5]

कौटिल्य इन समस्त सिद्धान्तों को उपयुक्त मानते हैं।[6] परन्तु उनका मत है कि कार्य के उपस्थित होने पर देशकालानुसार जैसा उचित हो वैसे ही पुरुष को अधिकार देना चाहिए क्योंकि अमात्य की नियुक्ति में समयानुसार योग्यता की ही विशेषता मानी गयी हैं।[7] राजा, इस प्रकार, अमात्योचित गुण, देश काल और कार्याचित व्यवस्था देखकर उपर्युक्त योग्यता सम्पन्न किसी भी पुरुष को अमात्य बना सकता है। परन्तु उसको मंत्रिपद पर सहसा नियुक्त कर दिया जाए कौटिल्य इस सिद्धान्त का विरोध करते हैं।[8] उन्होंने मन्त्रिपद के लिए कतिपय विशेष गुणों एवं योग्यताओं को निर्धारित किया है। मंत्री को गुणों एवं योग्यताओं से सम्पन्न होना चाहिए। इन गुणों एवं योग्यताओं को कौटिल्य ने अमात्यसम्पद् के नाम से सम्बोधित किया है। जिन गुणों एवं योग्यताओं का वर्णन कौटिल्य ने अमात्यसम्पद् के नाम से सम्बोधित किया है उनका वर्णन इसी अध्याय में पीछे किया गया है।

उपधा प्रणाली द्वारा मन्त्रियों की नियुक्ति

राज्य में मंत्रिपद परम महत्त्व का पद होता है अतः राजा के मंत्रियों को पवित्र आचरणवान होना चाहिए। उन का चरित्र इतना महान होना चाहिए कि चाहे जैसी परिस्थिति क्यों न हो, परन्तु मन्त्रियों को स्थिर बुद्धि एवं बिकार रहित रहना चाहिए, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मनुष्य पर प्रतिरक्षण आक्रमण करते रहते हैं। विरले ही पुरुष इन पर विजय प्राप्त करने

---

1. *नवास्तु थमस्थाने दणडधरं मन्यमाना नापराध्यन्तीति।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 26 ।*
2. *नेति बाहुदन्ती पुत्रः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 27 ।*
3. *शास्त्रविदष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 28 ।*
4. *अभिजनप्रज्ञाशौचशौर्यानुराग युक्तानमात्यान्कुर्वीत।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 8,वार्ता 29 ।*
5. *गुणाप्राधान्यादिति ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 30 ।*
6. *सर्वभुपपन्नमिति कौटल्यः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 31 ।*
7. *कार्यसामर्ध्याद्धिपुरुषसामर्थ्य कप्प्रते सामर्ध्यतश्च।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, वार्ता 32 ।*
8. *विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च क्रमं च।*
   अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युनं तु मंत्रिणा।। — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 8, श्लोक 33 ।*

में समर्थ होते है। इसलिए यह परम आवश्यक है कि राजा को अपने मंत्रियों के आचरण की परख करते रहना चाहिए। राजा को प्रतिक्षण इस विषय का ज्ञान रखना चाहिए कि उसके मंत्री किसी समय बिकार ग्रस्त तो नहीं हो जाते हैं। इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति हेतु प्राचीन भारत में एक विशेष प्रणाली का निर्माण किया गया था जिसको अपनाने से मंत्रियों एवं उच्च पदाधिकारियों आदि के आचरण एवं व्यवहार तथा उनके अन्य प्रकार के गुणों एवं योग्यताओं की गुप्त रीति से परख हो जाती थी। इस प्रणाली को प्राचीन भारत में उपधा प्रणाली के नाम से सम्बोधित किया गया है। मंत्रियों की नियुक्ति में उपधा प्रणाली का आश्रय लिये जाने के सिद्धान्त का कौटिल्य ने भी समर्थन किया है। उन्होंने चार प्रकार की उपधाओं का उल्लेख किया है और जिन को वह कामोपधा, अर्थोपधा, धर्मोपधा और भयोपधा नाम से सम्बोधित करते हैं। कौटिल्य का मत है कि मंत्रियों की नियुक्ति हेतु पहले अभ्यर्थी को राज्य में समान्य अधिकरणों पर नियुक्त करना चाहिए और फिर उनकी गुप्त रीति से परीक्षा करनी चाहिए।[1] उनकी परीक्षा कामोपधा, अर्थोपधा, धर्मोपधा और भयोपधा द्वारा होनी चाहिए।[2] इन समस्त परीक्षाओं में जो व्यक्ति शुद्ध प्रमाणित हो जाए उसको ही मंत्रिपद दिया जाना चाहिए।[3] अन्य आचार्योंने उपधा प्रणाली के द्वारा मंत्रियों के शोधन हेतु महारानी तक का लोभ इन मंत्रियों की कामवृत्ति के जाग्रत करने के हेतु अपनाने की व्यवस्था दी हैं परन्तु कौटिल्य ने इसका विरोध किया हैं उनका मत है कि उपधा प्रणाली द्वारा परीक्षा हेतु राजा और महारानी को नहीं पड़ना चाहिए। इस हेतु किसी बाहरी व्यक्ति अथवा पदार्थ का लोभ दिया जाना चाहिए और फिर गुप्तचरों द्वारा उनकी शुद्धता का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।[4]

मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की योग्यता

कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त योग्यताएं निर्धारित की हैं, जिनकों वह अमात्यसंपद के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह योग्यताएं इस प्रकार बतलायी गयी हैं– कुलीन,

---

1. *मंत्रिपुरोहितसखः सामान्ध्वधिकरणेषु स्यापयित्वामात्यानुपधानिः शोधयेत्।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 10, वार्ता 1 ।
2. *प्रत्याख्याने शुचिरिति धर्मोपिधा, प्रत्याख्यानेशुचिरित्पर्थोपधा, प्रत्याख्याने– शुचिरिति कामोपधा, प्रत्याख्याने शुचिरिति भयोपधा।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 10, वार्ता 19, 12, 9, 6 ।
3. *सर्वोपधाशुद्धनमंत्रिणः कुर्यात्।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 10, वार्ता 24।।
4. *तस्माद् बाह्यमधिष्ठानं कृत्वां कार्ये चतुर्विधे।*
   शौचाशौचममात्थानां राजा मार्गेत संत्रिभि :।। अर्थ0, अधि0 1, अ0 10, श्लोक 30 ।

स्वदेशोत्पन्न, समय पर भली प्रकार अपने अनुकूल चलाए जाने, अथवा उत्तम बन्धु–बान्धवों से सम्पन्न, शिल्प विधा में कुशल, प्रत्येक विषय का जानने वाला विद्वान, स्मृतिमान, कार्य कुशल, वाक्पटु , अवगुण शून्य, तीव्र भाषण देने वाला, शीघ्र प्रबन्ध करने मे समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, क्लेश सहन में समर्थ, स्थिर प्रकृत पवित्र आचारणधारी, स्नेह करने वाला ललितकलाओं का ज्ञाता, दृढ़भक्ति से युक्त, शील, बल, आरोग्य तथा मानसिक शक्ति से सम्पन्न, जड़ता और चपलता से शून्य, सब का प्रिय, और व्यर्थ किसी से बैर मोल न लेने वाले व्यक्ति को मंत्रिपरिषद् का सदस्य बनाना चाहिए।[1]

कौटिल्य गुणों के आधार पर तीन प्रकार के मंत्री मानते हैं। जिस मंत्री में उपर्युक्त समस्त गुण हों वह उत्तम मंत्री माना गया हैं जिस मंत्री में इन गुणों के तीन चौथायी गुण हें वह मध्यम मंत्री कहलाता है और जो मंत्री उपर्युक्त गुणों में से केवल अर्धगुण सम्पन्न है वह छुद्र मंत्री माना गया हैं।[2] शुक्र के अनुसार मन्त्रियों को अच्छे और कुलीन वंश का होना चाहिए तथा उन्हें नीति और राजनीति का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। उनका चरित्र और आचरण उत्तम होना चाहिए। उनमें शोर्य के साथ मृदुलता भी होनी चाहिए।[3] सोमदेव के अनुसार मंत्रियों का उत्तम चरित्रवाला होना आवश्यक हैं। वृहस्पति ने भी मंत्रियों के उत्तम चरित्र पर बल दिय है। उन्हें युवा एवं कर्मठ होना चाहिए तथा मद्यपान व अन्य प्रकार के दुर्गुणों एवं व्यसनों से मुक्त होना चाहिए। उन्हें शास्त्रों में पारंगत होना चाहिए।[4] अग्नि पुराण में भी कहा गया है कि मंत्रियों में उच्च नैतिक एवं बौद्धिक गुणों का होना आवश्यक है।

मंत्रियों की श्रेणियाँ

कौटिल्य ने मंत्रि परिषद् में मंत्रियों की श्रेणियों का भी उल्लेख किया है। रामायण में तीन श्रेणियों के मंत्रियों का उल्लेख मिलता हैं– (क) मुख्य, (ख) मध्यम (ग) जघन्य।[5] शुक्रनीति में भी मंत्रियों की तीन श्रेणियों की चर्चा की गयी हैं।[6] कौटिल्य ने यद्यपि मंत्रियों की श्रेणियों

---

1. *जानपर्दोभिजातः स्ववप्रहः कृतशिल्पपश्चक्षुप्मान्प्राज्ञों धारयिष्णुर्दक्षों याग्मी प्रगल्भः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहुः शुचिमैत्रों दृढ़भक्रिः शीलबलारोग्यसंक्ष्वसंयुक्त स्तम्भ चापल्यवर्जितः संप्रियों वैराणामकल्टौल्य मारप्रर्स्पत्।।*
   अर्थ0, अधि0 1, अ0 9, वार्ता 1 ।
2. *अतः पदार्थगुणाहीनौ मध्यमादरौ।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 9, वार्ता 2 ।*
3. *अर्थ0, अधि0 1, अ0 2, वार्ता 52.–64 ।*
4. *वृहस्पति, अर्थशास्त्र, 2.42।*
5. *बाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, 100,25,26*
6. *शुक्रनीतिसारं, 2,109*

का उल्लेख नहीं किया हैं, परन्तु उसने अठारह पदाधिकारियों को तीन श्रेणियों बाँटा है, और श्रेणी के अनुरूप ही उनके वेतन एवं भत्ते निर्धारित किये गये हैं। कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् के अन्तर्गत दो भागों का उल्लेख किया हैं – (i) अन्तर भाग, (ii) बाह्य भाग। अन्तर भाग का काम नीति निर्धारण करना तथा कार्यों की रूप रेखा तैयार करना है। बाह्म भाग का काम निर्धारित नीतियों और कार्यक्रमों को लागू करना है। आज भी विभिन्न देशों में मंत्रिमंडल के अन्तर्गत एक छोटा–सा मंत्रिमंडल होता है जिसे आंतरिक मंत्रिमण्डल कहा जाता है।

यद्यपि कौटिल्य ने प्रधानमंत्री शब्द का प्रयोग नहीं किया हैं, परन्तु उसके विवरणों से यह संकेत मिलता है कि उस समय प्रधानमंत्री का भी पद होता था। जो राजा का सर्वाधिक प्रिय और निकटतम व्यक्ति होता था, वह प्रधानमंत्री के रूप में काम करता था। वैसे तो किसी भी विषय पर निर्णय मंत्रिपरिषद् कें बहुमत से लिया जाता था, परन्तु कुछ बातों में प्रधानमंत्री की स्थिति विशिष्ट थी। उसकी स्थिति मुख्य कार्यपालक की स्थिति कही जा सकती हैं।

मंत्रिपरिषद् की अध्यक्षता

'अर्थशास्त्र' में मंत्रिपरिषद् के विषय में जो वर्णन दिया हुआ है उससे यह विदित होता है कि मंत्रिपरिषद् की बैठके स्वतंत्र रूप में होती थी। इस परिषद् की बैठके इसी परिषद् के अध यक्ष के तत्वावधान में होती थी। राजा इस परिषद् का अध्यक्ष नहीं होता था। राजा का विशेष सम्बन्ध मंत्रि परिषद् की अन्तरंग समिति से रहता था। केवल अत्यन्त महत्तपूर्ण समस्या के उत्पन्न होने पर राजा मंत्रिपरिषद् को बुलाता था। अन्य अवसरों पर इसकी बैठकें स्वतंत्रता पूर्वक इसी के अध्यक्ष के अधीन ही होती थी। मंत्रिपरिषद् के अध्यक्ष का पद राज्य में बहुत ऊँचा माना गया है। कौटिल्य ने राज्य के अट्ारह तीर्थों में एक तीर्थ मन्त्रिपरिषद् के अध्यक्ष को भी माना हैं।[1]

मंत्रिपरिषद् में निर्णय बहुमत से होते थे। कौटिल्य ने इस सिद्धान्त की पुष्टि इस प्रकार की हैं– अत्यन्त आवश्यक कार्य के उपस्थित होने पर राजा को मंत्रि–परिषद् को बुलाना चाहिए।[2] उस समय जिस विषय की पुष्टि बहुमत द्वारा होती हो उसी निर्णय को कार्यान्वित करने वाले उपायों को अपनाना चाहिए।[3]

---

1. *तान् राजा स्वविषयै मंत्रिपुरोहित सेनापतियुवाराज .... ।।*
   मंत्रिपरिषदध्यक्ष .... ।। — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 8 ।*
2. *आत्ययिके कार्ये मंत्रिणों मंत्रिपरिषदं चाहूय ब्रू यात् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 63 ।*
3. *तत्र यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रू युस्तत्कुर्यात्।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 64 ।*

मंत्रिपरिषद् की अंतरंग समिति

राजा को प्रत्येक विषय में वास्तविक मंत्रणा प्राप्त हो सके, साथ ही मंत्र की रक्षा भी हो सके इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए कौटिल्य यह उचित नहीं समझते कि मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य से प्रत्येक विषय में मंत्रणा प्राप्त की जानी चाहिए। वह मंत्रिपरिषद् के समस्त सदस्यों में से तीन अथवा चार सर्वश्रेष्ठ सदस्यों को इस कार्य के लिए अलग कर लेना उचित समझते हैं। यही तीन अथवा चार सदस्य राजा के वास्तविक मंत्री माने गए हैं। यद्यपि कौटिल्य ने ऐसा कहीं भी स्पष्ट नहीं कहा है कि यह तीन अथवा चार मंत्री मंत्रिपरिषद् के सदस्यों मे से ही नियुक्त किए जाते थे अथवा उनकी नियुक्ति अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष रूप में होती थी। इसलिए यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह तीन अथवा चार मंत्री, मंत्रिपरिषद् के सदस्यों मे से ही नियुक्त किए जाते थे। परन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह मंत्रिगण मंत्रिपरिषद् के सदस्यों मे से ही नियुक्त किए जाते होगें। परन्तु इतना अवश्य है कि यह मंत्रिपरिषद् की उन बैठकों में अवश्य सम्मिलित होते थे। जिन बैठकों को राजा स्वयं बुलाया करता था।[1]

इन मंत्रियों की कितनी संख्या होनी चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने अन्य आचार्यों का भी मत दिया है। वह भरद्वाज का मत इस विषय में सर्वप्रथम देते हैं भरद्वाज मुनि का मत देते हुए कौटिल्य ने कहा है कि उनके अनुयायियों के मतानुसार राजा को अत्यन्त गोपनीय विषयों में अकेले ही विचार करना चाहिए क्योंकि मंत्रियों के भी मंत्री होते है।[2] उनके अन्य मंत्री होते हैं[3] यह मंत्रि परम्परा ही मंत्र भेद कर देती है।[4] आचार्य विशालाक्ष ने भरद्वाज मुनि के मत का खण्डन करते हुए यह व्यवस्था दी है कि राजा के अकेले ही मंत्र निर्णय करने से मंत्र– सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि एक व्यक्ति के विचार करने मात्र से मंत्र सिद्ध नहीं किया जा सकता।[5] अज्ञात बात का जानना, ज्ञात का निश्चय करना, निश्चित विषय को दृढ़ बनाना, मतभेद की बात में संशय न रहने देना, एक अंश का ज्ञान होने पर उसके शेष अंश को पूरा करना मंत्रियों का

---

1. *आमात्ययिके कार्ये मंत्रिणों मंत्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 14।*
2. *तस्मादनुह्यमेको मंत्र येतेतिभारद्वाजः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 15।*
3. *मंत्रिणामति हि मंत्रिणो भवन्ति।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 16।*
   तेषामप्यन्यें।। — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 17।*
4. *सैषा मंत्रिपरंपरा मंत्र भिनत्ति।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 18।*
5. *नैकस्य मंत्रसिद्धिरस्तीति विशालाक्षः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 20।*

ही कार्य होता हैं।[1] मंत्रियों के साथ मंत्रणा किए बिना राजाओं का कार्य सम्पादित नहीं हो सकता अतएवं अधिक बुद्धिमानों के साथ राजा को अवश्य मंत्रणा करनी चाहिए।[2] बुद्धिमान ही क्या राजा को तो सबके मत को सुनना चाहिए किसी के भी मत की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। बुद्धिमान राजा को तो बालक के सार्थक वाक्य को स्वीकार कर लेना चाहिए।[3] इस प्रकार आचार्य विशालाक्ष राजा के मंत्रियों की संख्या में कोई सीमा ही निर्धारित नहीं करते।

आचार्य पाराशर के अनुयायियों ने इसका खण्डन किया है उनका कहना है कि इस व्यवस्था से मंत्र की रक्षा नहीं की जा सकती है।[4] पिशुनाचार्य ने पाराशर मुनि का खण्डन करते हुये अपने मत का इस प्रकार प्रकाशन किया हैं– जो पुरुष जिन–जिन कार्यों में नियुक्त किए जाऐं उनके साथ राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।[5] ऐसे व्यक्तियों से मंत्रणा करने से मंत्र बुद्धि एवं उसकी रक्षा होती हैं।[6] इस प्रकार पिशुनाचार्य के मतानुसार प्रत्येक अध्यक्ष अथवा अभिमत पुरुष से मंत्रणा करनी चाहिए।

कौटिल्य ने इन मतों में से किसी मत का भी समर्थन नहीं किया है।[7] वह सबको अव्यवस्था के नाम से सम्बोधित करते हैं[8] और यह व्यवस्था देते हैं कि राजा को तीन अथवा चार मंत्रियों से मंत्रणा करनी चाहिए।[9] इस भाँति कौटिल्य तीन अथवा चार राज्य के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की एक अन्तरंग समिति के निर्माण का आदेश देते है और इसी अन्तरंग समिति के सदस्यो की मंत्रणा के आधार पर राजा को मंत्र निर्णय करना चाहिए।

अपने इस मत की पुष्टि में वह तर्क देते हैं कि एक ही मंत्री के साथ मंत्रणा करने से मंत्रभेद के स्थानों में मंत्र का निश्चय नहीं हो सकता।[10] यदि अकेला ही मंत्री है तो वह अपनी

---

1. *अनुपलब्धस्य ज्ञानमुपलब्धस्य निश्चयों निश्चितस्य बलाधानमर्थद्वैधस्य संशगच्छेदन मेकदेशदृष्टस्य शेषोपलब्धिरिति मंत्रिसाध्यमेतम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 22 ।*
2. *तस्मादबुद्धिबृद्धैः सार्धमासीत मंत्रम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 23 ।*
3. *नर्किचिदवमन्येत सर्वस्य श्रृणुयाम्मतम् ।। बालस्याप्यथर्ज्ञवद्धाल्यमुपयुज्जीत प्यडिंडतः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 24 ।*
4. *एतन्मंत्रज्ञानं मैतन्मंत्ररक्षमिति पाराशिराः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 25 ।*
5. *तस्याक्तर्ममु येषु येऽमिप्रेतास्तैः सह मंत्रयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 33 ।*
6. *तैर्मत्रयमाणों हि मंत्रबुर्द्धिगुप्तं च लभत इति ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 34 ।*
7. *नेति कौटल्यः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 35 ।*
8. *अनवस्था ह्येषा ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 36 ।*
9. *मंत्रिभिस्त्रिभिर वतुर्भिर्वा सह मंत्रयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 37 ।*
10. *मंत्रयमाणों हो के नाथे कृच्छेषु निश्चर्य नाधिगच्छेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 35 ।*

इच्छानुसार बिना किसी सोच–विचार के उच्छृखंल रूप से कार्य कर सकता है।[1] दो मंत्रियों के मध्य मंत्र का निश्चय करना भी उचित नहीं है क्योंकि दोनों के मिल जाने पर राजा का मंत्र उचित रीति से सिद्ध नहीं हो सकता। दो व्यक्तियों का परस्पर मिल जाना स्वाभाविक है।[2] इसके अतिरिक्त दोनों में मत–भेद होने पर मंत्र का निर्णय नही हो सकता अतएव कार्य का नाश हो जाएगा।[3] यदि तीन अथवा चार मंत्री होंगे तो इस प्रकार के अनर्थ होने की सम्भावना बहुत ही कम होती है।[4] कार्य समुचित रूपेण चलता रहता है, ऐसा ही देखा गया है।[5] यदि चार से अधिक मन्त्रियों से मन्त्रणा की जायेगी तो किसी भी विषय में निर्णय पर पहुँचना ही कठिन हो जाएगा[6] और मंत्र की रक्षा भी नहीं हो सकेगी।[7] देश, काल और कार्य की आवश्यकता देखकर एक अथवा दो मंत्रियों के साथ भी मंत्रणा की जा सकती है। राजा को समयानुसार इन नियमों का पालन करना चाहिए।[8]

इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार राजा के तीन अथवा चार मंत्री होने चाहिए। वह तीन अथवा चार मंत्री राजा की अन्तरंग समिति के सदस्य होंगें।

मंत्रियों का वेतन

कौटिल्य ने राज्य के विभिन्न कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों के वेतन का उल्लेख किया है। कौटिल्य इस सिद्धान्त के पक्षधर हैं कि राज्य के कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों को उनके पद के अनुसार वेतन दिया जाना चाहिए। यह वेतन इतने होने चाहिए जिससे उनका एवं उनके परिवार का उनकी परिस्थिति के अनुसार विधिवत भरण–पोषण हो सके। वेतन द्वारा प्राप्त धन कभी इतना न्यून नहीं होना चाहिए कि जिससे राजकर्मचारी को अपने एवं अपने आश्रित परिवार के भरण–पोषण के लिए दूसरे साधनो का आश्रय लेना प े। कौटिल्य के अनुसार वेतन की न्यूनता कर्मचारी को कुपित कर देती है जिससे राजा एवं राज्य को अत्याधिक क्षति पहुँचती है।

---

1. *एकश्चमंत्री वथेष्टमनवग्रहश्चरति।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 39 ।
2. *द्वाख्याँ मंत्रयमाणों द्वाभ्यां संहताभ्यामतग्रह्यते।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 40 ।
3. *विगृहीताम्यां विनाश्यते।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 41 ।
4. *त्रिषु चतुर्ष वा नैकान्तं कृछे णीपद्यते महादोयम्।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 42 ।
5. *उपपन्नंतु भवन्ति।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 24 ।
6. *ततः परेषु कृछेंणार्थ निश्चयों गम्प्रसे।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 44 ।
7. *मंत्रोवा रचयते।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 45 ।
8. *देशकालकार्यवेशेन त्वकेन सह द्वाम्यामेको वा यथा सामर्थ्य मंत्रयेत्।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 46 ।

उपर्युक्त सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर उन्होंने मंत्रियों का वेतन निर्धारित किया है। उन्होंने वेतन की दृष्टि से ऋत्विक आचार्य, मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता और राजमहिषी को एक ही श्रेणी में परिगणित किया है। इन समस्त अधिकारियों में प्रत्येक के लिए कौटिल्य ने अड़तालीस सहस्त्र पण वार्षिक वेतन निर्धारित किया है।[1] उनके अनुसार इतने वेतन से यह सुविधापूर्वक अपना एवं अपने आश्रितों का भरणपोषण कर सकते हैं और उनके कुपित होने की सम्भावना नही रहती।[2] कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् के अमात्यों एवं मन्त्रियों में वेतन की दृष्टि से अन्तर होना चाहिए इस विषय का विशेष का विशेष उल्लेख नहीं किया है। शुक्र ने इसका विशेष उल्लेख करते हुए मन्त्रि परिषद् के सदस्यो के वेतनों में उनके पद के महत्व के अनुसार अन्तर रखा है।[3]

मंत्रगोपन

कौटिल्य ने मंत्रि–परिषद् की बैठकों की गोपनीयता पर बल दिया है। कौटिल्य के मतानुसार मंत्रि–परिषद् की बैठकें गुप्त स्थानों पर हो तथा उसकी कार्यवाहियाँ गोपनीय हों। उनका मत है कि जब तक कार्य प्रारम्भ न कर दिया जाए मंत्र गुप्त रखना चाहिए। केवल आवश्यकता पड़ने पर राजा द्वारा मंत्र प्रकाशित होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य अवसरों पर मंत्र को युक्तिपूर्वक गुप्त रखना चाहिए। अपने इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु वह कछुए का उदाहरण देते हुए कहते है कि जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है और केवल आवश्यकता पड़ने पर उनको प्रकट करता है इसी युक्ति के अनुसार राजा को मंत्रगोपन अथवा प्रकाशन करना उचित होगा।[4] मंत्र का फूट जाना राजा और मंत्राधिकारी पुरुषों दोनों के कल्याण का घातक होता हैं[5] इसलिए मंत्ररक्षा (मंत्रगोपन) का विशेष रूप से प्रयत्न करना चाहिए।[6] अतः कौटिल्य ने मंत्रागोपन हेतु विशेष प्रकार से सावधान रहने का ओदश दिया है। मंत्रगोपन हेतु उन्होंने कई उपाय अथवा साधन बतलाए हैं। इनमें एक साधन अथवा उपाय यह भी बतलाया

---

1. *ऋत्विगाचार्यमंत्रिपुरोहित से नापतियुवराज राजमातृ राजमहिष्येअष्ट चत्वारिंशात्साहस्त्राः ।।*
   अर्थ०, अधि० 5, अ० 3, वार्ता 4 ।
2. *एतावता भरणे नानास्वाधत्वमकोपकं चैषां भवन्तिं।।* — *अर्थ०, अधि० 5, अ० 3, वार्ता 5।*
3. *दशमांशाधिकाः पूर्वद्तान्ताः क्रमशः स्मृताः।।* — *शुक्रनीति, अ० 2, श्लोक 71 ।*
4. *गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि यत्स्याद्विडतमात्मनः।।* — *अर्थ०,, अधि० 1, वार्ता 15, 65 ।*
5. *मंत्रभदो ह्ययोगक्षेमकारी राज्ञस्तदा युक्तपुरुषाणां च।।* — *अर्थ०, अधि० 1, अ० 15, वार्ता 14 ।*
6. *तस्माद्रक्षेन्मंत्रम् ।।* — *अर्थ०, अधि० 1, अ० 15, वार्ता 13 ।*

गया है कि मंत्रणा का स्थान इस दृष्टि से अत्यन्त सुरक्षित होना चाहिए। वह इतना सुरक्षित होना चाहिए कि उस स्थान से किसी प्रकार भी मंत्र भेद न होने पाए। कौटिल्य का मत है कि मंत्रणा का स्थान इतना सुरक्षित होना चाहिए कि मंत्रणा के विषय में की गयी बात–चीत कोई अन्य व्यक्ति सुन न सके। यहाँ तक कि पशु–पक्षियों के प्रवेश को भी वर्जित किया है। राजा की अनुमति के बिना मंत्रणा के स्थान पर व्यक्ति या पशु–पक्षी को प्रवेश नहीं करने देना चाहिए।[1] ऐसा सुना जाता है कि तोता और मैना ने किसी राजा की मंत्रणा सुन ली और उन्होंने मंत्रणा के रहस्य को खोल दिया। कहीं कुत्तों की चेष्टाओं से मंत्र प्रकाशित हो गया और कहीं पर अन्य पशु–पक्षियों ने इसी प्रकार किसी राजा की मंत्रणा प्रकाशित कर दी।[2] राजा को इस प्रकार का आदेश प्रचारित कर देना चाहिए कि मंत्रणा करने के स्थान पर कोई भी व्यक्ति बिना राजा की आज्ञा प्राप्त किए हुए न आ–जा सके।[3] गोपनीय बातों के प्रकट हो जाने पर राजा और राज्य दोनों को संकट रहता हैं। कौटिल्य ने यह परामर्श दिया है कि यदि कोई व्यक्ति गुप्त मंत्रणा के भेद को खोल दे तो उसे तत्काल मरवा देना चाहिए।[4] उल्लेखनीय है कि आधुनिक काल में भी मंत्रिपरिषद् की गोपनीयता पर बल दिया जाता है।

मंत्रगुप्ति का दूसरा उपाय साधन यह बतलाया गया है कि राजा एवं उसके मंत्राधिकारीगणों को मंत्र के प्रभाव के कारण शरीर में जो विकार उत्पन्न होने के चिन्ह् प्रकट होने लगते हैं उनको बड़ी चतुराई से छिपाए रखना चाहिए। विशेष लोग शारीरिक विकारों से हृदय के भावो का जान लेने में समर्थ हो जाते हैं और इस प्रकार ऐसे व्यक्तियों द्वारा मंत्र के प्रकाशित हो जाने की बहुत कुछ सम्भावना रहती है। इसीलिए इंगित[5] अथवा आकार[6] को गुप्त रखना चाहिए और जब तक मंत्रणा को रचनात्मक रूप में परिणित किए जाने का समय उपस्थित न हो जाए तब तक अपने इंगित–आकार को ही नहीं अपितु इस मंत्रणा के कार्य में सम्मिलित हुए पुरुषों की सावधानी से रक्षा करते रहना चाहिए।[7]

---

1. *तदुद्देशः संवृतः कथानामनिश्रावी पक्षिभिरप्यनालोक्यः स्यात्।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 3 ।*
2. *श्रूयते हि शुकशारिकाभिर्मन्त्रोमिश्र।। श्वभिरन्येश्च तिर्यष्योनिभिः।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 4 ।*
3. *तस्मान्मंत्रोद्‌देशमनायुक्तौ गोपगच्छेत्।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 5 ।*
4. *उच्छिद्येत मंत्रभेदी ।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 6 ।*
5. *इंगितमन्यथावृत्ति।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 7 ।*
6. *आकृतिग्रहणमाकारः।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 9 ।*
7. *तस्य संवरणमायुक्तपुरुषरक्षणामाकार्यकालादिति।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 10 ।*

मंत्र गोपन करने का तीसरा साधन मंत्राधिकारियों का उनकी असावधानियों से रक्षा करना बतलाया गया है। मनुष्य मद्यपान कर उसके प्रभाव के कारण अनर्गल बाते कहने लगता है। इसलिए मंत्राधिकारियों को मद्यपान से दूर रखना चाहिए। अन्यथा वे मद्य के प्रभाव में आकर अनर्गल बातें करते हुए अज्ञानता वश मंत्र का भी प्रकाशन कर सकते हैं। मनुष्य कभी–कभी सोते हुए बड़बड़ाने लगता है और ऐसी दशा में उससे अज्ञानतावश गोपनीय विषयों का रहस्य प्रकट हो सकता है, इसलिये मंत्राधिकारी पुरुषों को एकान्त में सोना चाहिए जहाँ कोई दूसरा व्यक्ति न हो। इसी प्रकार कामासक्त पुरुष से भी मंत्रगोपन कार्य नहीं सध पाता। मंत्राधिकारी पुरुषों को इस दुर्गण से भी दूर रखने की आवश्यकता है जो पुरुष अभिमानी होता है, वह अभिमान के वश में होकर उचित अथवा अनुचित सभी प्रकार की अनावश्यक बातें कह डालता है। इसलिये मंत्राधिकारियों की रक्षा दुर्गुण से भी करनी चाहिए। मनुष्य अपमानित किये जाने पर भी रहस्य खोल देता है, इसलिये मंत्राधिकारियों को तिरस्कार से रक्षित रखने का उपाय करना चाहिए। इस प्रकार राजा को मंत्रगुप्ति के लिए इन समस्त दुर्गुणों से मंत्राधिकारियों की रक्षा करते रहना चाहिए।[1]

मंत्र रक्षा के निमित्त कौटिल्य ने एक और विशेष सावधानी की आवश्यकता बतलायी है। वह सावधानी यह है कि मंत्रणा अधिक लम्बी नहीं होनी चाहिए।[2] मंत्रणा द्वारा किसी विषय के निर्णय पर पहुँच जाने पर उसको रचनात्मक रूप देने में बिलम्ब नहीं करना चाहिए।[3] विलम्ब करने से मंत्र भेद हो जाता है।

कौटिल्य ने कतिपय ऐसे लोगों का भी उल्लेख किया है जिनको मंत्रणा का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। इन पुरुषों में वह परिगणित किए गए हैं जिनका अपकार राजा द्वारा किया गया हो और जो पुरुष इन पुरुषों से सम्बन्ध रखते हों।[4] ऐसे पुरुष न तो राजा को सद्परामर्श ही देंगे और न अपने परामर्श को गुप्त ही रख सकेंगें। अतः ऐसे पुरुषों से भी मंत्र की रक्षा परमावश्यक है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कौटिल्य के कथनानुसार गोपनीय बातें चार प्रकार से प्रकट हो सकती हैं– (i) मंत्रियों की असावधानी के कारण (ii), मद्यपान के कारण, (iii) सोत

---

1. *तेषा हि प्रमाद मदसुप्त प्रलापकामादिरूत्सेकः।।* — *अर्थ०, अधि० 1, अ० 15, वार्ता 11 ।*
   तस्माद्रक्षेन्मंत्रम् ।। — *अर्थ०, अधि० 1, अ० 15, वार्ता 13 ।*
2. *न दीर्घकालं मंत्रयेत् ।।* — *अर्थ०, अधि० 1, अ० 15, वार्ता 51 ।*
3. *अवाप्तार्थः कालं नातिक्रामयेत् ।।* — *अर्थ०, अधि० 1, अ० 15, वार्ता 50 ।*
4. *न च तेषां पक्ष्यैर्येषामपकुर्यात् ।।* — *अर्थ०, अधि० 1, अ० 15, वार्ता 52 ।*

समय आकस्मिक प्रलाप के कारण, (iv) विषय भोग की लालसा के कारण। आड़ में छिपकर सुननेवाला अथवा मंत्रणाकाल में अपमानित हुआ व्यक्ति भी गुप्त मंत्रणा को खोल सकता है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह अपने गुप्त रहस्यों की सावधानी से रक्षा करे।

गुप्त मंत्रणा

इस विषय में आचार्य भारद्वाज का मत है कि गुप्त मंत्रणाओं पर राजा अकेला ही विचार करे। उनके विचारानुसार– मंत्र भेद राजा और मंत्राधिकारी पुरुषों दोनों के कल्याण का नाशक है। इन समस्त कारणों से राजा को गुप्त विषयों पर अकेले ही विचार करना चाहिए।[1] परन्तु आचार्य विशालाक्ष ने कहा है कि किसी विषय पर अकेले निर्णय लेना उचित नहीं है, इसलिए राजा को अत्यंत बुद्धिमान और अनुभवी व्यक्तियों के साथ बैठकर विचार करना चाहिए। कौटिल्य ने कहा है कि राजा को तीन या चार मंत्रियों के साथ बैठकर गोपनीय बातों पर विचार– विमर्श करना चाहिए। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि देश, काल और कार्य की प्रकृति के अनुसार राजा मंत्रणा के लिए मंत्रियों की संख्या तय कर सकता है।

मंत्रणा करते समय राजा को अत्यंत ही सतर्कता और सावधानी बरतनी चाहिए तथा अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिए। राजा को चाहिए कि मंत्रणा करते समय यह किसी को अपमानित न करे सबकी बातों को ध्यानपूर्वक सुने यहाँ तक कि बालक की भी सारगर्भित बातों को ग्रहण करें। उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मन्त्रिपरिषद् की स्थिति तथा उसकी कार्यपद्धति के संदर्भ में कौटिल्य ने अनेक महत्तपूर्ण बातें बतायी हैं। कौटिल्य ने मंत्रणा के विषयों पर विचार करने के लिए यह कहा है कि किसी भी विषय के पांच भाग या अंग होते हैं– (i) कार्यारम्भ करने का उपाय, (ii) व्यक्ति एवं द्रव्यों की स्थिति तथा उसके उपयोग करने के तरीके (iii) कार्य सम्पन्न करने के क्रम मे समय और स्थान का विभाजन, (iv) कार्य निष्पादन में उत्पन्न विघ्नों तथा उनके प्रतिकारों पर विचार, (v) कार्यसिद्धि पर विचार। इस सम्बन्ध में राजा प्रत्येक मंत्रियों से एक साथ परामर्श ले सकता है। राजा को चाहिए कि मंत्रियों द्वारा दी गयी राय पर पूर्णतया सोच–विचार कर उसे अविलम्ब लागू करने का प्रयास करे। किसी कार्य को अधिक समय तक विचाराधीन रखना उचित नहीं है।

---

6. तस्मादनुद्यमेको मंत्रयेतेति भारद्वाजः ।। अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 15 ।

मंत्रणा के विषय

कौटिल्य मंत्र के पाँच अंग मानते है। उन्होंने मंत्र के इन पाँच अंगों की व्याख्या इस प्रकार की है–कार्य के प्रारम्भ करने का उपाय, अपने समीप योग्य पुरुषों का रखना और दृव्य–संचय करना, देश और काल का विचार, आये हुए अनर्थों से अपनी रक्षा का उपाय और अपने अभीष्ट की सिद्धि का विचार–मंत्रणा के यह पांच अंग अथवा प्रकार माने गये हैं।[1] इस प्रकार कौटिल्य ने सूत्र रूप में यह बतलाया है कि इन पांच विषयों में राजा को अपने मंत्रियों से मंत्रणा अवश्य करनी चाहिए। मंत्रणा चाहे समस्त मंत्रियों से एक साथ ही ले अथवा प्रत्येक से पृथक–ग्रहण करनी उचित होगी,[2] राजा को इस विषय में समयानुसार आवश्यकता के अनुरूप मंत्रणा लेनी चाहिए।

मन्त्र की गोपनीयता तीन या चार मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करने से ही सुरक्षित रह सकती थी। किन्तु राष्ट्र–हित में अथवा कठिन समस्या आ पड़ने पर कौटिल्य का आदेश था कि राजा मन्त्री तथा मन्त्रि–परिषद् को बुलावे और अधिकांश के द्वारा पुष्ट अभिमति को ही कार्य परिणति दे।[3] राजा के कार्य अथवा नीति–निर्धारण में मन्त्रियों के परामर्श का इतना महत्त्व था कि दूर स्थित मन्त्रियों से पत्र–व्यवहार के द्वारा उनकी सम्मति से अवगत होना आवश्यक समझा जाता था।[4] कदाचित् यह मन्त्रि–परिषद् परामर्शदात्री संस्था मात्र न थी। किसी कार्य का आद्यन्त समीक्षण उसी का कार्य था। कौटिल्य का कथन है कि अज्ञात बात को ज्ञात करना, ज्ञात का निश्चय करना, निश्चित को दृढ़ करना, मतभेद की बात में संशय का निराकरण तथा शासन–तन्त्र का सामान्य निरीक्षण आदि का मन्त्रियों के कार्य हैं। मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा किये बिना राजा का कार्य नही चल सकता। राजा उनके साथ अवश्य सम्मति करे।[5] सम्मति देना ही नही उनके कार्य भी विविध थे। भारद्वाज जिनके मत का उल्लेख कौटिल्य ने किया है, के अनुसार राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में मन्त्रणा, उस मन्त्रणा के फल की प्राप्ति, कार्यों का अनुष्ठान, आय–व्यय सम्बन्धी कार्य, सेना की रक्षा, शत्रु तथा वनचरों का प्रतीकार, राज्य की

---

1. *कर्मणामाम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्दं शाकालविभागों विनिपात प्रतीकारः कार्यसिद्धिरिति पंचांगों मंत्र ।।*
   अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 47 ।
2. *तानेकैकशः पृच्छेत् समस्तांश्च ।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 48 ।*
3. *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 58–59 ।*
4. *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 54 ।*
5. *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 20, 52 ।*

व्यवस्था, दुर्व्यसनों से प्रजा का रक्षण, कुमार की रक्षा तथा पदों पर उनका अभिषेक आदि सब कुछ मन्त्रियों के अधीन होता है।[1] अतः इस परिषद् में राज्य के सभी कार्यों की विवेचना की जाती थी। राज्य–नीति को क्रियान्वित करवाना, आय–व्यय का निरूपण, उच्च नियुक्तियों में परामर्श देना, राज्य में व्यवस्था स्थापित रखना, वैदेशिक विषयों के विमर्श, प्रभृति सभी कार्यों की समीक्षा इस परिषद् की जाती थी।

मन्त्री तथा मन्त्रिपरिषद् के उपर्युक्त अधिकार एवं कर्त्तव्य मात्र सिद्धान्त न थे, प्रत्युत् मौर्य शासन–काल में अधिकांशतः क्रियाशील थे। मेगस्थनीज का विवरण इस तथ्य का प्रमाण है। उसने लिखा है कि सातवां वर्ग मन्त्रियों और 'असेसरों' का है, जो सार्वजानिक विषयों पर विचार और निर्णय करते थे। संस्था की दृष्टि से यह जाति या वर्ग बहुत छोटा प्रतीत होता है। पर अपने सदस्यों के आचरण की श्रेष्ठता तथा प्रज्ञाशीलता के कारण सबसे अधिक प्रतिष्ठित और मान्य था।[2] इस सातवें वर्ग में राजा के मन्त्री और 'असेसर' लोग थे। ये राज्य के सर्वोच्य पद पर असीन थे। न्यायालय और सार्वजनिक विषयों की साधारण व्यवस्था इन्हीं की अधीन थी।[3] अपनी विशिष्ट बुद्धिमत्ता और न्याय के कारण प्रान्तों के प्रधान शासक, उपशासक, कोषाध्यक्ष, सेनापति, नौ सेनापति कृषि–विभाग के निरीक्षक अथवा प्रधान आदि निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त था।[4]

सर्वविदित है कि वर्तमान समय में भी देशों के मन्त्रिमण्डल अपने लिये गये कुछ निर्णयों को गोपनीय रखते हैं क्योंकि उनको गोपनीय बनाये रखना देश की सुरक्षा हेतु अपरिहार्य माना जाता है।

कौटिल्य ने मंत्रियों के कर्त्तव्यों की ओर कुछ संकेत किये हैं। उनका मत है कि इन मंत्रियों को स्वपक्ष और पर पक्ष मे विचार करना चाहिए।[5] इन मंत्रियों को प्रारम्भ नही किए गए कार्य का प्रारम्भ करना चाहिए, प्रारम्भ किए हुए कार्य का सम्यक् प्रकार से पूरा कराने का प्रयत्न करना चाहिए,। जिन कार्यों की समाप्ति हो चुकी हैं उनमें इनको विशेषता लाने का प्रयत्न करना

---

1. *अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 8 ।*
2. *अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 10 ।*
3. *स्ट्रैबो : 15, 48 । मैकक्रिंडल, मेगस्थनीज, पृ0 85 ।*
4. *एरियन : 12 । मैकक्रिंडल, पूर्वो0, पृ0 212 ।*
5. *ते ह्यस्य स्वपक्षं परपक्षं च चिन्तयेयुः ।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 15, वार्ता 57 ।*

चाहिए। इस राज्य के कार्यों के प्रारम्भ करने, उनके विधिवत समाप्त होने, समाप्त हुओं में विशेषता लाने एवं स्वराष्ट्र के कल्याण और परराष्ट्र के विषय में समय एवं परिस्थिति के अनुसार विचार करने आदि विषयों पर राजा को अपने मंत्रियों से मंत्रणा लेना उचित बतलाया गया है।

राजा ही मन्त्रियों की नियुक्ति तथा उन्हें पदत्युति करता था, क्योंकि राज्य का सर्वोच्चाधिकार उसी में निहित था। फिर भी कार्य, महत्ता एवं अनिवार्यता की सीमा में मन्त्रि–परिषद् स्वतः एक शक्ति थी। सामान्यतया राजा इसका मूल्यांकन करता था। अशोक अपने छठें शिलाभिलेख में कहता है कि यदि मै किसी दान पर घोषणा के सम्बन्ध में कोई आज्ञा दूँ और मन्त्रिपरिषद् में उस पर कोई विवाद उपस्थित हो तो मुझे इसकी तत्काल सूचना मिलनी चाहिए, यदि प्रस्ताव अस्वीकृत हो तो वह सूचना भी मुझे तुरन्त मिले।[1]

इस प्रकार एकराज–प्रणाली का प्रबल प्रतिपोषक कौटिल्य विचार में राजनिरंकुशतावादी होते हुए भी उदार राजतंत्री व्यवस्था का समर्थक था।

---

113. इण्डियन एन्टीक्वेटी, 1913, पृ0 243 ।

अध्याय पंचम्

दूत तथा चर व्यवस्था

अध्याय पंचम

दूत तथा चर व्यवस्था

दूत की आवश्यकता एवं महत्व

राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की गतिशीलता एवं स्थायित्व के लिये भारतीय राजशास्त्रियों ने दूत व्यवस्था को आवश्यक कहा है। राजाओं के विचारों का पारस्परिक आदान–प्रदान दूतों के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। अतः कौटिल्य की शासन संरचना के अन्तर्गत गुप्तचरों को विशेष महत्व दिया गया है।उन्होंने राजा की शक्ति को बनाये रखने के लिए गुप्तचरों के प्रयोग पर अत्याधिक बल दिया है। उसके अनुसार राजा को समय–समय पर गुप्तचरों की सेवाओं का प्रयोग करते रहना चाहिए। गुप्तचर राज्य के संगठन में एक अति उपयोगी अंग है। दूत की उपयोगिता एवं उसकी आवश्यकता को सभी आचार्यो ने एक ही समान माना है। राजाओं के पारस्परिक बात करने का एक प्रधान साधन दूत माना गया है। अतः कौटिल्य ने दूत को राजा का मुख माना है। दूत रूपी मुख से ही राजागण परस्पर बात करते हैं।[1] कौटिल्य ने दूतों को राजाओं का मुख मानकर उनके द्वारा बात करके पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किए जाने की व्यवस्था दी है।

कौटिल्य ने शासनतंत्र की प्रायः सभी प्रक्रियाओं में गुप्तचरों की सहभागिता पर बल दिया है। हिन्दू शासनकाल के ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में राजा सैनिक और असैनिक दोनों प्रशासन में गुप्तचरों का प्रयोग किया करते थे। ऋग्वेद और अथर्ववेद मे यह उल्लेख मिलता है कि उस समय सुदृढ़ गुप्तचर व्यवस्था थी। वरूण और अग्नि के अपने–अपने गुप्तचर थे। अन्य राजाओं के द्वारा गुप्तचरों के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है।

राजाओं द्वारा इस प्रकार के कार्य सम्पादन हेतु दूतों के रखने का प्रचलन भारत में प्राचीन काल से चला आ रहा है। बाल्मीकि, रामायण, महाभारत, मानवधर्मशास्त्र, शुक्रनीति आदि ग्रन्थों में दूत की आवश्यकता एवं उसके महत्व पर समुचित प्रकाश डाला गया है।

आधुनिक युग मे भी इस प्रथा का महत्व स्वीकार किया गया है। और दौत्य–कार्य इतना महत्वपूर्ण समझा जाता है कि लगभग प्रत्येक सभ्य राज्य में उन राज्यों के राजदूत स्थायी रूप

---

1. दूतमुखा वै राजानस्वं नंत्स्वं च ।। अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 16 ।

से रहते हैं, जिनका उस राज्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है। राज्यों में पारस्परिक अपने–अपने दूतों को नियुक्त कर उन्हें स्थायी रूप से स्थापित करना इस युग की राजनीति का एक अनिवार्य अनुष्ठान बन गया है।

प्राचीनकाल में गुप्तचर व्यवस्था की स्थापना का निहित उद्देश्य यह था कि राजा अपने गुप्तचरों के माध्यम से यह ज्ञात करता रहे कि उसके अधिकारी एवं कर्मचारी जनहित विरोधी या राज्य विरोधी कार्य में संलग्न हैं, अथवा नहीं। वह राजकीय कर्मचारियों के भ्रष्टाचार का पता लगाने के लिए भी गुप्तचरों का प्रयोग किया करता था। गुप्तचरों के द्वारा राजा इस बात की भी जानकारी करता था। कि राज्य में प्रजाजनों के बीच असंतोष अथवा विद्रोह के भाव का सूत्रपात तो नहीं हो रहा है। युद्धकाल में शत्रुओं की गतिविधियों का पर निगरानी के लिए भी गुप्तचरों का उन्मुक्त उपयोग होता था।

दूतों का आचरण एवं व्यवहार

कौटिल्य का मत है कि दूत को अपने निर्धारित यान, वाहन, नौकर–चाकर और उत्तम सामग्री लेकर दूसरे राजा के राज्य में रहना चाहिए।[1] दूसरे राज्य में निवास करते हुए दूत को उस राज्य के वन की रक्षा के प्रधान अधिकारी, पुर और राष्ट्र के प्रधान व्यक्तियों से अपनी मित्रता स्थापित कर लेनी चाहिए।[2] दूत को परराष्ट्र में वहाँ के राजा की आज्ञा प्राप्त कर लेने के उपरान्त उस राज्य में प्रवेश करना चाहिए।[3] दूत को अपने राजा का आदेश परराष्ट्र के राजा के समक्ष यथावत प्रस्तुत करना चाहिए।[4] यदि प्राण–बाधा का भय भी उपस्थित हो तो भी दूत को अपने राजा के आदेश को घटा–बढ़ाकर प्रस्तुत नहीं करना चाहिए।[5] जब तक परराष्ट्र का राजा दूत को जाने की आज्ञा न प्रदान कर दे, उसको वहीं निवास करना चाहिए, अर्थात दूत को परराष्ट्र के राजा से अनुमति लेकर उसके राज्य से अपने राज्य को गमन करना चाहिए। परराष्ट्र के राजा के द्वारा किये गये सत्कार से उसे अधिक आनन्दित नहीं हो जाना चाहिए।[6]

---

1. *सुप्रतिविहितयानवाहन पुरूरुपरिवापः प्रतिष्ठेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 6 ।*
2. *अटव्यन्तपालपुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेत् ।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 7 ।*
3. *पराधिष्ठानमनुज्ञातः प्रविशेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 10 ।*
4. *शासनं च यथोक्तं ब्रू यात् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 11 ।*
5. *प्राणाबाधेअपि दृष्टे।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 12 ।*
6. *वसेदविसृष्टः प्रपूजया नोत्सिक्तः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 20 ।*

परराष्ट्र के लोगों के मध्य में पहुँचकर अपने बल का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।[1] यदि वहाँ कोई अनिष्ट वाक्य भी बोलता है, तो उसको भी सहन कर लेना चाहिए।[2] दूत को परस्त्री–गमन और मद्यपान कदापि नही करना चाहिए।[3] दूत को अकेले ही शयन चाहिये।[4] यदि दूत सुरापान कर मदमस्त होगा अथवा सोता हुआ कभी अनर्गल बकने लगेगा तो इन कारणों से दूत के मन्तव्य के रहस्य के उजागर हो जाने कीं सम्भावना होती है।[5] इसलिए कौटिल्य ने दूत को सुरापान और दूसरे के पास शयन करने का निषेध किया है। यदि पर–राजा किसी प्रकार से दूत से उसके (दूत के) राज्य के राजा अथवा उसकी प्रकृतियों (अमात्य, कोष, बल आदि) के विषय में कुछ भेद लेना चाहता है तो उसकों कुछ भी भेद नही देना चाहिए।[6] ऐसी दशा में उसको इस प्रकार कहकर टाल जाना चाहिए– आप सब कुछ जानते हैं[7] दूत को सदैव अपने कार्य की सिद्धि करने वाले वचन बोलने चाहिए।[8] अपने स्वामी का संदेश सुनाते हुए विरोधी राजा को यदि बुरा प्रतीत हो और वह उस दूत को बन्दी बनाना चाहता हो अथवा उसके बध करने का विचार कर रहा हो तो ऐसी परिस्थिति में दूत को उस राज्य से भाग जाना चाहिए।[9]

ध्यातव्य है कि कौटिल्य ने परराष्ट्र में दूत द्वारा अपनाये जाने वाले जिस आचरण एवं व्यवहार का वर्णन किया है वह आधुनिक काल के राजदूतों के तत्सम्बन्धी आचरण एवं व्यवहार से बहुत कुछ सीमा तक समानता रखता है।

दूत के कर्त्तव्य

कौटिल्य का मत है राजा दूतों के द्वारा विभिन्न कार्यों का सम्पादन कराते हैं यथा दूसरे राज्यों के शासकों के पास संदेश प्रेषण, पूर्व में की गयी संधि का पालन करवाना, अपने प्रताप को प्रकट करवाना, मित्रों का संग्रह करना, शत्रु के मित्रों मे भेद उत्पन्न करवाना,[1] चुपचाप दण्ड देने की व्यवस्था करवाना, शत्रु के बन्धु– बान्धव आदि श्रेष्ठ व्यक्तियों का संग्रह करना, गुप्तचरों

---

1. *परेषुबलित्वं न मन्येत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 21 ।*
2. *वाक्यमनिष्टं सहेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 22 ।*
3. *स्त्रियः पानं च वर्जयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 23 ।*
4. *एक शयीत ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 24 ।*
5. *सुप्तमत्तयोर्हि भावज्ञानं दृष्टम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 25 ।*
6. *परेण चाक्तः स्वासां प्रकृतीनां परिमाणां नाचक्षीत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 31 ।*
7. *सर्ववेद भवनीति ब्रू यात्।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 32 ।*
8. *कार्यसिद्धिकरं वा ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 33 ।*
9. *शासनमनिष्टमुक्त्वा बन्धवधमयादविसृष्टों ध्यपगच्छेत्।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 47 ।*

का ज्ञान प्राप्त करना, पराक्रम का प्रयोग, सन्धि के रूप में मुक्त किये गये राजकुमारों आदि को मुक्त करवाना तथा अपने कार्य की सिद्धि के निमित्त मारण आदि प्रयोगों का आश्रय लेना।[1]

कौटिल्य का कथन है कि दूत को शत्रु के राज्य में भेदनशील योग्य व्यक्तियों को तोड़–फोड़ कर अपनी ओर मिला लेना चाहिए। जो तोड़ने– फोड़ने में नहीं आएँ उनका सूक्ष्म दृष्टि से ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। विरोधी राजा के रन्ध्र तथा अमत्यादि प्रकृति का अनुराग और द्वेष तापस तथा वैदेहक रूपधारी अपने राज्य के गुप्तचरों से पता लगाते रहना चाहिए।[2] इन तापस और वैदेहक गुप्तचरों के शिष्य, वैद्य तथा अन्य बनावटी भेषधारी एवं दोनों ओर से वेतन लेने वाले गुप्तचरों से भी पूर्वोक्त बातों का पता लगाया जा सकता है।[3] यदि उन लोगों के साथ बात–चीत का अवसर न मिल सके तो याचक, मत्त, उन्मत्त तथा सुप्त व्यक्तियों के प्रलापों से इन बातों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[4] इसके अतिरिक्त तीर्थ स्थान–देवालय, चित्रशाला तथा अन्य लेखन कला आदि के संकेतों द्वारा पर–राज्य के समाचारों का पता लगाते रहना चाहिए।[5] जब पता लग जाए तो जिसकी तोड़–फोड़ करनी है उन्हें तोड़–फोड़ देना चाहिए।[6]

दूत के विशेषाधिकार

राजा के अनेक कर्त्तव्यों में दूत–प्रेषण कार्य की व्यवस्था करना भी एक महत्वपूर्ण कार्य माना गया है। दूत का पद अतिशय महत्वपूर्ण माना जाता था। मनु के विचारानुसार राजाओं के मध्य सन्धि और विग्रह कार्य दूत के अधीन होना चाहिए।[7] दूत ही राजाओं में मेल कराता है और मिले हुये में भेद उत्पन्न करता है। दूत वह कार्य करता है जिससे मनुष्यों में भेद उत्पन्न हो जाता है।[8] राज्य के ऐसे महत्वपूर्ण और मार्मिक परिस्थितियों में कार्य करने वाले व्यक्ति को कुछ विशेष

---

1. *प्रेषणां सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्र— ।*
   क्षपजापः सुहृद्भेदो गूडदण्डातिसारणम्।। — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, श्लोक 49 ।*
   बन्धुरत्नापहरणं चार ज्ञानं पराक्रमः।
   समाधिमोक्षो दूतस्यकर्म योगस्य आश्रयः।। — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, श्लोक 50 ।*
2. *कृत्यपक्षोपजापमकृत्यपक्षे गूढप्राणीधानं रागापरागौ भर्तरिन्ध्र च प्राकृतीनां तापसवै देह कब्यध्जनाम्यामुखलभेत।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 26 ।*
3. *तपोरन्तेवासिभिश्चिकित्सक पाषणब्यम्जनोभ पवेपवेत्मैर्वा।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 27 ।*
4. *तेधामसंभाषायां याचकमत्तोम्मत्तसुप्तप्रलापै :।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 28 ।*
5. *पुणयस्थानदेवगृ चित्रलेख्यसंज्ञाभिषी चारमुपलभेत।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 29 ।*
6. *उपलब्धस्योपजापमुपेयात्।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 30 ।*
7. *दूतेनसन्धिविपर्ययौ।।* — *मानवधर्मशास्त्र अ0 7 श्लोक 65 ।*
8. *दूत एवहि संधत्ते भिनस्थेक्ष च संहतान्। दूतस्यत्कुरूते कर्म भिद्यम्ते येन मानवाः।।* — *मानवशास्त्र अ0 7 श्लोक 66 ।*

अधिकार मिलना आवश्यक हो जाता है। इसीलिए कौटिल्य ने कुछ ऐसे विशेष अधिकारों की ओर संकेत किया गया है, जिनके भोगने का अधिकार दूत को प्राप्त था। इनमें सबसे महत्वपूर्ण विशेषाधिकार दूत के अवध्य होने का था।

अवध्यता का विशेषाधिकार

प्राचीन भारत में दूत–प्रेषण प्रणाली सुव्यवस्थित रूप में प्रचलित थी। एक राजा अपना सन्देश दूसरे राजा के समक्ष दूतों द्वारा ही प्रेषित करना था। यह सन्देश प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के हो सकते हैं। प्रिय सन्देश को सुनकर राजा स्वभावतः प्रसन्न होगा। कभी–कभी यह अप्रिय सन्देश ऐसे भी हो सकते हैं जो राजा के लिए अति कटु प्रतीत हों और जो उसके लिए असह्य हों। ऐसे अप्रिय एवं असह्य सन्देश को सुनकर राजा आवेश के वशीभूत होकर दूत पर क्रोध प्रकट कर उसके वध का आदेश भी दे सकता है। इस परिस्थिति से दूत की रक्षा करने के लिए एवं दूत प्रेषण कार्य के विधिवत संचालन हेतु प्राचीन भारत में राजशास्त्र प्रणेताओं ने एक मत होकर दूत के वध के निषेध सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। कौटिल्य इस व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं– "जिस राजा के पास दूत सन्देश ले जाता है, यदि दूत से मिलने पर उसकी वाणी, मुख और दृष्टि पर प्रसन्नता की झलक आ आए, दूत के वचन का आदर करे, प्रिय प्रश्न करे, संदेश भेजने वाले राजा के गुणों के सुनने में मन लगाए, दूत को अपने समीप आसन दे, सत्कार करें इष्टमित्रों की कुशल पूछे तथा दूत पर विश्वास प्रकट करे तो समझ लेना चाहिए कि राजा प्रसन्न हैं।[1] यदि इसके विपरीत आचरण करे अथवा चेष्टा करे तो समझ लेना चाहिए कि राजा अप्रसन्न है।[2] ऐसी परिस्थिति में दूत को राजा से निवेदन कर देना चाहिए,[3] "कि राजागण तो दूतों के द्वारा ही परस्पर बात करते है, निश्चयपूर्वक दूत ही राजा के मुख होते हैं।[4] ऐसी अवस्था में दूत को अपने संन्देशानुसार कटु अथवा मधुर सब कुछ कहने का अधिकार है। तुम हो अथवा अन्य कोई राजा हो सबको दूत तो इसी प्रकार भेजने ही पड़ते हैं और सबके दूत इसी प्रकार निर्भीकता से अपने राजा के संदेश

---

1. *परस्य वाचि वस्त्रे दृष्टयां च प्रसादं वाक्य पूजनमिष्टपरिष्टिपरिप्रश्नं गुणाकथा। संगमासन्नमासनं सत्कारमिष्टेषु स्मरणं विश्वासगमनं च लक्ष्येत्तु ष्टस्य।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 13 ।*
2. *विपरीतमनुष्टस्य ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 14 ।*
3. *तं ब्रूयात।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 15 ।*
4. *दूतमुखा व राजानस्त्वं चान्ये च ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 16 ।*

को प्रस्तुत करते हैं। दूत चाहे चाण्डाल ही क्यों न हो वह भी अवध्य ही है। राजा द्वारा शस्त्र उठा लेने पर भी दूत यथावत बात ही कहता है, अथवा उस को कहनी चाहिए।[1] यदि चाण्डाल दूत भी इस परिस्थिति में हो तो भी वह अवध्य है फिर ब्राह्मण दूत के अवध्य होने में तो सन्देह ही नही है।[2] दूत का कर्त्तव्य तो दूसरे की बात को सत्य–सत्य कहना ही है।[3]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हैं कि कौटिल्य ने दूत को अवध्य माना है और सिद्धान्ततः दूत को अवध्यता का अधिकार प्राप्त था।

दूत की अवध्यता के सिद्धान्त का उल्लेख बाल्मीकि रामायण मे भी मिलता है। रामायण के सुन्दर काण्ड में वर्णन है कि हनुमान ने लंका राज्य में पहुँच कर बहुत उत्पात किया था। यहाँ तक कि उन्होंने वहाँ के राजा रावण के एक पुत्र का भी वध कर दिया था। इतना होने पर भी जब हनुमान ने कहा कि वह राम के दूत हैं, तो दूत होने के कारण उनको प्राण–दण्ड नहीं दिया गया। रामायण में यह घटना इस प्रकार दी गयी है कि क्रोध से जलते हुए रावण ने हनुमान के वध की आज्ञा दी।[4] इस पर शत्रुविजयी निपुणवक्ता विभीषण ने अपने भाई रावण से नम्रता पूर्वक अत्यन्त हितकारी वचन बोले,[5] क्षमा कीजियें राक्षसेन्द्र! क्रोध का त्याग कीजिए! प्रसन्न होयिए और मेरी बात सुनिये। ऊँच–नीच का ज्ञान रखने वाले सज्जन राजा दूत का वध नही करते।[6] वीर! इस वानर का वध करना धर्मविरूद्ध, लोकव्यवहार से निन्दित तथा तुम्हारे (राजा के) अयोग्य है।[7] लंकेश्वर राक्षसेन्द्र आप प्रसन्न हों धर्म और धर्मयुक्त मेरे वचन सुनें। सब समयों में सब स्थानों में दूत अवध्य है ऐसा विद्वान पुरुष कहते हैं।[8] दूत चाहे साधु हो अथवा असाधु, वह तो दूसरे का भेजा हुआ एवं दूसरे की बात का यथोक्तवक्ता होता है। इसलिए दूत

---

1. *तस्मादुद्यतेध्वनि शस्त्रेषु यथोक्तं वक्तारस्ते षामन्ताव सायिनोअव्यवस्थाः।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 17 ।
2. *किमगडं पुनर्ब्राह्मणाः।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 18 ।
3. *परस्येतद्वक्यमैष दूतधर्म इति।।* अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 19 ।
4. *आज्ञापयद्वधं तस्य रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।।* सुन्दरकाण्ड, सर्ग 52, श्लोक 1 ।
5. *निश्चितार्थस्ततः सान्ना पूज्यं शत्रुजिदग्रजम्। उवाच हितमत्सर्थ वाक्यं वाक्य विशारदः।।* सुन्दरकाण्ड, सर्ग 52, श्लोक 4 ।
6. *क्षमस्वरोषं त्यज राक्षसेन्द्र प्रसीद में वाक्यमिदं श्रृणाध्व। वधं न कुर्वन्ति परावरज्ञा दूतस्य सन्तों वसुधाधिपेन्द्राः।।* सुन्दरकाण्ड, सर्ग 52, श्लोक 5 ।
7. *राजन्धर्मविरूद्धं च लोकवृत्तेश्च गर्हितम्। तवचासदृशं वीरकपेरस्य प्रमापणाम्।।* सुन्दरकाण्ड, सर्ग 52, श्लोक 6 ।
8. *प्रसीद लंकेश्वर राक्षसेन्द्र धर्मर्थतत्वं वचनं श्रृणुध्व।*
   दूता न वध्याः समयेषु राजन्सवेंषु सर्वत्र वदन्ति सन्तः।। सुन्दरकाण्ड, सर्ग 52, श्लोक 13 ।

के वध का सदैव निषेध किया गया है।[1] इस प्रकार बाल्मीकि रामायण में दूत के अवध्य होने के सिद्धान्त की सम्पुष्टि की व्यवस्था दी गयी है। दूत अवध्य था। इस प्रकार प्राचीन भारत के अनार्य राज्यों में भी दूत के अवध्यता के सिद्धान्त का पालन होता था।

महाभारत में भी दूत की अवध्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। दूत का वध करने वाला राजा नरक गामी होता है उसके पितर भ्रूणहत्या पाप के भागी होते है। भीष्म का विचार है कि राजा चाहे जिस आपत्ति में ग्रस्त क्यों न हो, परन्तु उसको दूत का वध नहीं करना चाहिए क्योंकि दूत का वध करने वाला राजा मंत्रियों सहित नरक को जाता है।[2] क्षात्रध र्म में रत जो राजा यथोक्तवादी दूत का वध करते हैं उनके पितर गण भ्रूणहत्या के भागी होते है।[3] इस प्रकार महाभारत में भी दूत का वध महान पाप माना गया है।

इस प्रकार रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में ,कौटिल्य के समान ही में मत प्रकट किए गये हैं। आज कल भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सर्वमान्य नियम है कि राजदूत को अवध्य माना जाता है तथा किसी भी प्रकार से शारीरिक क्षति नहीं पहुँचायी जा सकती है।

दूत के लिए विशेष विधियों का प्रयोग

दूत विषयक विचारों को व्यक्त करते हुए कौटिल्य ने कहीं भी यह तथ्य स्पष्ट नहीं किया है कि पर राज्य में वास करते हुए दूत पर किन नियमों अथवा विधियों को लगाया जाना चाहिए। यह नियम अथवा विधि उसी विशेष राज्य के होने चाहिए जिस राज्य में वह दूत बनाकर प्रेषित किया गया है, अथवा वह उस राज्य के होने चाहिए जिसका कि दूत नागरिक है, अथवा अन्य विशेष प्रकार के नियमों अथवा विधियों को उस पर लागू किया जाना चाहिए। परन्तु दूतों के विषय में कौटिल्य ने जो वर्णन दिया है, उससे यह अवश्य विदित होता है कि कुछ विषयों में दूत राज्य के सामान्य विधियों से मुक्त माने गये हैं। कुछ ऐसी विधियों एवं प्रथाओं तथा परम्पराओं का निर्माण हो चुका था, जिनके अनुसार दूतों को अपना आचरण एवं व्यवहार करना पड़ता था, और यह विशेष नियम एवं प्रथायें तथा परम्परायें प्राचीन भारत के लगभग

---

1. *साधुर्वि यदि वाअसाधुः परैरेष समर्पितः।*
   ब्रवन्परार्थं परवान्न दूतों वधमर्हित।। — *सुन्दरकाण्ड, सर्ग 52, श्लोक 19 ।*
2. *न तु न हन्यान्नृयो जातु दूतं कस्याञ्चिदापदि।*
   दूतस्य हन्ता निरमयमा विशेत्साविचैः सह।। — *सुन्दरकाण्ड, सर्ग 85, श्लोक 26 ।*
3. *यथोक्तवादिनं दूतं क्षात्रधर्मरतोनृपः।*
   यो हन्थास्पितरस्तस्य भ्रू णाहस्यामवाप्नुयुः ।। — *सुन्दरकाण्ड, सर्ग 85, श्लोक 27 ।*

प्रत्येक सभ्य राज्य में समान रूप में पायी जाती थीं। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि दूतों के आचरण एव व्यवहार के विषय में राज्य विशेष के समान्य विधियों को लागू न करके यही विशेष विधियों अथवा प्रथाओं एवं परम्पराओं को लागू किया जाता था। इसी को आधुनिक भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है दूतों के आचरण एवं व्यवहार का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधियों द्वारा किया जाता था। इस सिद्धान्त की पुष्टि इस बात से भी होती है कि दूत अवध्य मान लिया गया था। दूत को बन्दी बनाया जा सकता था, तथा उसको अन्य प्रकार के दण्ड दिये जा सकते थे। दण्ड के इन प्रकारों को प्रत्येक सभ्य राज्य ने दूतों के लिये समान रूप में स्वीकार कर रखा था, और उनका पालन किया जाता था।

उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि बाल्मीकि रामायण में स्पष्ट शब्दों में की गयी है। हनुमान ने लंका राज्य में पहुँच कर वहाँ इस प्रकार के उपद्रव किये थे जिनके परिणाम स्वरूप लंका राज्य के विधियों के अनुसार हनुमान को प्राण दण्ड मिलना चाहिये था। परन्तु वह दूसरे राज्य से भेजे हुए दूत थे, अतः उन्हें प्राण दण्ड नहीं दिया गया था। इसी प्रसंग में विभीषण ने दण्ड के कुछ ऐसे प्रकारों का उल्लेख किया है जो दूतों को दिये जाते थे। इस प्रकार के दण्ड केवल लंका राज्य में भेजे जाने वाले दूतों पर ही लागू नहीं किये जाते थे वरन् उस युग के समस्त सभ्य राज्यों में दूतों के लिये निर्धारित किये गये थे। इन विशेष दण्डों का उल्लेख करते हुए विभीषण ने अपने राज्य के राजा रावण द्वारा हनुमान को किस प्रकार का दण्ड दिया जाना चाहिए इस विषय में अपना मत इस प्रकार दिया है निःसंदेह इस शत्रु ने बहुत बड़ा अप्रिय कार्य किया है, फिर भी विद्वान दूतों के वध की सम्मति नहीं देते। उनके लिये दूसरे अनेक दण्ड उन्होंने निर्धारित किये है, और वह इस प्रक" है[1]—"अंग भंग कर देना, कोड़े लगवाना, भौं आदि मुड़वा देना, मस्तक पर किसी गरम वस्तु से कोई विशेष चिन्ह् बनवा देना, इस प्रकार के दण्ड दूतों के लिये निर्धारित किये गये है उनका वध तो मैने कहीं सुना ही नही हैं।"[2]

दूत के प्रकार

कौटिल्य ने योग्यता एवं अधिकारों की दृष्टि से दूतों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया

---

1. *असंशर्य शत्रुरयं प्रवृद्धः कृतंह्य नेनाप्रियमप्रमेयम्।*
   न दूत वध्यां प्रवदन्ति सन्तों दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः।। *सुन्दरकाण्ड, सर्ग 52, श्लोक 14 ।*
2. *वैरूप्यमंगेषु कशाभिद्यातो मौण्डयं तथा लक्षणसंनिपातः।*
   एताह्विदूते प्रवदन्ति दण्डान्यधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोअस्ति।। *सुन्दरकाण्ड, सर्ग 52, श्लोक 15 ।*

है। दूतों की यह तीन श्रेणियों निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासन हर है। जिस दूत में वह योग्यताएं हों जोकि अमात्यपद के लिये निर्धारित की गयी हैं, तो वह दूत निसृष्टार्थ दूत कहलाएगा।[1] प्राचीन भारत के कतिपय आचार्यों ने मंत्रिपरिषद् के अन्तर्गत दूत को भी माना है। इससे यह विदित होता है कि यह आचार्य भी दूत पद के लिए अमात्यपद की योग्यताओं की प्राप्ति का आदेश देते है।

महाभारत में दूत की योग्यताओं का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि दूत को कुलीन वंशोंत्पन्न, वाग्मी, दक्ष, प्रियभाषी, यथोक्तवादी, स्मृतिवान होना चाहिए।[2]

दूत पद के लिए योग्यता का उल्लेख करते हुए मनु ने भी लगभग इन्ही योग्यताओं को निर्धारित किया है। मनु के मतानुसार बहुश्रुत, आकार और चेष्टाओं के विकार से आन्तरिक भावों के जानने की क्षमता रखने वाला, पवित्र आचरण वाला, दक्ष, उच्च वंशोत्पन्न, राजभक्त, देश–काल का ज्ञाता, स्मृतिमान, सुन्दर आकार वाला, निर्भीक, वाग्मी और समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए।[3]

शुक्र ने दूत को मंत्रिपरिषद् का सदस्य माना है। उन्होंने दूत की योग्यताओं को निर्धारित करके बतलाया है कि दूत को इंगित और आकार का ज्ञाता, स्मृतिमान, देशकाल का ज्ञाता षाड्गुण्य नीति का पण्डित, वाग्मी और निर्भीक होना चाहिए।[4]

निसृष्टार्थ शब्द से ज्ञात होता है कि इस श्रेणी के दूतों को विशेष अधिकार प्राप्त थे, जो अन्य श्रेणी के दूतों को प्राप्त न थे। निसृष्टार्थ श्रेणी के दूत, राजा का संदेश परराजाओं के समक्ष प्रस्तुत करते थे, और उन राजाओं का संदेश अपने राजा के समक्ष तो प्रस्तुत ही करते थे, परन्तु उन्हें इस अधिकार के अतिरिक्त कतिपय अन्य अधिकार भी प्राप्त रहते थे। निसृष्टार्थ दूतों को अपनी बुद्धिमत्ता से अपने राजा के कार्यसिद्धि के अनुकूल योग्य बात–चीत अपनी स्वतंत्र बुद्धि

---

1. *अमात्यसंपदोपेतो निसृष्टार्थः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 2।*
2. *कुलीनः कुलसम्पन्नों वाग्मी दक्षः प्रियंबदः।*
   यथोवक्वादी स्मृतिमान् दूतः स्यात्सप्तभिगुणौः ।। — *सुन्दरकाण्ड, सर्ग 85, श्लोक 28।*
3. *दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्र विशारदम्।*
   इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचि दक्षं कुलोरडंतम्।। — *मानवधर्मशास्त्र, अ0 7, श्लोक 63।*
   अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देश कालवित्।
   वपुष्मान् वीतभीर्वागी दूतो राजः प्रशास्तयते।। — *मानवधर्मशास्त्र, अ0 7, श्लोक 64।*
4. *इंगिताकार चेष्टशः स्मृतिमान्देशकालीवित्।*
   षाड्गुणयमंबषिदाग्मीबीतभीद् तइष्यते।। — *शुक्रनीति, अ0 2, श्लोक 86।*

से भी चलाने का अधिकार प्राप्त रहता था। निसृष्टार्थ दूत का पद आधुनिक काल के राजदूतों के समान होता था। इस तरह विशेष प्रकार से योग्य व्यक्ति ही निसृष्टार्थ दूत के पद पर नियुक्त किए जा सकते थे।[1]

दूसरी श्रेणी के दूतों को कौटिल्य परिमितार्थ दूत के नाम से सम्बोधित करते है। इनकी योग्यता का उल्लेख करते हुए उन्होंने बतलाया है कि इस श्रेणी के दूत में अमात्य की योग्यता से कुछ न्यून योग्यताएं हो सकती हैं। अमात्यपद के लिए निर्धारित योग्यताओं से तीन चौथायी योग्यताएँ इस पद के लिए वांछनीय मानी गयी हैं।[2] निसृष्टार्थ दूत की अपेक्षा परिमितार्थ दूत के अधिकार सीमित माने गए है। परिमितार्थ दूत राजा द्वारा निर्धारित अधिकार सीमा के अन्तर्गत ही परराजा से बात करने का अधिकार रखता था। इसीलिए इस दूत को परिमितार्थ दूत के नाम से सम्बोधित किया गया है।

तीसरी श्रेणी में कौटिल्य ने उन दूतों को परिगणित किया है जो शासनहर कहलाते थे। शासनहर दूतों के लिए कौटिल्य ने अमात्यपद की अर्धयोग्यता मात्र निर्धारित की है।[3] शासनहर कोटि के दूत अपने राजा के संदेश को पर राजा के पास ले जाने एवं पर–राजा के शासन संदेश को स्व–राजा तक ले आने मात्र का अधिकार रखते थे। इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार का अधिकार इस विषय में उन्हें प्राप्त न था।

इस प्रकार योग्यता एवं अधिकार सीमा की दृष्टि से कौटिल्य ने दूतों को तीन श्रेणियों में परिगणित किया है। प्राचीन भारत के कतिपय अन्य आचार्यों ने दूतों का वर्णन तो दिया ही हैं, उन्होंने दूतों की योग्यताओं, अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का भी उल्लेख किसी अंश तक किया है। परन्तु उनके कर्त्तव्यों एवं अधिकारों तथा योग्यताओं के आधार पर उनका वर्गीकरण इतना स्पष्ट नहीं किया है जितना कि कौटिल्य के द्वारा किया गया है। इस दृष्टि से कौटिल्य में यह विशेषता पायी जाती है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर दूत के सम्बन्ध में ऐसा विदित होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के रचनाकाल में दूत–व्यवस्था पर्याप्त विकसित अवस्था में थी।

---

1 *अमात्यसम्पदेपेतो निसृष्टार्थ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 2 ।*

2. *पादगुणाहीनः परिमितार्थ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 3 ।*

3. *अर्धगुणहीनः शासनहरः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 16, वार्ता 4 ।*

चर की आवश्यकता

राजा शासन—कार्य मन्त्रियों, अमात्यों एवं विभागाध्यक्षों की सहायता से सम्पादित करता था। किन्तु इन सब पर उसका नियन्त्रण आवश्यक था। अधिकार तो उन्हें बहुत थे, पर वे अधिकारों का दुरुप्रयोग कर प्रजा के अधिकारों का अपहरण न कर सकें, इसके लिये कौटिल्य ने गुप्तचर विभाग की व्यवस्था दी है।

प्राचीन भारत के सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा का एक मात्र कर्त्तव्य प्रजारंजन बतलाया है। उसकी प्रत्येक क्रिया का उद्देश्य प्रजा का आत्यत्तिक कल्याण करना ही होना चाहिए। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राजा को अपनी प्रजा के दैनिक जीवन का पूरा ब्योरा भी ठीक—ठीक मिलता रहना आवश्यक है। उसको इस विषय की सूचना हर समय मिलती रहनी चाहिए कि, उसके द्वारा संचालित शासन व्यवस्था सम्बन्धी योजनाओं का प्रभाव उसकी प्रजा वर्ग पर किस प्रकार पड़ रहा है, उसके शासन कार्य में कोई ऐसी त्रुटि तो नहीं हो रही है जिसके कारण उसके अधीन प्रजा को कष्ट हो रहा हो, अथवा उसके राज्य में कोई ऐसे कर्मचारी तो नहीं है, जो अपने कर्त्तव्यों का विधिवत पालन न कर रहे हों, और जिसके कारण प्रजा पीड़ित हो रही हो अथवा प्रजा में ही कुछ ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह तो नहीं है जो राज्य में प्रजा के सुख और शान्ति में बाधा उत्पन्न कर रहें हों। इस प्रकार राजा को अपनी प्रजा के सुख—दुख के कारणों का विवरण भंली भांति ज्ञात होना चाहिए। ऐसे ही उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्राचीन भारत में चर—व्यवस्था का संघठन किया गया था।

कौटिल्य ने राजाओं के निमित्त चर—व्यवस्था की स्थापना परम आवश्यक बतलायी है। उन्होंने चर—व्यवस्था की स्थापना के विषय में अर्थशास्त्र में विस्तृत वर्णन दिया है। प्राचीन भारत में राजशास्त्र के अन्य आचार्यों ने चर—व्यवस्था के संघठन एवं उसके अनुसार कार्य संचालन का इतना स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन कहीं नहीं दिया है। इस दृष्टि से इस विषय में आचार्य कौटिल्य में विशेषता है। उन्होंने चरों के अनेक भेद बतलाए हैं; और यह भेद उसके कर्त्तव्य भेद के आधार पर माने गए हैं।

गुप्तचरों के भेद

कौटिल्य ने गुप्तचारो के नौ भेद बतलाए हैं। जिनको वह कापटिक, उदास्थित गृहपतिक, वैदेहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी के नाम से सम्बोधित करते हैं।[1] कौटिल्य ने इस

1. कर्धकोदास्थिता राष्ट्रे x x ।। अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता [illegible] ।

सभी प्रकार कें गुप्तचरों के लक्षणों की चर्चा की है –

(1). कापटिक

कापटिक गुप्तचरों के बारे में कौटिल्य ने लिखा है कि दूसरों के गुप्त रहस्यों का पता लगाने वाला, वाचाल, दबंग और विद्यार्थी के कपट वेष में रहने वाला गुप्तचर कापटिक कहलाता हैं।[1]

कापटिक चर के कर्त्तव्यों की ओर संकेत करते हुए कौटिल्य उसके कर्त्तव्य इस प्रकार निर्धारित करते हैं– कापटिक चर मंत्री के सम्पर्क में रहने वाला चर होता है। उसका मुख्य कर्त्तव्य राज्य में राजा और मंत्री के विरूद्ध किए जाने वाले अकल्याणकारी कार्यों का पता लगाकर मंत्री को उनके कार्यों एवं परिस्थितियों से अवगत कराना चाहिए।[2] कापटिक गुप्तचरों को धन, मान और सत्कार से संतुष्ट कर मंत्री उनसे अपने और राजा के विरूद्ध होने वाली गतिविधियों की सूचना प्राप्त कर सकता था।

(2) उदास्थित

कौटिल्य उस गुप्तचर को उदास्थित नाम से सम्बोधित करते है जो बुद्धिमान, सदाचारी और सन्यासियों का वेष धारण किए रहता है।[3] उदास्थित चर व्यापारियों और पशुपालन–व्यवसायियों के मध्य सन्यास वेष धारण कर अपने सहचर विद्यार्थी का रूप धारण किए हुए चरों के साथ वास करता हैं, और उनके दैनिक आचरण एव व्यवहार सम्बन्धी क्रियाओं का समाचार राजा तक पहुँचाता रहता है।[4] इस प्रकार उदास्थित कोटि के चरों का मुख्य कर्त्तव्य वार्ता से सम्बन्धित जनता के गुप्त रहस्यों का पता लगाना और उन्हें राजा तक पहुँचाना था। उदास्थित नाम के गुप्तचर के कार्य क्षेत्र को निर्धारित करते हुए कौटिल्य ने इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर यह व्यवस्था दी है कि राजा को उदास्थित और कृषक नाम के गुप्तचरों को राष्ट्रीय क्षेत्र में नियुक्त किया जाना चाहिए।[5]

(3) गृहपतिक

गृहपतिक गुप्तचर, बुद्धिमान गरीब और पवित्र ह्दय वाले किसानों के वेष में रहा करते

---

1. *कापटिकोदास्थितगृहपति वैदेहकतापसा गब्जनान्सस्त्रितीचणारसद्भिकीश्च।।*
   अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 2 ।
2. *परमर्गज्ञः प्रगल्भः छात्र कापटिक :।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 3 ।*
3. *राजनं मा च प्रमाणं कृत्वा यस्य यदकुशलं पश्यसि तत्तदानी मेव प्रत्यादिशेति।।*
   अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 5 ।
4. *प्रब्रज्याप्रत्यवसितः प्रज्ञाशैचयुक्त उदास्थित।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 6 ।*
5. *सवार्ताकर्म प्रदिष्टायां भूमौं प्रभूत हिण्यान्तेवासी कर्म कारयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 7 ।*

थे। इस प्रकार के गुप्तचर कृषकों के बीच जाकर काम करते थे। गृहपतिक गुप्तचर का कार्य क्षेत्र राज्य की कृषक प्रजा के मध्य निर्धारित किया गया है। कृषक वर्ग को अपने राजा के अनुकूल बनाए रखना इस कोटि के गुप्तचरों का मुख्य कर्त्तव्य माना गया है।[1] इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर गृहपतिक चर का कार्यक्षेत्र उदास्थित नाम के गुप्तचरों के साथ–साथ राष्ट्र में निर्धारित किया गया है।[2] जिसका तात्पर्य यही है कि इन चरों को राज्य की कृषक प्रजा के सम्पर्क में रहकर उनमें राजा के प्रति अनुराग उत्पन्न करते रहना है।

(4) वैदेहक

वृत्तिहीन, वाणिज्य करने वाला, बुद्धिमान, शुद्धआचरण युक्त, व्यापारी का वेषधारण करने वाले चर को वैदेहक नाम दिया गया है।[3] उसका कर्त्तव्य व्यापारियों के व्यापार के स्थानों पर रहकर व्यापारी वर्ग को राजा कें अनुकूल बनाना माना गया है।[4] इस प्रकार व्यापारियों के आचरण एवं व्यवहार तथा उनके दैनिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के विषय में राजा को सत्य–सत्य समाचार देना एवं राज्य के व्यापारी वर्ग को राजा के अनुकूल बनाए रखने का प्रयत्न करना. इस कोटि के चर का मुख्य कर्तव्य माना गया है।

(5) तापस

तापस कोटि के चर सर मुडाये अथवा जटाधारी वेषधारण करते थे।[5] वह वृत्ति पाने वाले चर नगर के पास बहुत से सरमुड़ाएं अथवा जटाधारी विद्यार्थी से लेकर शाकाहार अथवा हरित अन्नभोजन करके एक दो महीने तक जनता को अपना आडम्बर दिखाकर अपना विश्वासी बना लेते थे।[6] गुप्त रूप से वह अपनी रूचि के अनुरूप भोजन कर सकते थे।[7]

कौटिल्य ने यह भी कहा है कि इनके बड़े सिद्ध तापस होने की प्रसिद्धि करने में वैदेहक नाम के चर इनकी सहायता करते रहें।[8] इनका मुख्य कर्त्तव्य यह बतलाया गया है कि जो लोग

---

1. *कर्षकों दस्थिता राष्ट्रे ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 24 ।*
   वृत्तिक्षीणः प्रज्ञाशौचयुक्तौ गृहपसिकल्पन्नः।। — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 12 ।*
2. *कार्यको वृत्तक्षीणः प्रज्ञाशौच्युक्तो गृहपतिक व्यंजनः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 11 ।*
3. *स कृषिकर्म प्रदिष्टायां भूमाविति समानं पूर्वेण।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 13 ।*
4. *वाणिजकोः वृत्तिक्षोणः प्रज्ञाशौचयुत्तौ वैदेहकब्यज्जनः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 14 ।*
5. *स वणिक्कर्म प्रदिष्टायां भूमाविति समान पूवेण।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 15 ।*
6. *मुण्डो जटिलो वा वृत्तिकामस्तापसध्यज्जनः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 16 ।*
7. *स नगराभ्याशे प्रभूतमुखजटिलान्तेवासी शांक यवसमुष्टिं वा मासाद्विमासान्तरं प्रकाश मश्नीयात्।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 17 ।*
8. *वैदेहाकान्तेवासनिश्चैनं समिद्धयोग रैर्चयेषुः।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 18 ।*

किसी कारणवश कुपित हो गए हो तो उनका सत्कार धन और मान से कराकर उनकों सन्तुष्ट कर देना चाहिए और इस प्रकार उनके कोप को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।[1] परन्तु जो पुरुष बिना किसी कारण ही रूष्ट हुए हो उनको गुप–चुप धन दिलवाना चाहिए। राजद्वेषियों का गुप्त रीति से वध करवाने का व्यवस्था उनके द्वारा की जानी चाहिए।[2]

(6) सत्री

सत्री गुप्तचर वे होते थे, जो वशीकरण, इंद्रजाल, ज्योतिष, व्याकरण, सामुद्रिक विधा शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या, शकुन शास्त्र, तथा धर्मशास्त्र के जानकार होते थे। वे विभिन्न पक्षियों की बोलियाँ जानते थे और समझते थे।[3] उनके लिए कामशास्त्र, संगीत और नृत्यकला में भी निपुण होना आवश्यक था।[4] वे उपर्युक्त कलाओं का प्रदर्शन कर गुप्तचरी का कार्य किया करते थे।

(7) तीक्ष्ण

राष्ट्र में शूरवीर, शक्तिशाली ,शरीर और आत्मा की भी परवाह न करने वाले और धन उपार्जन के निमित्त हाथी अथवा सिंह तक से युद्ध करने वाले चर तीक्ष्ण नाम से सम्बोधित किए गए हैं।[5]

(8) रसद्

रसद् नाम के चर बड़े क्रूर पुरुष होते थे। इस कोटि के चर अपने भाई– बन्धुओं पर भी स्नेह नहीं रखते थे, और बड़े आलसी होते थे।[6]

(9) भिक्षुकी

जीविका की आकांक्षा वाली परिजाविका, गरीब विधवा, बात– चीत में कुशल, रनिवास में सत्कार पायी हुई ब्राह्मणी, बड़े–बड़े अधिकारियों के घरों में प्रवेश करती रहें, ऐसा कौटिल्य

---

1. *ये च कारणादभिक्रूद्धास्तानर्थमानाभयां शमयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 26 ।*
2. *अकारणकु द्वांस्त्ष्णीदण्डेन राजद्विष्टकारिणाश्च।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 11, वार्ता 27 ।*
3. *ये चाप्यसंबन्धिनोंअवश्यभर्तव्यास्ते लक्षणामड़ंविधां जम्भकविद्यां मायागतमाश्र मधर्म निमित्तमन्तर चक्रमित्यधीयानाः सत्रिणा।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 1 ।*
4. *संसर्गविद्या वा ।। अर्थशास्त्र अधि0 1 अ0 12 वार्ता 2।।*
5. *ये जनपदे शूरास्त्यक्तात्ममानों हस्तिमं ख्यालं वा द्रव्यहेतोः प्रतियोधयैयुस्तेतीक्ष्णाः।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 3 ।*
6. *येबन्धुषु निःस्नेहाः क्रू राश्चालसाश्च ते रसदाः।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 4 ।*

का मत हैं।[1] इसी प्रकार सरमुडाएं स्त्री अथवा घर में सेवा करने वाली धोबिन, नाइन, भंगिन आदि भिक्षु की कोटि में परिगणित की गयी हैं।[2]

उपर्युक्त नौ प्रकार के गुप्तचरों में पांच संस्था या स्थायी श्रेणी के गुप्तचर थे और शेष चार भ्रमणशील गुप्तचर थे। उपरिवर्णित गुप्तचरों के अलावा कौटिल्य ने कुछ और गुप्तचरों एवं गुप्तचरियों का उल्लेख किया है, जैसे मुंडा, वृषली आदि। ये गुप्तचरियाँ संचार गुप्तचरियों की श्रेणियों में आती थी।

कौटिल्य ने गुप्तचरों के गुछ और भेदों का भी उल्लेख किया है, जैसे उभयवेतन भोगी गुप्तचर, विषकन्या इत्यादि। उभय वेतन भोगी गुप्तचरों के सम्बन्ध में कौटिल्य ने कहा है कि ऐसे गुप्तचरों को विदेशी राज्यों की गतिविधियों के बारे में पता लगाने के लिए विदेशों में जाकर वहां की सरकार के अधीन वेतन भोगी कर्मचारी के रूप में काम करना चाहिए। उभयवेतन भोगी गुप्तचर अपने राजाओं के साथ–साथ विदेशी राजाओं से भी वेतन प्राप्त करते थे। कौटिल्य ने राजा को यह परामर्श दिया है कि उभय वेतन भोगी गुप्तचरों की स्त्री एवं बच्चों को सत्कारपूर्वक अपने अधीन रखे।

कौटिल्य ने विषकन्याओं का भी उल्लेख किया है उसने कहा है कि राजा को विषकन्याएँ रखनी चाहिए। ऐसी विषकन्याएँ बचपन से ही विषपान करने की अभ्यस्थ हो जाती हैं, इन विषकन्याओं को शत्रु राजाओं के पास भेजा जाता था। जिन्हें व अपने सौन्दर्य, यौवन, भावभांगिमा से आकर्षित कर संभोग के लिए उत्प्रेरित करती थीं। इन स्त्रियों के साथ संभोग करने के बाद शत्रु राजा की मृत्यु हो जाती थी।

चरों के दो मुग्ख्यभेद

इन नौ प्रकार के चरों में से प्रत्येक प्रकार के चर दो वर्गों में विभक्त किए गए है। इन दो प्रकार के चरो को कौटिल्य ने अभ्यान्तर और बाह्मचर के नाम से सन्बोधित किया है।

(क) अभ्यान्तचर

जो चर मंत्री आदि, अधिकारीगण अथवा अन्य लोगों के घरों में सेवक के रूप में रहते

---

1. *परिव्राजिका वृत्तिकामा दरिद्रा विधावा प्रगल्या ब्राह्मणयन्तः पुरे कृत सत्कारा महामात्र कुलान्याधिगच्छेत्।।*
अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 5 ।

2. *एतया मुण्डा वृषल्यो ब्याख्याताः।।* *अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 6 ।*

थे और गुप्त रीति से उनके दैनिक जीवन सम्बन्धी घटनाओं की सूचना राजा तक पहुँचाते रहते थे, अभ्यान्तर चर कहलाते थे। अभ्यान्तर चरों में रसोई बनाने वाले मांसपाचक, स्नान, करानेवाले, हाथ पैर दबाने वाले, विस्तर बिछाने वाले, नाई, वस्त्र पहनाने वाले, जलभरने वाले आदि काम करने वाले व्यक्ति सम्मिलित थे। कुबडे, बौने, मूर्ख, गूगें, बहरे, पागल, अन्धे आदि के बहाने तथा नट, नर्तक, गायक, बादक, कथा– कहानी कहने वाले अथवा खेल तमाशा करने वाले बन कर यह पुरुष एवं नारी– चर राज्य के कर्मचारियों के आचरण एवं व्यवहार का पता रखने के लिए नियुक्त किए जाने चाहिए। कौटिल्य ने इस प्रकार के चरों को अभ्यान्तर चर के नाम से सम्बोधित किया है।[1]

(ब) वाह्यचर

जब चर छत्र, चेंबर, पंखा, पादुका, आसन, मान, वाहन आदि को धारण कर राजकीय सेवा कार्य ग्रहण कर अन्य राजकीय कर्मचारियों के भेद का पता लगाते रहते थे तो बाह्य चर कहलाते थे।[2]

गुप्तचरों की नियुक्ति तथा पदस्थापन

कौटिल्य ने गुप्तचरों की नियुक्ति और पदस्थापन के संबंध में भी अपना विचार व्यक्त किया है। उसने कहा है कि राजा को चाहिए कि वह विभिन्न प्रकार के गुप्तचरों की नियुक्ति मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, ड्योढ़ीदार, अन्तः पुररक्षक, छावनी रक्षक, समाहर्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, दुर्गरक्षक, अन्तपाल, अट्वीपाल आदि अधिकारियों के समीप करें। कौटिल्य ने गुप्तचरों की नियुक्ति के आधारों का भी उल्लेख किया है। उनकी नियुक्ति वेष–भूषा, बोल–चाल, कौशल, भाषा तथा कुलीनता के आधार पर की जानी चाहिए। नियुक्ति के पूर्व उनके आचरण, उनकी भक्ति तथा उनकी सामर्थ्य की जॉच की जानी चाहिए।

कौटिल्य ने उनके पदस्थापन के विभिन्न स्थानों और अवसरों का भी उल्लेख किया है। विजीगीषु राजा को चाहिए कि वह शत्रु, मित्र, मध्यम तथा उदासीन राजाओं और उनके मंत्री, पुरोहित, सेनापति आदि अठारह प्रकार के अधीनस्थ कर्मचारियों के निकट सभी स्थानों पर अपने

---

72. सूदारलिकस्नापकसवाहकस्तरककल्पकप्रसाधकोदकपरिचारका रसदाः कुब्जवा मनकिरातमूकवधिरजडान्धच्छद्मानो नटनर्तकगायनवादकबाग्जीवन कुशीलवाः स्त्रियश्चाम्यन्तरं चारं विधु।। अर्थ0, अधि0 1, अ0 12,वार्ता 11 ।

73. तेषा बाह्यं चारं छव्रभड़ंख्याजनपादुकासनयानवाहनोपग्राहिणा तीक्ष्णा विद्यु ।।

अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 9 ।

गुप्तचरों को नियुक्त करें। इसके अतिरिक्त शत्रु, मित्र, मध्यम आदि राजाओं के घरों तथा उनके मंत्री, पुरोहित आदि के घरों में भी काम करने के लिए कुबड़े बौने, नपुंसकों, गूगे तथा कारीगर स्त्रियों को गुप्तचरों के रूप में काम करने के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए।

किलों में व्यापार करने वाले लोगों को, किले की सीमा पर सिद्ध तपस्वियों, को राज्य के अन्तर्गत अन्य स्थानों पर कृषक एवं उदास्थित पुरुषों को तथा राज्य की सीमा पर चरवाहों को गुप्तचरों के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए।

जंगल में शत्रु की प्रत्येक गतिविधि का पता लगाने के लिए चतुर, वानप्रस्थी और जंगली लोगों को गुप्तचर नियुक्त करना चाहिए।

राजा को चाहिए कि वह अपने प्रति प्रजाजनों एवं नगर निवासियों का राग–द्वेष जानने के लिए भी गुप्तचरों की नियुक्ति करें।

इस प्रकार विदित होता है कि कौटिल्य ने विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार के गुप्तचरों के पदस्थापन का अनुदेश दिया है। उल्लेखनीय है कि कौटिल्य ने इसकी ओर भी संकेत किया है कि गुप्तचरों को पदस्थापित करने के पूर्व पर्याप्त छानबीन कर लेनी चाहिए।

चर संगठन

कौटिल्य के अनुसार उपर्युक्त नौ प्रकार के चरों में से प्रत्येक प्रकार के चरों का एक अलग अपना संगठन होता था। इस प्रकार के संगठन को कौटिल्य ने संस्था की संज्ञा दी हैं।[1] इन संस्थाओं के अपने अपने अधिकारी गण होते थे। वह अधिकारी इस प्रकार प्राप्त समाचार को राजा तक पहुँचाता था। एक चर संस्था के चर एवं अधिकारीगण दूसरी चर संस्था के चरों द्वारा लाए गए और और उस संस्था के अधिकारी द्वारा भेजे गए समाचार को जान न सके, इस विषय का समुचित प्रबन्ध किया जाता था।[2]

सांकेतिक लिपि का प्रयोग।

गुप्त बातों का रहस्य न खुलने पाए इसलिए चर विभाग में सांकेतिक लिपि का भी प्रयोग किया जाता था। चर विभाग के अन्तर्गत जो समाचार एक चर दूसरे चर अथवा चर–संस्था के अधिकारियों के पास लिख कर भेजे जाते थे, उसके लिए वह एक विशेष प्रकार की लिपि का आश्रय लेते थे। इस लिपि को चर विभाग के अतिरिक्त अन्य लोग समझ नहीं सकते थे। इस

---

1. *तंभिक्षुक्यं संस्थास्वर्पयेयुः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 12 ।*
2. *न चान्योव्यं वा विद्युः* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 14 ।*

प्रकार की लिपि का प्रयोग अर्थशास्त्र के रचनाकाल मे चर विभाग द्वारा किया जाता था। इस सिद्धान्त की पुष्टि कौटिल्य के इन शब्दों द्वारा होती हैं–"संस्था के अन्तेवासी (अन्तेवासी रूप में चर) कर्मचारी अपनी सांकेतिक लिपि में लिखकर चर अथवा संचार नाम के चरों के पास समाचार पहुँचा दिया करें।"[1]

ध्यातव्य है कि आधुनिक काल में भी विश्व के लगभग सभी देशों के गुप्तचर सांकेतिक अथवा कूटलिपि में ही अपने संदेश–प्रेषण करते हैं।

चरों को दण्डविधान

कौटिल्य का मत है कि राजा को केवल एक चर द्वारा कही गयी बात पर ही विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। किसी विषय में जब कम से कम तीन चरों से एक ही समाचार की पुष्टि हो जाए, तब उस समाचार पर राजा को विश्वास करना चाहिए।[2] यदि चर, बार–बार असत्य समाचार लाता है तो इस प्रकार के चर को गुप्त रीति से दण्डित करना चाहिए, अथवा उसको पदच्युत कर देना चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत है।[3]

इस प्रकार कौटिल्स ने चर–व्यवस्था का वर्णन कर बतलाया है कि चर व्यवस्था की उत्तमता पर राज्य के शासन का उत्तम होना भी बहुत कुछ निर्भर है।

गुप्तचरों के कार्य

कौटिल्य ने गुप्तचरों को राज्य संगठन का एक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अंग माना है। फलतः उसने गुप्तचरों के विभिन्न कार्यों का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार गुप्तचरों के प्रमुख कार्य हैं राजा को राज्य में होने वाली सभी प्रकार की गतिविधियों की सूचना देना। राजा को राज्य के कर्मचारियों एवं अधिकारियों के आचरणों, व्यवहारों औ" दैनिक कार्यक्रमों के सम्बन्ध में सूचना देना। राजा का राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों के बीच व्याप्त भ्रष्टाचार की सूचना देनां। राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों की राजभक्ति और राजा के प्रति निष्ठा के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली शंकाओं की सूचना देना । राजा को प्रजाजनों और नगर निवासियों का उसके प्रति अनुराग, द्वेष आदि की जानकारी देना राज्य में प्रजाजनों के बीच राजा के प्रति यदि कोई असंतोष या विद्रोह पैदा हो जाय या होने की संभावना हो, तो उसकी सूचना

---

1. *संस्थानामन्तेवासिनः संज्ञालिपिभिश्चाएसचारं कुर्युः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 13 ।*
2. *त्रयाणामेकवाक्ये संप्रत्ययः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 17 ।*
3. *तेषामभीक्ष्णा विनिपाते तृष्णीदण्डः प्रतिषेधोवा।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 12, वार्ता 18 ।*

देना। चारों, व्यभिचारियों तथा अन्य प्रकार के अपराधियों तथा संदेहास्पद व्यक्तियों के बारे मे सूचना देना। राज्य में होने वाले अपराधों और कुकृत्यों का पता लगाकर इसकी सूचना न्यायाध ीशों तथा सम्बद्ध पदाधिकारियों को देना और उन्हें दंडित करवाना।

कौटिल्य का यह स्पष्ट मत है कि आंतरिक सुरक्षा और राज्य की सुदृढ़ता के लिए गुप्तचर द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा सकते हैं। कौटिल्य ने कहा है कि गुप्तचर केवल आंतरिक विद्रोह को रोकने मे ही नहीं वरन् शत्रुओ क आक्रमण को रोकने में भी सहायक होते हैं। गुप्तचर शत्रुओ की गतिविधियों का पता लगाते हैं और उसकी सूचना राजा और सम्बद्ध पदाधिकारियों को देते हैं। वे शत्रुओं की सेना की संख्या, उसकी योजना तथा शत्रु राज्य में राजा के प्रति राग–द्वेष, असंतोष, विद्रोह आदि की भी जानकारी प्राप्त कर उसकी सूचना अपने राजा को देते हैं। उभयवेतनभोगी गुप्तचर तो दूसरे राजा के अधीन नौकरी करके वहां के राज्य के भेदों को जानने का प्रयास करते हैं, तथा उसकी सूचना अपने राजा को देते हैं। विदेशों में काम करने वाले गुप्तचर वहाँ के राजा और उसके अधिकारियों के व्यसनों की सूचना भी अपने राजा को देते हैं।

इनके अतिरिक्त कौटिल्य ने विशेष श्रेणी के गुप्तचरों के लिए कुछ विशेष प्रकार के कार्यो का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए उसने कहा है कि तीक्ष्ण नामक गुप्तचर को छत्र, चामर, व्यजन, पादुका, सिविका तथा घोडे आदि बाहरी उपकरणों की देख–रेख करते हुये अमात्य आदि की सेवा करनी चाहिए।

रसद् गुप्तचरों के लिए उसने कहा है, कि उन्हें रसोईया, मांस बनाने , नहलाने, हाथ–पैर दबाने, विस्तार बिछाने, श्रंगार करने, जल भरने, तथा नाई का काम करते हुए मंत्री तथा अन्य उच्च अधिकारियों के भेदों का पता लगाना चाहिए। उसी प्रकार कुछ गप्तचरों को गूंगे, बहरे, कुबड़े, बौने, किरात, मूर्ख, अंधे आदि के रूप में काम कर भेद का पता लगाना चाहिए।

उसने महिला गुप्तचरों के भी कुछ विशिष्ट कार्यों का उल्लेख किया है जैसे, उन्हें परिचारिका या परिब्राजिका के रूप में काम करते हुए अमात्यों तथा अन्य अधिकारियों की गतिविधियों का पता लगाना चाहिए।

गृहपतिक गुप्तचरों के कार्यों के बारे में कौटिल्य ने कहा कि उन्हें समाहर्ता के आज्ञानुसार अपने क्षेत्र के गाँवों का क्षेत्रफल, घरों और परिवारों की संख्या, खेतों का क्षेत्रफल,

उनकी उपज आदि की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर समाहर्ता को देना। वे इस बात की सूचना भी समाहर्ता को दें कि कौन–सी भूमि किसके कब्जे में है, कितने लोग करदाता है, तथा कितने लोग कृषक हैं उन्हें चाहिए कि वे क्षेत्र में रहने वाले लोगों का जातिगत विवरण तैयार कर वहाँ के पशुओं की संख्या अंकित कर और वहाँ के लोगों की आमदनी और खर्च का ब्यौरा तैयार कर उनकी सूचना नियमित रूप से समाहर्ता को दें। गुप्तचरों की यह भी जिम्मेदारी है कि वे उस क्षेत्र में बाहर से आने–जाने वाले व्यक्तियों की सूचना सम्बद्ध पदाधिकारी को दें।

बैदेहक गुप्तचर के कार्यो का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि इस प्रकार के गुप्तचरों को समाहर्ता के आदेशानुसार अपने क्षेत्र में उत्पन्न और बेची जाने वाली सरकारी वस्तुओं, खनिज पदार्थो, तालाबों, जंगल तथा कारखानों में बनायी जाने वाली वस्तुओं की तौल और कीमत के बारे में सही जानकारी प्राप्त कर इसकी सूचना सम्बद्ध अधिकारियों को देनी चाहिए। साथ–ही–साथ उन्हें इस बात का भी पता लगाना चाहिए कि विदेशी व्यापारियों ने चुंगी, सीमा कर, पथ कर तथ अन्य प्रकार के करों का भुगतान किया हैं अथवा नहीं।

तापस गुप्तचरों के कार्यो के बारे में कौटिल्य ने कहा है कि उन्हें समाहर्ता के आज्ञानुसार अपने क्षेत्र में रहने वाले किसान, व्यापारी और विभिन्न अध्यक्षों की ईमानदारी और बेईमानी का पता लगाना चाहिए। कौटिल्य ने गुप्तचरों के और भी कई प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया हैं, जैसे सिद्ध वेषधारी गुप्तचारों द्वारा दुष्टों का दमन, चोरों और चोरी के माल की पहचान इत्यादि। कौटिल्य ने कहा है कि गुप्तचरों को संदेहास्पद पुरुषों के बारे में विशेष जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। कौटिल्य की यह राय है कि उन व्यक्तियों पर चोर, डाकू, हत्यारा तथा प्रजापीडक होने की शंका की जा सकती है, जिनके वापं–दादाओं की सम्पत्ति, खेती–बारी आदि धीरे–धीरे क्षीण होती जा रही हो, जिनको खाने और खर्च के लिए पर्याप्त वेतन न मिलता हो, जो लोग अपने देश, जाति गोत्र नाम और अपने व्यावसाय का ठीक–ठीक पता न देते हों, जो लाग जीविका के लिए छिपे तौर पर काम करते हों, जिन्हें मास मदिरा इत्र–फुलेल, बढ़िया वस्त्र, और बनाऊ श्रंगार का शौक हो, जो अत्याधिक खर्चीले हों, जो वैश्यओं, जुआरियो और शराबियों के बीच रहने वाले हों, तथा जो बार–बार विदेश जाते हों, इनके अतिरिक्त संदेहास्पद व्यक्तियों के और कई लक्षण बताए गए हैं, जिनके आधारो पर संदेहास्पद व्यक्तियों को पकड़ा जा सकता है।

कौटिल्य ने गुप्तचरों की बहुआयामी और बहुक्षेत्रीय कार्यो की गणना की है। संक्षेप में

यह कहा जा सकता है राज्य या समाज का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जिसकी स्थिति का पता लगाने के लिये गुप्तचरों को दायित्व नहीं सौपा गया हों। यह कहने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं हो सकती है कि आधुनिक काल में भी गुप्तचरों को इतने सारे कार्य सौंपे गये हैं जितने कार्य एवं जिम्मेदारियाँ कौटिल्य द्वारा कही गयी है।

गुप्तचरों की कार्यपद्धति

कौटिल्य ने न केवल गुप्तचरों के कार्यो का ही वर्णन किया हैं, वरन् उनके द्वारा अपनायी जाने वाली पद्धतियों और तकनीकों की भी चर्चा की है। सर्वप्रथम उसने गुप्तचरों के लिए कहा है कि उन्हें विभिन्न प्रकार के वेष धारण करना चाहिए। जैसे विधार्थी को वेश, विद्वान का वेश, किसान का वेश, व्यापारी का वेश, तपस्वी का वेश, सेवकों का वेश, नटों का वेश, इत्यादि। स्त्रियो के लिए उसने परिचारिका, परिब्राजिका, भ्रिक्षुणी, दासी, नर्तकी इत्यादि का रूप और वेश, धारण करने की सलाह दी है। कौटिल्य के कथनानुसार गुप्तचरों को सूचना प्राप्त करने के लिए आम जनता से तालमेल बढ़ाना चाहिए, उन्हें विश्वास में लेना चाहिए तथा उनके साथ धनिष्ठता पैदा करके उनकी गतिविधियों और भेदों की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। उसने विभिन्न प्रकार की सूचनएं प्राप्त करने के लिए विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उसने कहा है कि गुप्तचरों को चोरों, डाकुओं और व्याभिचारियों को अपने वशीकरण मंत्रों के प्रयोग से अपने वंश में कर लेना चाहिए। उदाहरण के लिए उसने कहा है कि तपस्वी के वेष के काम करने वाले गुप्तचरों को लोगों का भविष्यफल बताना चाहिए, उनके सम्बन्ध में गुप्त बाते बतानी चाहिए, जिससे लोग उस पर विश्वास करने लगें और अपनी गुप्त बातों को बतला सकें। चारों और व्यभिचारियों के समूह को उत्साहित कर पहले से रात में जिस गांव में जाने का कार्यक्रम बनाया गया हो, उससे दूसरे ही गाँवों में, जहाँ लोगों को पहले से समझा– बुझा दिया गया हों, चोरों और व्याभिचारियों को ले जाकर सिद्ध वेषधारी गुप्तचर उनसे कहे– " आप लोग यहाँ पर आज हमारी विधा का प्रभाव देखें। "इस प्रकार उन्हें अपने वशीकरण के जाल में फँसाकर गिरफ्तार करा देना चाहिए।

कौटिल्य ने गुप्तचरों को कुछ अमानवीय तरीको को अपनाने का भी सुझाव दिया है। जैसे–घरों में आग लगाना, विष देना, खंजरों द्वारा वध करना इत्यादि।

कुछ समीक्षकों ने कौटिल्य द्वारा बतायी गयी इन पद्धतियों और तकनीकों को अमानवीय और अनैतिक बताया है, यद्यपि कौटिल्य ने इन्हीं पद्धतियों के प्रयोग को समीचीन और आवश्यक

बतलाया है। कौटिल्य की यह मान्यता है कि अच्छे परिणामों के लिए अनैतिक साधनों का प्रयोग अनुचित नहीं है। इस संदर्भ में कौटिल्य की तुलना मैकियावेली से की जा सकती है, जिसने भी अच्छे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए गलत और अनैतिक तरीकों के प्रयोग की अनुशंसा की है। इसके विपरीत महात्मा गाँधी ने साध्य और साधनों दोनों की स्वच्छता पर बल दिया है। उनकी मान्यता है कि गलत और अनैतिक साधनों के द्वारा उत्तम और नैतिक साध्य की प्रप्ति नहीं हो सकती है।

यों तो प्राचीन भारतीय ग्रंथो में गुप्तचर व्यवस्था का उल्लेख किया गया है, कौटिल्य ने इस पर विशेष बल दिया है। कौटिल्य के द्वारा गुप्तचरों के व्यापक प्रयोग के पीछे तीन प्रबल कारण कहे जा सकते हैं–

(i) कौटिल्य की धारणा है कि राज्य की सभी श्रेणियों के कर्मचारी व्यसनों से मुक्त नहीं है और वे किसी भी समय राजा के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं, इसलिए राजा को चाहिए, कि वह पर्याप्त संख्या में गुप्तचरों को नियुक्त कर उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखें।

(ii) कौटिल्य की यह धारणा है कि राजा को जनमत के रूख का पता लगाते रहना चाहिए। राजा के प्रति प्रजाजनों के राग–द्वेष का पता लगाने के लिए गुप्तचरों की सेवा नितांत आवश्यक है।

(iii) कौटिल्य राज्य की सुरक्षा को सर्वोपरि मानता है, इसलिए उसने राजा को यह परामर्श दिया है कि वह राज्य में होने वाली उन समस्त गतिविधियों का पता लगाते रहे, जिससे देश की सुरक्षा या शान्ति व्यवस्था में किसी प्रकार की गड़वड़ी की संभावना न हों।

यूनानी लेखको के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि मौर्य काल में यह विभाग कार्यरत था। इन गूढ़ पुरुषों अथवा संन्देह–वाहकों को उन्होंने 'आवरसियर' कहा है। मैगस्थनीज लिखता है कि इनका एक वर्ग था जिसका कार्य राज्य में क्या हो रहा है इसकी जानकारी रखना और राजा को इसकी गुप्त सूचना था। अशोक ने प्रतिवेदक नामक अधिकारी को इस कार्य के लिये नियुक्त किया था।[1] अतः राज्य–कर्मचारी से लेकर प्रजा तक की गति–विधियों की देख–रेख और तदनुरूप राजा अथवा सम्बन्धित अधिकारी को इसकी सूचना देना उनका कर्त्तव्य

---

79. शिलभिलेख, 6

था। एरियन कहता है कि ' कोई भ्रान्त सूचना देना इनकी परम्परा के विपरीत था।' वस्तुतः समाज के विकारों का उन्मूलन ही इस विभाग का उद्देश्य था।

यह सत्य है कि कौटिल्य ने गुप्तचरों की सेवा पर अनावश्यक रूप से बल दिया हैं, परन्तु उसकी गुप्तचर व्यवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताओं को भी नकारा नहीं गया है। आज भी विभिन्न देशों द्वारा जासूसी के अनेक घृणित, अनैतिक और निंदनीय तरीके अपनाए जा रहे हैं। सुरा–सुन्दारियों, और द्रव्यों का भी जासूसी कार्य में खुलेआम प्रयोग किया जा रहा है। इस दृष्टि से कौटिल्य की गुप्तचरी व्यवस्था की सार्थकता आज भी सिद्ध हो रही है। वस्तुतः कौटिल्य की गुप्तचरी व्यवस्था उसकी समकालीन राज–व्यवस्था में व्याप्त अनेक प्रकार के दुर्गुणों और व्यसनों के संदर्भ में तैयार की गयी थी।

अध्याय षष्टम्

विधि एवं न्याय व्यवस्था

अध्याय षष्टम्

विधि एवं न्याय-व्यवस्था

प्रशासन कोई विधि–प्रक्रिया तभी सफलीभूत हो सकती है, जब न्याय–शासन के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक संबन्धों को अन्वयपूर्ण बना कर सामाजिक व्यवस्था बनी रहे। अतः कौटिल्य ने न्याय–व्यवस्थापन का समयानुकूल सूक्ष्मतम विवेचन ही नहीं किया, अपितु उसके निर्माण–तत्वों की व्याख्या भी दी हैं।

सर्वविदित है कि कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' प्रशासन के विभिन्न पक्षों पर लिखित एक सर्वोत्तम कृति है। इसके अन्तर्गत प्रशासन के विभिन्न पक्षों और विभिन्न अंगों के संगठन, शक्तियों तथा कार्यों का विशद् विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन काल के हिन्दू ग्रंथों में न्याय–प्रणाली की विवेचना मिलती है। इन ग्रंथों के आधार पर सिद्ध होता है कि राजा ही न्याय का स्त्रोत था, और सर्वोच्च न्यायाधीश भी था।

धर्मसूत्र और 'अर्थशास्त्र' में न्यायपालिका के संगठन, शाक्तियों, एवं कार्यों का स्पष्ट विवरण मिलता है। धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र के साहित्यों में इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि राजा न्याय का स्त्रोत था और सर्वोच्च न्यायाधीश भी। वह प्रजाजनों की शिकायतें सुनता था और प्रजाजनों को दंड देता था। न्याय करना राजा का सर्वप्रमुख और सर्वोपरि कर्त्तव्य था। चूँकि राजा के लिए सभी प्रकार के मुकदमों की प्रारंभिक सुनवाई करना संभव नहीं था, इसलिए वह नीचे के अदालतों के निर्णयों के विरूद्ध अपील भी सुनता था। नारदस्मृति में इसका उल्लेख मिलता है, कि ग्रामीण आदलतों के निर्णयों के विरूद्ध नगर की अदालतों में, और नगर अदालतों के विरूद्ध राजा के सम्मुख अपील की जाती थी। राजा के निर्णयों के विरुद्ध कहीं कोई अपील नहीं की जा सकती थी।[1].

राजा से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र में दिये गये सिद्धान्तों के अनुसार न्याय करे। राजा इन सिद्धांतों की उपेक्षा नहीं कर सकता था और न ही उसका अतिक्रमण करके कोई निर्णय दे सकता था। यद्यपि कौटिल्य ने राजा को कानून के

---

1. *ग्रामे दृष्टः पुरे याति पुरे दृष्टस्तु राजनि।*
   राज्ञा दृष्टः कुदृष्टो वा नास्ति पौनर्भुवो विधिः।। — *नारदस्तमृति , 1, 307 ।*

सम्बन्ध में सर्वोच्च शक्ति दी गयी है, तदापि यह भी स्पष्ट निर्दिष्ट किया हैं कि राजा शास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं करेगा।

न्यायिक कार्य के दो मुख्य क्षेत्र

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार राज्य का अस्तित्व प्राणी को उनके स्वधर्म पालन हेतु समुचित व्यवस्था करने पर आश्रित माना गया है। इस विचार धारा के अुनसार राज्य का सर्वोपरि कर्त्तव्य प्राणियों को उनके उचित अधिकारों के भोगने, एवं उनके कर्त्तव्यों के पालन किए जाने के लिए अधिक से अधिक सुविधा प्रदान करना है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के निमित्त राज्य में उन लोगों की खोज की जाती है जो स्वधर्म-पालन कार्य में विघ्न बाधाएं उपस्थित करते हैं, और दूसरों के अधिकार क्षेत्र पर आक्रमण करके मनुष्य-मनुष्य के मध्य कलह उत्पन्न करते हैं। इस व्यवस्था का संघठन करके, इस प्रकार उत्पन्न, कलह के मूल कारणों का पता लगाया जाता है और उनके निराकरण हेतु दोषियों को उनके दोष के अनुसार दण्ड विधान किया जाता है। कौटिल्य भी इसी परम्परा को पोषक है।

कौटिल्य ने न्याय कार्य को मुख्य दो क्षेत्रों में विभाजित किया है। इस विभाजन के अनुसार मनुष्य-जीवन का वह अंश जिसमें नागरिकों का पारस्परिक सम्पर्क होता है, न्याय-कार्य के प्रथम क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। नागरिकों के पारस्परिक सम्पर्क से उनके मध्य होने वाली कलह के मूल कारणों की खोज कर उनकी विवेचना करना और इस विवेचना के आधार पर दोषी को उसके दोष के अनुसार दण्ड विधान करना तथा निर्दोषी को उसके अधिकार दिलाने की व्यवस्था करना, इस क्षेत्र के अन्तर्गत माना गया है। न्याय कार्य के इस क्षेत्र को प्राचीन भारत के अन्य आचार्यो की भाँति कौटिल्य ने भी व्यवहार की संज्ञा दी है।

मनुष्य जीवन का दूसरा अंश वह है जिसमें उसका सम्पर्क राज्य के राजकर्मचारियों तथा राज्य के उपयोगी व्यवसायिकों एवं कतिपय विशेष प्रकार के दुष्ट लोगों से होता है, मनुष्य जीवन के इस क्षेत्र में इन राजकर्मचारियों एवं व्यवसायियों तथा दुष्टजनों के द्वारा मनुष्य को शोषण एवं उत्पीड़न से बचाने के लिए न्याय-व्यवस्था की आवशकता समझी गयी है। कौटिल्य ने न्याय-व्यवस्था के इन दोनों क्षेत्र को कटंक-शोधन नाम से सम्बोधित किया है।

व्यवहार की स्थापना

आधुनिक युग में व्यवहार शब्द का कोई राजनीतिक विशेष महत्व नहीं है। परन्तु प्राचीन

भारत में इस शब्द का प्रयोग राजशास्त्र के आचार्यों ने विशेष राजनीतिक अर्थ में किया है। जनता में, मनुष्य–मनुष्य के मध्य, पारस्परिक अधिकार–हरण सम्बन्धी जिन विवादो का जन्म होता है, उनके निर्णयार्थ जो व्यवस्था की जाती हैं, उसको व्यवहार के नाम से सम्बोधित किया गया है।

व्यवहार शब्द की व्याख्या करते हुए कात्यायन ने लिखा है–कि व्यवहार शब्द की प्राप्ति वि+अब+ हार से होती है। वि का अर्थ है विविध, अब से संदेह, और हार से हरण, का बोध होता है। इस प्रकार व्यवहार से तात्पर्य उस क्रिया से है, जिसके द्वारा नाना प्रकार के संदेह दूर किए जा सके। कौटिल्य भी इसी विचाराधारा मे अटूट आस्था रखते थे, और इसी दृष्टि से ने व्यवहार की स्थापना पर विशेष महत्त्व दिया है।

व्यवहार के मार्ग

मनु और शुक्र ने व्यवहार के मार्गों की सूचियां दी हैं, परन्तु कौटिल्य ने इस प्रकार की सूची भी उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने व्यवहार के विषयों को सूची–बद्ध न करके अपितु उनका अलग वर्णन दिया है, और तत्सम्बन्धी विवादों के रोक–थाम के लिये एवं दोषी को दण्ड देने तथा निर्दोषी को उसका अधिकार दिलाने के निमित्त दण्ड निर्धारित किये है। जिनसे व्यवहार के मार्गों का बोध होता है।

कौटिल्य ने व्यवहार के मार्ग लगभग वही माने हैं जिनका कि उल्लेख 'मानवधर्मशास्त्र' में है। यद्यपि उन्होंने मनु द्वारा वर्णित व्यवहार के मार्गों में कहीं–कहीं विशेषता लाने का सफल प्रयत्न किया है। कौटिल्य ने 'मानव धर्मशास्त्र में वर्णित व्यवहार के अट्ठारह मार्गों के वर्णन के साथ ही दास–कर्म मार्ग क॑ वृद्धि की है। दायभाग में अंश विभाग और पुत्र विभाग का वर्णन कौटिल्य की विशेषता प्रकट करता है। इसके अतिरिक्त व्यवहार के अन्य मार्गों में भी कौटिल्य की बुद्धि का चमत्कार प्रकट होता है। कौटिल्य ने व्यवहार के अग्र मार्ग माने हैं–"स्त्री–पुरुष के धर्म की व्यवस्था, परस्त्रीहरण एवं परस्त्री का परपुरुष से सम्बन्ध , दायभाग, अंशविभाग, पुत्रविभाग, वास्तु विवाद, ऋृण लेकर न देना अथवा बिना दिये माँगना निक्षेप, बिना स्वामी हुए किसी वस्तु का विक्रय, साझे का व्यवहार, दान, वेतन का न देना, प्रतिज्ञा भंग करना, दास–कार्य, क्रय– विक्रय सम्बन्धी विवाद, पशुस्वामी और पशुपालन का विवाद, सीमा विवाद डाका, चोरी, मारपीट, कठोर, बचन का प्रयोग, ब्रज सम्बन्धी विवाद और भूत आदि।

इस प्रकार व्यवहार के मार्गों की दृष्टि से कौटिल्य और मनु में समानता है, किन्तु कौटिल्य ने व्यवहार के मार्गों की मनु की तुलना में अधिक विवेचना की है।

कानून का अर्थ एवं उद्देश्य

कौटिल्य के पूर्व विभिन्न विद्वानों ने कानून की परिभाषा अपने– अपने ढंग से प्रस्तुत की है, और उसके उद्देश्यों का भी विवरण प्रस्तुत किया है। हिन्दू ग्रंथों के अनुसार कानून को सर्वोच्च और सर्वोपरि माना गया है। राजा को सर्वशाक्तिशाली मानते हुए भी उसे कानून से ऊपर नहीं माना गया है। राजा के कार्यों और शाक्तियों का स्त्रोत भी कानून को ही माना गया है। राजा की शाक्तियों और कार्यों का उल्लेख करने वाले कानून को राजधर्म की संज्ञा दी गयी है। दूसरी ओर कुछ अन्य राज्यों में कानून को राजा के अधीन रखा गया है। उदाहरण के लिए 'रकम्बीसिस शासनकाल' में फारस में राजा अपने मनोनुकूल कानून को परिभाषित और उसकी व्याख्या कर सकता था।[1]

कौटिल्य के पूर्व के चिन्तकों ने कानून को तात्विक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्या करते समय प्राचीन तात्विक तथा समकालीन चिन्तकों की शाखाओं को ध्यान में रखा है। कानून को व्यावहारिक आवरण देने के क्रम में कौटिल्य ने कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने का अंतिम अधिकार राजा को प्रदान कर दिया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार कौटिल्य के कानून 'सम्प्रभु' का आदेश है। कौटिल्य ने भी कहा है कि कानून राजा का आदेश है जो अनुशास्तियों के द्वारा लागू किया जाता है। उसने कानून और दंड दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ढूँढा है। कौटिल्य के अनुसार प्राधिकार का आधार कानून है और कानून प्राधिकार के द्वारा लागू होता है। दंड राजनीति का मूल स्त्रोत है, और राज्य के समस्त कार्य दंड द्वारा संचालित होते है। राजा को कई प्रकार के आदेश निर्गत करने का अधिकार होता है। कानून न तो समाज की सामूहिक इच्छा है और न ही समाज में रहने वाले बंहुमत की इच्छा है। यह उससे ऊपर की वस्तु है। उनके अनुसार कानून, न्याय और विवेक से आच्छादित होता है, किन्तु उसके सम्बन्ध में राजा से बड़ा प्राधिकारी कोई नहीं है।

यद्यपि कौटिल्य ने कानून के सम्बन्ध में राजा को सर्वोपरि प्राधिकारी माना है और कानून को उसके आदेश के रूप में स्वीकार किया है। उसने यह भी स्पष्ट किया है कि राजा मनमाने

---

1. रॉविंसन : हेरोट्स वॉल्यूम –1, पृ0 468 ।

ढंग से न तो कानून की व्याख्या कर सकता है और न ही लागू ही कर सकता है। राजा का यह पुनीत कर्त्तव्य होता है कि वह धर्म को सही परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति, समाज और राज्य के हित के लिए लागू करे।

प्रो० आर० के० चौधरी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि कौटिल्य की अवधारणा कीट्स की अवधारणा से मिलती–जुलती है, जिसके द्वारा राज्य और कानून का उद्देश्य है कि राज्य को बिना किसी क्षति पहुँचाये, व्यक्ति अपने प्रयोजनों को पूरा कर सकता है।[1]

कौटिल्य के मतानुसार कानून केवल चातुर्य का प्रतीक नहीं है, बल्कि इसके द्वारा व्यक्ति की सांस्कृतिक प्रस्थिति में वृद्धि होती है। और समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। उन्होंने कानून को सर्वव्यापक माना है।

रोमन अवधारणा के अनुसार कानून दो प्रमुख आधारों पर स्थित हैं – (i) अभिव्यक्ति और (ii) मानवीय आदेश। कौटिल्य ने कानून को सभी प्रकार की व्यवस्थाओं का सन्निवेश माना है और राजा को वरूण का प्रतिरूप। उसके अनुसार नैतिक दृष्टि से कानून की व्याख्या करना और लागू करना राजा का पुनीत कर्त्तव्य है। सामान्य रूप से राजा को विवेक और औचित्य के अनुसार कानून की व्याख्या करनी चाहिए, किन्तु यदि इस सम्बन्ध में कोई विवाद या संदेह उत्पन्न हो जाये तो कानून की व्याख्या अपनी अंतरात्मा के निर्देशों के अनुसार करनी चाहिए।

कौटिल्य का मत है कि न्याय और कानून एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। एक ओर कानून राजा का आदेश है, तो दूसरी ओर न्याय के रूप में वह कर्त्तव्य भी है। न्याय का कार्य विभिन्न व्यक्तियों के बीच उत्पन्न विवादों में कानून को सही ढंग से लागू करना है। न्याय अच्छे और बुरे के बीच अन्तर करता है और सामान्यहित का संवर्द्धन करता है। न्याय के अतिक्रमण का अर्थ है, राजकीय कानूनों का अतिक्रमण।

कौटिल्य ने कानून के चार आधारों का वर्णन किया है, जिसे उसने चतुष्पद कहा है। वे आधार हैं – (i) धर्म (ii) व्यवहार, (iii) चरित्र (iv) राज शासन। धर्म के अन्तर्गत शास्त्रों की सूक्तियाँ आती हैं। व्यवहार के अन्तर्गत साक्ष्य, पद्धतियाँ, और पारस्परिक समझौते आते हैं। चरित्र के अन्तर्गत इतिहास, अभिसमय और लम्बे समय से पालन की जाने वाली वृत्तियाँ आती है।

---

1. आर० के० चौधरी : कौटिल्याज पॉलिटिकल आइडिया एन्ड इंस्टीट्यूसन, वाराणसी, 1971, पृ० 157 ।

राजशासन के अन्तर्गत राजाज्ञाएँ तथा राज्य के आदेश या राज्य द्वारा परिगणित कानून आते हैं। कुछ विद्वानों ने औचित्य को भी इसके अन्तर्गत रखा है।

कौटिल्य के पूर्व कानून के चार प्रमुख स्त्रोत थे– (i) श्रुति, (ii) स्मृति, (iii) न्याय और (iv) सदाचार। कालान्तर में न्याय कानून का सर्वमान्य स्त्रोत बना। न्याय का अभिप्राय तर्क, विवेक तथा औचित्य से लिया गया है। न्याय के आधार पर निर्मित कानूनों का उदय हुआ है।

कौटिल्य ने राजा को न केवल कानून का स्त्रोत माना है, वरन् उसकी आज्ञाओं को धर्म के ऊपर मान्यता दी हैं। डॉ0 बेनी प्रसाद के शब्दों में "कौटिल्य ने कानून के निर्वचन और कार्यान्वयन में राजा को सर्वोपरि माना है।" बी0पी0 सिंहा ने कहा है कि कौटिल्य ने कानून के चारों आधारों को मान्यता दी है।

इस सम्बन्ध मे हमारा विचार है कि यद्यपि कौटिल्य ने राजा को कानून का स्त्रोत और संरक्षक माना है, परन्तु यह भी सत्य है कि उसने राजा को मनमानी करने की अनुमति नहीं दी हैं। उनके शब्दों में " जो राजा धर्म व्यवहार, सनिष्ट और न्याय की सहायता से न्याय कार्य करता है वह विश्वविजयी बनने के योग्य हैं।"

कानून के प्रकार

कौटिल्य ने दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के कानूनों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार नागरिक कानून प्रचलित सामाजिक विचारों पर आधारित होता है। उसने कहा है कि वर्ण व्यवस्था हमारे समाज की बुनियादी विशेषता है, इसलिए नागरिक कानून में सभी प्रकार के नागरिकों के बीच समानता का सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह वर्ण व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए ही नागरिक कानूनों को लागू करे।

राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह उन विभिन्न परस्पराओं एवं अभिसमयों को लागू करे जो राज्य और प्रजाजनों के लिए हितकर हों। उसने असंगत और अनुचित परम्पराओ को लागू न करें। उसमें असंगत और अनुचित एवं अभिसमयओं को लागू नहीं करने का अनुदेश दिया है। इस संदर्भ में कौटिल्य ने साधन से अधिक साध्य पर बल दिया है। उसके अनुसार यदि किसी कार्य का परिणाम अच्छा हो तो उसके लिए अपनायें जाने वाले साधन या रूप का प्रकार गौण हो जाता है।

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि कौटिल्य ने कानून और न्याय की व्याख्या करने में

व्यावहारिक और तात्विक दोनो पक्षों का आश्रय लिया है। उसने राजाज्ञाओं को प्रधानता दी है, किन्तु साथ ही साथ धर्म, नीति और परम्पराओं को भी समुचित महत्व प्रदान किया है। इस प्रकार कौटिल्य द्वारा दी गयी न्याय की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है, कि उनका कानून आध्यात्मिक से ज्यादा लौकिक है। लौकिक कानूनों की विस्तृत और निश्चित विवेचना 'कौटिल्य ' से पूर्व नहीं मिलती है। कौटिल्य ने कानून के राज्य के हितों के उन्नयन के साथ–साथ प्रजाजनों के जानमाल की सुरक्षा का एक प्रबल उपकरण माना है। कौटिल्य की अवधारणा की यह निश्चित रूप से यह महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है, कि उसने कानून को धर्म, नीतिशास्त्रों और सूक्तियों की चाहरदीवारी से निकालकर आवश्यकता और उपयोगिता के धरातल पर लाने का प्रयास किया है। उसने कानून को राज्य और प्रजाजनों के लिए आवश्यक एवं उपयोगी दोनों माना है। इस दृष्टि से कौटिल्य के विचारों में उपयोगितावाद का तत्व विद्यमान है।

कौटिल्य ने न केवल वैधानिक और राजनीतिक कानूनों का उल्लेख किया है, वरन् सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक कानूनों की भी चर्चा की है। यथा– (1) विवाह सम्बन्धी कानून , (2) उत्तराधिकार से सम्बन्धित कानून , (3) संपत्ति तथा उससे सम्बन्धित विवादों के लिए कानून, (4) सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा से उत्पन्न विवादों से सम्बन्धित कानून, (5) मार्ग अवरोध गांवों के बन्दोबस्त तथा चारोगाहों से सम्बन्धित कानून, (6) गृह–निर्माण से उत्पन्न विवादों से सम्बन्धित कानून, (7) खेतों और गाँवों की सीमा के विवादों से सम्बन्धित कानून, (8) मकान या अन्य सम्पदा के क्रय–विक्रय से सम्बन्धित कानून, (9). ऋण संम्बन्धी कानून, (10). धरोहर सम्बन्धी कानून, (11). दास और श्रमिक सम्बन्धी कानून , (12) साझेदारी सम्बन्धी कानून , (13) प्रतिज्ञात वस्तु का अप्रदान विषयक कानून , (14) स्वामित्व से सम्बन्धित कानून, (15) बलात्कार व अपहरण सम्बन्धी कानून, (16) गाली–गलौज, निंदा व धमकी सम्बन्धी कानून, (17) मार–पीट सम्बन्धी कानून, (18) पशु–पक्षियों को चोट–पहुँचाने तथा चोरी से पेड़ काटने, फल–फूल चुराने से सम्बन्धित कानून , (19) जुआ सम्बन्धी कानून। 'अर्थशास्त्र' में वर्णित कानूनों से स्पष्ट होता है कि कानूनों के इतने प्रकार और इतनी विस्तृत सूची की चर्चा इसके पूर्व के ग्रथों में नहीं की गयी है। इतना ही नहीं, कौटिल्य द्वारा कानूनों की विवेचना में लौकिक और व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। उसने प्रत्येक विषय के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को कानून की सीमा में रखा है।

न्याय की अवधारणा

कौटिल्य के कानून की अवधारणा न्याय से जुड़ी हुई है। कौटिल्य के अनुसार न्याय और कानून के बीच अविच्छेदनीय सम्बन्ध है। दोनों को एक–दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है। कानून राज्य और प्रजाजनो के हितों की रक्षा करता है, तो न्याय व्यक्तियों के जीवन को असुरक्षित करने वाले विनाशकारी कारकों को समाप्त करता है।

कौटिल्य के अनुसार दंडनीति व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा और निर्भयता के लिए आवश्यक है कौटिल्य के अनुसार न्याय वितरण करना राजा का सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख कर्त्तव्य है, यह मानव कल्याण को सुनिश्चित करने वाले दार्शनिक तत्त्वों को भी सुरक्षित करता है। कौटिल्य ने न्याय में विवेक तत्त्व को प्रधानता दी है। इस संदर्भ में कुछ विद्वानों ने कौटिल्य के न्याय की अवधारणा की तुलना प्लेटो के न्याय की अवधारणा से की है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में भी विवेक की प्रधानता पर बल दिया गया है। कौटिल्य अपराधियों में सुधार लाने तथा उनकी आपराधिक प्रवृत्तियों को दूर करने का पक्षधर था। उसने यह स्पष्ट संकेत दिया है, कि राजा को सही और समुचित ढंग से न्याय वितरण का कार्य करना चाहिए।

न्यायालय

विवादों के सुनने और उन पर निर्णय देने के लिए न्यायालयों की स्थापना की जाती है। कौटिल्य ने भी इस कार्य के सम्पादन हेतु दो तरह के न्यायालयों का उल्लेख किया है– धर्मस्थीय[1] और कण्टकशोधन।[2] धर्मस्थीय (व्यवहार) न्यायालय में छः न्यायाधीश होते थे–तीन धर्माध्यक्ष (स्थापित धर्म एवं विधि–कानून के विज्ञ) और तीन अमात्य। इस न्यायालय को राज्य के सीमा–प्रान्त तथा विभिन्न प्रशासकीय केन्द्रों, संग्रहण (दस ग्राम), द्रोणमुख (चार सौ ग्राम) और स्थानीय (आठ गांव) के प्रधान–भूत स्थानों पर स्थापित करने की व्यवस्था थी।[3] इस न्यायालय के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत विवाह, प्रादानिक (दहेज), दायभाग, गृहवास्तुक (अचल सम्पत्ति), वास्तु–विक्रय, ऋण, उपनिधि (धरोहर), दास, कर्मकर, स्वामिसम्बन्ध विक्रय साहस (डाका), पारूष्य, द्यूत तथा अन्य लधु अपराध आदि विवाद के विषय आते हैं।

---

1. *धर्मस्थास्त्रयोअमात्या जनपद सन्धिसंग्रहणाद्रोणामुखस्थानीये पुष्पावहरिकानर्याम्कुर्यं।। अर्थशास्त्र अधि0 3 अ0 1 वार्ता 1।।*
2. *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 13 ।*
3. *अर्थ0, अधि0 3, अ0 1, वार्ता 1 ।*

इन न्यायालयों के अतिरिक्त ग्रामों में न्याय–सम्पादन, ग्राम बृद्धों एवं सामन्तों के द्वारा होना चाहिए।[1] इस प्रकार ग्रामों में स्थानीय महत्व के विवादों का अवलोकन एवं उन पर निर्णय देने के लिए स्थानीय न्यायालयों की स्थापना होनी चाहिए जिनमें ग्राम–वृद्ध एवं ग्राम–सामन्तों को न्यायाधीश का स्थान ग्रहण करने का अधिकार मिलना चाहिए। यदि ग्राम–वृद्ध और सामन्त किसी विवाद–ग्रस्त विषय पर निर्णय देने में मतभेद रखते हो तो ऐसी स्थिति में उस स्थान की जनता अनुमति लेकर वहाँ के धार्मिक पुरुष उस विवाद–ग्रस्त विषय पर निर्णय दें।[2] इस प्रकार ग्रामों में ग्राम–वृद्धों में किसी विवाद–ग्रस्त विषय पर निर्णय देने में मत–भेद होने पर निर्णय के लिए धार्मिक पुरुषों का आश्रय लिया जाना उचित समझा गया है। ग्राम–सीमा सम्बन्धी विवादों पर निर्णय दोनों ग्रामों के सामन्त (मुखिया) अथवा पांच ग्रामों के मुख्य अधिकारी (पंचग्रामी) या दस ग्राम के मुख्य अधिकारी (दशग्रामी), मिलकर कर दें।[3]

इस प्रकार कौटिल्य के विचारानुसार विवादों के अवलोकन करने एवं उन पर निर्णय देने के निमित्त अनेक प्रकार के छोटे–बड़े न्यायालयों की स्थापना की जानी चाहिए।

मध्यस्थता

कौटिल्य के समय तक न्याय क्षेत्र में मध्यस्थ निर्णय करने एवं उसके द्वारा विवादग्रस्त विषयों पर निर्णय प्राप्त करने के सिद्धान्त की स्थापना हो चुकी थी। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने व्यवस्था दी है कि क्षेत्र विवाद का निर्णय ग्राम के सामन्त और ग्राम वृद्ध मिलकर कर दें। यदि उनमें निर्णय में मतभेद हो तो बहुत से धाार्मिक (शुचयों:) पुरुष उसमें निर्णय दे दें। अथवा (वादी और प्रतिवादी) मध्यस्थ को नियत कर उससे निर्णय करा लें।[4]

कौटिल्य द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से यह सिद्ध हो जाता है कि 'अर्थशास्त्र' के रचनाकाल में मध्यस्थ नियत करने और उनके द्वारा विवादग्रस्त विषयों पर निर्णय प्राप्त किए जाने का प्रचलन था। मध्यस्थ द्वारा दिया गया निर्णय वादी और प्रतिवादी दोनों के लिए मान्य होता था, तथा अन्तिम निर्णय समझा जाता था।

---

1. *तेषां द्वैं धीभावे वतो बहवः शुचयोअनुमता वा तातो नियच्छेयुः।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 17 ।*
2. *सीमाविवादं ग्राम पोरुषभषोः सामन्ताः पंचग्रामी दशाग्रामी व सेतुभिः स्थावरैः कृत्रिमैर्वा कुर्यात्।।*
   अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 11 ।
3. *मध्यं वा गृह्णीयुः।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 18 ।*
4. *एवं कार्यणि धर्मस्थाः कुर्यु रच्छलदर्शिनः। सभाः सर्वेषु भावेषु विश्वास्या लोकसंप्रियाः।।*
   अर्थ0, अधि0 3, अ0 20, वार्ता 31 ।

न्यायाधीशों का आचरण एवं व्यवहार

न्यायाधीशों के आचरण के विषय में कौटिल्य कहते हैं कि न्यायाधीशों को न्याय कार्य क्षेत्र में छल का त्याग करना चाहिए, उनकों समानता के गुण को अपनाना चाहिए अर्थात् न्याय के समक्ष प्रत्येक व्यक्ति समान है ऐसा गुण उनमें होना चाहिए। न्यायाधीशों को लोकप्रिय एवं सबका विश्वासपात्र होना चाहिए।[1] वादी, प्रतिवादी एवं साथियों आदि के प्रति उनका व्यवहार शिष्ट होना चाहिए।

कौटिल्य उस न्यायाधीश को दण्ड विधान करते हैं जो न्यायालय में वक्तव्य देते समय वादी प्रतिवादी अथवा साक्षी आदि को फटकारता है और धमकाकर न्यायालय से बाहर निकाल देता है, अथवा उनको परेशान करता है।[2] असावधानी से कार्य करने, किसी व्यक्ति में विशेष रुचि लेने अथवा वादी, प्रतिवादी अथवा साक्षी आदि में किसी को बहकाने के लिए भी न्यायाधीश गाली दे दे तो उस न्यायाधीश को दो गुना दण्ड मिलना चाहिए।[3] जो न्यायाधीश पूँछने योग्य बात को पूँछता नहीं है, नहीं पूँछने वाली बात को पूँछता है, किसी बात को पूँछकर अधूरी ही छोड़ देता है, साक्षी को साक्ष्य देते समय सिखाता है, किसी विशेष बात को उसको स्मरण कराता है, अथवा अधूरी बात को स्वयं पूरी कर देता है तो ऐसी स्थिति में उस न्यायाधीश को मध्यम साहस दण्ड मिलना चाहिए।[4]

वादी, प्रतिवादी अथवा साक्षी आदि को व्यर्थ कष्ट देने का कौटिल्य ने विरोध किया है। उनका मत है कि जो न्यायाधीश देने योग्य आज्ञा नहीं देता, और नहीं देने योग्य आज्ञा देता है, किसी विवाद ग्रस्त विषय पर बिना प्रमाण के निर्णय दे देता है, किसी को छल द्वारा बहका देता है, काल व्यतीत करके थके हुए वादी, प्रतिवादी अथवा साक्षी को तंग करता है, ठीक बोलते हुए वादी प्रतिवादी अथवा साक्षी को भ्रमित कर देता है, साक्षियों को परामर्श (मति) दे देता है,

---

1. *धर्मस्थाश्चेद्विवदमानं पुरुषं तर्जयति भर्त्सयत्रपसारयत्यभिग्रसते वा पूर्वशास्त्र साहसदण्डं कुर्यात्।।*
   अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 35 ।
2. *वाक् पारुष्ये द्विगुणम् ।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 36 ।*
3. *पृच्छयं न पृच्छत्यपृच्छयं पृच्छति पृच्छ्वावा विसृजति शिक्षपति समारयति*
   पूर्व ददाति बेति मध्यममरमै साहस दण्डं कुर्यात्।। *अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 37 ।*
4. *अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 34 ।*

जेसका निर्णय हो चुका है उसको पुनः निर्णय हेतु बुलाता है, ऐसे न्यायाधीश को उत्तम साहस दण्ड मिलना चाहिए।[1]

कौटिल्य उपर्युक्त प्रकार के अशिष्ट न्यायाधीश को दण्ड देकर उसे उसके पद से मुक्त करने का विचार व्यक्त करते हैं।[2]

लेखक

न्यायालयो में आवश्यकतानुसार लेखक भी रखे जाते थे। इन लेखकों का मुख्य कर्त्तव्य, वादी, प्रतिवादी तथा साक्षी आदि के वक्तब्यों को ज्यों का त्यों लेख बद्ध करना, और न्यायालय के समस्त लेख, पत्र एवं वक्तब्यों आदि को सुरक्षित रखना था। विवादों को सुनते समय न्यायालय में न्यायाधीशों के समक्ष वादी, प्रतिवादी तथा साक्षी आदि जो वक्तब्य देते, यह लेखक उनकों ज्यों–का –त्यों लिपिबद्ध करता जाता था। यदि लेखक उनके वक्तब्यों के लेखबद्ध करने में लेशमात्र भी हेरफेर करता हुआ पाया जाता तो इस दोष के लिए उसको समुचित दण्ड दिया जाता था।

कौटिल्य का मत है कि यदि लेखक लिखने वाली बात को लेखबद्ध नहीं करता है, न कही हुई बात को लिख लेता है, भली बात को बुरी अथवा बुरी बात को भली, एवं किसी विषय को विकल्प उत्पन्न करने योग्य लिखता है तो इस प्रकार के लेखक को पूर्व साहस दण्ड मिलना चाहिए[3] अथवा उसको उसके दोष के अनुरूप दण्डित करना चाहिए।[4]

समय का प्रतिबन्ध

यदि किसी विवादग्रस्त घटना को हुए अधिक समय व्यतीत हो गया है, तो इस प्रकार के अभियोग को न्यायाधीशों को निणयार्थ स्वीकार करना चाहिए अथवा नहीं, इस विषय में अन्य आचार्यों का मत व्यक्त करते हुए अर्थशास्त्र में कहा गया है कि "यदि विवादग्रस्त घटना को हुए बहुत दिन व्यतीत हो चुके हों, तो उसका अभियोग नही चलना चाहिए।[5]

---

1. *देषं देशं न पृच्छत्यदेयं देशं पृच्छति कार्मदेशेनातिवाहयतिछ्लेनानति हरति काल–हरणेन आन्तमपवाहयति मार्गापत्रं वाक्यमुस्क्रमयति मति साहय्यं साक्षिभयो ददाति तारि तानुशिष्टं कार्य पुनरपि गृहणाति उत्तममस्मै दण्डं कुर्यात्।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 38।*
2. *पुनरपराधे द्विगुणं स्थानाद्ब्यपरोहणंच।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 39।*
3. *लेखकश्चेदुक्त न लिखत्यनुक्तं लिखति दुरूत्कमुप लिखति सूक्तमुल्लिर्योत्पतिं विकल्प यतीति पूर्वभस्मै साहसदण्डं कुर्यात्।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 40।*
4. *यथापराधं वा ।। अर्थशास्त्र अधि0 3 अ0 9 वार्ता 41।।*
5. *पयुषित्त कलहेअनुप्रवेशां वा नाभियाज्य इत्याचार्याः।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 19, वार्ता 28।*

कौटिल्य का दृढ़ मत है कि अपकारी को कभी नही छोड़ना चाहिए, चाहे जितनी भी पुरानी घटना क्यों न हो, प्रमाणित हो जाने पर दोषी को दण्ड अवश्य ही मिलना ही चाहिए।[1]

इस प्रकार कौटिल्य ने न्यायाधीशों के समक्ष विवादग्रस्त विषयों के निर्णयार्थ प्रस्तुत किए जाने में अतिकाल के सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी है।

विवाद की प्रथम सूचना का महत्व

कलह होने पर न्यायालय में न्यायार्थ प्रथम प्रार्थना करने वाले अथवा उसके पश्चात प्रार्थना करने वाले को सच्चा समझना चाहिए। इस विषय में अन्य आचार्यो का मत व्यक्त करते हुए अर्थशास्त्र में कहा गया है कि कलह होने पर जो प्रथम न्यायालय की शरण लेता हैं उसको सच्चा समझना चाहिए क्योंकि वह दुःख को सहन करने में विवश होकर ही न्यायालय की शरण में भागकर आता है।[2]

परन्तु कौटिल्य ने इस मत को अस्वीकार करते हुए कहा है[3] कि पहले अथवा पीछे आने मात्र का कोई महत्व नहीं होता जो व्यक्ति साक्ष्य द्वारा सच्चा प्रमाणित हो जाए उसी को सच्चा समझना चाहिए।[4]

इस प्रकार कौटिल्य ने न्यायालय की शरण व्यक्ति द्वारा प्रथम ली गयी अथवा पश्चात इस विषय पर कोई महत्व नहीं दिया है। उन्होने प्रमाण को श्रेष्ठ मानकर उसके अनुसार निर्णय देना उचित माना हैं।

प्रमाण

किसी भी विवादग्रस्त विषय पर निर्णय देने के लिए पक्ष और विपक्ष दोनों ओर के प्रमाणों पर भंलीभाँति विचार कर लेना आवश्यक होता है। पक्ष और विपक्ष दोनों ओर के प्रमाणों को सुनने और उन पर विधिवत विचार लेने के उपरान्त ही न्यायाधीश इस निर्णय पर पहुँच सकता है, कि कौन पक्ष सत्य और कौन असत्य को ग्रहण किए हुए है।

प्राचीन भारत के कतिपय राजशास्त्र विचारकों ने प्रमाणों को दिव्य और मानुष प्रमाण के अन्तर्गत परिगणित किया है। इन विचारकों में मनु और शुक्र मुख्य है। दिव्य प्रमाण से उनका

---

1. *नास्त्यपकारिणो मोक्ष इति कौटिल्यः ।।* — *अर्थ० अधि० 3 अ० 19, वार्ता 29 ।*
2. *कलहे पुर्वागनो जयत्यक्षममाणो हि प्रधावतीत्याचार्याः ।।* — *अर्थ० अधि० 3 अ० 19, वार्ता 30 ।*
3. *नेति कौटल्यः ।।* — *अर्थ० अधि० 3 अ० 19, वार्ता 31 ।*
4. *पूर्वपश्चाद्वाभिगतस्य साक्षिणः प्रमाणम्।।* — *अर्थ० अधि० 3 अ० 19, वार्ता 31 ।*

तात्पर्य शपथ से है और मानुष प्रमाण को वह तीन कोटि में परिगणित करते हैं जिनकों उन्होंने लिखित प्रमाण साक्ष्य प्रमाण और भुक्ति प्रमाण, के नाम से सम्बोधित किया है।

विवाद ग्रस्त विषय के निर्णय हेतु कौटिल्य ने भी प्रमाण को ही एक मात्र आधार माना है उन्होंने दिव्य प्रमाणों का उल्लेख नहीं किया है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य शपथ को प्रमाण कोटि में रखना उचित नही समझते थे और शपथ में उनकी विशेष आस्था न थी। सम्भव है कौटिल्य के समय में लोग मिथ्या शपथ भी ले लिया करते होगें, और जिससे वह स्वार्थ सिद्ध करने में कभी–कभी सफल भी हो जाते होंगे। इसलिए उन्होंने इस कुचलन के रोक–थाम के लिए शपथ को बिशेष महत्त्व नहीं दिया है।

उन्होंने प्रमाणों को मुख्य तीन कोटि में परिगणित किया है और उनको उन्होंने भी लिखित प्रमाण साक्ष्य प्रमाण, और भुक्ति प्रमाण, के नाम से सम्बोधित किया है।

(क) लिखित प्रमाण

विवादग्रस्त विषयों के निर्णय के निमित्त लिखित प्रमाण का बिशेष महत्व होता है। सम्भवतः प्रत्येक युग में लिखित कोटि के प्रमाण में लोगों की आस्था अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अधिक रही है। किसी विवाद–ग्रस्त विषय में यदि एक भी छल रहित लिखित प्रमाण जिस पक्ष में प्राप्त हो जाता है उस पक्ष के विरूद्ध चाहे जितने अन्य कोटि के प्रमाण (भोग और साक्षी) उपलब्ध होने पर भी निर्णय लिखित प्रमाण के अनुकूल ही होता है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि लिखित प्रमाण विवाद– ग्रस्त विषय के निर्णय मे विशेष स्थान रखते है। उन्होंने इस कोटि के प्रमाणों का बिशेष वर्णन किया है। कौटिल्य ने कतिपय लिखित प्रमाणों को अमान्य बतलाया है, जिनमें से कुछ एक लिखित प्रमाणों का उल्लेख इस प्रकार दिया है, गुप्त रीति से घर में, रात में, छल तथा एकान्त में किए गए व्यवहार सम्बन्धी लेखों को प्रमाणित न माना जाए।[1] घर से न निकलने वाली स्त्रियों तथा संज्ञाहीन (अचेत) नहीं हुए रोगियों से जो घर के भीतर छुपे–छुपे दाय भाग, धरोहर निधि और विवाद सम्बन्धी लेखा साधरण कागज पर भी लिखाए गए हों तो भी ऐसे लेखों को अमान्य नहीं समझना चाहिए।[2]

---

1. *तिरोहितान्तरगारननारणयोपध्युपहर कृतांश्च व्यवहारान्प्रतिषेधयेयुः ।। अर्थ0, अधि0 3, अ0 1, वार्ता 2 ।*
2. *दायनिक्षेपोपनिधिविवाहयुक्ताःस्त्रीणामनिष्कासिनीनां व्याधितानां चामूढ़संज्ञानामन्तरगारकृताः सिद्धेयेयुः ।। अर्थ0, अधि0 3, अ0 1, वार्ता 7 ।*

उपर्युक्त व्यवस्थाओं के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य के समय में विवाद–ग्रस्त विषयों के निर्णय में लिखित प्रमाणों पर जनता की विशेष आस्था थी। इसीलिए लोग इस प्रकार के प्रमाण की प्राप्ति हेतु उचित और अनुचित का विचार न कर के लिखित प्रमाण न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत करने लगे थे।

(ख) साक्षी प्रमाण

विवाद–ग्रस्त विषय के निर्णय में कौटिल्य ने दूसरी कोटि का प्रमाण साक्षी प्रमाण माना है। साक्षी नियत करने में कुछ सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाता था। इन सिद्धान्तों में सर्वप्रथम सिद्धान्त शिष्ट आचरण का सिद्धान्त था। इस स्द्धिान्त के अनुसार पवित्र आचरण वाले पुरुष ही साक्षी बनाने चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कौटिल्य ने साक्षियों के लिए "शुचयों "शब्द का प्रयोग किया हैं[1] जिसका तात्पर्य पवित्र आचरण रखने वाले व्यक्तियों से है।

इस विषय में दूसरा सिद्धान्त घटना–स्थल के सामीप्य का था। इसका तात्पर्य यह था कि विवाद सम्बन्धी घटना–स्थल के समीप का ही व्यक्ति साक्षी बनाया जाना चाहिए।[2] जो व्यक्ति घटनास्थल से दूर का वासी है उसको साक्षी बनाया जाना वर्जित था। घटनास्थल से दूर का वासी घटना के वास्तविक स्वरूप को जानने में असमर्थ रहेगा। इसलिए ऐसे व्यक्ति को साक्षी बनाना उचित नही समझा गया। इसके अतिरिक्त घटना–स्थल से दूर का निवासी वहाँ के स्थानीय धर्मों से बिशेष परिचित न होगा। ऐसी दशा में वह साक्ष्य कार्य को विधिवत न कर सकेगा। इसलिए घटना–स्थल के समीपी को ही साक्षी बनाया जाना न्याय संगत होगा।

साक्षी की नियुक्ति के विषय में एक विशेष नियम यह भी था कि जो व्यक्ति साक्षी बनाया जाए वह पूर्व से ही निर्दिष्ट किया होना चाहिए।[3] ऐसा नहीं कि पूर्व से बिना निर्दिष्ट किए गए ही किसी व्यक्ति को साक्ष्य कार्य के लिए खड़ा कर दिया गया हो। कौटिल्य के अनुसार साक्षी को साक्ष्य देने के लिये पहले से निर्दिष्ट किया जाता था, और वह वादी अथवा प्रतिवादी द्वारा लिखित देने पर, न्यायालय द्वारा साक्ष्य देने के निमित्त बुलाया जाता था।

---

1. *प्रात्ययिकाः शूचयोः ।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 11, वार्ता 32 ।*
2. *देशकालाविदुरस्थान्साक्षिणःप्रतिपादयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 11, वार्ता 66 ।*
3. *प्रात्यायिकाः शुच्योअनुमता ।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 11, वार्ता 32 ।*

उल्लेखनीय है कि साक्षी की नियुक्ति सम्बन्धी इस नियम का समर्थन मनु और शुक्र ने भी किया है।[1]

साक्षियों की अयोग्यताएँ

कौटिल्य ने साक्ष्य कार्य के लिए कुछ व्यक्तियों को अयोग्य बतलाया है। उन्होंने उन पुरुषों को साक्ष्य कार्य के लिए अयोग्य बतलाया है जिनका किसी प्रकार का अर्थ–सम्बन्ध उस व्यक्ति से हो जिसके लिए वह साक्ष्य कार्य ग्रहण करेगा। इस सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य ने कुछ उदाहरण भी दिए हैं। वह धनिक और धारणिक दोंनो को एक दूसरे का साक्षी बनाए जाने का निषेध करते हैं[2] जो व्यक्ति किसी व्यक्ति से विशेष सम्बन्ध रखता है, जैसे किसी व्यक्ति का साला उसके लिए साक्ष्य कार्य के लिए अयोग्य बतलाया गया है। जिस व्यक्ति का बिशेष हित किसी व्यक्ति में हो, उसकों भी साक्ष्य कार्य से वहिष्कृत करने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है। इस दृष्टि से किसी व्यक्ति का साझीदार अथवा दास नहीं होना चाहिए।[3] किसी व्यक्ति का शत्रु भी साक्षी नहीं बनाया जा सकता था।[4] अंगहीन व्यक्ति अथवा राज्य की ओर से जिन व्यक्तियों को दण्डित किया जा चुका है उन व्यक्तियों को भी साक्ष्य कार्य से दूर रखने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है।[5] कौटिल्य ने यह विचार व्यक्त किया है कि उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर जिन व्यक्तियों को साक्ष्य कार्य के लिए अयोग्य बतलाया गया है उनको किसी कारण से भी साक्षी नहीं बनाना चाहिए।[6]

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यक्तियों का भी उल्लेख किया गया है जिनको केवल उनके वर्ग में ही साक्षी बनाया जाना चाहिए, अन्यत्र कदापि नहीं। इस कोटि के व्यक्तियों की सूची कौटिल्य ने इस प्रकार दी है–राजा, क्षोत्रिय, ग्रामभृतक (नाई, धोबी, कुम्हार, तेली आदि) कुण्ठी, घायल, पतित, चाण्डाल, निन्दनीय कार्य करने वाला, अन्धा, बहरा,गूंगा, अहंकारी, स्त्री और

---

1. *अध्युर्क्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न थे केचिनापदि।।* — *मानवाधर्मशास्त्र, अ0 8, श्लोक 62 ।*
   वः आक्षन्नै व निर्दिष्टेनहूतो नैवदेशितः।
   ब्रू यान्मिध्योतितध्यं वा दणडयः सोपिनराधमः ।। — *शुक्रनीति, अ0 4, श्लोक 711 ।*
2. *प्रतिसिद्धाः धनिकाधारणिक।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 35 ।*
3. *प्रतिसिद्धाः ,स्यालसहायाबद्ध ।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 35 ।*
4. *प्रतिषिद्धा–वैरिनि ।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 34 ।*
5. *प्रतिषिद्धाः न्यड़ंधृतदण्डाः ।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 35 ।*
6. *पूर्वे चाण्प्रष्हार्षाः।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 36 ।*

राजकर्मचारी।[1] कुछ विशेष परिस्थितियों में इन नियमों का अपवाद भी वैध माना गया है। कठोर व्यवहार, चोरी और व्यभिचार के विवादों में बैरी, साला, और साझीदार के अतिरिक्त अन्य साक्षी माने जा सकते थे।[2] स्वामी अपने सेवकों के, आचार्य अपने शिष्यों के और माता–पिता अपने पुत्रों के साक्षी बनाए जा सकते थे।[3]

फौजदारी के विवादों में इनके अतिरिक्त अन्य लोग भी साक्षी बनाए जा सकते थे।[4] साधारण नियम के अनुसार स्त्री को साक्षी बनाना वर्जित था। परन्तु एकान्त के गुप्त व्यवहारों में स्त्री को भी साक्षी बनाने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है।[5] परन्तु राजा और तपस्वी किसी दशा में भी साक्षी नहीं बनाए जाने चाहिए।[6]

साक्ष्य कलन

विवादग्रस्त विषयों के निर्णयार्थ यदि न्यायालय साक्षियों की आवश्यकता समझता है तो कितने साक्षियों की साक्ष्य पर्याप्त होगी इस विषय में भी कौटिल्य ने कतिपय व्यवस्थाऐं दी हैं। उनका मत है कि विवादग्रस्त विषय के निर्णय हेतु विश्वस्त चरित्र और पूर्व से निर्दिष्ट कम से कम तीन साक्षी होने चाहिए।[7] यदि दोनों पक्ष (वादी–प्रतिवादी) अपनी स्वीकृति दे दें तो दो साक्षी भी पर्याप्त माने गए है।[8] ऋण सम्बन्धी अभियोग में एक साक्षी पर्याप्त नहीं माना गया है।[9] एकान्त के गुप्त व्यवहारों में अकेली स्त्री अथवा उन घटनाओं को देखने या सुनने वाले अकेले पुरुष की भी साक्षी की भी साक्ष्य पर्याप्त समझी गयी है।[10]

इस प्रकार कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर अन्यत्र कम से कम तीन साक्षी होना कौटिल्य के मतानुसार वैध माना गया है।

---

1. *राजश्रोधिपग्राम भृतककुष्ठिब्रणिनः पतितबणडाल कुस्सिकर्माणोअन्धवधिर मूकाहंधादिनःस्त्रीराजपुरुषश्चान्यत्र स्ववर्गेभ्यः।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 37 ।*
2. *पारुच्यस्तेयसंहणेयुतु वैरिस्यालसाहयबर्जा ।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 38 ।*
3. *स्वामिनों मृत्यानाभत्विगाचार्यः शिष्याणां मातापितरौं पुत्राणां चानिग्रहेण साक्ष्यः कुर्युः।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 40।*
4. *तेषामितरे वा।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 41 ।*
5. *रहस्य व्यवहारेष्वेका स्त्री पुरुष उपश्रोता उपद्रष्टा वा साक्षी स्यात्।। अर्थशास्त्र, अधि0 3, अ0 11, वार्ता 39।*
6. *राजतापसवर्जम्।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 39 ।*
7. *प्रात्यायिकाः शुचयोअनुमता वा त्रवरा अर्थ्याः।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 32 ।*
8. *पक्षानुमतौ वा द्वौ।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 33 ।*
9. *ऋणं प्रति न त्वेवैकः।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 34 ।*
10. *रहस्य ब्रवहारेष्वेका स्त्री पुरुष उपश्रोता उपद्रष्टा वा साक्षी स्यात्।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 39 ।*

साक्षियों के लिए निर्धारित शपथ

साक्षी को न्यायालय में साक्ष्य देने के पूर्व भली–भाँति इस विषय के समझाने का प्रयत्न किया जाता था, कि जो साक्ष्य उनके द्वारा दी जा रही है वह सत्य एवं छल रहित है। यह वाक्य वर्ण के अनुसार निर्धारित होने चाहिए। साक्षी से ब्राह्मण, जल भरा कुम्भ और अग्नि के समक्ष से साक्ष्य लेना चाहिए।[1] साक्ष्य देने के पूर्व ब्राह्मण साक्षी से सत्य–सत्य साक्ष्य देने के लिए कहना चाहिए।[2] क्षत्रिय वर्ण के साक्षी से कहना चाहिए–यदि तुम मिथ्या साक्ष्य दोगे तो तुमकों शत्रु के सम्मुख हाथ में कपाल लेकर भिक्षा मांगनी पड़ेगी। इसी प्रकार वैश्य वर्ण के साक्षी से कहना चाहिए कि मिथ्या साक्ष्य देने से वह यज्ञ और धर्मशाला आदि के निर्माण कराने के पुण्य का भागी न होगा।[3] शूद्र वर्ण के साक्षी से कहना चाहिए कि उसके जन्मजन्मान्तर का पुण्य राजा को चला जाए, यदि वह मिथ्या साक्ष्य देगा।[4] इस प्रकार साक्षियों से कहना चाहिए कि मिथ्या साक्ष्य देने से राजा का समस्त पाप तुमको लगेगा[5] और मिथ्या भाषण के कारण दण्ड भी मिलेगा।[6] साक्षी के द्वारा साक्ष्य दे जाने के उपरान्त साक्ष्य की छान–बीन भी की जाएगी।[7]

इस प्रकार साक्षियों को साक्ष्य देने के पूर्व यथा–योग्य भली–भाँति समझाने का प्रयत्न किया जाता था, कि वह मिथ्या साक्ष्य न दें।

मिथ्या साक्ष्य के लिए दण्ड

कौटिल्य मिथ्या साक्ष्य देने वाले साक्षी को समुचित दण्ड देने के पक्ष में है। इस विषय में उन्होंने शुक्र, मनु और वृहस्पति के मतानुयायियों के भी मत उदधृत किये हैं।

साक्षी अपनी मूर्खता से देश, काल एवं कार्य का यदि ठीक–ठीक उपयोग न कर सके तो शुक्र के मतानुयायियों कें अनुसार प्रथम, मध्यम अथवा उत्तम यथायोग्य दण्ड मिलना चाहिए।[8]

जो व्यक्ति मिथ्या साक्ष्य देकर झूठा विवाद खड़ा कराकर धन का नाश कराता है उसको

---

1. *ब्राह्मणोदकुम्भाग्निसकाशे साक्षिणाः परिगृह्णीयात् ।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 44 ।*
2. *तत्र ब्राह्मणं ब्रू यात्सत्यं ब्रू हीति।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 45 ।*
3. *राजन्यं वैश्यं वा मा तवेष्टापूर्तफलं कपाल हस्तः शत्रुबलं भिक्षार्थी गच्छेरिति।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 46 ।*
4. *शूद्रं जन्ममरणान्तरे यद्वः पुण्यफलं तद्राजानं गच्छेत्।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 47 ।*
5. *राज्ञश्चः किल्विषं युष्मान्।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 48 ।*
6. *अन्यथावादे दण्डश्चानुबन्धः।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 49 ।*
7. *पश्चादपि ज्ञाथेत् यथा दृष्टश्रुतम्।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 50 ।*
8. *साक्षिवालिश्येष्वेव पृथगनुपयोगे देशकालकार्यणां पूर्वमध्यमोत्तमा दण्डा इत्यौशनसाः।।* — *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 59 ।*

इस धन का दस गुना अर्थदण्ड होना चाहिए, ऐसा मनु के मतानुयायियों का कहना है।[1]

वृहस्पति छल से युक्त मिथ्या साक्ष्य देने के दोष के लिये साक्षी का बुरी तरह वध करना उचित समझते हैं।[2]

कौटिल्य कहते हैं कि साक्षी को सत्य ही साक्ष्य देना चाहिए।[3] यदि साक्षी सत्य की स्थापना नहीं करता है, तो ऐसे साक्षी को चौबीस पण दण्ड होना चाहिए।[4] यदि साक्षी मौन रहता है, और न्यायालय में मूकवत खड़ा रहता है तो उस साक्षी पर आधा (बारह पण) दण्ड होना चाहिए।[5]

(ग) भोग प्रमाण

लिखित प्रमाण और साक्षी प्रमाण के अतिरिक्त तीसरा प्रमाण भोग का प्रमाण भी मान्य माना गया है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अन्य विचाराकों जैसे मनु और शुक्र आदि ने भी भोग के प्रमाण को मान्यता दी है।

कौटिल्य भी भोग के प्रमाण में मनु और शुक्र की भाँति ही आस्था रखते थे। कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति दस वर्ष तक दूसरे व्यक्ति द्वारा भोगते हुए उपेक्षा की दृष्टि से देखता रहता है तो उस सम्पत्ति से पूर्व स्वामी का अधिकार हट जाता है।[6] परन्तु यदि उस सम्पत्ति का स्वामी बालक, वृद्ध, रोगी व्यसनी, विदेशी देश त्यागी हो अथवा विप्लव के समय दूसरे के भोग में आ गयी हो, उस पर दस वर्ष तक भोगने का अधिकार का नियम मान्य नहीं समझा जाएगा।[7] किसी मकान अथवा भूमि को बीस वर्ष तक भोगते देखकर उसका स्वामी उसकी उपेक्षा करता रहता है, ऐसी दशा में उस मकान अथवा भूमि के स्वामी का अधिकार नष्ट हुआ समझना चाहिए।[8] परन्तु यदि राजा अनुपस्थित हो तो इस दशा में बन्धु– बान्धव, वेदपाठी अथवा पाषण्डी के द्वारा इस अवधि तक भोगे जाने पर भी मकान अथवा भूमि से उसके स्वामी

---

1. *कूटसाक्षियों यमर्थमभूतं वा नाशयेयुस्तदशगुणां दण्डदधुरिति मानवाः।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 60 ।*
2. *बालि श्याद्वा विसंवादयतां चित्रोघात इतिबार्हस्पत्याः।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 61 ।*
3. *ध्रुवं हि साक्षिभिः श्रोतब्यम् ।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 63 ।*
4. *अष्टणवतां चतुर्विंशतिपणो दण्डः।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 64 ।*
5. *ततोअर्धमधु आणाम।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 65 ।*
6. *यत्स्वं द्रव्यमन्यैर्भुज्यमानं दश वर्षाणयुपेक्षेत हीर्यसाक्ष्य।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 33 ।*
7. *अन्यत्र बालवृद्धब्याधितब्यसनिप्रेषित देशत्याग राज्य विभ्रमेभ्यः ।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 34 ।*
8. *विंशतिवर्षोपेक्षि तमनवसित्रं वास्तु नानुयुजोत।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 35 ।*

का अधिकार नष्ट नहीं होता। [1] उपनिधि (बन्द धरोहर) अधि (गिरवी) निधि (कोष), पर किसी का अधिकार भोग मात्र से नहीं होता।[2]

उपर्युक्त व्यवस्थाओं से ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने भोग के अधिकार को कतिपय प्रतिबन्धों के साथ मान्यता दी है।

विवाद के पाद

कौटिल्य विवाद के चार पाद मानते हैं जिनको उन्होंने धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन के नाम से सम्बोधित किया है। इन चारों पादों की व्याख्या करते हुए कौटिल्य ने बतलाया है कि धर्म सत्य में व्यवहार साक्षियों में, चरित्र लोगों के संग्रहीत आचरण में वास करता है और राजा की आज्ञा को शासन कहते हैं। इन चारों के आपेक्षिक महत्त्व का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने राज शासन को सबसे अधिक महत्त्वशाली माना है। अर्थात धर्म से व्यवहार, व्यवहार से चरित्र और चरित्र से राजशासन अधिक, महत्त्व पूर्ण होता है। [3] कौटिल्य का मत है कि जो राजा धर्म, व्यवहार चरित्र और राजशासन के अनुसार जो कि चौथा है, न्याय की स्थापना करता है वह चारों ओर समुद्र से परिवेष्टित समस्त पृथ्वी पर शासन करने में समर्थ होता है।[4] जहाँ कहीं चरित्र और धर्म शास्त्र अथवा व्यवहार और धर्म शास्त्र में मत भेद हो तो धर्मशास्त्र के अनुसार निर्णय दिया जाना चाहिए।[5] धर्म शास्त्र और न्याय (धर्म और न्याय) में मत भेद होने पर न्याय के अनुसार निर्णय होना चाहिए।[6] वादी और प्रतिवादी दोनों का अपना– अपना कथन (स्वयंवाद) बहुधा दोषयुक्त पाया गया है। प्रश्न, जिरह (अनुयोग) सच्चाई (आर्जव) प्रमाण हेतु

---

1. *ज्ञातयः श्रोत्रियाः पाषण्डा वा राज्ञमसंनिधौ परवास्तुषु विवसन्तो न भोगेन हरेयुः।।*
   अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 36।।
2. *उपनिधिमाधि निधिं निक्षेपं स्त्रियं सीमानं राजश्रोत्रिपद्रब्याणि च ।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 37।।*
3. *धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम। विवादार्थश्चतुब्यादः पश्चिमः पूर्ववाधकः ।।*
   अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, श्लोक 51।।
   तत्र सत्ये स्थितो धर्मो ब्यवहारस्तु सक्षिषु। चरित्र संग्रहे पुंसां राजामाज्ञा तु शासनम्।।
   अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, श्लोक 52।।
4. *अनुशासद्धि धर्मेणा व्यवहारेण संस्थया। न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत।।*
   अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, श्लोक 55।।
5. *संस्थया धर्मणास्त्रेण शास्त्रं वा ब्यावहारिकम् । यस्मिन्नर्थे विंस्थ्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत्।।*
   अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, श्लोक 56।।
6. *शास्त्रं विप्रतिपधेत धर्मन्यायने केनचित्। न्यायस्तत्रप्रमाणं ।। अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 1, श्लोक 57।।*

और शपथ विवाद के निर्णय में विशेष सहायक सिद्ध होते है।[1]

निर्णय हेतु गुप्तचरों का प्रयोग

विवाद–ग्रस्त विषयों के लिये विवाद के वास्तविक कारण को जानने एव विवाद से सम्बन्धित दोषी एवं निर्दोषी को जानने के लिए राज्य की ओर से चर भी नियुक्त किये जाते थे और आवश्कतानुसार इनके द्वारा दी गयी सूचना पर भी विचार कर न्यायाधीश को निर्णय देना चाहिए। कौटिल्य ने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि प्रमाण और गुप्तचरों द्वारा दी गई सूचना को कारण मानकर न्यायाधीश को विवादग्रस्त विषय में निर्णय देना चाहिए।[2]

प्रतिभू प्रणाली

प्राचीन भारत में प्रतिभू मांगने की प्रणाली प्रचलित थी। ऋण लेते समय महाजन ऋण लेने वाले व्यक्ति से बहुधा प्रतिभू मांगते थे और तब वह उस प्रतिभू के दायित्व पर ऋण देते थे। यदि ऋणी ऋण का धन महाजन को भुगतान करने में असमर्थता प्रकट करता तो ऐसी स्थिति में उसके प्रतिभू से उस ऋण का भुगतान करना वैध समझा जाता था। कौटिल्य के अनुसार बालक को प्रतिभू बनाना व्यर्थ है।[3] यदि ऋणी मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो उसका भुगतान उसके पुत्रों को करना होगा। यदि पुत्र न हो तो उसकी सम्पत्ति के लेने वाले, कुटुम्बी, साझीदार अथवा प्रतिभू को उस ऋण का भुगतान करना होगा।[4] इन व्यवस्थओं के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि कौटिल्य भी प्रतिभू रखने की प्रणाली के समर्थक थे।

न्याय–क्षेत्र में स्थानीय धर्मों का महत्त्व

कौटिल्य इस पक्ष में नहीं है कि सम्पूर्ण राज्य में प्रत्येक मनुष्य के लिये एक ही विधि को उपयोग किया जाना चाहिए। उनके विचार से स्थान, जाति, वर्ग, ग्राम आदि के भेद के अनुसार लोगों के आचार–विचार एवं रहन–सहन आदि मे पर्याप्त अन्तर हो जाता है। इसलिये इस अन्तर को ध्यान में रखकर न्याय क्षेत्र में कार्य करना चाहिए। कौटिल्य ने इसलिये

---

1. *दृष्टदोषः स्वयंवादः स्पपक्षः स्वपक्षं परपक्षयोः। अनुयोमार्जवं हेतुः शपथश्वार्थ साधकः ।।*
   अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 1, श्लोक 58।।
2. *पूर्वोत्तरार्ध साक्षिवक्तब्रकारणों। चारहस्ताश्च निष्पाते प्रदेष्टब्यः पराजयः।।*
   अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 1, श्लोक 59।।
3. *असारं बालप्रातिभाव्यं।।* *अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 21।।*
4. *प्रेतस्य पुत्राः कुसीदं दधुः। दायादा वा रिक्थहराः सहग्राहिणाः प्रतिभुवो च।।*
   अर्थशास्त्र अधि0 3, अ0 11, वार्ता 20,19।।

दायभाग के प्रसंग में स्पष्ट व्यवस्था दी है कि देश धर्म, आतिधर्म, संधधर्म और ग्राम की रीति के अनुसार ही दायभाग की व्यवस्था करनी चाहिए।[1]

वर्णाश्रम धर्म का समर्थक होने के कारण कौटिल्य समता–सिद्धान्त का प्रतिपालन नही कर सकता था। किन्तु उसकी न्याय व्यवस्था में पूर्ण विकसित समाज का चिन्तन है। उसक प्रयास था कि समाज का कोई अवयव न्याय–विधि के अभाव के कारण पीड़ित न हो, सामाजिक भ्रष्ट तथा अनाचार के लिये यथा सम्भव कम अवसर रहे।

इस प्रकार विवाद–ग्रस्त विषयों में निर्णय देने के समय स्थानीय धर्मों का बिशेष महत्त्व माना गया है।

प्राप्त व्यवहार

प्रत्येक युग में इस ओर ध्यान रखा गया है कि कितनी आयु प्राप्त कर लेनें के उपरान्त मनुष्य सामान्य रूप में व्यवहार योग्य समझा जाना चाहिए। इसका कारण यह माना गया है, कि उस आयु के उपरान्त जो कार्य उसके द्वारा किया जाएगा उसके परिणाम का वैध भोक्ता माना जाएगा।

आधुनिक युग में आयु का प्रतिबन्ध कम से कम इक्कीस वर्ष की आयु होना अनिवार्य माना गया है। इससे कम आयु वाले व्यक्ति द्वारा किया गया लेन–देन आदि कार्य अवैध माना गया है। परन्तु कौटिल्य ने आयु की इस सीमा को बहुत घटा दिया है।

सम्भवतः कौटिल्य के मतानुसार पुरुष की अपेक्षा नारी जाति में समझ पहले आती है इसीलिए उन्होंने नारी जाति के लिए मनुष्य की अपेक्षा कम आयु में ही प्राप्त व्यवहार की श्रेणी में स्थान देना उचित समझा है। उसके मतानुसार बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष का पुरुष प्राप्त व्यवहार माना गया है।[2] बारह वर्ष की आयु से अधिक स्त्री और सोलह से अधिक वाला पुरुष अपराध करने पर दण्ड के भागी समझे जाएगें।[3]

इस प्रकार कौटिल्य ने बारह वर्ष अथवा उससे अधिक आयु की स्त्री और सोलह वर्ष अथवा उससे अधिक आयुवाले पुरुष को प्राप्त व्यवहार माना है।

---

1. *देशस्य जात्यां संधस्य धर्मो ग्रामस्य वाधि यः। उचितस्तस्प्र तेभैव दायधर्म प्रकल्पयेत्।।*
   अर्थ0 अधि0 3, अ0 7, वार्ता 45 ।
2. *द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहारा भवित । षोडशवर्षः पुमानं।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 3, वार्ता 1, 2 ।*
3. *अतं ऊर्ध्वमशुअषायां द्वादशपणाः स्त्रियां दण्डः पुसो द्विगुणा।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 3, वार्ता 3 ।।*

कण्टक शोधन

कण्टक शोधन का क्षेत्र

कण्टकशोधन का कार्यक्षेत्र बड़ा विस्तृत था। इस विस्तृत क्षेत्र को तीन उपक्षेत्रों में सुविधापूर्वक विभक्त किया जा सकता है। इन तीनों उपक्षेत्रों में प्रथम वह उपक्षेत्र है जिसमें राज्य के कतिपय दैनिक व्यवहार में आनें वाले उपयोगी व्यवसायियों जैसे धोबी, जुलाहें, रंगरेज, सुनार, वैद्य, नट, नर्तक आदि के द्वारा होने वाले प्रजाशोषण व प्रच्छन्न धन हरण से प्रजा की रक्षा के उपायों का आश्रय लिया जाता है।

इस विषय में दूसरा वह क्षेत्र बतलाया गया है। जिसमें राज्य के कतिपय दुष्ट जनों द्वारा जो प्रजा–पीड़न कार्य किये जाने के प्रयत्न किए जाते हैं, उनको सर्वथा विफल कर प्रजा की रक्षा की व्यवस्था करना।

तीसरा वह क्षेत्र है जिसमें प्रजा–पीड़क राजकर्मचारियों से प्रजा की रक्षा की जाती है।

व्यवसायियों द्वारा शोषण से प्रजा–रक्षण

राज्य के व्यवसायियों द्वारा प्रजा का शोषण एवं पीड़न न हो सके। इस हेतु कौटिल्य व्यवसायियों को राज्य के नियंत्रण में रखना उचित समझते है। व्यवसायियों को राज्य के नियंत्रण में रखने के लिये सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने कतिपय ऐसे नियमों का उल्लेख किया है, जिनके अनुसार इन व्यवसायियों को कुछ नियमों का पालन अनिवार्य बतलाया गया है। जो व्यवसायी इन नियमों का उल्लंधन करता हुआ पाया जाए, उसको समुचित दण्ड मिलना चाहिए। कौटिल्य भंली–भाँति समझते थे कि इन व्यवसायियों के व्यवसाय सम्बन्धी कौन से वह स्थल हैं, जिनमें वह प्रजा को प्रच्छ रूप से धोखा देकर उनका शोषण कर सकते थे। कौटिल्य ने ऐसे नियमों की व्यवस्था की जिससे इन स्थलों पर प्रजा सचेत हो जाए और इन व्यवसायियों के दांव–पेचों से प्रजा की रक्षा हो सके। उदाहरण के लिए उन्होंने इस प्रकार के नियम निर्धारित किये कि रूई से स्थूल और सूक्ष्म सूत के अलग–अलग निर्माण में कितनी छीज जाती है। विभिन्न प्रकार के सूत से विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के निर्माण किये जाने में छीज की दर क्या होगी।[1] कताई, बुनाई, घुनाई आदि की मजदूरी शिल्पी के कार्य करने की गति एव कार्य की मात्रा

---

1. *तन्तुवाया दशैकादशिकं सूत्रं वर्धयपुः।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 9 ।*
   ऊर्ण तूलायाः पक्षपलिको विहननच्छेदो रोमच्छेदश्च।। — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 17 ।*

तथा उस की उत्तमता के अनुसार कितनी होनी चाहिए।[1] इस प्रकार इन्हें अधिक मजदूरी नहीं दी जा सकती थी। दूसरी ओर जो व्यक्ति इनकी मजदूरी में कमी करता अथवा न देता तो वह दण्ड का भागी माना गया है। इसी प्रकार धोबी की धुलाई, जनता के वस्त्रों को जान–बूझ कर क्षति पहुँचाने एवं उन्हें किराए पर देने अथवा उनका उपभोग करने, उनके बदलन अथवा बिलम्ब से कपड़ों को धोकर देने आदि सम्बन्धी नियम निर्धारित थे।[2] इसी प्रकार रंगरेज, वैध, नट, नर्तक, सुनार आदि व्यवसायियों के आचरण को नियंत्रित करने के लिए नियम निर्धारित कर दिए गए हैं। यह नियम सर्वमान्य थे और इनको भंग करने पर मनुष्य दण्ड का पात्र माना गया है।

बाजारों में भाव नियमानुसार नियत किये जाते थे।[3] नाप–तौल के साधनों में घटती बढ़ती करने की रोक–थाम की व्यवस्था का आयोजन किया गया है।[4] अच्छी वस्तु में कम मूल्य की वस्तु अथवा वैसी ही कम मूल्य की वस्तु का मिश्रण कर उसका बेचना दण्डनीय था।[5]

इस प्रकार राज्य की ओर से व्यवसायियों द्वारा किये जाने वाले शोषण एवं पीड़न से प्रजा की रक्षा के निमित्त उपायों का विधान किया गया है।

विशेष न्यायालय की व्यवस्था

कौटिल्य के अनुसार राज्य के जो लोग उपर्युक्त प्रकार से प्रजा शोषण एवं प्रजा पीड़न कार्य करते हुए पाये जाएँ तो उन को समुचित दण्ड दिया जाना चाहिए। इस कार्य के सम्पादन हेतु कौटिल्य ने एक विशेष प्रकार के न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था की है। इस विशेष न्यायालय में कौटिल्य के मतानुसार तीन विशेष राजकर्मचारियों को न्याय कार्य सम्पादन करना चाहिए। यह तीन विशेष राज कर्मचारी तीन प्रदेष्टा अथवा राज्य के तीन अमात्य होने चाहिए।[6]

---

1. *सूत्रमूल्यं वानवेतनं क्षौमकौशेयानामध्य धगुणाम्।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 11 ।*
2. *रजकाः काष्ठफलकश्चलणाशिलासु वस्त्राणि नेनिज्युः।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 18 ।*
   अन्प्रत्रः नेनिजन्तो वस्त्रोपघातं षट्पणां च दण्डं दधुः।। — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 19 ।*
   परवस्त्र विक्रयावक्रयाधानेषु च द्वादशपणो दण्डः।। — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 22 ।*
   परिवर्तने मूलप्रद्विगुणों वस्त्रदांग च।। — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 22 ।*
   पंचरात्रिकं तनुरागम् ततः परं वेतन हानिं प्रामुयुः।। — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1,वार्ता 27से 24 ।*
3. *प्रक्षेपं पच्यनिष्पतिं शुरूकं वृद्धिमवक्रयम्।*
   ब्यान न्यांश च संख्याय स्थापयंदं र्धमधवित्।। — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 2 श्लोक 39 ।*
4. *तुलामान भाण्डानि चावेक्षेत पौतवापचारात्।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 2, वार्ता 2 ।*
5. *सारभाण्डारमित्पसारभाण्डं तज्जातमित्य तजातं चतुष्पध्वाशतूपणों दण्डः।।*
   अर्थ0, अधि0 4, अ0 2, वार्ता 16 ।
6. *प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयो वामात्याः कण्टकशोधनं कुर्युः।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 1 ।*

कौटिल्य ने इस क्षेत्र के लिए विधियों का संग्रह कर आदेश दिया है। कि इन विधियों के अनुसार ही इन प्रजा शोषणों एवं प्रजा पीड़कों को दण्डित दिया जाना चाहिए।

दुष्टजनों से प्रजा–रक्षण

प्रत्येक राज्य में कुछ–न–कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य होते हैं जो अनायास ही प्रजा को त्रासित एवं पीड़ित करते रहते हैं और वह इस प्रकार स्वभाव से ही दुष्ट बन जाते हैं। इस दुष्ट जनों के कारण राज्य में शान्ति और सुरक्षा भंग होती रहती है, और लोग निर्भय होकर सुख से अपना जीवन व्यतीत नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार के लोगों में चोर, डाकू, व्यभिचारी, वंचक, घातक आदि कोटि के पुरुष विशेष रूप से परिगणित किये जाते हैं। यह अपने दांव– पेंच में फाँस कर प्रजा को निरन्तर क्लेश देते रहते हैं। कौटिल्य के अनुसार इस कोटि के दुष्ट–जनों से प्रजा की रक्षा के निमित्त कतिपय उपायों का आश्रय लिया जाना चाहिए।

इन उपायों में उन्होंने एक प्रमुख उपाय यह बतलाया है कि राज्य में कुछ ऐसे विधियों का निर्माण कर उनको स्थायी रूप देने के लिए उनकी संहिता बना देनी चाहिए, यह विधि इतनी प्रचुर मात्रा में होनी चाहिए जिससे इस प्रकार के दुष्टों की समस्त क्रियाओं एवं कुचक्रों के लिए उन्हें समुचित दण्ड विधान किया जा सके और इस प्रकार जो व्यक्ति जितनी मात्रा में दुष्टता का व्यवहार करता है, उसको उतनी ही मात्रा में दण्ड भी भोगना अनिवार्य हो सके। इस प्रकार कौटिल्य ने इस क्षेत्र के जीवन को नियम बद्ध करने का प्रयास किया है।

इस विषय में दूसरा उपाय यह उचित समझा गया था कि राज्य की ओर से गुप्तचरों को नियुक्त किया जाना चाहिए। यह गुप्तचर वेष बदले हुए राज्य में स्थान–स्थान पर बिखरे हुए होने चाहिए, जो व्यक्ति संदिग्ध आचरण वाले समझे जाते हों, उनमें घुल–मिल कर इस प्रकार रहते रहें कि किसी व्यक्ति को उन पर गुप्तचर होने का संदेह न हो सके। यह गुप्तचर इन लोगों के दैनिक आचरण की सूचना राजा तक पहुँचाते रहें। इन गुप्तचरों में कुछ सिद्ध, तापस आदि का आडम्बर बनाकर इन दुष्ट जनों में अपने विशेष चमत्कारों का प्रदर्शन कर उनको अपनी सिद्धियों पर विश्वास कराते रहें और जिससे वह लोग इन पर विश्वास करने लगें।[1] इस विश्वास के बल पर यह गुप्तचर इन दुष्ट– जनों की दुष्टता को प्रकट कर राज कर्मचारियों से

---

1. *सत्रीप्रयोगादूर्ध्वं सिद्धव्यताना माणवा माणावविधाभिः प्रलोभयेयुः प्रस्वापनान्तर्धानद्वारापोहमंत्रणा प्रतिरोधकान्संवननमंत्रणा पारतारूिपकान्।। अर्थ0, अधि0 4, अ0 5, वार्ता 1।*
   इदैव विधा प्रभावों दृश्याताम् ।। अर्थ0, अधि0 4, अ0 5, वार्ता 3।

मिलकर उन्हें पकड़वा दें।[1] कौटिल्य का मत है कि इन दुष्टों को दण्ड दिलाने में गुप्तचर निरन्तर प्रयत्नशील रहें।

कौटिल्य ने तीसरा उपाय यह बतलाया है कि दुष्टों के कुछ विशेष लक्षण होते हैं, और इन लक्षणों के आधार पर दुष्टों की पहचान कर उनको समुचित दण्ड दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। उन्होंने कुछ ऐसे विशेष लक्षणों का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर यह जाना जा सकता है। कि अमुक षुरुष का वध गला घोंटकर किया गया है, अमुक का फाँसी पर लटका कर, अमुक का सूली पर चढ़ा, अमुक का जल मे डुबा कर, अमुक का विष द्वारा और अमुक का धतूरे के प्रयोग से इत्यादि।[2] चोरी घर वालों के द्वारा हुई है,[3] पड़ोसी के द्वारा की गयी है, अथवा नौकर–चौकरों द्वारा की गयी है, इत्यादि का पता इन लक्षणों के द्वारा सुगमता से लगाया जा सकता है।[4] उन्होंने कुछ ऐसे लक्षणों का भी उल्लेख किया है जिनके आधार पर गुप्त अपराध करने वाले पुरुषों की खोज की जा सकती है।[5] इन शंकायुक्त पुरुषों की एक लम्बी सूची देकर कौटिल्य ने यह बतलाया है कि अमुक प्रकार के संदिग्ध आचरण वाले पुरुषों की छान–बीन कर गुप्तरीति से अपराध करने वाले अपराधी की खोज करनी चाहिए।[6] इन लक्षणों के आधार पर दुष्टों की खोजकर उनको दण्डित करके इस प्रकार के भय एवं क्लेश से प्रजा की रक्षा होनी चाहिए।

राज्यकर्मचारियों द्वारा उत्पीड़न से प्रजा–रक्षण

राज्य में प्रजा–पालन एवं प्रजारंजन–कार्य की योजना विधिवत कार्यन्वित करने के लिए अनेक कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है। इन कर्मचारियों का यह परम कर्त्तव्य होता है कि वह प्रजा का आत्याधिक कल्याण सम्पादन सम्बन्धी कार्य करें और अपने कर्त्तव्य का विधिवत पालन करें। परन्तु स्वार्थ वश इनमें से कुछ कर्मचारी अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो जाते हैं और प्रजा

---

1. *पुराणवोरब्यज्जना वा चोराननुप्रविष्टास्तथैव कर्म कारण्येुग्र हियेयुश्व।। अर्थ0, अधि0 4, अ0 5, वार्ता 14 ।*
2. *तैलाभ्यक्तमाशुमृतक परीक्षेत्।। अर्थ0,अधि0 4, अ0 7, वार्ता 1 ।*
   निष्कीर्णमूत्रपुरीषं वातपूर्णाकोप्ठत्वक्कं शूनपादपाणिमुन्मीलिताक्षं सब्रज्जन कष्ठं पीडननिरूद्धोछ्वासहतं विधात्।। अर्थ0, अधि0 4, अ0 7, वार्ता 2 ।
   तमेव संकुचित बाहुसक्यिमुद् बन्धहतं विधात्।। अर्थ0, अधि0 4, अ0 7, वार्ता 3 ।
   अर्थ0, अधि0 4 अ0 7 वार्ता 3–11 ।
3. *मुषितवेश्मनः प्रवेशानिष्कसनमद्वारेणा। अभ्यन्तरकृतं विधात्।। अर्थ0, अधि0 4, अ0 6, वार्ता 25 ।*
4. *।विपर्यये बाह्यकृतं उभयत उभय कृतन्। अर्थ0, अधि0 4, अ0 6, वार्ता 26 ।*
5. *चौरं पारदारिकं वा विधात्।। अर्थ0, अधि0 4, अ0 6, वार्ता 28 ।*
6. *सिद्धप्रयोगादूर्ध्व, शंकारुपकर्माभिग्रहः।। अर्थ0, अधि0 4, अ0 6, वार्ता 1 ।*
   क्षीणदायकुटुम्बमल्प निर्वेशं शंकाभिग्रहः।। अर्थ0, अधि0 4, अ0 6, वार्ता 2 ।

का क्लेशित एवं पीड़ित करने लगते हैं, और राजकीय द्रव्यों को हड़पने लगते हैं। इस प्रकार कर्मचारियों से राज्य का बहुत बड़ा अहित एवं अकल्याण होने लगता है, इसलिए राजा का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे कर्मचारियों को खोज करके उनको समुचित दण्ड देकर राज्य के शासन कार्य को शुद्ध बनाए। परन्तु ऐसे कर्मचारियों का पता लगाना और साथ ही यह पता लगाना कि अमुक कर्मचारी ने किस प्रकार से और कितनी मात्रा में प्रजा–पीड़न अथवा राज्य के द्रव्य हरण सम्बन्धी कार्य किया है, बड़ा कठिन कार्य होता है। इसलिए ऐसे दुष्ट कर्मचारियों की खोज करने के लिए और उनके द्वारा किए गए अपराध के जानने के लिए कौटिल्य राज्य के कर्मचारियों के पास गुप्तचरों की नियुक्ति करना उचित समझते हैं। यह गुप्तचर राज्य के समस्त छोटे और बड़े कर्मचारियों के समीप बिखरे हुए रहें और इन कर्मचारियों में इस प्रकार घुल–मिलकर रहने लगें कि इनमें उक्त कर्मचारियों के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाए। यह गुप्तचर इन कर्मचारियों को उत्कोच लेने, कामासत्क होने , राज्य के द्रव्य को हरण करने एवं अन्य प्रजा– पीड़न सम्बन्धी संलग्न व्यक्ति को रंगे हांथ पकड़ा दें और किसी को इस बात का लेशमात्र भी ज्ञान न होने पाये, कि इन गुप्तचरों ने उनको पकड़ा दिया है। इस प्रकार इन दुष्ट राज कर्मचारियों को इनके दोष के अनुसार दण्ड दिलाकर राज्य के कर्मचारियों के आचरण की निरन्तर शुद्धि होती रहनी चाहिए जिससे राज्य का कर्मचारी अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए प्रजा–रंजन कार्य करते रहें।

कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि समाहर्ता नामक राजकर्मचारी को राष्ट्र में सिद्ध तापस, सन्यासी निरन्तर भ्रमण शील, चारण, कुहुक, प्रच्छन्दक, ज्योतिषी, शकुन–मुहुर्त बताने वाली चिकित्सक, पागल, गूगें, बहरे, मूर्ख अन्धे, व्यापारी, कारीगर, शिल्पी, नट–भांड, कलार, हलवाई, पक्का, मांस, बेचने वाले तथा रसोंयिये आदि के वेष में गुप्तचरों को नियुक्त कर देना चाहिए।[1] वह गुप्तचर ग्राम के अध्यक्षों एवं ग्राम के मनुष्यों की पवित्रता एवं अपवित्रता का पता रखें।[2] जो गुप्तचरो छलोपजीवी कृत्यों में दक्ष है उनकी छलोपजीवी कर्मचारी के समीप नियत कर देना चाहिए।[3] जब ऐसा व्यक्ति न्यायाधीश जान पड़े तो उससे सत्री नाम के दूत को मित्रता कर उसको धनराशि देकर अपराधी को क्षमा करने के लिये इस प्रकार कहना चाहिए, कि यह

---

1. *समाहर्ता जनपदे सिद्धतापस प्राणि दध्यात्।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 4, वार्ता 3 ।*
2. *ते ग्रामाणामध्यक्षाणां च शौचाशौचं विधु।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 4, वार्ता 4 ।*
3. *यं चात्र गूढ़जीविनं विशकेत तं सत्रि सवर्णो नापसर्पयेत्।।* — *अर्थ0 अधि0 4, अ0 4, वार्ता 5 ।*

अभियुक्त मेरा बन्धु हैं,[1] इसके इस अपराध को क्षमा कीजियें इसके बदले में यह धनराशि स्वीकार कीजिये।[2] यदि न्यायाधीश धन लेकर उस अपराधी को मुक्त कर देता है तो उस न्यायाधीश को उत्कोच ग्रहण करने वाला समझकर उसकों उसके पद से च्युत कर देना चाहिए।[3] यही नियम प्रदेष्टा के विषय में भी समझ लेना चाहिए।[4] इस प्रकार अन्य गुप्तचरों को भी दुष्ट कर्मचारियों के आचरण की परीक्षा करते रहना चाहिए, और उनको अपराध करते हुए पकड़वाते रहना चाहिए। राज्य में जो व्यक्ति कूटरूपक बनाने का कार्य करते हैं उनका पता सत्री नाम के गुप्तचरों के द्वारा लगवाना चाहिए।[5] उनका पता लग जाने पर उनको कूटरूपक बनाने वाले घोषित कर राज्य के बाहर निकाल देना चाहिए।[6]

इस प्रकार कौटिल्य ने दुष्ट राजकर्मचारियों एवं राज्य के दुष्ट आचारण धारी नागरिकों से प्रजा की रक्षा की व्यवस्था की है और जिसको उन्होंने कष्टकशोधन नाम से सम्बोधित किया है।

दण्ड के सिद्धान्त

कौटिल्य ने अपराधियों के लिए जो विभिन्न प्रकार के दण्ड निर्धारित किए हैं उनके आधार पर ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने कतिपय सिद्धान्तों के आधार पर ही यह दण्ड निर्धारित किए हैं। सम्भवतः यह सिद्धान्त निम्नलिखित रहे होगें–

(क) अपराध के अनुसार दण्ड देने का सिद्धान्त

कौटिल्य ने सर्वप्रथम सिद्धान्त यह बतलाया है कि अपराधी को उसके अपराध के अनुसार ही दण्ड दिया जाना चाहिए, अर्थात जिस व्यक्ति ने जिस मात्रा में अपराध किया है, उस व्यक्ति को उसी मात्रा नें दण्ड मिलना चाहिए। इसलिये जब तक अपराधी का अपराध प्रमाणित न हो जाए उसको दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए।[7] इस प्रकार के दण्ड निर्धारित करने में कौटिल्य ने एक रूपता लाने का प्रयत्न किया है। यह भी कहा कि गर्भिणी और एक महीने से कम प्रसूता

---

1. *असौ मे बन्धुरभियुक्तः।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 4, वार्ता 7 ।*
2. *तस्यायमनर्थः प्रतिक्रियतामय चार्थः प्रतिगृह्मतामिति।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 4, वार्ता 8 ।*
3. *सचेत्तया कुर्यादुपदाग्राहक इति प्रधास्थेत।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 4, वार्ता 9 ।*
4. *तेन प्रदेष्टारों ब्याख्याताः।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 4, वार्ता 10 ।*
5. *कूट रूकारकं भन्येत तं सग्री शिष्यत्वेन न संब्यवहारेणा चानुप्रविश्य प्रज्ञापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 4, वार्ता 28 ।*
6. *प्रज्ञातः कूटरूपारक इति प्रवास्येत।।* — *अर्थ0 अधि0 4, अ0 4, वार्ता 29 ।*
7. *आप्तदोषं कर्मकारयेत्।।* — *अर्थ0 अधि0 4, अ0 8, वार्ता 21 ।*

स्त्रियों को दंड नहीं दिया जाना चाहिए।

आधुनिक काल में भी विधि के शासन के सिद्धान्त के अन्तर्गत इस बात पर बल दिया गया है कि किसी भी व्यक्ति को दंड़ देने के पूर्व उसका अपराध प्रमाणित होना आवश्यक है।

(ख) अपराधी की सामर्थ्य के अनुसार दण्ड

दण्ड विधान का दूसरा सिद्धान्त यह था कि अपराधी को उसकी सामर्थ्य के अनुसार ही दण्ड दिया जाना चाहिए। अपराधियों की शारीरिक, मानसिक और आर्थिक क्षमता को ध्यान मे रखकर दंड का प्रावधान किया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि उन उद्धरणों से होती है जिनमें कौटिल्य ने शारीरिक निर्बलता अथवा सुकुमारता के कारण समर्थ व्यक्ति की अपेक्षा निर्वल एवं सुकुमार व्यक्ति को एक ही अपराध के लिये न्यून दण्ड निर्धारित किया है। इसी सिद्धान्त के अनुसार कौटिल्य ने एक ही अपराध के लिये पुरुष की अपेक्षा स्त्री को आधा दण्ड देना उचित समझा है। उन्होंने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि स्त्री को पुरुष की अपेक्षा आधा दण्ड मिलना चाहिए।[1] इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने दूसरे स्थल पर यह व्यवस्था दी है कि मास से न्यून काल की प्रसूता या गर्भिणी स्त्री को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए।[2] कौटिल्य ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि अपराधी की आय के अनुसार अर्थ दण्ड दिया जाना चाहिए।[3]

इस प्रकार इन व्यवस्थाओ के द्वारा यह प्रमाणित हो जाता है कि कौटिल्य इस सिद्धान्त मे आस्था रखते थे ''कि अपराधी को उसकी सामर्थ्य के अनुसार ही दण्ड दिया जाना चाहिए''। कौटिल्य का इस प्रकार का निर्देश निश्चित रूप से एक उत्तम दंड व्यवस्था का प्रतीक कहा जा सकता है।

(ग) वर्ग के अनुसार दण्ड

तीसरा सिद्धान्त यह था कि दण्ड निर्धारित करने में अपराधी के वर्ण का भी ध्यान रखना उचित होगा। एक ही अपराध के लिये ब्राह्मण वर्ण के अपराधी और अन्य वर्णो के अपराधियों के लिये भिन्न प्रकार के दण्ड दिये जाने चाहिए। कौटिल्य का मत है कि जिस अपराध के लिये अन्य वर्णो के अपराधियों के लिये मृत्यु दण्ड निर्धारित किया गया है, ब्राह्मण वर्ण के अपराधी को उस दण्ड से मुक्त कर उसके स्थान में अन्य प्रकार के दण्ड देना उचित समझा गया है।

---

1. *स्त्रियास्त्वर्धकर्म वाक्यानुयोगी वा।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 8, वार्ता 23।*
2. *न त्वेव स्त्रियां गर्भिणीं सूतिकां व मासावरप्रजाताम्।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 8, वार्ता 22।*
3. *यावजीविकावस्थं दधात्।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 18, वार्ता 19।*

कि ब्राह्मण को यातना सम्बन्धी दण्ड नहीं दिए जाने चाहिए।[1] अपराधी ब्राह्मण के लिये उसके द्वारा किये गये अपराध को लक्षित करने वाले चिन्ह से अंकित कर देश से बाहर निकाल देना मात्र ही पर्याप्त समझा गया है।[2] कौटिल्य का मत है कि यदि नीचे वाले वर्ण के किसी व्यक्ति ने ऊँचे वर्ण के व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार का अपराध किया है तो उसको दो गुना,[3] यदि इसके विपरीत–ऊँचे वर्ण के व्यक्ति ने नीचे वाले वर्ण के प्रति अपराध किया है तो एक ही अपराध के लिये निर्धारित दण्ड का आधा दण्ड दिया जाना चाहियें।[4]

सामान्यतः समाज में भिन्न–भिन्न स्तर के लोग रहते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके लिए अल्प दण्ड ही पर्याप्त होता है और वह उसको अपने लिये बड़ा दण्ड समझ लेते हैं। ऐसे व्यक्ति के लिये अल्प दण्ड का वही प्रभाव पड़ता है जो कि महान दण्ड का होना चाहिए। सम्भवतः इसी सिद्धान्त के आधार पर समाज में नैतिक स्तर के आधार पर बने हुए विभिन्न वर्णो के लिये कौटिल्य ने उनके नैतिक स्तर के अनुसार ही अपराध के लिए अल्प एवं महान दण्डों का विधान किया है।

निश्चित रूप से कौटिल्य द्वारा व्यक्त यह सिद्धान्त गलत, खतरनाक तथा आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए अनुपर्युक्त है। यह स्पष्टतः भेदभाव पूर्ण है और इससे न्यायिक प्रक्रिया दूषित एवं कुभावित हो सकती है।

(घ) विशेष परिस्थिति के अनुसार दण्ड

कौटिल्य का मत है कि कभी–कभी मनुष्य स्वयं अपराध करना नहीं चाहता, परन्तु परिस्थिति वश वह अपराध करने के लिये विवश हो जाता है। इस दशा में मनुष्य के द्वारा किए गये अपराध के लिए पूर्ण मात्रा में दण्ड नही मिलना चाहिए, क्योंकि मनुष्य को परिस्थिति अपराध करने के लिये विवश कर देती है। कौटिल्य इस सिद्धान्तानुसार उस व्यक्ति को निर्धारित दण्ड का आधा दण्ड देना उचित समझते हैं। जो व्यक्ति प्रसाद, मंत्र मोह आदि के प्रभाव में आकर किसी दूसरे व्यक्ति के लिए घूणित शब्दों को प्रयोग करता है।[5] वही नियम अन्य प्रकार के अपराधों में भी लागू करना

---

1. *सर्वापराधेष्वपीडनीडी ब्राह्मणाः।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 8, वार्ता 32 ।*
2. *ब्राह्मणां पापकर्माणमुद्ध व्यकृतब्रणाम्। कर्यान्निर्विषयं राजा वासथेदाकरेषु वा।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 8, वार्ता 38 ।*
3. *विशिष्टेषु द्विगुणाः।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 18, वार्ता 7 ।*
4. *हीनेध्वर्धदण्डः।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 18, वार्ता 8 ।*
5. *प्रमादमदमोहदिभिरर्ध दण्ड ।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 18, वार्ता 10 ।*

उचित बतलाया गया है।[1] यदि किसी व्यक्ति ने विशेष परिस्थिति की बाध्यता के कारण अपराध किया है तो उसे कम दंड मिलना चाहिए। आधुनिक दंड विधान में भी इस प्रकार की व्यवस्था की गयी है।

कौटिल्य बाल, बृद्ध, रोगी, मत्त, उन्मत, भूखे, प्यासे, थके, अधिक भोजन किये हुए रोगी एवं दुर्बल अपराधी को कठोरं दण्ड देने का निषेध करते हैं।[2]

(ड.) भय अथवा आतंक स्थापित करने का सिद्धान्त

कौटिल्य ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है कि जिस कार्य के करने से कठोर दण्ड भोगना पडेगा, जब मनुष्य को ऐसा ज्ञात हो जाता है। तो वह इस प्रकार के कार्य करने में भय खाता है, और उसको पुनः करने का साहस नहीं करता। इस प्रकार मनुष्य भय के आतंक से प्रभावित होकर पाप से बचता रहता है। इसीलिए उन्होंने इस प्रकार के कुछ दण्डों का भी विधान किया है, जो आधुनिक युग में अमानुषिक एवं असभ्यता पूर्ण समझे जाएंगे। इस प्रकार के दण्डों को सुनकर मनुष्य का हृदय कॉपने लगता है और वह अपराध करने का साहस नहीं करता। कौटिल्य का मत है कि इस प्रकार के दण्ड अपराधी को ऐसे स्थान पर दिए जाने चाहिए जहाँ से इस प्रकार का समाचार जनता में शीध्र पहुँच जाए, लोग स्वयं अपनी आँखों से अपराधी को दण्ड की वेदना में तड़पता हुआ देख सकें, इस कोटि के दण्डो में कुछ इस प्रकार के दण्ड बतलाए गए है। जैसे त्वचा एवं शरीर पर जलती हुई अग्नि रखवा कर मरवा देना,[3] जिह्वा का छेदन करवा देना,[4] हाथ–पैर बांधकर औंधे लटकाना,[5] नखों में सुई चुभाना[6] आदि।

कौटिल्य के अनुसार इस प्रकार के कठोर दंडो का प्रावधान करने से अपराधियों में भय या आतंक फैलेगा और वे अपराध करने से हिचकेगें। भय और आतंक फैलाने के उद्देश्य से ही उसने सार्वजानिक स्थानों में इस प्रकार के दंडों को कार्य रूप देने की अनुशंसा की है।

आधुनिक युग की दृष्टि से इस प्रकार के दंड या यातानाएँ अमानुषिक तथा बर्बर समझी

---

1. *प्रमादमयोहादिभिरर्ध दण्डः।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 18, वार्ता 9 ।*
2. *बालं बृद्धं ब्याधितंमत्तमुन्मतंचुत्पिपासाध्वक्रान्त मत्याशितमात्मका शितं दुर्बलं वा न कर्मकारयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 8, वार्ता 17 ।*
3. *मातृपितृब्रभ्राब्राचार्यतपस्विघातकं वा स्वविछरः प्रादीपिकं घातयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 4 अ0 11, वार्ता 19 ।*
4. *तेषामाक्रोशे जिंह्वाच्छेदः ।।* — *अर्थ0, अधि0 4 अ0 11, वार्ता 20 ।*
5. *द्वावपरिनिबन्धौं ।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 8, वार्ता 27 ।*
6. *सूची हस्तः ।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 8, वार्ता 28 ।*

जाती है। आज इस प्रकार के दंडों का प्रावधान प्रायः सभी सभ्य देशों में वर्जित है।

(च) लज्जित करने का सिद्धान्त

कौटिल्य ने दण्ड के क्षेत्र में यह सिद्धान्त भी स्थापित किया है, कि जनता में लज्जित होने के भय से लज्जाशील मनुष्य पाप कर्म से बचने का प्रयत्न करते हुए देखे जाते है। इस दृष्टि से इस वर्ग के मनुष्यो को कौटिल्य ने कुछ विशेष प्रकार के दण्डों का विधान किया है, जिससे इस वर्ग के लोगों को लज्जित किया जा सके और जिसके फल–स्वरूप वह मनुष्य, जनता की दृष्टि में पतित हो जाए। विद्वान ब्राह्मण वर्ण के अपराधियों को इसी प्रकार के दण्ड देने का विधान किया गया है। कौटिल्य ने इस सिद्धान्त की पुष्टि मे इस प्रकार की व्यवस्था दी है–विभिन्न अपराधों के लिए ब्राह्मण अपराधी के ललाट पर निर्धारित अपराधों को प्रकट करने वाले चिन्ह अंकित करा देने चाहिए जिससे अपराधी ब्राह्मण की आय एवं प्रतिष्ठा का नाश हो जाए।[1] चोरी के अपराध में कुत्ते का चिन्ह,[2] मनुष्य वध में कबन्ध[3] गुरू–पत्नी गमन में अंग–भंग[4] और सुरापान में सुरागृह की ध्वजा का चिन्ह[5] (दाग) अपराधी ब्राह्मण के ललाट पर लगवा देने चाहिए। अपराधी ब्राह्मणों को लज्जित करने के लिये इस प्रकार के दण्ड विधान किये गये है। जिससे वह लज्जा के भय के कारण इस प्रकार के अपराधों से अपराधों से अपने को दूर रखते रहें।

(छ) सुधार का सिद्धान्त

आधुनिक युग में ऐसा अनुभव किया गया है कि दण्ड देने का मुख्य उद्देश्य अपराधी का सुधार करना है। इसलिए अपराधियों को इस प्रकार के दण्ड देने की व्यवस्था की जाती है। जिससे अपराधी की आपराधिक प्रवृत्ति में सुधार हो जाए और वह भविष्य मे ऐसे कुत्सित कार्य पुनः न करें जिससे उसको राज्य की ओर से दण्ड दिया जाए।

कौटिल्य ने भी दण्ड के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। बन्दी–गृह में जो अपराधी रखे जायें। उनके आचरण में सुधार करने के लिए अनेक साधनों के अपनाए जाने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है। इनमे एक साधन यह भी बतलाया गया है कि बन्दी–गृहो में रहने वाले अपराधियों के आचरण का निरीक्षण समय–समय पर किया जाना चाहिये, और इन

---

1. *तस्याभिशास्तां को ललाटे स्याद् व्यवहारपतनाय।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 8, वार्ता 33 ।*
2. *स्तेयेश्वा।* — *अर्थ0 अधि0 4, अ0 8, वार्ता 34 ।*
3. *मनुष्यवधे कबन्धः।।* — *अर्थ0 अधि0 4, अ0 8, वार्ता 35 ।*
4. *गुरूतल्पे भगं ।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 8, वार्ता 36 ।*
5. *सुरापाने मद्यध्वजः।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 8, वार्ता 37 ।*

निरीक्षणों के आधार पर उन अपराधियों को मुक्त कर देना चाहिए जिनका आचरण शुद्ध प्रमाणित हो गया है।[1] इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का उद्देश्य भी यही था कि प्रायश्चित्त के द्वारा अपराधी अपने अपराध के कुपरिणामों का बोध कर सकें और फिर तप द्वारा पापों से मुक्त होकर वह पुनः शुद्धचारी बन जाएं, कौटिल्य ने भी दण्ड को सुधार का साधन माना है।

कौटिल्य के सुधारवादी सिद्धान्त को आज भी मान्यता दी गयी है। आज भी प्रमुख विचारकों का मत है कि दंड–विधान का मुख्य उद्देश्य अपराधियों में सुधार लाना होना चाहिए।

दण्ड के प्रकार

दंड के विभिन्न सिद्धातों के आधार पर कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के दंडों का उल्लेख किया है। उसके द्वारा उल्लिखित दंडों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है। (i) अर्थ दंड, (ii) कायदण्ड (शारीरिक दण्ड) (iii) बन्ध नागार दण्ड कारावास का दंड। [2] अपराधियों के अपराध, उनकी शारीरिक क्षमता तथा उनकी आर्थिक क्षमता कें अनुसार उन्हें दंड दिया जाना चाहिए। इसलिए कौटिल्य के दंडविधाान में समानता या एकरूपता का सिद्धान्त नहीं पाया जाता है।

(क) अर्थदण्ड

कतिपय अपराधों के लिये कौटिल्य ने अर्थ दण्ड दिया जाना उचित समझा है। उन्होने कतिपय अपराधों के लिए अर्थ दण्ड को तो मान्यता दी है। परन्तु सिद्धान्त रूप मे उन्होंने कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं किया है कि अमुक प्रकार के दण्ड अर्थ दण्ड के अन्तर्गत आने चाहिए। उन्होंने स्थान–स्थान पर अर्थदण्डों का उल्लेख किया है जो पण के आठवें अंश से लेकर सहस्त्रों पण तक बतलाए गये है। इस विषय में केवल इतना कहा जा सकता है, कि कौटिल्य ने अपराधों के लिए अर्थ दण्ड देने का भी पोषण किया है। और यह अर्थदण्ड, अपराध की गुरूता एवं लधुता के अनुसार बडे और छोटे दोनों प्रकार के होने चाहिए। परन्तु कुछ ऐसा भास अवश्य होता है कि दीवानी के अभियोग एवं न्यून महत्त्व के फौजदारी के अभियोग में इस प्रकार के दण्ड का विशेष उपयोग होना चाहिए।

(ख) कायदण्ड

अपराधी को शारीरिक दण्ड देना काय दण्ड कहलाता है। उन्होंने अपराध के अनुसार

---

1. *पुणयशीलाः समयानुबद्धा वा दोषनिष्क्रयं दद्युः।।* — *अर्थ0 अधि0 2, अ0 36, वार्ता 58 ।*
   दिवसे पश्चरात्रे वा बन्धनस्यान् विशोधयेत्।। — *अर्थ0 अधि0 2, अ0 36, वार्ता 59 ।*
2. *कर्मणा कायदण्डेन हिरणयानुग्रहेणा वा ।। बन्धनस्य विधीयते।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 36, वार्ता 59, 60 ।*

कायदण्ड निर्धारित किए हैं। कायदण्ड के अनेक रूप बतलाए गये है इनमें बेंत मारना ,कोडे मारना, रस्सी से मारना, उलटे लटकाना, हाथियों से कुचलवाना, कुत्तों से कटवाकर प्राण लेना, हाथ पैर आदि अंगों को कटवाना, शरीर के मर्मस्थानों का छेदन करवाना, नखों में सुयियाँ चुभोना, क्लेश पूर्वक शरीर के अंगों को कटवाना, शरीर एव शीशा पर जलते हुए अंगार रखकर प्राण लेना, जल में डुबाना, शुद्ध बध करना, शरीर की खाल निकलवाना, आदि मुख्य बतलाए गये है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के चौथे अधिकरण के आठवें अध्याय मे काय दण्ड का विशेष वर्णन किया है।[1] इसके अवलोकन करने से काय दण्ड के विभिन्न रूपों एवं प्रकारों का बोध हो जाता है। कौटिल्य ने राज्य के धन के अपहरण करने वाले अथवा राज्य के विरुद्ध षडयंत्र रचने वाले अपराधियों के लिये विशेष प्रकार के क्रूरता पूर्ण कायदण्डों का विधान किया है और अल्प अपराधों के लिये भी अपराधी को प्राण–दण्ड देना निर्धारित किया है। दस पण मात्र मूल्य वाले राज्य के किसी पदार्थ के अपहरण करने वाले अपराधी के लिये कौटिल्य ने प्राण दण्ड निर्धारित किया है।[2] इसी प्रकार राजकोष में अच्छे सिक्कों के स्थान में कूटरूपक (जाली सिक्के) रख दे उसके लिए भी वध दण्ड की व्यवस्था की गयी है।[3] राजा के राज्य के पाने की अभिलाषा करने वाले, राजा के रनिवास में प्रवेश करने वाले, राजा के विरूद्ध वन के निवासियों एव शत्रु को उत्साहित करने वाले, अथवा राजा के दुर्ग राष्ट्र और सेना में असंतोष उत्पन्न करने वाले व्यक्ति को शिर से पैर तक अग्नि के द्वारा जला देना चाहिए।[4]

(ग) बन्धनगृह दण्ड

कौटिल्य ने बन्दी गृह को बन्धनागार और उसके मुख्य अधिकारी को बन्धनागाराध्यक्ष नाम से सम्बोधित किया है।[5] सन्निवातृ नाम के पदाधिकारी के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए

---

1 *व्यवहारिकम् कर्मचतुष्कम्। षड़दण्डाः सप्तकशां द्वावुपरिनिबन्धावुद कनालिका च । पर पापकर्मणां नववेत्रलता द्वदशकं द्वावूरौ अष्टौविंशतिर्नक्त माललता द्वात्रिंशत्तला दौ, वृश्चिकबन्धाल्बुल्लम्बने चले सूचीहस्तस्त यवागृपीतस्यैकपर्व दहनमडंल्याः स्नेहपीतस्थ प्रतापनमेकमह शिशिररात्रौ बल्ब जाग्रशब्या चेत्येष्टा दशकं कर्म।।*
अर्थ0, अधि0 4, अ0 8, वार्ता 26–28 ।

2. *खनिजसारकर्मान्तेभ्यः सारं रत्नं वापहरतः शुद्धवधः ।।* *अर्थ0, अधि0 4, अ0 9, वार्ता 2 ।*
आदशपणामूल्यादिति वधः ।। *अर्थ0, अधि0 4, अ0 9, वार्ता 10 ।*

3. *कोशे प्रक्षिपतो वधः ।।* *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 62 ।*

4. *राज्यकामुकन्तःपुर प्रधर्षकमटब्यमित्रोत्साहकं दुर्गराष्ट्रदण्ड कोपकं वा शिरोहस्त प्रादीपिक घातयेत्।।*
अर्थ0, अधि0 4, अ0 11, वार्ता 17 ।

5. *बन्धनागारात्संगार्वस्वं बधश्च । बन्धनागाराध्यक्षस्य दण्ड।।* *अर्थ0, अधि0 4, अ0 9, वार्ता 48, 49 ।*

कौटिल्य ने उसका एक यह भी कर्त्तव्य बतलाया है कि उसको अपराधियों के निमित्त राज्य में बन्धनागार का निर्माण करवाना चाहियें। [1] इस बन्धनागार में स्त्री और पुरुष अपराधियों के रहने के लिए पृथक–पृथक स्थान होनें चाहिए। बन्धनागार भंली–भाँति रक्षित कोठरियों से युक्त होना चाहिए। [2]

अपराध के नियंत्रण हेतु मनु ने भी तीन उपाय बतलाये हैं जिनमें एक उपाय अपराधियों को बन्धन–गृह में रखना भी बतलाया है। [3] मनु ने भी अपराधियों के लिए बन्धक–गृहों के निर्माण एवं राजा द्वारा उनका निरीक्षण किया जाना राजा का एक कर्त्तव्य निर्धारित किया हैं।[4]

शुक्र ने भी अभियुक्तों और निरूद्धों को बन्धन–गृह में रखने का आदेश दिया है।[5]

अपराधियों के निमित्त अन्य प्रकार के दण्डों के अतिरिक्त कौटिल्य ने बन्धनागृह दण्ड भी स्त्री, पुरुष एवं बाल अपराधियों के लिये निर्धारित किये है। उन्होंने स्त्री पुरूष एवं बाल अपराधियों के लिए बन्धन– गृह में उनकी सामर्थ्य के अनुसार पृथक–पृथक जो कार्य निर्धारित किए है, उससे इस सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है, कि बन्धन–गृह में स्त्री, पुरुष एवं बाल अपराधी भी रखे जाते थे।

आधुनिक काल के समान बाल अपराधियों के लिए विशेष प्रकार के बन्धन–गृहों का निर्माण उस काल में होता था। इस पक्ष में कोई पुष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है। अपितु इसके विरूद्ध प्रमाण मिलता है। कौटिल्य ने कतिपय ऐसी व्यवस्थाएं दी है जो इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है कि एक ही बन्धन–गृह में यह तीनों कोटि के अपराधी रखे जाते थे। उन्होंने उस पुरूष बन्दी को मृत्यु दण्ड का विधान किया है जो बन्धन गृह में किसी बन्दी स्त्री के सतीत्व को नष्ट करता है।[6] कौटिल्य द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्त्री और पुरुष दोंनें प्रकार के बन्दी एक ही बन्धन–गृह मे रखे जाते होंगें। परन्तु यह मानना पडेगा कि बन्धन गृह में पुरुष और स्त्री–पुरुष दोनों प्रकार के बन्दियों के लिए पृथक–पृथक स्थान निर्धारित थे जिससे

---

1. *संन्निधाताः कोशगृहं पण्यगृहं, बन्धनागारं च कारयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 5, वार्ता 1 ।*
2. *स्त्रीपुरुष स्थानमपसरतः सुगुप्तकक्ष्यं बन्धनागारं कारयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 5, वार्ता 5 ।*
3. *निरोधनेन बन्धेन विदिधेन बधने च।।* — *मानवाधर्मशास्त्र अ0 8, श्लोक 310 ।*
4. *बन्धनानि च सर्वाणि राजमार्गे निवेशयेत्।। दुःखिता यत्रध्श्डोरन्विकृता पापकारिणा।* — *मानवाधर्मशास्त्र अ0 9 श्लोक 288 ।*
5. *अभियुक्त निरूद्वैर्वा।।* — *शुक्रनीति अ0 1 श्लोक 268 ।*
6. *संरूद्धस्य वा तत्रैव घातः ।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 9, वार्ता 57 ।*

उनका परस्पर सम्पर्क न हो सके।

बन्धनगृह में अनुशासन

बन्धनगृह में रहने वाले बन्दियों में अनुशासन कें ऊँचे स्तर की आशा की जाती थी। उस बन्दी के लिए कौटिल्य ने प्राण–दण्ड निर्धारित किया है जो बन्धन गृह में किसी बन्दी के सतीत्व को भ्रष्ट करने का प्रयत्न करता था। बन्धनगृह के कर्मचारियों एवं सेवकों के पथ प्रदर्शन हेतु कतिपय नियम निर्धारित किए गए थे। यह नियम बन्दियों के भोजन–छादन एवं उनके दैनिक जीवन से सम्बन्धित होते थे। इन नियमों के भंग करने वाले व्यक्ति को कठोर दण्ड दिया जाात था। कौटिल्य बन्धनगृह के उस कर्मचारी अथवा सेवक को चौबीस पण दण्ड देना निर्धारित करते हैं जो इन नियमों को भंग कर किसी बन्दी के प्रति विशेष कृपा करता हुआ पाया जाए।[1] कौटिल्य ने उस बन्दी को मृत्युदण्ड निर्धारित किया है जो बन्धनगृह से भाग जाने का प्रयत्न करता हो एवं उस कर्मचारी की समस्त सम्पत्ति के राज्य द्वारा अपहरण किए जाने की व्यवस्था दी है, जो किसी बन्दी के भाग जाने में सहायता देता हुआ पाया जाता हो।[2]

बन्दियों की सामान्य सुविधाएँ

निःसंदेह बन्धन गृह का जीवन कठोर अनुशासन से नियंत्रित रहता था, परन्तु बन्दियों की दैनिक साधारण आवश्यकताओं की संतुष्टि हेतु प्रयत्न किया जाता था। बन्धनगृह के कर्मचारी एवं सेवकों को बन्दियों के सुख की ओर विशेष प्रकार से सचेष्ट रहना पड़ता था। कौटिल्य ने बन्धन–गृह के उस कर्मचारी के लिए छियानवें पण का दण्ड निर्धारित किया है जो बन्दी के भोजन आदि के पहुचाने में विघ्न डालता है।[3] उन्होंने इतना ही दण्ड उस कर्मचारी अथवा सेवक के लिए भी निर्धारित किया है जो बन्दियों के वास–स्थान में बन्धनागाराध्यक्ष की आज्ञा बिना उलट फेर कर देता है।[4] जो कर्मचारी अथवा सेवक बन्दियों को क्लेश देता है अथवा उत्कोच देने के लिए विवश करता है। उसको मध्यमसाहस दण्ड विधान किया गया है।[5] यदि कोई कर्मचारी बन्दी को मारता–पीटता है, तो ऐसे कर्मचारी को एक हजार पण दण्ड देने की

---

1. *बन्धनागाराध्यक्षस्य संरुद्धकमनाख्याय चारयतश्चतुर्विंशतिषणो दण्डः।।* अर्थ0, अधि0 4, अ0 9, वार्ता 49 ।
2. *बन्धनागारात्सर्वस्वं वधश्च।।* अर्थ0, अधि0 4, अ0 9, वार्ता 48 ।
3. *अन्नंपानं वा रून्धतः षण्णवतिर्दण्डः।।* अर्थ0, अधि0 4, अ0 9, वार्ता 51 ।
4. *स्थानान्यत्वं गमयतो ।।* अर्थ0, अधि0 4, अ0 9, वार्ता 51 ।
5. *परिक्लेशयत उत्कोटयतो वा मध्यमः साहसदण्डः।।* अर्थ0, अधि0 4, अ0 9, वार्ता 52 ।

व्यवस्था कौटिल्य ने दी है।[1] इस प्रकार बन्दियों की दैनिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर उनकी सुविधा का विशेष ध्यान रखा जाता था।

बन्दियों से कार्य

कौटिल्य बन्दियों को आलस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना उचित नहीं समझते थे। इसीलिए उन्होंने बन्धनगृह में बन्दियों से उचित कार्य कराए जाने की व्यवस्था दी है। वह राष्ट्र की सम्पत्ति की वृद्धि सम्बन्धी कार्य बन्दियों से कराना चाहते है। उन्होंने इस सिद्धान्त की पुष्टि स्त्री बन्दियों के लिए कार्य निर्धारित करके की है। उन्होंने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि बन्धनगृह में स्त्रियों से ऊन कम्बल, कपास विशेष प्रकार की रूई की कताई का कार्य लेना चाहिए।[2]

शुक्र ने भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका मत है कि अभियुक्त और निरूद्ध दोनों प्रकार के बन्दियों को मार्गों के निर्माण एवं उनके जीर्णोद्धार कार्य में लगना चाहिए।[3]

कौटिल्य ने कतिपय ऐसे बन्दियों का भी उल्लेख किया है जिनसे अस्वथ होने, वृद्ध होने, अल्प आयु होने के कारण अथवा ऐसे ही अन्य शारीरिक असमर्थता के कारण शारीरिक कार्य नही लेना चाहिए। उनके मतानुसार बाल, वृद्ध व्याधित, भूखें,प्यासे और जिनको अजीर्ण हो गया है ऐसे बन्दियो से बन्धन गृह में शारीरिक कार्य नहीं लेना चाहिए।

बन्धनगृह से बन्दियों की मुक्ति

अपराधी अपने अपराध के अनुसार निर्दिष्ट काल के लिये बन्धन गृह दण्ड भोगने के निमित्त बन्धनगृह में भेजे जाते थे। निर्दिष्ट काल के समाप्त हो जाने पर वह बन्धन गृह दण्ड से मुक्त कर दिए जाते थे।

कौटिल्य ने कुछ ऐसे अवसर भी बतलाए हैं जब बन्धन गृह के समस्त बन्दियों को मुक्त कर दिया जाना चाहिए। यह अवसर किसी नवीन देश को विजय करने, युवराज के अभिषेक के समय और राजा के पुत्र उत्पन्न होने के समय, बन्दियों को मुक्त कर देने के लिए बतलाए गये है। राजा की वर्षगांठ, शुभनक्षत्र पूर्णमासी आदि पर्व पर बंधनगृह से बाल, वृद्ध, रोगी, अनाथ बंदियों को मुक्त कर देना चाहिए।[4] पुण्य आचरणधारी बन्दी पुण्य आचरण धारण करते रहेंगे,

---

1. *ध्नतः साहस्त्रः ।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 9, वार्ता 53 ।*
2. *ऊणाविल्ककर्पासत्‌लशणाक्षौमाणि च दण्ड प्रतिकारिणी कर्तयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 2 ।*
3. *मार्गान्सुधाशंकरैवथिटितान्प्रतिबत्सरम्। अभियुक्तनिरूद्धैवां कुर्यात् आम्यजमैनुपः ।।* — *शुक्र0, अ0 1, श्लोक 68–267 ।*
4. *मन्दापराधं बालं वृद्धं व्याधितं मत्तमुन्मत्त क्षुत्पिपासाध्वलान्तमत्याशितमात्यमका शितं दुर्बलं वा न कर्मकारयेत्।।* — *अर्थ0 अधि0 4, अ0 8, वार्ता 17 ।*

ऐसी प्रतिज्ञा ले लेने पर उन्हें बंधनगृह से मुक्त कर दिया जाना चाहिए।[1]

मौर्य सम्राट अशोक ने भी अपने शिलालेखों में इस परम्परा का उल्लेख किया है कि राजा को वर्षगांठ के अवसर पर राज्य के बंधन गृह के बंदियों को मुक्त कर दिया जाता था।[2]

कौटिल्य बंधनगृह के बंदियों के आचरण की शुद्धि के आधार पर उनको बंधनगृह से मुक्त कर देने का आदेश देते हैं। उनका मत है कि प्रतिदिन अथवा प्रति पाँचवें दिन बंधनगृह में बन्दियों का निरीक्षण होना चाहिए और इस निरीक्षण के आधार पर आचरण की शुद्धता देखकर कुछ बंदियों को मुक्त कर देना चाहिए। कुछ काम कराकर, कायदण्ड देकर अथवा अर्थदण्ड बंधन का भुगतान हो जाने पर, अपराधी दोषानुसार मुक्त किए जाने चाहिए।[3]

इस प्रकार कौटिल्य ने अपराधियों के निमित्त अपराधों के अनुसार अनेक प्रकार के दण्डों का विधान किया है और जिनको उन्होंने अर्थदण्ड, कायदण्ड और बंधनगृह दण्ड इन तीन श्रेणियों में परिगणित किया है।[4]

कौटिल्य ने कानून, न्याय और न्याय व्यवस्था का वृहद एवं विशद् विवेचन किया है। कई समीक्षकों की दृष्टि में न्याय और कानून की दृष्टि से कौटिल्यका अर्थशास्त्र एक अनुपम और उल्लेखनीय कृति है। कौटिल्य द्वारा कानून और न्याय व्यवस्था का विश्लेषण व्यवहारिक आधार पर किया गया है।

इस सम्बन्ध में यह अवलोकन कदापि भी अनुचित नहीं समझा जाएगा कि कानून और न्याय व्यवस्था का इतना विस्तृत और विशद् विवेचन कौटिल्य के पूर्व किसी अन्य चिंतक ने प्रस्तुत नहीं किया था। कौटिल्य की न्याय व्यवस्था का आधार राजतंत्रीय पद्धति थी। उसने राजा को केन्द्रबिन्दु मानकर न्याय व्यवस्था का उल्लेख किया है। राजा को न्याय और कानून का स्त्रोत तथा अन्तिम एवं सर्वोच्च सत्ता माना है। इस प्रकार कौटिल्य ने न्याय और कानून को राजा का अधीनस्थ बना दिया है। ''विलंबित न्याय विवंचित न्याय'' कौटिल्य के सिद्धान्त का मूल था अतः उसने न्याय–शासन के विकेन्द्रीकरण पर विशेष बल दिया है।

---

148. अपूर्व देशाधिगमे युवराजाभिषेचने। पुग्रजन्मनि व मोक्षो बन्धनस्य विधीयते।।

अर्थ0, अधि0 2, अ0 36, श्लोक 60 ।

149. बन्धनागारे च बलवृद्धब्याधिता नाथनां च जातनक्षत्र पौर्णामालीषुविसर्गः।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 36, श्लोक 57।

150. पुणयशीलाः समयानुबद्धावा दोषनिष्कयं दघुः।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 36, श्लोक 58 ।

151. दिवसे पचरात्रे वा बन्धनस्थान् विशोषयेत्। कर्मणा कायदण्डेन हिरण्यानुग्रहेण वा ।।

अर्थ0, अधि0 2, अ0 36, श्लोक 59 ।

अध्याय सप्तम्

राज्य की आर्थिक नीति तथा राज्य नियंत्रित उद्योगों का संगठन

अध्याय सप्तम्

राज्य की आर्थिक नीति तथा राज्य नियंत्रित उद्योगों का संघठन

राज्य की आर्थिक नीति के मूल सिद्धान्त

एक बहुआयामी चिंतक होने के कारण कौटिल्य ने राजनीतिक समाजिक एवं आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। कौटिल्य ने राज्य की आर्थिक नीति पर समुचित प्रकाश डाला हैं। उनकी राज्य की आर्थिक नीति मुख्य तीन सिद्धान्तों पर आधारित थी। प्रथम सिद्धान्त यह था कि राज्य में ऐसे उद्योग हों जिन पर राज्य का अस्तित्व निर्भर हों, उनका संघठन एवं संचालन राज्य को स्वयं करना चाहिए। इन उद्योग में समस्त पूंजी श्रम और प्रबन्ध राज्य का ही होना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य की आर्थिक नीति का प्रथम मूल सिद्धान्त राज्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योगों पर राज्य का प्रत्यक्ष स्वामित्व का अधिकार स्थापित करना है। इस श्रेणी के उद्योगों के क्षेत्र में राज्य के नागरिकों को निजी सम्पत्ति के अधिकार का निषेध किया गया है। राज्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य सशक्त राज्य का निर्माण करना था।

कौटिल्य की आर्थिक नीति का दूसरा मूल सिद्धान्त यह था कि राज्य में महत्त्वपूर्ण उद्योगों के क्षेत्र को बहिष्कृत करने के उपरान्त उद्योगों का जो क्षेत्र अवशेष रह जाता है उस क्षेत्र में राज्य के नागरिकों को निजी सम्पत्ति के रखने के अधिकार को मान्यता दी गयी है इस क्षेत्र में जनता अपनी पूंजी अपने श्रम एवं प्रबन्ध द्वारा उद्योगों का संघठन एवं संचालन कर सकती थी। इन उद्योगों में जो पूजी एवं उपकरण का उपयोग किया गया है उस पर संस्थापक का ही एक मात्र अधिकार होना चाहिए।

कौटिल्य ने राज्य की आर्थिक नीति का तीसरा मूल सिद्धान्त मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण न किया जा सके इस प्रकार की व्यवस्था का राज्य में स्थापित किया जाना बतलाया है। इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने के लिए कौटिल्य ने राज्य नियन्त्रण के सिद्धान्त के अपनाए जाने का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से वह राज्य में उत्पादन उसके वितरण एवं उसके उपभोग पर राज्य द्वारा नियत्रण के स्थापित किये जाने के प्रबल पोषक है।

इस प्रकार कोटिल्य ने राज्य की आर्थिक नीति के उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों को अपनाने का विचार व्यक्त किया है।

राज्य के स्वामित्व वाले उद्योग

राज्य अपने उन व्यवसयों एवं उधोगों को संधठित एवं संचालित करता था जिन पर राज्य का अस्तित्व निर्भर था और जिन की सहायता से निर्बल राज्य भी सशक्त राज्य बन जाता है।

आकर उद्योग

कौटिल्य के मतानुसार राज्य के अस्तित्व की स्थिर रखने एवं उसके विधिवत संचालन हेतु धन की आवश्यकता सर्वोपरि मानी गयी है। इसीलिए धनसंचय पर महत्व देते हुए कौटिल्य ने कहा कि धर्म और काम का मूल अर्थ होता है।[1] राज्य के कोष के सम्पन्न रहने पर ही सेना रखी जा सकती है तथा कोष और सेना के द्वारा ही सम्पन्न एवं समृद्धि भूमि का लाभ सम्भव है। ऐसे महत्वपूर्ण कोष की सम्पन्नता राज्य की आकरों पर ही निर्भर है।[2] इसीलिए कौटिल्य आकर उद्योग को राज्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योग के अन्तर्गत परिगणित करते हैं और उसे राज्य के ही स्वामित्व में रखना उचित मानते हैं। उनका स्पष्ट विचार है कि आकर और आकर से उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थों के व्यापार पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए।[3]

आकर उद्योग का क्षेत्र

आकर उद्योग का क्षेत्र राज्य के अन्तर्गत स्थित आकरों से एवं अन्य राज्यों में प्राप्त होने वाली आकरों से प्राप्त होने वाले पदार्थों का संग्रह करना, संग्रहीत किये गये इन पदार्थों का संस्कार कर उनको मनुष्य के उपयोग योग्य बनाना एवं उनके क्रय–विक्रय की उचित व्यवस्था करना तथा अपने राज्य में नवीन आकरों का अनुसंधान करना बतलाया गया है।

कौटिल्य ने कतिपय आकरों के स्थानों के लक्षण भी स्पष्ट किये हैं। जिससे इन लक्षणों के आधार पर तत्सम्बन्धी आकरों की खोज सुविधापूर्वक की जा सके। इसके अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न आकरों से प्राप्त होने वाले पदार्थों के विशेष लक्षण, उनके गुण एवं मूल्य का भी उल्लेख

---

1. *अर्थ एव प्रधान इति कौटल्यः ।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 10 ।*
   अर्थ मूलौहि धर्मकामाविति।। — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 7, वार्ता 11 ।*
2. *आकर प्रभवः कोशः कोशादण्डः प्रजायते। पृथिवी कोषदण्डाभ्यां प्राप्यतं कोषभूषणा ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 49 ।*
3. *खनिभ्यो द्वादशविधं धातु पण्यं च संहरेत्।*
   एवं सर्वेषु पण्येषु स्थापयेन्मुखसंग्रहम् ।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 48 ।*

किया है। उन्होंने सोने (सुवर्ण) चांदी (रूप्य), शिलाजीत (शिलजतु) तांबा (ताम्रधातुः), शीश (सीसधातुः), टिन (त्रिपुधातुः), लोहा (तीक्ष्णधातुः), बैकृन्तक (धातु विशेष), तथा मणियों (मणिधातु) की आकरों को राज्य प्रत्यक्ष स्वामित्व में रखने का प्रतिपादन किया है। कौटिल्य का मत है कि इन समस्त खानों के उधोग का संघठन एवं संचालन राज्य को स्वयं करना चाहियें और इसलिए राज्य को कतिपय राजकर्मचारियों , शिल्पियों तथा अन्य श्रमजीवी लोगों की नियुक्ति राज्य की ओर से करनी चाहिये और उनके परिवार के भरण–पोषण के लिए उनके उचित वेतन का प्रबन्ध राज्य को ही करना चाहियें। इनमें से कुछ वर्णन यहां दिया जा रहा है।

आकर उद्योग में राजकर्मचारी एवं शिल्पीगण

आकर उद्योग के विधिवत संघठन एवं संचालन हेतु राज्य में एक विशेष पदाधिकारी के नियुक्त किये जाने की व्यवस्था दी गयी है। इस विशेष पदाधिकारी को कौटिल्य ने आकराध्यक्ष की संज्ञा दी है। आकर उद्योग के समस्त दायित्व इसी पदाधिकारी पर निर्भर थे। कौटिल्य ने आकराध्यक्ष की विशेष योग्यताओं का उल्लेख करते हुये कहा है कि आकराध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जिस को धातुशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान हों। उसको रस–पाक और मणियों के पहचानने का भी दक्षता होनी चाहिए।[1] आकराध्यक्ष के अधीन उसके सहायक राजकर्मचारियों की नियुक्ति का विधान किया गया है। इसके सहायक राजकर्मचारियों को भी आकराध्यक्ष की भांति ही धाातुशास्त्र का पूर्णज्ञाता, रसपाक, और मणियों आदि के पहचानने का ज्ञान होना चाहिए।[2] इन सहायक राजकर्मचारियों के अतिरिक्त अनेक शिल्पियों एवं अन्य सेवकों की नियुक्ति की व्यवस्था कौटिल्य द्वारा दी गयी है। यह शिल्पी एवं सेवक भी अपने विषय के पूर्ण ज्ञानी होना चाहिए।[3] आकराध्यक्ष एवं उसके सहकारी अन्य राजकर्मचारियों को लौह आदि के कीट मूष (धातु तपाने का पात्र) और अंडार, भस्म आदि से पुरानी या नवीन आकर की पहचान एवं भूमि, पत्थर, रस और धातुओं के भी चमकीलेपन और उग्र गन्ध आदि की सहायता से नवीन अथवा पुरातन आकरों को खोज करने की सामर्थ्य रखनी चाहिए।[4] आकराध्यक्ष के अतिरिक्त

---

1. *आकराध्यक्षः शुरूबधातुशास्त्ररसपाकमणिरागज्ञः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 1 ।*
2. *तज्ज्ञसखः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 1 ।*
3. *तज्जातकर्मकरः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 1।*
4. *किदृमूषाड़ंरभस्मलिड़ं वाकरं भूतपूर्वमभूतपूर्व वा भूमिप्रस्तररसधातुमस्य।*
   र्थवर्णागौरवमुप्रगन्धरसं परीक्षेत।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 1 ।*

विभिन्न प्रकार की खानों में पृथक–पृथक अध्यक्षों नियुक्ति की व्यवस्था भी कौटिल्य द्वारा दी गयी है। इन अध्यक्षों में लोहाध्यक्ष खान्यायध्य, लवणाध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, और सुवर्णाध्यक्ष मुख्य अध्यक्ष प्रमुख हैं। इन अध्यक्षों का मुख्य कार्य–क्षेत्र राज्य के विभिन्न आकरों से प्राप्त पदार्थों का संस्कार कर उनसे जनउपयोगी सामग्री का निर्माण कराना और उनके क्रय–विक्रय आदि की व्यवस्था करना था। कौटिल्य ने यह संकेत किया है कि आकराध्यक्ष राज्य के समस्त आकरों को अध्यक्ष होता था। इन आकरों की खोज करने, उनमें उचित स्थान पर पहुँचाने आदि की व्यवस्था करने का समस्त दायित्व उसका था। लोहाध्यक्ष, सुवर्णाध्यक्ष आदि अध्यक्षों का कार्य आकराध्यक्ष द्वारा आकरों से प्राप्त पदार्थो को प्राप्त कर सरकार एवं जनता के उपयोग में लायी जाने–वाली सामग्री का विधिवत निर्माण करना, एवं उनके क्रय–विक्रय की व्यवस्था करना था। इन अध्यक्षों के अधीन अपने–अपने विषय के कुशल शिल्पी एवं अन्य कर्मचारी होते थे। जिनकी नियुक्ति एवं उनके वेतन आदि की व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती थी।

लोहाकर उद्योग

लोहाकर उद्योग में अनेक धातुओं के उद्योग सम्मिलित थे। इसमें तांबा, शीशा, टीन, वैकृन्तक, आरकूट (पीतल) वृत्त, कांसा ताल तथा अनेक प्रकार के लौह आदि धातुओं को आकरों से प्राप्त करना और उनका संस्कार कर सरकार एवं जनता के उपयोग की सामग्री का निर्माण करना और इस प्रकार निर्मित्त सामग्री के क्रय–विक्रय की व्यवस्था करना कौटिल्य द्वारा वर्णित है। लोहाकर उद्योग को विधिवत संचालित करने के लिए राज्य की ओर से एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है। इस विशेष पदाधिकारी को कौटिल्य लोहाध्यक्ष के नाम से सम्बोधित करते हैं। उन्होंने लोहाध्यक्ष के कर्तव्यों की व्यवस्था दी हैं कि लोहाध्यक्ष को तांबा (ताम्र), शीशा, (सीसधातु:), टिन (त्रिपुधातु:), सम्भवतः ईसपाती लोहा (वैकृन्तक) दृढ़ लोह (आरकूट) गोल लोहा ,(वृत) कांसी (कंस), ताल तथा अन्य प्रकार के लोह की सामग्री का अपनी देख–रेख में निर्माण करना चाहिए।[1] और लोहाकारों से उत्पन्न पदार्थों से निर्माण की गयी सामग्री के क्रय–विक्रय आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।[2] इस प्रकार लोहाकर उधोग भी राज्य में प्रत्यक्ष स्वामित्व में ही संघठित एवं संचालित होता था।

---

1. *लोहाध्यक्षस्तान्नसीसत्रपुवैकृन्तकारकृय्वृत्तर्क सताललोह कर्मान्तिान्कारयेत् ।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 25 ।
2. *लोहभाणडव्यवहारं च ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 26 ।*

लोहाकर उद्योग के अन्तर्गत ही लक्षण कार्य भी सम्पादित होता था। कौटिल्य के अनुसार लक्षण में समस्त कार्य राज्य की ओर से नियुक्त एक राजकीय पदाधिकारी की देख–रेख में सम्पादित होना चाहिए इस राजकीय पदाधिकारी को उन्होंने लक्षणाध्यक्ष के नाम से सम्बोधित किया है। लक्षणाध्यक्ष को चार माशा तांबा तथा एक माशा त्रपु शीशा या अंजन (काला लोहा) और शेष ग्यारह माशा चांदी मिलाकर सोलह माशा का एक पण बनवाना चाहिए। इस प्रकार अर्धपण चौथाई पण और पण के आठवें भाव के सिक्कों का निर्माण कराना चाहिए।[1] उसको व्यवहार के लिए ताँबे के सिक्के भी बनवाने चाहिए जो पण के चौथायी मूल्य का हो। उसको काकणी (सिक्का विशेष) अर्थ माषक काकणी और माधक काकणी का भी निर्माण करना चाहिए।[2] लक्षणाध्यक्ष का इन पणों के चलने अथवा उनको कोष में डलवा देने की व्यवस्था करनी चाहिए। लक्षणाध्यक्ष की देख–रेख में निर्माण किए गए सिक्कों की जाँच के लिए एक विशेष राजकर्मचारी होता था, जिसको कौटिल्य ने रूपदर्शक नाम से सम्बोधित किया है। इस राजकर्मचारी का मुख्य कर्त्तव्य यह बतलाया गया है। कि उसको राज्य में प्रचलित समस्त सिक्कों की जांच करते रहना चाहिए। लक्षण से निकले हुए सिक्कों की भी जॉच उसको करनी चाहिए, और उसको यह निर्णय करना चाहिए कि कौन से सिक्के ऐसे है जो कि राजकोष में डाले और कौन से सिक्के व्यवहार में लाए जाएं।[3]

खान उद्योग

कौटिल्य ने खान शब्द का प्रयोग विशेष प्रकार के आकर के अर्थ में किया है। खान से उनका तात्पर्य उन आकरों से है जिनका क्षेत्र समुद्र से सम्बन्धित रखता है। इस प्रकार समुद्र की खानों से जो पदार्थ प्राप्त करने चाहिए उन के उद्योगों को भी कौटिल्य ने राज्य के प्रत्यक्ष स्वामित्व के अन्तर्गत स्थान दिया है। इन उद्योगों के विधिवत संघठन एवं संचालन हेतु वह एक राजकीय पदाधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था देते हैं जिसको उन्होंने खन्याध्यक्ष नाम से सम्बोधित किया है। खन्याध्यक्ष के कर्त्तव्यों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि खन्याध्यक्ष को शंख, हीरा (बज्र) मणि, मोती मूंगा, (प्रबल), तथा यवक्षार आदि पदार्थो से

---

1. *लक्षणाध्यक्षश्चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाजनानामन्यतं मापबीजयुक्तं कारयेत् पणामर्धणां षादमष्टभागमिति।।*
अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 27 ।
2. *पादाजीवं ताम्ररूपं माषकमर्ण्रमावकं काकणीमर्धकाकरीमिति।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 28 ।*
3. *रूपदर्शकः पणयात्रां व्यवहारिकीं कोशप्रवेश्यां च स्थापक्षेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 29 ।*

सम्बन्ध रखने वाले कार्यों का प्रबन्ध करना चाहिए।[1] उसमें विभिन्न प्रकार के रसायनों तथा मणियों की पहचानने की क्षमता होनी चाहिए। कौटिल्य ने खान अध्यक्ष के अलावा उसके सहायक के रूप में और भी कई प्रकार के कर्मचारियों को नियुक्त करने का परामर्श दिया है। इन कर्मचारियों को भी धातुओं, पाक्विधि, पक्षरों, रसायनों और मणियों को पहचानने की योग्यता होनी चाहिए, तथा खान की भूमियों को पता लगाने की योग्यता होनी चाहिए। कौटिल्य के अनुसार विभिन्न प्रकार के धातुओं की खानों के लक्षणों के आधार पर सोना, चाँदी ताँबा, शीशा तथा लोहा तथा अन्य प्रकार के धातुओं की खानों का पता लगाया जा सकता है। उसको समुद्र से प्राप्त किए जाने वाले इस समस्त पदार्थो को संग्रहीत कर उनको क्रय–विक्रय आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।[2]

लवण उद्योग

लवण का प्रयोग लगभग प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में अवश्य करता है। इसलिए लवण–उद्योग राज्य के लिए बड़े ही महत्त्व का समझा गया था। इस उधोग के संघठन एवं संचालन हेतु कौटिल्य लवणाध्यक्ष की नियुक्ति की व्यवस्था देते हैं। लवणाध्यक्ष का मुख्य कर्त्तव्य यह था कि उसको राज्य के उपयोग के लिये लवण का निर्माण कराना, उसका संग्रह करना, एवं उसके क्रय–विक्रय की व्यवस्था करना था।[3] राज्य द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार उसके उपयुक्त वितरण एवं उपयोग की व्यवस्था करना सी अधिकारी का कर्त्तव्य माना है। लवण का क्रय–विक्रय राज्य की ओर से निर्धारित की गयी दूकानों पर ही हो सकता था। जो इन दूकानों के अतिरिक्त स्थानों पर लवण का क्रय–विक्रय करता हुआ पाया जाता है तो ऐसा करने वाला दण्ड का भागी होता था।[4] इन सरकारी दूकानों को राज्य के नियंत्रण में रखा जाना चाहियें। घटिया अथवा मिलावटी नमक बेचने पर उत्तमं साहस दण्ड मिलना चाहिए।[5] जो व्यक्ति बिना राज्य की आज्ञा प्राप्त किए हुए नमक का व्यापार करता हो, उसको भी उत्तम साहस दण्ड का विधान किया गया है।[6] वानप्रस्थी मुनि नमक कर से मुक्त थे।[7] इसी प्रकार वेदपाठी, तपस्वी,

---

1. *खानध्यक्षः शङ्वज्रमणिमुक्ताप्रवालक्षारकर्मान्तान्कारयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 34 ।*
2. *पणानब्यवहारं च ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 35 ।*
3. *लवणाध्यक्षः पाकमुक्तं लवणाभागं प्रक्रयंच यथाकालं सगृहृोयात्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 36 ।*
4. *अन्यत्र क्रेता षट्छतमव्ययं च ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 41 ।*
5. *विलक्षणामुत्तमं दण्डं दघात्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 42 ।*
6. *अनिसृष्टोपजीवी च ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 43 ।*
7. *अन्यत्र वानप्रस्थेभ्यः।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 44 ।*

राज्य को बेगार देने वाले पुरुष, अपने उपयोग में आने मात्र लवण को बिना नमक कर दिये हुए व्यवहार में ले आ सकते थे।[1] कुछ नमक दूसरे राज्यों से भी आता था। इस नमक पर राज्य में प्राप्त नमक की अपेक्षा अधिक कर लिया जाता था।[2]

सुवर्ण और चाँदी का उद्योग

सोने और चाँदी के संस्कार एवं उनसे उपयोग योग्य सामग्री के निर्माण तथा उसके क्रय–विक्रय की व्यवस्था करने के लिए कौटिल्य ने सुवर्णाध्यक्ष नाम से एक राजकीय पदाधिकारी की नियुक्ति का विधान किया है। इस कार्य के लिए सुवर्णाध्यक्ष को एक शाला का निर्माण कराना चाहिए। सुवर्णाध्यक्ष को एक ऐसी अक्षशाला का निर्माण करवाना चाहिए जिसमें एक द्वार और चारों ओर चार कमरें हों। इन चारों कमरों में एक दूसरे में जाने–आने का मार्ग होना चाहिए। इस अक्षशाला में सोने और चाँदी के कार्य पृथक–पृथक स्थान पर होना चाहिए।[3]

कौटिल्य ने अक्षशाला का काम करने में आने–जाने वाले लोगों के व्यवहार की ओर भी अपना मत प्रकट किया है। बिना आज्ञा प्राप्त किये हुए किसी व्यक्ति को अक्षशाला में प्रवेश के अधिकार का कौटिल्य ने निषेध किया है।[4] बिना आज्ञा प्राप्त किए हुए अक्षशाला में प्रवेश करने वाले व्यक्ति को शिरोच्छेदन का दण्ड दिया जाना चाहिए।[5] यदि कोई व्यक्ति सोना अथवा चॉदी अपने साथ लेकर अक्षशाला में प्रवेश करता है तो उसका वह सोना और चाँदी ले लिया जाना चाहिए।[6] अक्षशाला में काम करने वाले जैसे सुवर्ण निकालने वाले, तपाकर गोली बनाने वाले, छोटे–बड़े पात्र निर्माता, तपाने वाले शिल्पी, धौकनी लगाने वाले, अन्य कार्य करने वाले, झाडू लगाने वाले, धोने वाले आदि को अपने वस्त्र हाथ और गुह्य स्थानों की तलाशी देकर अक्षशाला में प्रवेश करन्ग चाहिए, और अक्षशाला से बाहर आने के समय भी उनकी इसी प्रकार तलाशी ली जानी चाहिए।[7] इन समस्त कारीगरों के औजार आदि साधन या अपूर्ण कार्यों की सामग्री

---

1. *ओत्रियास्तपस्विनो विष्टयश्च भक्तलचवणं हरेयुः।।* — *अर्थ०, अधि० 2, अ० 12, वार्ता 45 ।*
2. *अतीअन्यो लवणक्षरवर्गः शुल्कं दधात्।।* — *अर्थ०, अधि० 2, अ० 12, वार्ता 46 ।*
3. *सुवर्णध्यक्षः सुवर्णरजतकर्मान्तानामसंबन्धावेशन चतुः शालामेकद्वारामक्षशालां कारयेत् ।।* — *अर्थ०, अधि० 2, अ० 13, वार्ता 1 ।*
4. *प्रक्षशालामनायुक्तो नोपगच्छेत्।।* — *अर्थ०, अधि० 2, अ० 13, वार्ता 34 ।*
5. *अभिगच्छन्तुच्छेद्यः ।।* — *अर्थ०, अधि० 2, अ० 13, वार्ता 34 ।*
6. *आयुक्तो वा सरूप्य सुवर्णास्तेमैव जीयेत।।* — *अर्थ०, अधि० 2, अ० 13, वार्ता 36 ।*
7. *विचितवस्त्र हस्तगुह्याः काब्रनपृपतत्वप्डतपनीपकारवों ध्याय कचरकपांसुधावकाः प्रविशेयुः निष्कसेयुश्च।।* — *अर्थ०, अधि० 2, अ० 13, वार्ता 37 ।*

अक्षशाला में ही रहनी चाहिए। उनको कारीगरों के घर पर पूर्ण करने के लिए नहीं देना चाहिए[1] जो माल तैयार हो गया है अथवा अपूर्ण है दोनों को तोलकर रजिस्टर में अंकित करवा कर उसको अक्षशाला में ही रखवा देना चाहिए।[2] तैयार हुए माल की नित्यः परीक्षा लेकर उस पर सुवर्णाध्यक्ष और शिल्पी दोनों की मुहरे लगवाकर उसको अक्षशाला में (सुरक्षित स्थान पर) रखवा देना चाहिए।[3]

अक्षशाला में मुख्य तीन काम होते थे जिनको कौटिल्य ने क्षेपण, गुण और शुद्रक नाम से सम्बोधित किया है।[4] आभूषणों में मणि नग आद का जडना क्षेपण,[5] सुवर्ण सूत्रों के गूथने को गुण[6] और ठोस अथवा पोली वस्तुओं (धुँघरू आदि) के निर्माण कार्य को कौटिल्य क्षुद्रक कोटि में परिगणित करते हैं[7] इसके अतिरिक्त विभिन्न वस्तुओं पर सोने और चाँदी के पत्र मढ़नें[7] का कार्य और सोने–चाँदी का पानी चढ़ाने का भी कार्य किया जाता था।[8] सोने, चांदी आदि पदार्थो के शोधन कार्य भी अक्षशाला में किए जाते थे।

अक्षशाला में एक मुख्य शिल्पी होता था जिसकी देख–रेख में अन्य शिल्पीगण सोने–चाँदी आदि धातुओं के आभूषण तथा अन्य उपयोगी वस्तुओं को तैयार करते थे। इस मुख्य शिल्पी को कौटिल्य ने सौवणिक नाम से सम्बोधित किया है। सौवणिक नाम के मुख्य शिल्पी की देख–रेख[9] में सोने–चाँदी के आभूषण एवं अन्य सामग्री से कार्य लेने और इनसे सोने चांदी आदि की चोरी रोकने के अनेक नियम कौटिल्य ने व्यक्त किये हैं।

निर्मित्त किए गए सोने –चाँदी का माल राजकीय दूकानों में क्रय–विक्रय हेतु भेजा जाता था। जिस स्थान पर यह माल बिकता था उसको कौटिल्य ने विशिष्ट नाम से सम्बोधित किया है। जिन दूकानों में सोने–चांदी तथा आभूषण आदि के विक्रय कार्य को सौंपा जाए वे बड़े शिल्पी, कुलीन और विश्वासपात्र व्यक्ति होने चाहिए।[10] इस प्रकार शिल्पी गणों को काम करने एवं माल

---

1. *सर्व चैषामुपकरणाम निष्ठिताश्च प्रयोगास्तत्रैवावतिष्ठेरन् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 13, वार्ता 38 ।
2. *गृहीत सुवर्णा धृर्त च प्रयोग करणमध्ये दधात्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 13, वार्ता 39 ।
3. *सायं प्रातश्च लक्षितं कर्तृकारयितृमुद्राभ्यां निदध्यात्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 13, वार्ता 40 ।
4. *क्षेपणो गुणाः क्षुद्रकमिति कर्माणि ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 13, वार्ता 41 ।
5. *क्षेपणः काचार्पणादीनि ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 13, वार्ता 42 ।
6. *धनं सुषिरं पृषतादि युक्तं क्षुद्रकमिति।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 13, वार्ता 44 ।
7. *स्वष्टृकर्मणाः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 13, वार्ता 46 ।
8. *चतुभार्ग सुवण वा वालुकाहिगुलकस्य रसेन चूणेन वा वासयेत्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 13, वार्ता 51 ।
9. *सौवर्णिकः पौरजानपदानां रूप्यसुवर्णवेशभिः कारयेत्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 14, वार्ता 1 ।
10. *विशिखामध्ये सौवर्णिक शिल्पवन्तमाभिजातं प्रासीयिकं च स्थापयेत्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 13, वार्ता 2 ।

के तैयार करने के लिए कतिपय नियामें का पालन करना पड़ता था। शिल्पियों को निर्धारित समय पर माल बनाकर सौवर्णिक को देना चाहिए, यदि समय और कार्य निर्दिष्ट न किया जाएगा तो शिल्पी कार्य बिगाड़ दे हैं।[1] यदि शिल्पी आभूषण बिगाड़ दें तो उसको दण्ड दिया जाना चाहिए। कौटिल्य के मतानुसार यदि आभूषण में साधारण दोष पाया जाए तो शिल्पी का एक दिन का वेतन तो काट ही लिया जाए इसके अतिरिक्त उस पर आभूषण के मूल्य का दो गुना दण्ड भी होना चाहिए।[2] निर्दिष्ट समय पर आभूषण बनाकर न देने पर शिल्पी का वेतन का चौथायी वेतन काट लेना चाहिए। आधिक विलम्ब से माल बनाकार देने पर शिल्पी के वेतन का दो गुना उस पर दण्ड होना चाहिए।[3] इसी प्रकार सोने–चांदी के माल में मिलावट करने और उसको कम तौल में वापस करने आदि पर शिल्पी को दण्ड देने की व्यवस्था की गयी हैं। सोने–चाँदी तथा इनसे बने हुए आभूषणों के तौलने–नापने के लिए तराजू बाँट आदि भी विशेष प्रकार के होने चाहिए। यह तराजू एवं बाट आदि स्वयं शिल्पियों द्वारा बनाए हुए नहीं होने चाहिए अपितु पौतवाध्यक्ष नाम के एक राजकीय अधिकारी की देख–रेख में बने हुए होने चाहिए।[4] अन्य प्रकार के तराजू अथवा बाँटों को प्रयोग करने वाले शिल्पी पर बारह पण दण्ड देने की व्यवस्था दी गयी है।[5] इसके अतिरिक्त शिल्पियों द्वारा सुवर्ण, चांदी आदि के अपहरण किए जाने के अनेक प्रकार एवं उनसे बचने के अनेक साधन कौटिल्य द्वारा बतलाए गए है। नवीन आभूषणों के अतिरिक्त पुराने आभूषण एवं अन्य सामग्री भी जीर्णोद्धार के लिये इन्ही राजकीयशालाओं में बनाने हेतु आती थी। इनमें भी शिल्पी गणों से सुवर्ण चांदी आदि के अपहरण एवं उनसे बचने के उपाय बतलाए गए हैं।[6]

इस प्रकार सोना, चांदी धातुओं से सम्बन्धित उधोग राज्य के स्वामित्व एवं राज्य नियंत्रण में संघठित एवं संचालित किए जाने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है।

कृषि उद्योग

भारत प्राचीन काल से ही कृषि प्रधान देश रहा है। यहाँ के अधिकांश लोगों के

---

1. *निर्दिष्ट कालकायं च कर्म कुर्युः अनिर्दिष्टकालं कार्यपदेशम् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 14, वार्ता 2 ।
2. *कार्यस्पान्पथाकरणे वेतननाशः तद्विगुणाश्च दण्डः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 14, वार्ता 3 ।
3. *कालतिपातेन पादहीनं वेतनं द्द्विगुणाश्च दण्डः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 14, वार्ता 4 ।
4. *तुला प्रतिमानभाणंड पौतवहस्तात्क्रीणीयुः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 14, वार्ता 16 ।
5. *अन्यथा द्वादशपणो दण्डः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 14, वार्ता 17 ।
6. *कृतभांणडपरीछायां पुराणभाण्डप्रति संस्कारे वा चत्वारों हरणोपायाः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 14, वार्ता 49 ।

जीवन—यापन का स्त्रोत कृषि ही रहा है। इसी उद्योग पर भारतवासियों का जीवन निर्भर रहा है। कौटिल्य ने इसीलिए कृषि—उद्योग को राज्य के स्वामित्व एवं राज्य नियंत्रण में अन्तर्गत रखना उचित समझा है। धान्य, पुण्य, फल, शाक, कन्दमूल, वलिक्य, क्षीम, कपास आदि की उपज कृषि उधोग के अन्तर्गत मानी गयी है।[1]

कृषि संबन्धी पदाधिकारी

कौटिल्य ने कृषि की देखभाल करने के लिए एक कृषि विभाग की स्थापना का अनुदेश दिया था, जिसके अध्यक्ष को सीताध्यक्ष के नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य ने सीताध्यक्ष की योग्यताओं का वर्णन करते हुए कहा है कि उसे कृषिशास्त्र (कृषियंत्र) और मूल्य तथा वृक्षों के अर्थशास्त्र (गूल्मवृक्षायुर्वेदशः) का ज्ञाता होना चाहिए।[2] सीताध्यक्ष के सहायक राजकर्मचारियों की नियुक्ति की व्यवस्था भी की गयी है। इन सहायक कर्मचारियों को भी सीताध्यक्ष की भांति की कृषिशास्त्र एवं गुल्मवृक्षों के आयुशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए।[3] इन सहायक कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य कर्मचारी भी होने चाहिए जिनके द्वारा कृषि कार्य सफलता पूर्वक सम्पादित किया जा सके इन कर्मचारियें के नाम भी दिए गए है। इनमें कुछ हल जोतने वाले और खेतों में बुवायी करने वाले लोग है। किन लोगों को यह कार्य सौंपा जाना चाहिए इस विषय में कौटिल्य का मत है कि हल जोतने का कार्य सेवकों (दास), श्रमजीवियों (कर्मकर) और अभियुक्तों (दण्डप्रतिकर्तृभिः) के द्वारा कराना चाहिए।[4] इनके अतिरिक्त कृषि कार्य से सम्बन्धित जो अन्य कार्य होते हैं उनके सम्पादन हेतु भी कुछ विशेषज्ञों से सहायता लेने की भी व्यवस्था दी गयी है। इन विशेषज्ञों में लोहार, बढ़यी, कुएँ खोदने वाले , रस्सी बनाने वाले, और सांप पकड़ने वाले मुख्य बतलाए गए है।[5] सीताध्यक्ष को ऐसी व्यवस्था करते रहना चाहिए कि जिससे कृषि कार्य के हेतु हल बैल तथ अन्य आवश्यक उपकरणों का अभाव न होने पाए, और इनकी आवश्यकता पड़ने पर वह तुरन्त प्राप्त होते रहें।[6]

---

7. *सर्वधान्यपुष्पफलशाककन्दमूलवाल्लिश्यक्षौमकापांस वीजानि यथाकलंगृहृीयात्।।*
अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 1 ।
2. *सीताध्यक्षः कृषितंत्रगुल्मवृकायुर्वेदशः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 1 ।*
3. *तज्ज्ञसरवो वा।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 1 ।*
4. *बहुहलपरिकृष्टायां स्वभूमौ दासकर्मकरदड़ंप्रतिकर्तृ भिर्वापयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 2 ।*
5. *कारूभिश्च कर्मारकुट्टाकमेदकररज्जुवर्तक सर्पग्रहादिभिश्च।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 4 ।*
6. *कर्षणयंत्रोपकरणाब लीवदैश्चैषामसरडं कारयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 3 ।*

राज्य की समस्त कृषि–भूमि पर कृषि कार्य कराना सीताध्यक्ष का कर्त्तव्य था। यदि श्रम अथवा अन्य उपकरण के अभाव में कृषि–भूमि का कुछ अंश ऐसा बचा रहे जिसमे सीताध्यक्ष राजकीय श्रम एवं उपकरणों द्वारा कृषि–कार्य न करा सके तो इस प्रकार की कृषि भूमि उन लोगों को कृषि कार्य के निमित्त दी जाए जो उसमें कृषि–कार्य करने में समर्थ हों। इस प्रकार से कृषि भूमि उन लोगों को कृषि कार्य के निमित्त दी जाए तो उसमें से राज्य का उसका अंश अवश्य मिलना चाहिए।[1] यदि कृषि भूमि का कुछ अंश कृषि कार्य हेतु केवल श्रम के अभाव में श्रमजीवी लोगों को (बैल तथा अन्य उपकरण राज्य द्वारा देने पर) दी जाए तो उन लोगों को कृषि की उपज में से चौथा अथवा पाँचवां भाग देना चाहिए अथवा जितना भाग निर्धारित कर दिया गया हो, उतना उनको देना चाहिए।[2] परन्तु यदि किसी विशेष कारण से इन श्रम जीवियों द्वारा किए जाने वाले कृषि कार्य में विघ्न–बाधा आ पड़े तो तदनुसार व्यवस्था करनी उचित होगी।[3]

कृषि कार्य में नियुक्त सेवकों का वेतन

कौटिल्य के मतानुसार कृषि–उधोग में लगे हुए सेवकों एवं अन्य वेतन भोगी व्यक्तियों का वेतन उनके द्वारा किये जाने वाले कार्य की मात्रा के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए, अर्थात जो व्यक्ति जितना परिश्रम करता है उसका वेतन भी उसी परिश्रम की मात्रा के अनुसार नियत किया जाना चाहिए। इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है कि कृषि की रक्षा करने वाले सेवकों, ग्वाले, दास तथा कर्मकर (श्रम जीवी पुरुषों) को उनके परिश्रम के अनुसार भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए।[4] इस भोजन के अतिरिक्त इनमें से प्रत्येक को सवा पण मासिक वेतन भी मिलना चाहिए।[5] अन्य कारीगरों की भी उनके परिश्रम के अनुसार ही भोजन और वेतन की व्यवस्था होनी चाहिए।[6] इस प्रसंग में कौटिल्य ने सीताध्यक्ष एवं उसके सहायक राजकर्मचारियों के वेतन का उल्लेख नहीं किया है।

मुख्य अन्न और उनके बोने का समय एवं भूमि आदि का विचार

अन्नों की उत्पत्ति वर्षा के अधीन बतलायी गयी है इसीलिये कौटिल्य ने आदेश दिया

---

1. *वापातिरिक्तमर्धसीतिकाः कुर्युः।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 20 ।*
2. *स्वत्रीयौंपजीविनो वा चतुर्थ पञ्चभागिका यथेष्टमनवसितं भागं दधुः।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 20 ।*
3. *अत्यत्र कृच्छभ्यः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 21 ।*
4. *षणडवाटगोपालकदासकर्मकरेम्पो यथापुरुषपरिवापं भक्तं कुपति।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 38 ।*
5. *सपादपणिकं मासं दद्यात्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 39 ।*
6. *कर्मानुरूपं कारूभ्यों भक्तवेतनम्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 40 ।*

है, कि वर्षा की अधिकता अथवा न्यूनता को देखकर सीताध्यक्ष को अन्न की बुवाई करानी चाहिए।[1] इसी प्रसंग में उन्होंने विभिन्न प्रकार के अन्नों का भी उल्लेख किया है और यह भी बतलाया है। कि किस समय किस अन्न को बोना उचित होगा। उनके मतानुसार शालि, ब्रीहि, कोदों, तिल, प्रियंगू, दारक, और बराक, (लोभिया) आदि वर्षा ऋतु[2] के मध्य में बोना उचित होगा।[3] कुसुम्भ, मसूर, कुल्थी जौ, गेहूं, मटर, अलसी और सरसों वर्षा ऋतु के समाप्त हो जाने पर बोने चाहिए।[4] इस प्राकर ऋतुकाल में ही जिस काल में जिस अन्न के बोने का समय हो उसी अन्न को बोना चाहिए।[5]

इस प्रकार जोत आदि के परिश्रम और वर्षा के अनुरूप ही खेतों में हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु के अन्न सीताध्यक्ष को बुवाने चाहिए।[6] कौटिल्य ने शालि आदि अन्न की खेती लाभ की दृष्टि से सर्व श्रेष्ठ मानी है।[7] गेहूं आदि की खेती मध्यम[8] और गन्ने की खेती लाभ की दृष्टि से निकृष्ट मानी है।[9] गन्ने की खेती में अनेक प्रकार के विघ्न–बाधांए पड़ती रहती है, और इसमें व्यय भी अधिक करना पड़ता है।[10] नदी से सटी हुई भूमि जिस पर नदी के जल का फेन आता रहता है बेलि में उत्पन्न होने वाले फलों के लिये उत्तम भूमि मानी गयी है। नदी में जिस भूमि की सिंचाई हो सकती है ऐसी भूमि अंगूर और गन्ने की खेती के लिये उपयुक्त समझी गयी है। शाक और मूल आदि की उपज के लिये कूप जल श्रेष्ठ माना गया है। हरे शाकों की उपज के लिये शील तालाब आदि का हरित तट श्रेष्ठ माना गया है। काटे जाने योग्य गन्ध (सुगन्धित द्रव्य) भैषज्य, (औषधि) उशीर, नेत्रवाला, पिण्डालुक आदि की उपज के लिए बीच में तालाब से सम्पन्न क्षेत्र उत्तम माना गया है।[11] जड़ी बूटी जो दल–दली भूमि में उत्पन्न होती हैं उनको

---

1. *ततः प्रभूतोदकमल्पोदक वा सस्यं वापयेत।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 15 ।*
2. *शालिवोहिकोद्रवति जप्रियड़ं दारकवराकाः पूर्ववापाः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 16 ।*
3. *मुदगमाषशैम्वया मध्यवापाः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 17 ।*
4. *कुसुम्भमसरकुलुस्ययवगोधूमकलायातसीसर्थयाः पश्चाद्वापाः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 18 ।*
5. *यथर्तुवशेन वा वाजीवापाः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 19 ।*
6. *कर्मोदकप्रमाणेन केदारं हैमनं वा थौष्विकं वा सस्यं स्थापवेत।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 26 ।*
7. *शाल्यादि ज्येष्ठम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 27 ।*
8. *षणडोमध्यमः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 28 ।*
9. *इक्षुः प्रत्यवरः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 29 ।*
10. *इक्षवो हि बह्वाबाधा व्ययग्राहिणश्च।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 30 ।*
11. *फेनाधातो बल्लीफलानां परीवाहान्ताः मृदीकेक्षणां कृपपर्यन्ताः शाकमूलानां हरिणापयंन्ताः हरितकानां पाल्योलवानां गन्ध भैष उपोशीरहृीमेर पिराडालुक ! दीनाम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 31 ।*

स्थलों (गमलों) में भी उपजाया जा सकता है।[1]

सिंचाई

सिंचाई उत्तम फसल के लिए आवश्यक है। इस तथ्य को स्वीकारते हुए कौटिल्य ने सिंचाई के प्रमुख साधनों का उल्लेख किया हैं। उसने कहा है कि जिन खेतों में सिंचाई की अच्छी व्यवस्था होगी, उनमें फसल भी अच्छी होगी। उन्होंने सिंचाई के आधार पर उपज सेतुओं (तालाबों) से अपने ही परिश्रम से जल लाकर सीचें गए खेत की उपज का पांचवा भाग राज्य को प्राप्त होना चाहिए।[2] अपने कन्धों पर जल लाकर जिस खेत की सिंचाई की गयी हो, उसकी उपज का चौथाई भाग राज्य को प्राप्त होना चाहिए।[3] जल के स्त्रोतों से यंत्र द्वारा जिस खेत की सिंचाई की गयी हो, उसे खेत की उपज का तिहाई राज्य को मिलना उचित होगा।[4] नदी, सरोवर, तालाबों और कुओं से रहट द्वारा जल खींच कर खेत सींचे जाएं तो इस प्रकार सींचे गए खेतों की उपज का चौथायी भाग राज्य को प्राप्त होना चाहिए।[5]

इस प्रकार कौटिल्य ने नदी, तालाबों, सरोवरों, कुओं और स्त्रोतों आदि को सिंचाई के साधन बताये हैं।

खलिहानों की व्यवस्था

कौटिल्य ने सस्य के पक जाने पर उसकी कटायी का प्रबन्ध करना भी सीताध्यक्ष का कर्त्तव्य के अन्तर्गत माना है। पकी हुई सस्य की कटायी हो जाने पर उसको खलिहान में एकत्र करवाना चाहिए, कौटिल्य का कहना है कि समय–समय पर उत्पंन होने वाले अन्न के पक जाने पर सस्य की कटायी कर उसको सुरक्षित स्थान पर एकत्र करना चाहिए। चतुर किसानों को खेतों में तो पलाल (पयार) को भी नहीं छोड़ना चाहिए।[6] कटी हुई सस्य को खलिहान में ऊंची–ऊंची गौरियों (ढेंरियों) के रूप में चुनकर लगा देना चाहिए। इन गौरियों को एक–दूसरे के समीप नहीं रखना चाहिए। उसको कुछ अन्तर से रखना चाहिए। इन गौरियों की चोटियां

---

1. *प्रथास्वं भूमिषु च स्थल्याश्वान् प्याश्चौषधीः स्थापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 32 ।*
2. *स्वसेतुभ्यः हस्तप्रावर्तिमुदकभागं पचमं दधुः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 22 ।*
3. *स्कन्धं प्रावर्तिम चतुर्थम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 23 ।*
4. *स्त्रेतोयंप्रावर्तिम च तृतीयम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 24 ।*
5. *चतुर्थं नदी सरस्तहाककूपोद्धाटम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 25 ।*
6. *यथा कालं च सस्यादि जातं प्रवेशयेत्।।*
   न क्षेत्रे स्थापथेरिंकचित्पलालजमपि पण्डितः।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, श्लोक 43 ।*

नीची और छोटी नहीं होनी चाहिए। वह ऊंची और बड़ी होनी चाहिए।[1] खलिहान में अन्न की गहनयी में मैदान परस्पर समीप होने चाहिए। खलिहान में काम करने वाले व्यक्तियों को अपने समीप पानी रखने की उचित व्यवस्था करनी चाहिए, और खलिहानों के पास–पड़ोस में अग्नि नही रखनी चाहिए।[2]

इस प्रकार कौटिल्य कृषि–उधोग का संघठन एवं संचालन राज्य के स्वामित्व और राज्य नियंत्रण के अन्तर्गत मानते हैं।

सूत्र उद्योग

सूत्र उद्योग का क्षेत्र

सूत्र उद्योग के संघठन एवं संचालन का एक मात्र उद्देश्य राज्य के नागरिकों के पहनने, ओढ़ने आदि के लिये, नाना प्रकार के वस्त्रों का सृजन करना होता है। सूत्र और चमडे बाँस और बेंत की छाल से रस्सी बनाने और चमडे तथा बांस और बेंत की नाना प्रकार की वस्तुओं के निर्माण करने को भी कौटिल्य ने इसी उद्योग के अन्तर्गत परिगणित किया है। इस प्रकार सूत्र–उद्योग के अन्तर्गत सूत्र, वर्म, नाना प्रकार के वस्त्रों रस्सियों और चमडे तथा बांस और बेंत की अनेक प्रकार की वस्तुओं को मनुष्य की आवश्यकता एवं रूचि के अनुसार निर्माण करना कौटिल्य द्वारा माना गया है।[3] नाना प्रकार के कपड़ों के लिये रूई, तूल, ऊन रेशम, जूट बल्कल (बल्क) आदि पदार्थों का उपयोग किया जाता थां रस्सियों तथा अन्य उपयोगी सामग्री के निर्माण हेतु चमड़ा बांस और बेंत का प्रयोग किया जाता था।[4]

सूत्राध्यक्ष

कौटिल्य ने सूत्र उद्योग को राज्य के स्वामित्व एवं राज्य के नियंत्रण के अन्तर्गत रखना चाहते हैं। इसलिए वह इस उधोग के संघठन एवं संचालन का कार्य राज्य के एक मुख्य कर्मचारी

---

1. *प्रकराणां समुछायान्बलभीर्वा तथा विधाः।*
   न सहतानि कुर्वीत न तुच्छानिशिरासि च।। — अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 44 ।
2. *खंलस्यं प्रकरान्कुर्पान्मिणडलान्ते समाश्रितान्।*
   अनग्निकाः सोदकाश्च खले स्युः परिकर्मिणः।। — अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 45 ।
3. *सूत्रयर्मवस्त्ररज्जू व्यवहारं तज्जातपुरुषैः कारयेत्।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 1 ।
4. *ऊर्णावल्ककार्पासतूलशणाकौमाणि च ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 2 ।
   रज्जूतवर्त कैश्चर्म कारैश्च स्वयं संसृज्येत।। — अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 21 ।
   भाणडानि च वस्त्रादीनि वर्तथेत्।। — अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 22 ।
   सूत्रबलकमयी रज्जूः वस्त्रा वैत्रवैणावीः ।। — अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 23 ।

को सौप देना उचित समझते हैं, इस राजकर्मचारी को कौटिल्य सूत्राध्यक्ष के नाम से सम्बोधित करते है। कौटिल्य के मतानसुार इसी राजकर्मचारी की देख–रेख में सूत्र–उद्योग का समस्त कार्य सम्पादित होना चाहिए, सूत्राध्यक्ष को राज्य मं कतायी–बुनायी एंव तत्सम्बन्धी कार्यो के सम्पादन हेतु राज्य में अनेक कार्य गृहों के निर्माण कराने की व्यवस्था करनी चाहिए। इन कार्य–गृहों को कौटिल्य ने सूत्र शाला के नाम से सम्बोधित किया है। प्रत्येक सूत्रशाला में एक सूत्रशालाध्यक्ष होता था, इस अध्यक्ष का मुख्य कर्तव्य सूत्रशाला में काम करने वाले शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों के कार्य का निरीक्षण करना एवं उनको नियंत्रण में रखना और प्रतिदिन सूत्रशाला के लिए शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों की व्यवस्था करना बतलाया गया है। कौटिल्य कहते हैं कि इस अध्यक्ष को शिल्पियों से कतायी बुनायी का कार्य कराना चाहिए और उनके कार्य का हर समय निरीक्षण करते रहना चाहिए।[1] रस्सी बटने वाले तथा चमड़े के शिल्पियों से उसको स्वयं मिलते रहेना चाहिए।[2] उनसे रस्सी अन्य वस्तुएँ बनवाते रहना चाहिए।[3] उसको शिल्पियों के सम्पर्क में बना रहना चाहिए।[4] इस अध्यक्ष का कर्त्तव्य सूत्रशाला में कार्य करने वाले शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों के कल्याण का उपाय करना तथा उनके द्वारा कतायी–बुनायी एवं अन्य कर्मचरियों के कल्याण के उपाय करना तथा इनके द्वारा कतायी–बुनायी एवं तत्सम्बन्धी किए जाने वाले कार्य की मात्रा एवं उसमें कौशल की वृद्धि करना बतलाया गया है। कौटिल्य ने उन अध्यक्षों के लिए दण्ड विधान किया है जो अपने कर्त्तव्यों का विधिवत पालन नहीं करते है। वह उस अध्यक्ष को पूर्व साहस दण्ड देने का आदेश देते हैं जो सूत्रशाला में काम करने वाली स्त्रियों के मुख की ओर ही देखता रहता है अथवा उसने बात–चीत करके उनको अन्य कार्य में लगाकर कार्य में विघ्न पैदा करता है।[5] जो अध्यक्ष सूत्रशाला में काम करने वाले शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों को समय पर वेतन नहीं देता है उसको मध्यम साहस दण्ड देना चाहिए।[6] इसी प्रकार उस अध्यक्ष को भी मध्यम साहस दण्ड दिया जाना चाहिए जो बिना काम किए ही वेतन दे देता है।[7]

---

1. *तज्जातकारूशिल्पिभिः कारयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 11 ।*
2. *रज्जूत वर्तकैश्चर्म कारैश्व स्वयं संसृज्येत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 21 ।*
3. *भाण्डानि च वरत्रादीनि वर्तयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 22 ।*
4. *कारूभिश्चकर्मकारयेस्प्रतिसंसर्ग च गच्छेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 8 ।*
5. *स्त्रिया मुखसन्दर्शने अन्यकार्य संभाषायां वा पूर्वः साहसदण्डः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 15 ।*
6. *वेतन कालातिपातने मध्यमः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 16 ।*
7. *अकृतकमंवेतन प्रदाने च ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23,वार्ता 17 ।*

शिल्पी एवं कर्मचारी

कौटिल्य के अनुसार कतायी–बुनाई तथा उससे सम्बन्धित उद्योग में कार्य करने वाले शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों को मुख्य दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, प्रथम श्रेणी में वह शिल्पी एवं अन्य कर्मचारी परिगणित किए जा सकते हैं जो पूरे दिन काम करने के लिए नियुक्त किए जाते थे। दूसरी श्रेणी में वह शिल्पी एवं अन्य कर्मचारी थे जो पूरे दिन काम नहीं करते थे अपितु आंशिक काल के लिए कार्य करते थे, प्रथम श्रेणी के शिल्पी एवं अन्य कर्मचारी सूत्रशाला में ही उसके अध्यक्ष की देख–रेख एवं उसके आदेश के अनुसार कार्य करते थे। आंशिक शिल्पी अथवा कर्मचारी गण शिल्पकला में कार्य करने के निमित्त उपस्थित नहीं होते थे अपितु वह अपने घरों में ही कतायी–बुनायी एवं तत्सम्बन्धी अन्य कार्य करते थे, और उनके कार्य के अनुसार उनको उनकी मजदूरी दे दी जाती थी। इस श्रेणी के शिल्पियों एवं कर्मचारियों के पास रूई, ऊन, शण, आदि सामग्री भेज दी जाती थी, और इसके बदले में वह सूत्र, वस्त्र, रस्सी आदि का निर्माण कर सूत्राध्यक्ष के पास भेज देते थे। इस आदान–प्रदान के निमित्त सूत्राध्यक्ष दासियों की नियुक्ति करता था। इन दासियों को नम्रतापूर्वक व्यवहार करने के लिए आदेश दिया गया है।[1]

कौटिल्य का विचार है कि प्रायः घर से बाहर नहीं निकलने वाली स्त्रियां, पति के परदेश जाने से असहाय, विधवा, अंगहीन और कन्याएं आदि जिनको अपना स्वयं भरण–पोषणा करना हैं सूत्राध्यक्ष को उनके पास अपनी दासी भेजकर आदरपूर्वक कार्य लेना चाहिए।[2]

कताई–बुनाई एवं तत्सम्बन्धी कार्य के लिए कौटिल्य कुछ विशेष प्रकार के व्यक्तियों को उनके उपयुक्त समझते हैं, और इसीलिए उन्होंने इस कार्य के सम्पादन हेतु इनकी नियुक्ति की व्यवस्था दी है। सूत्राध्यक्ष को सूत्र, कवच, वस्त्र और रज्जु का कार्य, उस कार्य में कुशल पुरुषों के द्वारा ही कराना चाहिए।[3] ऊन, बल्क, कपास, सेमर की रूई आदि शण और क्षोम को विधवा, अंगहीन कन्या सन्यासिनी, अपराधिनी वेश्याओं की वृद्ध माता, वृद्ध राजदासी तथा देव स्थान से

---

1. *स्वदासीभिरनुसार्य सोपग्रहं कर्म कारयितब्याः।।* *अर्थ०, अधि० 2, अ० 23, वार्ता 12 ।*
2. *याश्चानिष्कासिन्यः प्रोषितविधवा न्यङणं कन्यका बाल्मानं विभृयुस्ताः स्वदासोभिरनुसायं सोपग्रहं कर्मकारयितब्याः।।* *अर्थ०, अधि० 2, अ० 23, वार्ता 12 ।*
3. *सूत्राध्यक्षः सूत्रवर्मस्त्ररज्जूब्यवहारं तज्जातपुरुषैः कारयेत्।।* *अर्थ०, अधि० 2, अ० 23, वार्ता 1 ।*

बहिष्कृत देवदासियों से कतवाना चाहिए।[1] कताई–बुनाई एवं तत्सम्बन्धी अन्य कार्यो को विशेषज्ञों के द्वारा उनकी विशेष योग्यता के अनुसार कार्य लेना चाहिए।[2]

वेतन

कताई–बुनाई एवं तत्सम्बन्धी अन्य कार्य उधोग में जो शिल्पी तथा अन्य कर्मचारी कार्य करते थे, वह वैतनिक कर्मचारी होते थे। कौटिल्य का विचार है कि कार्य की मात्रा एवं उसकी उत्तमता अथवा निम्नता को ध्यान में रखकर वेतन दिया जाना चाहिए। सूत्र की कताई के विषय में वेतन निर्धारित करने के लिए सूत्र की मुटाई, लम्बाई एवं उसकी सूक्ष्मता आदि पर ध्यान रखना चाहिए।[3] ठेके पर भी कार्य कराया जाना चाहिए। इस प्रकार निश्चित समय में निश्चित कार्य के पूर्ण हो जाने पर निश्चित वेतन देने की भी प्रणाली थी।[4] यदि पर्व आदि किसी सार्वजानिक अवकाश वाले दिन किसी शिल्पी अथवा कर्मचारी से कार्य लिया जाए तो उसको अतिरिक्त वेतन देना चाहिए।[5]

कौटिल्य का विश्वास है कि वेतन नियत समय पर दिया जाना चाहिए। इसीलिए वह शिल्पियों एवं कर्मचारियों को ठीक समय पर वेतन देने के समर्थक दिखलायी पड़ते है। वह उस सूत्राध्यक्ष को दोषी ठहराते हैं जो अपने अधीन काम करने वाले शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों को ठीक समय पर उनका वेतन नहीं देता हैं। ऐसे सूत्राध्यक्ष को वह मध्यम साहस दण्ड निर्धारित करते हैं।[6]

शिल्पियों एवं कर्मचारियों के उत्साह–वर्धन हेतु पुरस्कार

कौटिल्य ने कतायी–बुनायी उधोग के विकास के निमित्त शिल्पियों को प्रोत्साहित करने की ओर विशेष ध्यान दिया है। उनका कहना है कि जो शिल्पी वा[illegible]व में उच्चे कोटि का सूत्र

---

1. *ऊणावित्कक्कार्पासतूतशणा क्षौमाणि च विधवान्यडकन्याप्रव्रजितादण्ड प्रतिकारिणीभीरूपाजीवा मातृकाभिवृं द्धराजदार्सी भम्युं परतोपस्थान देवदासीभिश्चर्तयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 2 ।*
2. *तज्जातुपुरुषैः कारयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 1 ।*
3. *श्लक्ष्णस्थूलमध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतनम् कल्पयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 3 ।*
   बहूल्पतां च।। *अर्थ0, अधि0 3, अ0 23, वार्ता 4 ।*
4. *कृतकर्मप्रमाणांकालवेतन फलनिष्पात्ति।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 23, वार्ता 8 ।*
5. *तिथिषु प्रतिपादनमानैश्च कर्मकारपितष्याः ।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 23, वार्ता 6 ।*
6. *वेतन कालातिपातने मध्यमः।।* *अर्थ0, अधि0 3, अ0 23, वार्ता 16 ।*

अथवा वस्त्र का निर्माण करते है, उनको प्रोत्साहित करने के लिए सूत्राध्यक्ष को गन्ध माल्य आदि आदर की वस्तु देकर सन्तुष्ट करना चाहिए।[1]

शिल्पियों एवं कर्मचारियों को दण्ड

जहाँ कौटिल्य ने अच्छे शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों को उनके विशेष कार्यों के लिए पुरस्कार देनें का विधान किया है वहीं उन्होंने आलसी एवं कायर शिल्पियों एवं कर्मचारियों को उनकी कायरता एवं अकर्मण्यता के लिए दण्ड देने की व्यवस्था दी है। कौटिल्य का कथन है कि यदि सूत्र कम उतरने लगे तो शिल्पी का वेतन कम कर देना चाहिए।[2] उसी प्रकार असार वस्तु के निर्माण करने पर शिल्पी के वेतन में कटौती कर देनी चाहिए। जो शिल्पी एवं कर्मचारी अपराध करे सूत्राध्यक्ष उनको उनके अपराध के अनुसार वेतन काटकर दण्ड दे सकता है।[3] यदि शिल्पी अथवा कर्मचारी किसी कार्य को उलट–पलट कर करता है तो उसको उस समय का वेतन नहीं दिया जाना चहिए और उस पर उसके वेतन से दो गुना दण्ड भी होना चाहिए।[4] यदि वस्त्र नाप में कम पाय जाये तो वस्त्र के मूल्य का वेतन काट लेना चाहिए और इसके अतिरिक्त उससे दो गुना आर्थिक दण्ड लेना चाहिए।[5] यदि सूत तौल में कम उतरे तो जिनते मूल्य का सूत तौल मे कम उतरे उसके मूल्य का चार गुना दण्ड होना चाहिए।[6] यदि सूत बदल दिया जाए तो मूल्य से दो गुना दण्ड किया जाना चाहिए।[7]

आर्थिक दण्ड के अतिरिक्त उन्हें शारीरिक दण्ड का भी विधान किया गया है। कौटिल्य उन शिल्पियों को कठोर दण्ड देने के पक्ष में है जो वेतन लेकर काम नहीं करते है। इस विषय में वह व्यवस्था देते हैं कि वेतन लेकर काम नहीं करने वाली स्त्रियाँ के अंगूठे कटवा देने चाहिए।[8] जो राजकीय द्रव्य को खा जाए। या अपहरण कर ले जाए अथवा लेकर भाग जाये, तो उसको भी इसी प्रकार शारीरिक दण्ड दिया जाना चाहिए।

---

1. *गन्धमाल्यदानैरन्यैश्चौपग्राहिकैराराध्येत्।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 23, वार्ता 9 ।*
2. *सूत्रंहासे: वेतनहृास: द्रव्यसारात्।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 23, वार्ता 7 ।*
3. *वेतनेषु च कर्मकराणामपराधती दण्ड ।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 23, वार्ता 20 ।*
4. *कार्यस्यान्प्रथाकरणे वेतननाशस्तद् द्विगणाश्च दण्ड:।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 23, वार्ता 3 ।*
5. *मानहीने हीनापहीनं वेतनं तद्द्विगुणश्च दण्ड: ।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 13 ।*
6. *तुलाहीने हीन चतुर्गुणौ दण्ड:।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 14 ।*
7. *सूत्रपरिवर्तने मूल्याद्द्विगुणा: ।।* — *अर्थ0, अधि0 4, अ0 1, वार्ता 15 ।*
8. *गृहीत्वां वेतनं कर्माकुर्वन्त्य: अंगष्ठसंदंश दापयेंत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 18 ।*

इस प्रकार कताई–बुनाई तथा तत्सम्बन्धी अन्य कार्य उद्योग राज्य के स्वाामित्व एवं उसके नियंत्रण में राज्य की पूंजी, श्रम और प्रबन्ध के द्वारा संघठित एवं संचालित होता था। इस प्रकार इस उधोग से उत्पादित सामग्री में जितनी सामग्री राज्य की सरकार को उसके निर्वाह हेतु आवश्यक होती थी उतनी सामग्री राज्य स्वयं अपने अधीन रख लेता था और अवशेष सामग्री राजकीय दूकानों में विक्रय की जाती थी। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि न था कि कताई–बुनाई एवं तत्सम्बन्धी अन्य कार्य निजी तौर पर करने का निषेध था। ऐसा भी कदापि न था कि जनता अपने निर्वाह हेतु इस प्रकार की सामग्री का उत्पादन कर सकती थी और उसके क्रय–विक्रय करने की भी उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता थी परन्तु क्रय–विक्रय राज्य के नियंत्रण के अधीन ही होता था। जिससे मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण न होने पाए, और लोगों की वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकतायें भी पूरी होती रहें।

गोपालन–उद्योग

मनुष्य के उपयोग में आने वाले दूध, दही, धृत आदि की प्राप्ति हेतु दूध देने वाले पशुओं का पालन किया जाता था। इन पशुओं के पालन हेतु कौटिल्य ने गोपालन उद्योग के संघठन एवं संचालन हेतु व्यवस्था दी है। कौटिल्य के मतानुसार गोपालन–उद्योग राज्य के स्वामित्व एवं राज्य के नियंत्रंण के अन्तर्गत होना चाहिए।

गोपालन–उद्योग का क्षेत्र

कौटिल्य के मतानुसार गोपालन–उद्योग का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि दूघ देने वाले पशुओं का पदार्थ जैसे दही, घृत, मक्खन, आदि का निर्माण करना ऊन, वाले पशुओं का पालन करना और उन से ऊन प्राप्त करना, मरे हुये पशुओं की खाल, सींग हड्डी, खुर आदि का संग्रह करना, गाय, भैंस, बकरी, भेड आदि पशुओं के वत्स्या और वत्स्यों का पालन–पोषण कर उनको मनुष्य के उपयोग हेतु समर्थ करना, गाय, भैंस आदि क वत्स्यों का विशेष रूप से पालन–पोषण कर उनको कृषि–कार्य एक भार–बहन आदि कार्यो के योग्य बनाना आदि कार्य गोपालन उधोग के क्षेत्र के अन्तर्गत माने गए हैं। इन कार्यों के अतिरिक्त गोपालन उधोग के क्षेत्र के अर्न्तगत आने वाले पशुओं के रोग निवारण हेतु उनकी चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध करना और भय के अन्य प्रकारों से उनकी रक्षा करना जिससे यह पशु नष्ट अथवा विनष्ट न होने पाएं।

गोध्यक्ष

गोपालन उद्योग के प्रमुख अधिकारी को कौटिल्य ने गाध्यक्ष नाम से सम्बोधित किया है। गोपालन उधोग की समस्त देख–रेख एवं उनका प्रबन्धन तथा संचालन इसी अध्यक्ष के कर्त्तव्य क्षेत्र के अन्तर्गत माना है। गोपालन की अनेक प्रणालियों को विधिवत संचालन करना गाध्यक्ष का ही कर्त्तव्य बताया है। इस विषय में कौटिल्य व्यवस्था देते हैं कि वेतनोपग्राहिक, करप्रतिकर, भगनोत्स्सूष्टक, भागानुप्रविष्टक, ब्रजप्रिय, क्षीरघृतसंजात आदि प्रणालियों द्वारा राज्य में जो राजकीय गोपालन–उद्योग संचालित होता है, उसकी देख–रेख करना गोध्यक्ष का कर्त्तव्य है।[1] उसको उन सभी उपायों को करना चाहिए जिससे गोपालन–उद्योग के अन्तर्गत पालित–पोषित पशुओं को नष्ट एवं विनष्ट होने से उनकी रक्षा हो सके।[2] गोपालन–उद्योग में जो दोष उत्पन्न हो रहे हों जैसे एक यूथ के वृष को दूसरे यूथ के वृष से लड़ाना, वृष को मार डालना, ठीक समय पर गाय, भैंस आदि समय से दूध न निकालना अथवा निषेध किये गये समय पर उनका दुहा जाना, आदि का निराकरण करना गोध्यक्ष का कर्त्तव्य बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त गोपालन उधोग में कार्य करने वाले कर्मचारियों एवं सेवकों आदि की सेवाओं के अनुसार उनको वेतन देने एवं कार्य न करने वालों के वेतन काटने एवं उनको अन्य प्रकार से दण्डित करने की व्यवस्था करना आदि कार्य भी उसी कर्त्तव्य क्षेत्र के अन्तर्गत परिगणित किए है।[3] गोध्यक्ष का यह भी कर्त्तव्य बतलाया गया है कि उसको राजकीय गोपालन उधोग के अन्तर्गत रहने वाले समस्त पशुओं को चिन्हित करा देना चाहिए।[4] इन पशुओं के अंक, स्वाभाविक चिन्ह्, रंग सीगों का ढंग आदि लक्षणों को गोध्यक्ष को निबन्ध पुस्तक (रजिस्टर) में लिखवाते रहना चाहिए।[5] इस प्रकार कौटिल्य ने गोध्यक्ष को गोपालन–उद्योग का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं सबसे बड़ा पदाधिकारी बतलाया है।

---

1. *गोऽध्यक्षों वेतनोंपग्राहिकं करप्रतिकरं भग्नोप्स्टष्टकं भागानुप्रविष्टकं ब्रजपर्यग्र नष्टं विनष्टं क्षीरधृतसंजातं चोपलभेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 1 ।*
2. *नष्टं विनष्टं चोपलभेत।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 1 ।*
3. *यूथं वृथंवृषेणावपातथतः पूर्वः साहस दण्ड।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29,वार्ता 39 ।*
   धातयत उत्तमः ।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 40 ।*
   दोहकालमतिक्रामतरतल्फलहानं दण्डः ।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 32 ।*
   द्वितीय कालदोग्धुरङणं ष्ठच्छेदो दण्डः।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 31 ।*
   हिरण्यभृताः पालयेंथुः ।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 2 ।*
4. *मासद्विमासंपर्मुषितमङयेतं ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 9 ।*
5. *अंक चिहं वणां श्रृडान्तरं च लक्षणामेवमुपजा निबन्धयेदितिब्रजपर्थग्रम्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 10 ।*

गोपालन की मुख्य प्रणालियाँ

गोपालन उद्योग के अन्तर्गत प्रणलियों में एक यह प्रणाली थी कि गोपालन कार्य वेतन–भोगी कर्मचारियों तथा सेवकों के द्वारा किया जाता था। इस प्रणाली के अनुसार गो, भैंस आदि दूध देने वाले पशुओं से प्राप्त दूध तथा दूध से बने हुए घी, मक्खन दही, आदि पदार्थों में उनका अंश वेतन के रूप में नहीं होता था। इस प्रणाली को वेतनो पगाहिक प्रणाली के नाम से सम्बोधित किया गया है। गोपालन की इस प्रणाली का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने व्यवस्थाएं दी हैं कि "सौ गायों की एक टोली अलग बनायी जानी चाहिए जिनकी देख–रेख एवं सेवासुश्रुषा के निमित्त पाँच व्यक्ति नियुक्त किए जाने चाहिए। यह पाँच व्यक्ति गोपालन पिण्डारक (भैंस पालक) दोहक मन्थक और लुब्धक (जंगली जीवों से पशुओ की रक्षा करने वाले) हैं।[1] इनको नकद वेतन मिलना चाहिए। यदि दूध, दही, मक्खन, घृत आदि में इनका अंश रखा जाएगा तो यह इन पशुओं के वत्स एवं वत्स्याओं को भूखों मार देगे। इस प्रणाली को वेतनोंपग्राहिक प्रणाली कहते हैं।[2]

पशुपालन की दूसरी प्रणाली को कर प्रतिकर प्रणाली के नाम से सम्बोधित किया गया है। कौटिल्य कहते हैं कि बूढ़ी, दूध देने वाली, गर्भिणी, पठोरी, और बछियां–इन पांचों में प्रत्येक प्रकार के बीस–बीस पशु मिला कर सौ पशुओं की एक टोली बनायी जानी चाहिए और उनको एक मुख्य पालक की देख–रेख में रखा जाए,"[3] इस पालक को अठ बारक घृत, प्रत्येक गाय पर एक पण, और राजकीय मुद्रा से अंकित मरे पशु की पूंछ, तथा चर्म, प्रति वर्ष राजकोष के निमित्त कर के रूप में देना चाहिए।[4]

रोगी, अंगहीन, एक ही से दुही जाने वाली, कठिनायी से दुही जाने वाली और मृत–वत्सा, इन पांच प्रकार की गौओं में से प्रत्येक प्रकार की बीस–बीस गाय मिलाकर सौ गायों की एक टोली बनानी चाहिए। इस प्रकार से बनाए गए सौ पशुओं की टोली की सेवा–सुश्रुषा

---

1. *गोपालंकपिण्डारकदोहकमन्थकलुब्धकाः शतं शतं धेनूनां हिरण्यभूताः पालयेयुः।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 2 ।
2. *क्षीरघृतभृता हि वत्सानुपहन्युरिति वेतनोपग्राहिकम्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 3 ।*
3. *जरग्दुधेनुगार्भिणीप्रष्ठौहीवत्सतरीणां समाविभागं ल्पशतमेकः पालयेत्।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 4 ।*
4. *घृतस्याष्टौ वारकान्पणिाकं पुच्छमडवर्म च वार्षिक दद्यादितिकरप्रतिकरः।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 5 ।

का कार्य भार एक मुख्य पालक को सौंपना चाहिए, और उन पशुओं से उत्पन्न दुग्ध एवं उससे बने घृत आदि का जो अंश निर्धारित कर दिया गया है, उसको राजकीय कोष में उस मुख्य पालक को भेजते रहना चाहिए, इस प्रणाली को कौटिल्य ने भग्नोत्सृष्टक की संज्ञा दी हैं।[1]

शत्रु के आक्रमण अथवा जंगली जन्तुओं के भय से जो लोग अपने पशु राजकीय गोशाला में रक्षा हेतु भेज देते थे और उन पशुओं के पालन का शुल्क उन पशुओं की आय का दसवां भाग राजकीय कोष में जमा करते रहते थे पशुपालन की इस प्रणाली को भागानुप्रविष्टक प्रणाली की संज्ञा दी गयी है।[2]

पशुपालन की पाँचवीं प्रणाली जिसमें पशुओं को उनकी पृथक–पृथक श्रेणियो में विभक्त कर उनका पालन–पोषण एवं उनके अनुरूप उनसे काम लेने के योग्य उन्हें बनाने की व्यवस्था की जाती है, इस प्रणाली को कौटिल्य ने ब्रजपर्यय प्रणाली के नाम से सम्बोधित किया है।[3] कौटिल्य ने कहा है कि वत्स (दूध पर ही निर्वाह करने वाला), वत्सतर (जिनका दूध छूट गया है) दम्य (हल खींचने वाला) बहिन (भारवहन योग्य) वृष, सांड यह छ' प्रकार के बैल होते हैं।[4] जुआ (हल), वाहन में चलने वाले सांड रूप में छोड़े गए केवल मांस के उपयोग में आने वाले, और पीठपर भार वहन करने वाले यह चार प्रकार के भैंसा होते हैं।[5] वत्सिका (छोटी बछिया) बत्सरी (कुछ बडी बछिया) प्रष्कौही, (पठोही) गर्भिणी, दूध, देनेवाली और बन्ध्या, यह गाय और भैंस दोनों होती हैं,[6] मास दो मास इनके बच्चों को उपजावत्स वत्सिका कहते हैं, इस अवस्था में ही इनको लोहें के चिन्हों से दाग देना चाहिए।[7] जो बाहर के पशु राजकीय गोशाला में प्रविष्ट हों उनको भी महीने–दो–महीनें में दाग देना चाहिए।[8] इन समस्त पशुओं के अंक, स्वाभाविक

---

1. *ब्याधितान्यडांनन्य दोहीदुर्दोहापुत्रध्नीनां चसमाविभर्ग रूपशतं पालयन्तस्त जातिकं भागं दुधुरिति भब्नात्सृष्टकम् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 6 ।
2. *परचक्राटवीभयादनुप्रविष्टानां पशूनां पालनधर्मेण दशभागं दधुरिति भागानुप्रविष्टकम् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 7 ।
3. *ब्रजपर्यग्रम् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 10 ।
4. *वत्सा वत्सतरा दम्या वहिनों वृषा उक्षाणाश्च णुडवाः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 8 ।
5. *युगवाहनशकटवहा वृषभा5 सूना महिषाः पृष्टस्कन्धवाहिनश्च महिषाः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 8 ।
6. *वत्सिका वप्सतारीदृठौही गर्भिणी धेनुश्वाजाता बन्ध्याश्च गांवो महिष्यश्च ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 8 ।
7. *मास द्विमासजातास्तासामुपजा वत्सा वत्सिकाश्च मासद्विमासजातानडयेत् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 8 ।
8. *मासद्विमासपर्युषितमड़येत् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 9 ।

चिन्ह, वर्ण सीगों का ढंग आदि लक्षणों को गोष्ध्यक्ष को अपने रजिस्टर में लिखवा लेना चाहिए। इस प्रणाली को ब्रजपर्यग्र कहते हैं।[1]

नष्ट पशु

कौटिल्य ने पशुओं के नष्ट होने के मुख्य तीन कारण चोरों द्वारा पशुओ का अपहरण किया जाना, पशुओं का दूसरे के यूथ में मिल जाना, और यूथ से भ्रष्ट होकर वन में इधर–उधर भटकना बताये हैं।[2]

विनष्ट पशु

कौटिल्य ने पशुओं के विनष्ट होने के अनेक कारण बतलाए हैं। कीचड़ विषमगर्त आदि में फंस जाना, रोगग्रस्त होना, जराग्रस्त होना, जलप्रवाह में बह जाना, आहार आदि की उचित व्यवस्था न होने पर मर जाना, वृक्ष, तट, काष्ठ, शिला आदि के आघात से मर जाना, ईश्वरी उत्पाद बिजली, तुषारपात, आदि से मृत्यु को प्राप्त होना, सिंह आदि हिंसक जन्तु, सर्प, ग्राह, दावाग्नि आदि द्वारा विनाश को प्राप्त होना–इस प्रकार पशुओं का नाश विनष्ट कहलाता है।[3]

पशुओं के नष्ट और विनष्ट होने से उनकी रक्षा की व्यवस्था

कौटिल्य ने पशुओं के नाश एवं विनाश होने से उनकी रक्षा के हेतु व्यवस्थाएं दी है और गोष्ध्यक्ष को आदेश दिया है कि उसको इन व्यवस्थाओं को कार्यान्वित करना चाहिए और इस प्रकार पशुओं की रक्षा करनी चाहिए। कौटिल्य ने प्रथम व्यवस्था यह दी है कि जिस व्यक्ति के प्रमाद से पशु का नाश अथवा विनाश हो उस व्यक्ति को ही उस हानि को पूरा करना चाहिए।[4] जो व्यक्ति पशुवध स्वयं करता है अथवा दूसरे से उसका वध कराता है उसको मृत्यु दण्ड दिया जाना चाहिए।[5] दूसरे के पशु पर जो व्यक्ति राजकीय चिन्ह् लगाकर उसका पूर्व रूप बदल दे, उसको पूर्व साहस दण्ड देना चाहिए।[6] चोरों द्वारा हरण किए गये अपने ही देश के पशुओं को लाने वाले को प्रत्येक पशु पर एक पण पशु के स्वामी से प्राप्त करना चाहिए।[7] परदेश के पशुओं

---

1. *अंकचिन्हं वर्ण श्रृण्डान्तरं च लक्षणामेवभुपजा निबन्धयेदिति ब्रजपर्यग्रम्।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 10।*
2. *चोरहृतमन्यूथप्रविष्टमवलीनं वा नष्टम् ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 11।*
3. *पंगविषमब्याधिजरातोयाधारावसन्नं वृक्षतटकाष्ठशिलाभिहतमीशानब्याल सर्पग्राहदावाग्निविपन्नं विनष्टं ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 12 ।*
4. *विनष्टं प्रमादांदभ्याहृेयुः।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 12 ।*
5. *स्वयं हंता धातयिता हर्ता हारायिता च वध्यंः।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 14 ।*
6. *परपशूनां राजांकेन परिवर्तयिता स्पस्य पूर्वसाहसदण्डं दधात्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 15 ।*
7. *स्वदेशीयानां चोरहृतं प्रत्यानीय पणिकं रूपं हरेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 16 ।*

को चोरों से मुक्त कराने वाला व्यक्ति, पशु के स्वामी से पशु के मूल्य के आधे मूल्य के पाने का अधिकार रखता है।[1] गोपालको को बाल, बृद्ध और रोगी पशुओं की यथोचित देख–रेख एवं चिकित्सा करनी चाहिए।[2] लुब्धक (शिकारी) और कुत्तों के समूह रखने वाले वनवासी मनुष्यों द्वारा चोर, सिंह आदि सिंहक जन्तुओं से सुरक्षित, बन में ऋतुओ के अनुसार गोपालकों को पशु चराते रहना चाहिए।[3] सर्प, व्याल, आदि जन्तुओं को डराने, पशु कहां चर रहा है, इसे जानने आदि के लिए पशुओं के गले में घण्टे बांध देने चाहिए।[4]

गोपालक की अपने अधीन पशुओ को सम प्रदेश, भली प्रकार उतरने योग्य, कीचड़ एवं दलदल आदि से रहित और ग्राह आदि जल जन्तुओं से हीन जल में उतारना चाहिए और इस प्रकार उनको जलपान कराने की व्यवस्था करनी चाहिए।[5] चोर, हिसंक जन्तु, सर्प, ग्राह आदि से ग्रसित तथा व्याधि अथवा जरा के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए पशु की मृत्यु की सूचना गोपालक को गोष्ध्यक्ष के समीप तुरन्त भेजनी चाहिए अन्यथा गोपालक को पशु के मूल्य का धन चुकाना पड़ेगा।[6] किसी कारण वश मृत्यु को प्राप्त हुए गो, भैंस का अंकित चर्म, अजा और भेड़ों के चिन्हित कान, अश्व, खुर, और ऊंटों का अंकित चर्म और पुच्छ गोपालक को गोष्ध्यक्ष के पास उसके अवलोकन हेतु प्रस्तुत करना चाहिए। मरे हुए पशु के बाल, चर्म, वस्ति, पित्ता स्नायु, दांत, खुर, सीग, और हड्डी तक लाकर गोष्ध्यक्ष के अवलोकन हेतु प्रस्तुत करनी चाहिए।[7]

गोपालन–उद्योग सम्बन्धी कतिपय विशेष नियम

पशुओं की बृद्धि हेतु, गाय, भैंस बकरी आदि पशुओं में गर्भ धारण कराने के लिए तत्सम्बन्धी बलिष्ट एवं पुष्ट नर पशु उनके यूथ में होने चाहिए। यह पशु किस अनुपात में होने चाहिए, इस विषय में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं कि खर और घोडियो के यूथ में पांच प्रतिशत सांड़ छोड़ने चाहिए। भेड़ और बकरियों में दस प्रतिशत, गर्भ स्थापन कराने वाले मेढ़े

---

1. *परदेशीयानां मोक्षयितार्थ हरेत् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 17 ।
2. *बालवृद्धब्याधितानां गोपालकाः प्रतिकुर्यः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 18 ।
3. *लुब्धकश्वाणिभिरपास्तस्तेनब्यालपरवाध्भयमृतुविभतमरण्यं चारयेषु।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 19 ।
4. *सपब्यालग्रासनार्थ गोचरानुपातज्ञानार्थ च त्रस्नूनां घण्टातूर्य च वध्नीयुः।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 20 ।
5. *समध्यूढतीर्थकमर्दमग्राहमुदकवतारयेषुः पालयेयुश्च ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 21 ।
6. *स्तेनब्यालसर्पग्राहगृहीतं ब्याधिराजवरासंन्नं चावेदयेयुरन्यथा रूपमूल्यं।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 22 ।
7. *कारणामृतस्याडचर्म गोमहिषस्य कर्णलक्षणमजाविकानां पुच्छमड्धर्म चाश्वखरोष्ट्राणां बालचर्मवस्तिपित्तस्नायुदन्तखुर श्रृखस्थीनि चाहरेयुः।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 23 ।

और बकरे होने चाहिए और गाय, भैंस और ऊँटिनियों के यूथ में चार प्रतिशत सांड़ होने उचित हैं।[1] इस प्रकार पशुओं की बृद्धि के हेतु इस व्यवस्था का अनुसरण करने का विचार कौटिल्य ने किया है।

उन्होंने ऋतु के अनुसार गाय, भैंस आदि के दूध दुहने का समय भी निर्धारित किया है। वर्षा, शरद और हेमन्त ऋतुओं में गाय, भैंस आदि दूध देने वाले पशु को प्रतिदिन दो समय दुहा, जाना चाहिए,[2] परन्तु शिशिर, बसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं में उन्हें केवल एक ही बार दुहना उचित होगा।[3] इन ऋतुओं में यदि दिन में द्वितीय बार कोई दूध दुहे तो उसको अंगुष्ठ– छेदन का दण्ड देना चाहिए।[4] जो दोहक दूध देने वाले पशुओं की समय पर दुहता नहीं है उसको उस दिन का वेतन नहीं देना चाहिए।[5] इस प्रकार कौटिल्य ने गाय, भैंस आदि दूध देने वाले पशुओं के दूध दुहे जाने के विषय में व्यवस्थाएं दी हैं।

जिस प्रकार दूध देने वाले पशुओं को ठीक समय पर ही दुहा जाना चाहिए इसी प्रकार अन्य कार्यों में भी समय से पालन करने पर विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए। बछड़ों के नाथने, उनको जुए में जोड़ने, उनको टहलाने, आदि में भी समय का पालन किया जाना परमावश्यक बतलाया है। कौटिल्य के अनुसार बछड़ों को नाथने वाले, उनको हिलाने वाले, जुए में जोतने वाले, और उनको टहलाने वाले सेवक समय पर आकर कार्य करें और जो सेवक अपना कार्य समय पर न करे उसको उस दिन का वेतन नहीं देना चाहिए।[6]

कितने दूध में कितना घी प्राप्त होता है, इस विषय में दर नियत की गयी है कि एक द्रोण गाय के दूध में एक प्रस्थ घृत प्राप्त होता है।[7] भैंस के एक द्रोण दूध में पांच प्रस्थ घृत निकलता है।[8] भेड़ बकरियों के एक द्रोण दूध में दो प्रस्थ घृत प्राप्त होता हैं।[9] इसके अतिरिक्त

---

1. *पंचमर्षभं खराश्वानामजावीनां दशर्षनम्। शत्यं गोमहिषोष्ट्रणां यूथं कुर्याच्चतुर्वृषभ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 49 ।
2. *वर्षाशरद्वमन्तानुभयतः कालं दुह्यः।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 29 ।
3. *शिशिरवसन्तग्रीष्माने ककालम् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 30 ।
4. *द्वितीयकालदोग्गुष्ठच्छेदो दण्डः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 31 ।
5. *दोहकालमतिकमतस्तरफलहानं दण्डः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 32 ।
6. *एतेन नस्यदम्ययुगर्पि गनवर्तनकाला व्याख्याताः।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 33 ।
7. *क्षीरद्रोणे गवां घृतप्रस्थः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 34 ।
8. *पंचभागाधिको महिषीणाम् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 35 ।
9. *द्विभागाधिकोअजावीनाम् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 36 ।

पशु विशेष के दूध के मथने के उपरान्त घृत की दर निर्धारित कर लेना चाहिए।[1] भूमि, तृण और जल की विशेषता के अनुसार भी दूध और घृत की बृद्धि हो जाती है।[2] ऊन वाले, पशुओं की ऊन के उतारने के विषय में कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि भेड़ और बकरियों की ऊन प्रति छः मास के उपरान्त उतार ली जानी चाहिए[3] यही नियम अश्व, खर, ऊँट और सूकरों के बाल उतारने में भी पालन किया जाना चाहिए।[4]

कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के पशुओं के भोजन की मात्रा के नियम दिए है कि "बलवान बैल जो नथ चुके हैं और अश्वों की भांति भली प्रकार रथ आदि के खींचने में समर्थ हैं, उनमें से प्रत्येक बैल को आधा भर हरी घास और उससे दो गुनी सूखी घास मिलनी चाहिए। खल की एक तुला दाना, कुट्टी दस आढ़क नमक पांच पल नाक में डालने के लिए एक कडुवा तेल और एक प्रस्थ पीने के लिए तेल प्रतिदिन देना चाहिए। एक तुला मांस, एक आढ़क दहीएक द्रोण जौ अथवा उरद का आधपका अन्न दिया जाना चाहिए, एक द्रोंण दूध आधा आढ़क सुरा, एक प्रस्थ घृत दस पल गूढ़ और एक पल सोंठ यह सब एक बलिष्ठ बैल का दिन रात का भोजन बतलाया गया है।[5] अश्वतर, गाय और खर को इसका चौथाई न्यून करके भोजन दिया जाना चाहिए।[6] भैंस और ऊँट को इससे दो गुना भोजन दिया जाना चाहिए।[7] खेतों में काम करने वाले बैलों और दूध देने वाली गाय की समयानुसार, खाद्य सामग्री को निश्चित करना चाहिए।[8] पशुओं को पर्याप्त मात्रा में चारा और पानी मिलना चाहिए।[9] इस प्रकार कौटिल्य ने पशुपालन–उधोग का विशद् विवेचन किया है।

---

1. *मंथे वा सर्वेषां प्रमाणम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 37 ।*
2. *भूतमितृणोदकविशेषद्धि क्षोरघृनवृद्धिर्भवर्ति ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 38 ।*
3. *अजादीनां षणमासिकीमूर्णा ग्राहयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2. अ0 29, वार्ता 43 ।*
4. *तेनाश्वररोष्ट्रवराहब्रजा ब्याख्याताः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 44 ।*
5. *बलीवर्दानां नस्याश्च भद्रगतिवाहिनां यवसस्याधर्मभारतृणास्य द्विगुणां तुला धारणपिण्याकस्या दशाढकं कणाकुण्डकस्यं पंचपलिकं मुडलवणं तैलकुडुवो नस्यं प्रस्थः पानं मांसतुला दष्टश्चाढकं यवद्रोणां माषाणां वा पुलाकः छीनद्रोणा मर्धाढंकं वा सुरायाः स्नेक प्रस्थः क्षारदशपलं श्रडिवेरपलं च प्रतिपानम् ।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 45।*
6. *पादौनमश्वतरगोरवराणां।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 46 ।*
7. *द्विगुणं महिषोष्ट्रणां कर्मकश्बलीबर्दानां पायनार्थानां च ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 46 ।*
8. *धेनुनां कर्मकालतः फलतश्च विधादानम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 47 ।*
9. *सर्वेषां तुणोदक प्रकाम्यामिति।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 29, वार्ता 48 ।*

अश्व—पालन

अश्व की उपयोगिता

प्राचीन काल में अश्वों का विशेष महत्त्व था। ऐसे युग में जबकि आधुनिक युग के आवागमन के साधनों का अविष्कार न हुआ हो, अश्व अपनी द्रुत गति एवं भारवहन की सामर्थ्य के कारण आवागमन का एक प्रमुख साधन माना गया है। आवागमन के साधन के साथ—साथ अश्व चतुरंगिनी सेना का एक प्रमुख अंग था। अश्वों की उपयोगिता और महत्त्व को देखते हुए प्राचीन काल के हिन्दू राजा, अश्व—पालन विभाग का संघठन करते थे, और इस विभाग का एक मात्र कर्त्तव्य अश्व—पालन कर उनको राज्य के उपयोग योग्य बनाना था। कौटिल्य ने भी अश्वों की देख—रेख के लिये अश्वापालन विभाग की स्थापना की अनुशंसा की है।

अश्वाध्यक्ष

कौटिल्य ने अश्व—पालन विभाग के मुख्य अधिकारी को अश्वाध्यक्ष के नाम से सम्बोधित किया है। राजकीय अश्वों का पालन—पोषण, उनकी सेवा— सुश्रुषा उनकी चिकित्सा तथा उनके प्रशिक्षण आदि कार्य का समस्त दायित्व इसी राजकीय अधिकारी को सौंपा है। तथा कहा है कि विभिन्न श्रेणी के अश्वों को उनके विशेष लक्षणों एव विशेषताओं के सहित उनके नाम राजकीय निबन्ध—पुस्तक (रजिस्टर) में अश्वाध्यक्ष को अंकित करते रहना चाहिए। कौटिल्य ने कहा है कि बाजार में विक्रय हेतु आए हुए, क्रय किए गए, युद्ध में छीने गए, अपनी अश्वशाला में उत्पन्न, सहायता के बदले में प्राप्त गिरवी रखे हुए कुछ समय के लिए धरोहर के आधार पर आए हुए आदि अश्वों के कुल, व्यय वर्ण चिन्ह, वर्ग तथा उनके आने के स्थान आदि को अश्वाध्यक्ष को निबन्ध पुस्तक में अंकित कर देना चाहिए।[1] अंग—भंग और अस्वस्थ अश्वों को उनकी चिकित्सा हेतु अश्वाध्यक्ष को भेजते रहना चाहिए।[2]

अश्वों के भोजन—छादन एवं चिकित्सादि की व्यवस्था

राजकीय अश्वों के भोजन—छादन एवं उनकी चिकित्सा तथा दीक्षा आदि की उचित व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती थी। इन कार्य में जो व्यय होता था, और जिस सामग्री एवं उस के उपकरण की आवश्यकता पड़ती थी वह समस्त राजकोष एवं राज्य के कोषागार से

---

1. *अश्वाध्यक्षः पण्यागारिकं कयोपागतमाहबलब्धमाजातं साहय्य कागतक पणरिधतं यावत्कालिकं वाश्वर्यग्र कुलवयोवर्गोचिन्हवर्गागमैर्लरवयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 1 ।*
2. *अप्रशतन्यङब्याधिताश्चावदयेत् ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 2 ।*

प्रतिमास उस मास के निमित्त दिया जाता था। कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि प्रत्येक अश्वाहकों को उस धन एवं सामग्री को (जो कि उसके अधीन अश्वों की सेवा–सुश्रुषा हेतु उसको सौंपी जाती है) प्रति मास राजकीय कोषागार से प्राप्त कर लेनी चाहिए, और उससे अपने अधीन अश्वों के कल्याण की व्यवस्था करनी चाहिए।[1]

(क) अश्वशाला

कौटिल्य के मतानुसार राजकीय अश्वों के लिए एक विशाल अश्वशाला का निर्माण कराना चाहिए, जिसका आकार अश्वों की संख्या के अनुसार निर्धारित किया जाना चाहिए। अश्वों की गणना के अनुसार लम्बी चोड़ी प्रत्येक अश्व के लिए उसकी लम्बाई चौड़ाई से दो गुनी विस्तार वाली, चार द्वारों से युक्त, अश्वों के घूमने योग्य, बरामदे से सुशोधित प्रधान द्वार, सुन्दर बैठने के स्थान से सुसम्पन्न, बानर, मयूर, हिरन, नेवला, चकोर, तोता और मैना आदि सुन्दर जन्तुओं से भरी हुई अश्वशाला बनवानी चाहिए।[2] अश्व की लम्बाई के अनुरूप चौकोर, सुधरी, चिकने, फलक से युक्त, खादन, कोष्ठ के सहित मल और मूत्रोत्सर्ग के योग्य प्रत्येक अश्व के लिये पृथक–पृथक पूर्व अथवा उत्तर मुख नालीशाला का निर्माण कराना चाहिए।[3] जिस प्रकार की अश्वशाला हो उसी प्रकार का अश्वों के बांधने की व्यवस्था करना उचित है।[4] घोड़ी गर्भ धारण कराने वाले अश्व और किशोर अवस्था वाले अश्वों को पृथक–पृथक बांधना चाहिए।[5]

(ख) भोजन

आयु, कार्यक्षमता, परिस्थिति आदि को ध्यान में रखकर अश्वों के भेजन की मात्रा एवं उसके प्रकार को कौटिल्य ने निर्धारित किया है। उनका मत है कि घोड़ी के बच्चा–जनन करने के समय से लेकर तीन दिन तक उस घोड़ी को प्रति दिन सेर–सेर भर घृत पिलाया जाना चाहिए[6] इसके अलावा प्रति दिन एक प्रस्थ सत्तू और औषधियुक्त तेल दस दिन तक खाने को

---

1. *कोशकोष्ठगारम्यां च गृहीत्वा मासलाभ मश्ववाहश्चिन्तयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 3 ।*
2. *अश्वविभवेनायतामश्वायाम द्वैगुणविस्तारां चतुर्द्वारोपवर्तन मध्यां सप्रग्रावां प्रद्वारासनफलयुक्तां, वानरमयूर पृषतन कुलचकोरशुक शारिकभिराकीर्णाशलां विवेशयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 4 ।*
3. *अश्वायामचतुरश्रश्लचखफलकास्तारंसरवादनकोष्ठकं समूत्रपुरीषोत्सर्गमेकैक्शः। प्राब्मुखदडमुखं वा स्थानं निवेशयेत् ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 5 ।*
4. *शालावशेन वा दिग्विभागं कल्पयेत् ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 6 ।*
5. *वडवावृषकिशोराणामेकान्तेषु ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 7 ।*
6. *बडवायाः प्रजातायास्त्रिरात्रं घृतप्रस्थः पानम् ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 8 ।*

मिलना चाहिए,[1] दस दिन पश्चात् आधा पका हुआ जौ का दलिया और ऋतु के अनुकूल घास खाने को दी जानी चाहिए,[2] दस दिन के उपरान्त उस नवजात बच्चे को भी प्रतिदिन एक कडुव सत्तू को उसके चौथाई भाग घी में मिला कर देना चाहिए,[3] छः महीनें तक उसको प्रतिदिन एक प्रस्थ दूध भी मिलना चाहिए।[4] साथ ही साथ प्रत्येक मास में आधा–आधा प्रस्थ बढ़ा कर एक प्रस्त सत्तू से आरम्भ के तीन वर्ष तक खिलाना चाहिए।[5] तीन वर्ष से चार वर्ष की आयु तक एक द्रोण भोजन मिलना चाहिए।[6] चार अथवा पांच वर्ष का अश्व कार्य करने के निमित्त समर्थ हो जाता है, इसलिए उसके भोजन की मात्रा को पूरी मात्रा ही माननी चाहिए।[7]

उत्तम अश्व को शाली, बीहि, जौ, प्रियडं आदि अन्न, आधे सूखे अथवा पकाए हुए तथा मूंग अथवा उर्द का पुलाक बनाकर दो द्रोण परिमाण में खाने को देना चाहिए।[8] घृत, तेल एक प्रस्थ, लवण पांच मांस पचास पल रस, (दूध) एक आढ़क दही दो आढ़क उस अन्न को गीला करने को होना चाहिए। गुढ़ पांच पल, सुरा एक प्रस्थ, दूध दो प्रस्थ मध्याह्मत्तर में प्रत्येक उत्तम अश्व को पीने को मिलना चाहिए।[9] लम्बे मार्ग के भार से थके हुए अश्व को भोजन निमित्त एक प्रस्थ घृत तथा अनुवासन (औषधि–युक्त रस) और नस्य कर्म (नाक में डालने) निमित्त एक कुडुव घृत, अच्छी हरी घास आधा भार, तृण (साधारण घास) एक भार, तथा छः हाथ अथवा कोली भर सूखी घास दी जा सकती हैं।[10]

मध्यम अश्व को इससे पौना, और साधारण अश्व के लिए इस से आधा भोजन निर्धारित किया गया है।[11] रथ में जोड़ा हुआ अथवा घोड़ियों को गर्भ धारण कराने में नियुक्त किया हुआ

---

1. अतः ऊर्ध्व सक्तु प्रस्थः स्नेहमैपज्यप्रतिपानं दशरात्रम् ।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 9 ।
2. ततः पुलको यवसमातंवश्वाहारः ।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 10 ।
3. दशरात्रादर्ध्व किशोरस्थ घृतचतुर्भागः सक्तु कुडुवः ।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 11 ।
4. क्षीरप्रस्थश्चाहारं आषश्मासादिति ।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 12 ।
5. ततः परं मासोत्तरमर्धवृद्धिर्यवस्प्रस्थ अत्रिवर्षात् ।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 13 ।
6. द्रोण आवततुत्रेर्षादिति ।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 14 ।
7. अतऊर्ध्व चतुर्वेर्थः पत्रवर्षो वा कर्मरायः पूर्णाप्रमाणाः। अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 15 ।
8. उत्तमाश्वस्यं द्विद्रोणां शालिबीहियबप्रियं गूणामर्धशुप्कमर्धसिद्धं वा मुद्गमाषाणां वा पुलाक ।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 20 ।
9. स्नेह प्रस्थश्च पंचमलंलवणास्य, मांस पंचाशत्पलिकं रसस्याढकं द्विगुणां बादध्नः। पिण्डक्लेदनार्थ : क्षारपंद्दपलिकः तुरायाः पयसो वा द्विगुणाः प्रतिपानम् ।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 21 ।
10. दीर्घपथभारक्लान्तानां च खादनार्थ स्नेहप्रत्योअनुवासनं कुडुबोनस्यकर्मणाः। यवस्थर्धभारस्तृणास्यं द्विगुणाः षडरत्निः परिक्षेपः पुत्रीलग्राहो वा।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 22 ।
11. पादावरमेतन्मध्यमावरयोः ।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 23 ।

मध्यम अश्व भी हो तो भी उसको उत्तम अश्व के समान ही भोजन मिलना चाहिए।[1] इस प्रकार साधारण अश्व की परिपाटी है।[2] घोड़ी अथवा खच्चरियों को उत्तम अश्व से पौना भोजन मिलना उचित हैं।[3] बच्चों को इससे आधा ही पर्याप्त होता है। [4]

(ग) स्नान एवं व्याधिशान्ति के साधन

शरद और ग्रीष्म ऋतुओं में अश्वों को प्रतिदिन दो बार स्नान कराना चाहिए। स्नान के उपरान्त अश्व को गन्ध और माला भी पहनानी चाहिए। प्रति मास की अमावस्या को भूत बलि और पूर्णमासी को अश्व के कल्याण निमित्त स्वास्तिवाचन होना चाहिए। [5] अश्वनि शुल्क पक्ष की नवमी तिथि को अश्वों का नीरोजनोत्सव करना चाहिए। इसी प्रकार यात्रा के प्रारम्भ, समाप्ति अथवा व्याधि के अवसर पर उनकी शांति हेतु नीरोजनोत्सव की व्यवस्था करनी चाहिए।[6]

(घ) अश्वों की चिकित्सा

'अर्थशास्त्र' के रचनाकाल में पशुचिकित्सा का विशेष प्रबन्ध था। कौटिल्य का कथन है कि रोगी अश्वों की चिकित्सा के लिए राज्य की ओर से चिकित्सक नियुक्त किए जाने चाहिए। वह यह स्पष्ट कहते है कि अश्वों के शरीर की हानि एवं वृद्धि, तथा उनके रोग का प्रतिकार और ऋतु के अनुरूप भोजन की व्यवस्था करना चिकित्सकों का कर्त्तव्य था।[7] अप्रशस्त, अंग–भंग और रोगी अश्वों को उनकी चिकित्सा के निमित्त चिकित्सकों के पास भेजते रहना चाहिए।[8] इन चिकित्सकों के भोजन की व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती थी।[9] कौटिल्य यह स्पष्ट व्यवस्था देते हैं कि रोगी अश्वों की चिकित्सा में वाधक होने पर मनुष्य दण्ड का भागी होता था।उनका

---

1. *उत्तमसमों रथ्यों वृषश्च मध्यमः ।।* — *अर्थ0,अधि0 2, अ0 30, वार्ता 24 ।*
2. *मध्यम समश्चावरः ।।* — *अर्थ0,अधि0 2, अ0 30, वार्ता 25 ।*
3. *पादहीनं बडवानां पारशमानां च ।।* — *अर्थ0,अधि0 2, अ0 30,वार्ता 26 ।*
4. *अतीअर्ध किशोराणां च ।।* — *अर्थ0,अधि0 2, अ0 30,वार्ता 27 ।*
5. *द्विरहृः स्नानमश्वानां गन्धमाल्यं च दापथेत् ।*
   कृष्णासंधिषु भूतेज्याः शुल्केषु स्वस्तिवाचनम् ।। — *अर्थ0,अधि0 2, अ0 30, वार्ता 56 ।*
6. *नोराजनामाश्वयुजे कारयेत्रवमेअहिनि।*
   यात्रादाववसाने वा ब्याधौं वा शान्तिकेरतः।। — *अर्थ0,अधि0 2, अ0 30,वार्ता 57 ।*
7. *गस्वानां चिकित्सकाः शरीरहासवृद्धिप्रतीकामृतुविक्तं वाहरम् ।।* — *अर्थ0,अधि0 2, अ0 30,वार्ता 49 ।*
8. *अप्रशस्तन्यडध्याधितांश्चावेदयेत् ।।* — *अर्थ0,अधि0 2, अ0 30, वार्ता 2 ।*
9. *विधावा वक्रसूत्रग्राहकचिकित्सकाः प्रतिस्वादभाजः ।।* — *अर्थ0,अधि0 2, अ0 30, वार्ता 29 ।*

कहना है कि चिकित्सा के लिए रोके हुए अश्वों को जोतने वाले व्यक्ति पर बारह पण दण्ड होना चाहिए।[1] अश्व की चिकित्सा क्रम से विरूद्ध चिकित्सा होने अथवा व्याधि के बढ़ जाने पर चिकित्सा करने पर इस प्रमाद के कारण प्रमादी पर चिकित्सा व्यय से दो गुना दण्ड होना चाहिए।[2] प्रमाद से रोग बढ़ जाने पर चिकित्सा ठीक हुई तो भी प्रमादी पर उस अश्व के मूल्य के बराबर मूल्य का दण्ड होना चाहिए।[3]

उत्तम मध्य और साधारण घोड़ों के लक्षण

कौटिल्य के मतानुसार उत्तम अश्व का मुख बत्तीस अंगुल का होता हैं। पांच मुख अर्थात एक सौ साठ अंगुल तक उसकी लम्बाई, बीस अंगुल की जंघा, और अस्सी अंगुल की ऊँचाई बतलाई हैं,[4] इससे प्रत्येक स्थान में तीन अंगुल न्यूनता वाला मध्यम और मध्यम से भी तीन अंगुल न्यून कनिष्ठ (साधारण) अश्व होता हैं,[5] उत्तम अश्व की मोटाई सौ अंगुल बतलायी गयी हैं।[6] अस्सी अंगुल मोटाई मध्यम और चौसठ अंगुल की मोटाई कनिष्ठ अश्व की मानी गयी है।[7] इस प्रकार कौटिल्य ने उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अश्वों के लक्षण बतलाए हैं।

अश्वों की दैनिक गति

रथ में जोते जाने वाले अश्वों को छः, नौ और बारह योजन तक ले जाया जा सकता है। अर्थात साधारण अश्व एक दिन में छः योजन, मध्यम अश्व नौ योजन और उत्तम अश्व बारह योजन की यात्रा सुविधापूर्वक कर सकता है। पीठ पर भारवहन करने वाले अश्वों का मार्ग मान, साढेसात और दस योजन तक माना गया है।[8] अश्वों की विक्रम, भद्राश्वास और भारवाहा यह तीन गति मानी गयी है।[9] कोई अश्व धीरे–धीरे चलता है, कोई चौकन्ना होकर, कोई कूदकर

---

1. *चिकित्सकोपरूद्धं वा द्वादशपणों दण्डः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 52 ।*
2. *क्रियाभैषज्यलगेन ब्याधिवृद्धौं प्रतीकार द्विगुणौ दण्डः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30,वार्ता 52 ।*
3. *तदपराधेन वैलाम्ये पत्रमूल्यं दण्डः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 54 ।*
4. *द्वात्रिशदंगुलं मुखमुत्तमादवस्य पंचमुखान्यायामो विशाल्युडंला जडं चतुर्जडं। उत्सेधः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30,वार्ता 16 ।*
5. *अन्यं लावरं मध्मावरयोः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30,वार्ता 17 ।*
6. *शतांगुलः परिणाहः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 18 ।*
7. *पचभागावरं मध्यमावश्योंः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30,वार्ता 19 ।*
8. *पण्णाव द्वादशेति थोजना नान्यध्वा रथ्यानां पंचयोजनान्यर्धाष्टमानि दशेति पृष्ठ ब्राह्मनामश्वानामध्वा।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30,वार्ता 44 ।*
9. *विक्रमों भद्राश्वासो भारवाह्म इति मार्गः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 45 ।*

और कोई पहिले तेज और बाद में धीरें–धीरे चलने लगता है। इन सब चालों का नाम धारा है।[1] कौटिल्य ने अश्वों के प्रशिक्षण हेतु नाना प्रकार की चालों एवं युद्ध सवारी और खेल–कूद के कार्यों में कुशलतापूर्वक लगाने के निमित्त नाना प्रकार के प्रशिक्षण की शैलियों एवं विधियों का उल्लेख किया है। जिससे विदित होता है कि युद्ध सवारी तथा खेल, कूद के हेतु अश्वों को प्रशिक्षण किए जाने के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता था।

युद्ध की दृष्टि से उत्तम मध्यम एवं कनिष्ठ अश्व

कौटिल्य ने देश विशेष की दृष्टि से अश्वों के युद्ध कार्य की उपयोगिता बतलाते हुए उनका वर्गीकरण किया है। उनका मत है कि युद्ध के उपयोगी अश्वों में काम्बोज, सैन्ध, आरट्ट बनायुज, वैधोत्पन्न अश्व सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं।[2] बाल्हीक, पापेय, सौवीर और तितल देशोत्पन्न अश्व मध्यम माने गए है।[3] इनके अतिरिक्त अन्य देशों में उत्पन्न अश्व साधारण माने गए हैं।[4]

अश्व पालनकर्ता

अश्व पालन कार्य को विधिवत संपादित करने के लिए अनेक पुरुषों की आवश्यकता पड़ती थी। इसलिए राज्य की ओर से अनेक कर्मचारी नियुक्त किए जाते थे। ड़न कर्मचारियों को राज्य की ओर से उनकी योग्यता एंव कार्यक्षमता के अनुसार वेतन मिलता था। इन कर्मचारियों में से सूत्र ग्राहक (रस्सी पकड़कर अश्वों को टहलाने वाले,) अश्व–बन्धक, (अश्वों को बांधने वाले), यावसिक (घास लाने वाले), विद्यापाचक (अश्वों के लिए अन्न पकाने वाले), स्थानपाल (अश्वशाला को साफ करने वाले), केशकार (वालों को छाटने वाले) तथा जंगलीविद (जंगली जडी–बूटियों का ज्ञान रखने वाले) और चिकित्सकों को अपने–अपने ज्ञान एवं क्षमता के अनुरूप अश्वों की सेवा करनी चाहिए।[5]

कर्त्तव्य–पालन में प्रमाद करने पर इन कर्मचारियों को दण्ड की व्यवस्था दी गयी है। कौटिल्य व्यवस्था देते हैं कि इन कर्मचारियों में जो कर्मचारी जिस दिन अपना काम न करे

---

1. *विक्रमो वल्गितमुपकराठमुपजवों जवश्च धारा: ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 46 ।*
2. *प्रयोध्यानामुत्तमा: काम्बोजक सैन्धवारट्टवनायुजा: ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 32 ।*
3. *मध्यमा: बाह्वीकपापेयकसौवीरकतैतला: ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 33 ।*
4. *शैषा: प्रत्यवरा: ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 34 ।*
5. *सूत्रआहकाश्वबन्धकयावसिकविधापाचकस्थानप लकेशकारजडली विदश्चस्वंकर्म भिरश्वानाराध्येयु: ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 50 ।*

   अश्वानां चिलित्सका: ।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 49 ।*

उसका उस दिन का वेतन काट लेना चाहिए।[1] इसी प्रकार रोगी अश्व की चिकित्सा में असावधानी अथवा प्रमाद करने पर कर्मचारी दण्ड का भागी बतलाया गया है।[2]

इस प्रकार कौटिल्य ने अश्वपालन कार्य की उपयोगिता एवं उसके महत्त्व तथा उसकी समुचित व्यवस्था का विशेष उल्लेख किया है।

हस्ति—पालन

हाथियों की उपयोगिता

प्राचीन भारत में जब रणस्थल में नर—संहार के आधुनिक साधनों का अविष्कार न हुआ था, इस कार्य के लिए हांथी बड़ा उपयोगी पशु समझा जाता था। यही कारण है कि उस युग में राजाओं की सेना का एक प्रमुख अंग हस्ति—सेना मानी गयी थी। कौटिल्य हस्ति सेना के रखने के विशेष पोषक है। उनका मत है कि राजाओं की विजय हस्ति सेना के आश्रित होती है।[3] हाथी ही शत्रु की सेना, शत्रु के व्यूह, दुर्ग, स्कन्धावार (छावनी) का नाश करने में कुशल होते है क्योंकि इनके शरीर बड़े विशाल होते हैं। जितना शीघ्र हाथी मनुष्यों के प्राण हर लेने में समर्थ होते हैं, उतना शीघ्र अन्य कोई भी प्राणी प्राणहरण करने में समर्थ नहीं है।[4] इसी दृष्टि से कौटिल्य ने राज्य का एक विभाग हस्ति—पालन विभाग के संघठन एवं उसके संचालन किए जाने की व्यवस्था दी है। हस्ति—पालन विभाग की देख—रेख के निमित्त कौटिल्य ने एक अध्यक्ष की नियुक्ति का आदेश दिया है इस अध्यक्ष को वह हस्तध्यक्ष के नाम से सम्बोधित करते हैं।

यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी भारतीय नरेशों की हस्ति सेना के महत्व के गुण को स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है, हांथी अतिशीघ्र पराजय को विजय में परिवर्तित करने में समर्थ होते हैं।

हस्त्याध्यक्ष का कर्त्तव्य

राज्य के हस्ति विभाग का सबसे बड़ा पदाधिकारी हस्त्यध्यक्ष होता था। उसकी नियुक्ति राज्य की ओर से होती थी। उसका पद राज्य में बड़े महत्त्व का पद समझा जाता था।

---

1. *कर्मातिक्रमे चैषां दिवसवेतनच्छेदनं कुर्यात् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30, वार्ता 51 ।*
2. *चिकित्सकोपरूद्ध वा द्वादशपणो दण्डः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30 वार्ता 52 ।*
   क्रियाभेषज्यसंगेन ब्याधिबृद्धौं प्रतिकारद्विगुणो दण्डः ।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 30 वार्ता 53 ।*
3. *हस्तिप्रधानों हि विजयों राज्ञाम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 2, वार्ता 14 ।*
4. *परानीकब्यूहदुर्गलकन्धावारप्रमर्दनाह्यतिप्रमाणशरीरः प्राणाहरकर्माणा हस्तिन इति।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 2, वार्ता 15 ।*

हस्त्यध्यक्ष का कर्त्तव्य राज्य के हस्तिवन की रक्षा करना, शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ हाथी, हथिनी और उनके युवा बच्चों को शाला, स्थान शायन–स्थान, प्रशिक्षण के स्थान, उनकी खाद्यसामग्री के स्थान, और उनके भोजन, छादन की मात्रा के अनुसार व्यवस्था करना बतलाया है। हस्त्यध्यक्ष को स्वयं इन समस्त विषयों का अनुभवी व्यक्ति होना चाहिए।[1]

अन्य कर्मचारी

हस्तिपालन कार्य महान कार्य माना गया है, एक मात्र हस्त्यध्यक्ष द्वारा इतना महान कार्य सम्पादित होना सम्भव नहीं। इसलिए उसकी सहायता हेतु उसके अधीन अनेक कर्मचारियो की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है। इन कर्मचाररियों की नियुक्ति राज्य की ओर से होती थी, और उनको हस्त्यध्यक्ष के अधीन रहकर हस्तिपालन कार्य के सम्पादन में सहयोग देना होता था। कौटिल्य ने चिकित्सक प्रशिक्षक, आरोहक (गजारोही) हाथियों के शरीर को साफ रखने वाले हथिवान (हस्तिपालक) उपचार करने वाले, भोजन पकाने वाले हरीघास गन्ना आदि लाने वाले पैर में संकल्प अथवा रस्सी डालकर उनको खूटों आदि से बांधने वाले, गजशाला का रक्षक, शयनशाला का रक्षक आदि को हांथियों की सेवा करने वाले कर्मचारी माना है।[2]

इन कर्मचारियों को निर्धारित वेतन और भत्ता राज्य की ओर से मिलते थे। इन कर्मचारियों के भत्तों का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि चिकित्सक, कुटी, रक्षक और हांथियों के लिए अन्न पकाने वाले कर्मचारियों को (राज्य के कोष्ठगार से) प्रतिदिन एक प्रस्थ चावल, एक अंजली तेल अथवा घृत ,दो पल गुड़ और इतना ही लवण प्रति व्यक्ति के अनुसार भत्ता मिलना चाहिए।[3] चिकित्सकों के अतिरिक्त अन्य कर्मचारियों (कुटी–रक्षक, अन्न पाचकों) को दस– दस पल मांस भी मिलना चाहिए।[4]

कर्मचारियों को दण्ड विधान

हस्तिपालन कार्य में नियुक्त कर्मचारियों को उनके कर्त्तव्य के विधिवत न पालन किए

---

1. *हस्त्यक्षौ हस्तिबक्षरक्षां दम्यकर्मक्षान्तानां हस्ति हस्तिनी कलभानां शाला स्थानं शय्या कर्मविधाप्रबलं प्रमाणं कर्मस्वायोगं बन्धनोपकरणं सविग्राभिकमलंकारंचिकित्सा कानीकस्थोपस्थयुकवर्ग क्षानुतिष्ठेत् ।।*
   अर्थ0, अधि0 5, अ0 1, वार्ता 1 ।
2. *चिकित्सकनीकस्थरोहकाधोरणाहरितप कौपचारिका विधापाच कयावसिकपाद पाशिककुटीरक्षक कौपशायिका दिरौपस्थायिक वर्ग ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 32, वार्ता 20 ।*
3. *चिकित्सककुटीरक्षा विधापाचकाः प्रस्थौदनं स्नेहप्रसृतिं क्षारलवणायोश्च द्विपलिकं हरेषुः ।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 32, वार्ता 21 ।
4. *दशपलं मसिस्याम्यत्र चिकित्सकेभ्यः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 32, वार्ता 22 ।*

जाने पर उनको दण्ड भी मिलना चाहिए। यदि कर्त्तव्य का विधिवत न पालन करने वाले कर्मचारियों को अदण्डित छोड़ दिया जाएगा तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी और जिसका परिणाम राज्य के लिए अत्यन्त हानिकर होगा। इसीलिए कौटिल्य कहा है कि हांथियों के रहने के स्थान को स्वच्छ न रखने, हरी घास एवं हरे गन्ने आदि को निर्धारित समय पर न लाने, हाथियों को कठोर भूमि पर एवं उनके लिए बिना भूमि की शय्या बनाए हुए उन्हें सुलाने, मर्मस्थलों पर चोट मार देने, अनधिकारी को हाथी पर चढ़ा देने, असमय पर हाथियों की सवारी लेने, कुस्थान और कुतीर्थ (जल प्रदेश) में हाथियों को उतार देने, पेड़ों के झुण्डों में हाथियों को ले जाने आदि से तत्सम्बन्धी कर्मचारियों को दण्ड का भागी बताते हैं।[1] यह दण्ड इन कर्मचारियों के वेतन एवं भत्ते से कटौती करने के रूप में हो सकते हैं।[2]

इस प्रकार कौटिल्य ने इन कर्मचारियों को उनके कर्त्तव्यों के विधिवत न पालन करने के निमित्त आर्थिक दण्ड का विधान किया है।

हाथियों के प्रकार

हांथियों के कर्म–भेद से कौटिल्य उनको मुख्य चार वर्गों मे परिगणित करते हैं। उनका कहना है कि दम्य, सांनह्य, औपत्राह्य, और व्याल यह हांथियों के चार भेद होते हैं।[3] वह हांथी जो सफलता से पालू बनाए जा सकते हैं उनको कौटिल्य दम्य नाम से सम्बोधित किया है। जो हांथी यृद्ध के लिए प्रशिक्षित किए जाने योग्य होते हैं वह सांनह्य जो सवारी के काम में लाए जाने के योग्य हों। वह औपत्राह्य, और जो दुष्ट हांथी अपनी इच्छानुसार काम करने वाले होते हैं उनको कौटिल्य ने व्याल नाम से सम्बोधित किया है। इनमें दम्य प्रकार के हांथियों के पांच भेद बतलाए गए हैं और जो स्कन्धगत, स्तम्भगत, वारिगति, अवपातगत और यूथगत हैं।[4] दम्य सरलता से पालतू बनाए जा सकते हैं। दम्य हांथियों में जो हाथी अपने स्कन्ध पर सवारी दे दे उस दम्य हांथी को स्कन्धगत हांथी बलताया गया है, जो दम्य हाथी स्तम्भ पर बांधने को सहन कर लेता हैं उस हांथी को स्तम्भगत नाम दिया है। हांथियों के पकड़ने से जो हांथी सरलता से पहुँच जाए वह वारिगत कहलाता है। हांथियों के पकड़ने के गड्ढ़ों पर जो हांथी सुविधापूर्वक

---

1. *स्थानस्यशुद्धिर्यवसस्याग्रहणां स्थले शायनभागे घातः परारोहणाकाले यानमभूमावतीर्थेअवतारणां तरुषण्ड इत्यत्ययस्थानानि।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 32, वार्ता 24 ।
2. *तमेषां भक्तवेतनादाददीत् ।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 32, वार्ता 25 ।
3. *कर्मस्कन्धाः चत्वारों दम्यः सांनाह्य औपवाह्यो ब्यालश्च ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 32, वार्ता 1 ।
4. *स्कन्धगतः स्तम्भगती वागितोअवपातगतो यूथगतश्वचेति ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 32, वार्ता 2 ।

ले जा सकें वह हाथी अवपातगत कहलाते हैं और जो हाथिनियों के यूथ में घूमते हैं वह हाथी यूथगत कहलाते है। इन समस्त हांथियों को शिक्षा बच्चे हांथी की भांति बड़ी सावधानी के साथ होनी चाहिए।[1]

उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ हाथी

कौटिल्य के मतानुसार सात हाथ ऊँचा नौ हाथ लम्बा, दस हाथ मोटा और चालीस वर्ष की आयुवाला हाथी सर्वश्रेष्ठ होता है।[2] तीस वर्ष का मध्यम[3] और पचास वर्ष का हाथी कनिष्ठ होता हैं।[4]

इसके अतिरिक्त विशेष देश में उत्पन्न होने के कारण भी हाथियों को उत्तम, मध्यम एव कनिष्ठ श्रेणियों मे विभक्त किया गया है। कौटिल्य ने कलिंग अंग, और कारूश देशोत्पन्न हाथी सर्वश्रेष्ठ माने हैं दशार्ण और अपरान्त देश में उत्पन्न हुए हाथी मध्यम श्रेणी के हांथी माने हैं। सोराष्ट्र, पंच्चजन आदि देशों में उत्पन्न हाथी कनिष्ठ होते है।[5]

हस्तिशाला

हांथियों के निवास के निमित्त हस्तिशाला का निर्माण होना चाहिए। प्रत्येक हांथी के लिए लम्बाई और चौड़ाई दो गुनी, लम्बी, चौडी और ऊँची हस्तिशाला होनी चाहिए। हथिनी के बांधने का स्थान इससे और भी बड़ा होना चाहिए। इस हस्तिशाला में सुन्दर बरामदा होना चाहिए। इस हस्तिशाला में हाथियों के बांधने के खूटें बड़े सुचारू विधि से होने चाहिए। इस शाला का प्रधान द्वार उत्तम अथवा पूर्व की ओर होना चाहिए।[6] हाथी को लम्बाई–चौडाई के अनुसार चौकोर, चिकना एक गजबन्धन का स्थान होना चाहिए। इसी स्थान के सामने तख्ते से ढका हुआ मूत्र और पुरीष का स्थान बनवाना चाहिए।[7] इसी स्थान के समान ही सुन्दर

---

1. *तस्योपविचारों विक्रकर्म ।।* — अर्थ0, अधि0 2 अ0 32 वार्ता 4 ।
2. *सप्तारत्नि सेधोनवायामो दशपरिणाहः प्रमाणतश्चत्वारिंशद्वर्षो भवत्युत्तमः ।।* अर्थ0, अधि0 2 अ0 31 वार्ता 9 ।
3. *त्रिशद्वर्षो मध्यमः ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 10 ।
4. *पच्चविंश तिवर्षोअवरः ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 11 ।
5. *कलिड़ाः गंजाः श्रेष्टा ग्रच्याश्चेति काडशजाः ।*
   दशार्णाश्वापरान्ताश्च द्विपानां मध्यमाः मताः ।। — अर्थ0, अधि0 2, अ0 2,वार्ता 16 ।
   सौराष्ट्रिकाः पाच्चजनाः तेषां प्रत्यचराः स्मताः ।। — अर्थ0, अधि0 2, अ0 2, वार्ता 17 ।
6. *हस्त्यायामाद्विगुणोत्सेधविष्कम्भायामां हस्तिनीस्थानाधिकां सप्रग्रीवां कुमारीसंग्रहां प्राड़ः मुखीमुदड मुखीं वा शालां निवेशयेत् ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 2, वार्ता 2 ।
7. *हस्त्यायामचतुश्रश्लक्ष्णालानस्तम्भफल कान्तरकं मूत्र पुरीषोत्सर्गं स्थानं निवेशयेत् ।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 3 ।

शयन–स्थान होना चाहिए जिसकी चौडाई साढ़े चार हांथ होनी चाहिए। युद्ध के उपयोगी अथवा रथ में जीते जाने वाले हांथियो की शाला दुर्ग के भीतर होनी चाहिए और युवक हाथी तथा उत्तम हांथियों के रहने का स्थान दुर्ग से बाहर होना चाहिए।[1]

हाथी की दिनचर्या

दिन के आठ भागों में प्रथम और सातवाँ भाग हाथी के दो बार स्नान कराने का होना चाहिए। इसके अनन्तर हाथी को पका हुआ भोजन उसके खाने के निमित्त दिया जाना चाहिए। दो पहर से पूर्व ही हाथी को व्यायाम कराना उचित होगा। दोपहर के उपरान्त हाथी को कुछ पीने को मिलना चाहिए।[2] रात्रि के तीन भागों में दो भाग हाथी के सोने के है और एक भाग लेटने, उठने में व्यतीत होना चाहिए।[3]

हाथियों का भोजन

पूरे सात हाथ के ऊँचे हाथी को एक द्रोण चावल, आधा आढ़क तेल, तीन प्रस्थ घी, दस पल नमक, पचास पल मांस, शुष्क दाने भिगोंने के लिए एक आढ़क मांस आदि का रस, इससे दो गुना, दो आढ़क दही, दस पल गुढ़ एक आढ़क मद्य दो आढ़क दूध, शरीर में लगाने को एक प्रस्थ तेल, सर में लगाने और रात में दीपक जलाने के लिए आधा–आधा कडुव तेल पृथक–पृथक होना चाहिए। गन्ने आदि हरित–भोजन को सवा दो भार, सूखी घास साढे तीन भार तथा पत्ते आदि का कोई नियम नहीं, यह आवश्यकतानुसार दिए जा स कते हैं।[4] आठ हाथ ऊँचे हाथी का भी सात हांथी ऊँचे के भोजन के समान ही भोजन देना चाहिए।[5] छः हाथ और पांच हाथ के हांथी को एक चौथाई कम करके भोजन देना चाहिए।[6] बिक्क (दूध पीने वाला बच्चा हाथी) को दूध और हरी घास भोजन के लिए देना उचित होगा।[7]

---

1. *स्थानसमशय्यामर्धापाश्रपां दुर्गे सांनाह्योपवाह्यनां बहिर्दम्प्रब्यालानाम् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 4 ।
2. *सप्त मावष्टमभागावहनः स्नानकालौ तदनन्तरं विधायाः पूर्वाह्णो ब्यायाम कालः पश्चातः प्रतिपान कालः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 5 ।
3. *रात्रिभागौं द्वौ स्वप्नकालौत्रिभागः सवेशनौत्थानकः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 6 ।
4. *अरत्नौ तण्डुलद्रोणोअर्धाढकं तैलस्य सपिथस्त्रयः प्रस्थाः दशपलं लवणास्यं मांस पंचाशत्पलिकं रसस्याढकं दिगुणां वा दध्नः वा पिण्ध्क्लेदनार्थ द्वारं दशपलिकं मधस्य आढंक द्विगुणं वा पपसः प्रतिपानं गात्रावसेकरतैलप्रस्थः शिरसोअध्भागः प्रादीपिकश्च सवसस्य द्वौभारौ सपादौ शध्यस्य शुष्कस्यार्धतृतोयोभारः कडष्टरस्याः नियम।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 13 ।
5. *सप्तारत्निना तुल्यभेजनों अप्टारत्निरस्य रालः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 14 ।
6. *यथाहस्तामवशेषः षड़रत्निः पम्अचारत्निश्च ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 15 ।
7. *क्षीरयावसिको विक्का कीडार्थ ग्राहयः।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 16 ।

हाथियों को पकड़ना

ग्रीष्म ऋतु में हांथी पकड़े जा सकते हैं। बीस वर्ष की आयु वाले हांथी पकड़ने योग्य माने गए हैं।[1] बिक्क, मूढ़, मत्कुण (दांत रहित) व्याधित, गर्भिणी और दूध पिलानेवाली हथिनियों के पकड़ने का कौटिल्य ने निषेध किया है।[2]

हाथियों के दाँत काटने का समय

हांथी के दांत के मूल में जितनी मोटाई हो उसके दो गुना भाग छोड़कर दांत काट लेना चाहिए। जो हांथी नदी प्रान्त के हों, उनके ढाई जो पर्वत प्रान्त के हों उनके पांच साल में दांत काटने चाहिए।[3]

उत्सव

कौटिल्य का मत है कि ऋतुसधिन्यों में हाथियों के उत्सव किए जाने चाहिए। ऐसा कौटिल्य का मत है कि चार–चार महीनों की ऋतुसन्धियों में हाथियों के तीन निराजनोत्सव कराने चाहिए। प्रति अमावस्या को भूतों की बलि, प्रति पूर्णिमा को स्कन्द की पूजा करनी चाहिए। ऐसा करने से हाथियों का कल्याण होगा।[4]

इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य के लिए हांथियों की उपयोगिता बतलाते हुए उनके पालन–पोषण एवं प्रशिक्षण पर महत्त्व दिया है।

सुरा–उद्योग

सुरा–उद्योग पर राज्य नियंत्रण की आवश्यकता

सुरापान मनुष्य को मतवाला बनाता है, सुरा के मद के प्रभाव में आकर मनुष्य में उचित अथवा अनुचित का विवेक नहीं रहता। सुरापान से मनुष्य की जो दुर्दशा हो जाती है, उसका कौटिल्य ने वर्णन किया है कि सुरापान से कर्मचारी अपने कार्य में भूल कर सकते हैं, उत्तम, पुरुष भी अपनी मर्यादा को छोड़ देते हैं और तीक्ष्ण प्रकृति के उद्धत मनुष्य शास्त्रों का अनुचित प्रयोग कर बैठते हैं।[5] सम्भवतः इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर कौटिल्य ने सुरा–उधोग को राज्य के

---

1. *ग्रीष्मेग्रहणाकालः विंशाति वर्षो ग्राह्याः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 7 ।
2. *विक्कों मूढों मत्कुणौ व्याधितो गर्भिणी धेनुका हस्तिनी चाग्राह्मा।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 31, वार्ता 8 ।
3. *दन्तमूलपरीणाहद्विगुणां प्रोज्म्य कल्पयेत् ।*
   अब्दे द्वर्ब्धे नदीजानां पच्चाम्दे पर्वतौक्साम् ।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 32, वार्ता 27 ।
4. *तिस्त्री नीराजनाः कार्यश्चातुर्मास्यार्तु सन्धिषु।*
   भूतानां कृष्णासन्धीज्याः सेनान्यः शुक्लसन्धिषु।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 32, वार्ता 26 ।
5. *प्रमादभयः कर्मसु निर्दिष्टानां मर्यादातिक्रमभयादार्याणामुत्साहभयाच्च तीक्ष्णानाम् ।।* अर्थ0,अधि02,अ032,वार्ता 3

स्वामित्व एवं राज्य के नियंत्रण के अन्तर्गत रखने के सिद्धान्त की पुष्टि की है। उन व्यक्तियों को जिनको सुरा बनाने, उसके क्रय विक्रय करने तथा उनके पान का अधिकार राज्य में प्राप्त नहीं है सुरा बनाने, उसके क्रय विक्रय तथा उसके पान करने का निषेध किया है। कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि जिन व्यक्तियों को सुरा बनाने और उसके क्रय–विक्रय का अधिकार है उनके अतिरिक्त जो व्यक्ति सुरा बनाता अथवा उसका क्रय–विक्रय करता है उस पर छः सौ (पण) दण्ड होना चाहिए।[1]

सुरा के प्रकार

अर्थशास्त्र के रचनाकाल में सुरा के निर्माण में पर्याप्त विकास हो चुका था। सुरा अनेक प्रकार की होती थी, और इनका प्रयोग भी अनेक उद्देश्यों के लिए होता था। कुछ सुरा विदेशों से भी मंगायी जाती थी। इनमें कापिशा और हारहूर नगरों से जो सुरा भारत को भेजी जाती थी, वह लोगों को अधिक रूचिकर बतलायी गयी है।[2]

सुरा मुख्य छः प्रकार की बतलायी गयी है। कौटिल्य ने मेदक, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ठ, मैंरेय ओर मधु सुरा के छः भेद बतलाए है।[3]

सुरा के निर्माण एवं क्रय–विक्रय की व्यवस्था

सुरा–उद्योग के संधठन एवं संचालन की व्यवस्था करने के निमित्त राज्य की ओर से एक विशेष कर्मचारी सुराध्यक्ष होना चाहिए। सुराध्यक्ष के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है, कि सुराध्यक्ष को सुरा के निर्माण एवं उसके विक्रय की व्यवस्था दुर्ग, राष्ट्र और स्कन्धावार में करनी चाहिए। सुराध्यक्ष को सुरानिर्माण कार्य उन पुरुषों से कराना चाहिए जिनको सुरा बनाने का अनुभव है।[4] सुरा के उपयोग की आवश्यकतानुसार सुरा के निर्माण एवं उसके क्रय–विक्रय हेतु उसके केन्द्रीकरण अथवा विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था होनी चाहिए।[5]

सुरा के निर्माण करने अथवा उसके क्रय–विक्रय करने के लिए राज्य से आज्ञा प्राप्त करना अनिवार्य बताया है। कौटिल्य ने उस व्यक्ति को छः सौ पण का दण्ड–विधान किया है

---

1. *षट्छतमत्ययमन्यत्र कर्तृ क्रेताविक्रतणां स्थापयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 2 ।*
2. *तस्य स्वदेशो व्याख्यानां कापिशायनं हारहूरकमिति।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 25 ।*
3. *भेदकप्रसन्ना सवारिष्टमैरेयमधूनाम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 17 ।*
4. *सुराध्यक्षः सुराकिराव्यवहारान्दुजनपदे स्कन्धावारे वा तज्जातसुराकिणव व्यवहारिभि कारयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 1 ।*
5. *एकमुखमनेकमुखं वा विक्रयक्रयवशेनवा ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, 1 ।*

जो राज्य की ओर से बिना आज्ञा प्राप्त किए हुए सुरा बनाता है अथवा उसका व्यापार करता है।[1] बिना राजाज्ञा प्राप्त किए हुए एक स्थान से दूसरे स्थान का सुरा को ले जाने का निषेध किया गया है। सुरा की दूकाने एक दूसरे के समीप में स्थित नहीं होना चाहिए।[2] सुरा राजकीय दूकानों पर ही बेची जानी चाहिए। राजकीय दूकानों से सुरा न लेकर अन्य सुरा के क्रय करने वाले व्यक्ति को शुल्क देना पड़ता था।[3] कौटिल्य पवित्र आचरण वाले पुरुषों के हाथ ही सुरा का बेचा जाना उचित समझाते हैं और वह भी अल्पमात्रा में। इस विषय में उनहोंने यह व्यवस्था दी है कि राजकीय मुद्रा से युक्त कडुव, अर्ध कुडुव, चौथायी कुडुब, आधा प्रस्थ अथवा एक प्रस्थ सुरा पवित्र आचरण वाला पुरुष क्रय कर सकता है और अपने साथ ले जा सकता है।[4] उत्तम सुरा को कम मूल्य पर नहीं बेचना चाहिए, परन्तु दुष्ट, सुरा को कम मूल्य पर बेचने में कोई हानि नहीं हैं।[5] उत्तम और दुष्ट सुरा की बिक्री एक ही स्थान (दूकान) पर नहीं होनी चाहिए। उनकी दुकाने पृथक–पृथक होनी चाहिए।[6] सुरा के उत्पादन करनेवाले कर्मकारों अथवा दासों को उनके वेतन के बदले में दुष्ट सुरा दी जा सकती है।[7] वाहनों के पालन करने और सूकरों के पोषण में भी दुष्ट सुरा का उपयोग किया जा सकता है।[8]

गृहस्थ लोगों को, विशेष अवसरों पर श्वेत सुरा को रोग निवारण हेतु अरिष्ठ तथा अन्य प्रकार की सुरा निर्माण का अधिकार दे दिया जाना चाहिए।[9] उत्सव, समाज अथवा देवयात्रा के अवसरों पर चार दिन के लिए सुरा निर्माण करने का अधिकार दे दिया जाना चाहिए,[10] और इस प्रकार जिन गृहस्थ लोगों को सुरा के निर्माण की आज्ञा दी जाए, उनसे शुल्क प्राप्त कर लेना चाहिए।[11]

---

1. *षट्रछतमत्ययमन्यत्र कर्तृ क्रे..विक्रतणां स्थापयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 2 ।*
2. *ग्रामादनिर्णा यनमसंपातं च सुरायाः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 3 ।*
3. *अराजपणयां शतं शुक्लं दधुः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 39 ।*
4. *लक्षितमरूपं वा चतुर्भागमर्धकुडनंकुडवमधमप्रसी प्रस्थवेति ज्ञातशौचानिर्हरेयुः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 4 ।*
5. *न चानर्घेण कालिकां वा सुरां दद्यादन्यत्र दुष्टसुरायाः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 8 ।*
6. *तामन्यत्र विक्रापथेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 9 ।*
7. *दास कमकरेम्यो वा वेतनं दधात् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 10 ।*
8. *वाहनप्रतिपानं सूकरं पोषणां वा दधात् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 11 ।*
9. *कुटुम्बिनः कृत्येषु श्वेतसुरामौषधार्थं वारिष्टमन्यद्धा कर्तुलभेरन्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 35 ।*
10. *उत्सवसमाजयात्रासु चतुरहः सौरिको देयः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 36 ।*
11. *तेष्वननुज्ञातानां प्रहवणान्तं दैवसिकमत्ययं गृहीपात् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 37 ।*

सुरापान पर नियंत्रण

कौटिल्य ने राज्य में पानालयों के निर्माण किए जाने की व्यवस्था दी है। सुरापान करने वाले लोगों को इन पानालयों में ही सुरा–पान करने का अधिकार होना चाहिए। कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि सुरापान करने वालों को पानालयों में ही सुरापान करना चाहिए और जब तक सुरा के मद का प्रभाव उन पर बना रहे तब तक उनको पानालयों में ही रहना चाहिए।[1] पानगारों में दुराचारी व्यक्तियों को सुविधापूर्वक पहचाना जा सकता है। इसलिए कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि निक्षेप, (धरोहर), उपनिधि, (गिरवी माल), प्रयोग (अमानत) चोरी तथा अन्य अनुचित उपायों से संचित किए हुए द्रव्य को लोग प्रायः सुरापान में व्यय किया करते है। ऐसे लोगों का पता लगाने के लिए पानालय उचित स्थान है। इसी प्रकार स्वामी से रहित कुप्य या सुवर्ण को देखकर पानालय के बाहर पकड़वा देना चाहिए।[2] जो पुरुष अपनी सामर्थ्य से बाहर व्यय करता हो अथवा अपनी आय से अधिक व्यय करता हो ऐसे पुरुष का भी पानालय में पता लग जाता है, इस प्रकार के व्यक्तियों को भी पानालय के बाहर पकड़वा देना चाहिए।[3] इन पानालयों में राज्य की ओर से गुप्तचर नियत होने चाहिए। इन गुप्तचरों को पानालय में सुरापान करने के कारण उन्मत लोगों के अलंकार, वस्त्र और नकदी आदि की निगरानी करते रहना चाहिए जिसको कोई दूसरा उनको न ले सके।[4] अपने देश और बाहर के आए हुए पुरुषों पर व्यय होने वाली सुरा का पृथक–पृथक पता रखना भी उनका कर्त्तव्य बतलाया गया है।[5] यदि किसी शराबी का कोई अलंकार अथवा द्रव्य चोरी चला जाएं तो सुरा बेंचने वाले को ही धन, दण्ड रूप में देना पड़ेगा।[6]

इन पानालयों में भोग की सामग्री होनी चाहिए, जिससे पानालय में पहुँच लोग आनन्द प्रमोद कर सकें। कौटिल्य कहते हैं कि पानालयों में अनेक कक्षों (कोठरियाँ) होनी चाहिए। उनमें बैठने, लेटने और सोने आदि के आसन एवं शय्या का प्रबन्ध होना चाहिए। सुरापान के जो स्थान[7]

---

1. *पानागारेषु वा पिवेयुरसंचारिणाः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 5 ।*
2. *निक्षेपोपनिधिप्रयोगापहृतादीनामनिष्टोपगतानां च द्रव्याणां ज्ञानार्थम स्वाामिकं कुप्यं हिरण्यं चौपलम्य निक्षेप्तारमन्यत्र ब्रपदेशेन ग्राहयेत् ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 6 ।*
3. *अतिब्ययकर्तारमनायतिब्ययं च ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 7 ।*
4. *क्रतृणां मत्तसुप्तानामलंकारच्छादनहिरण्यानि च विधुः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 14 ।*
5. *तत्रस्थाः प्रकृत्यौत्पत्तकौ व्ययौ गूढां विधुरांगतंश्च ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 13 ।*
6. *तन्नाशे वाणिजस्तच्च दण्डं दधुः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 15 ।*
7. *पानागारारायेनककक्याणि विभक्तशयनासनवन्ति पानोद् शानिं गन्ध माल्योदकबन्त्यतु सुरवानिकारयेत् ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 12 ।*

हो वहाँ की प्रत्येक वस्तु सुखदायी, गन्ध माल्य और जल से सम्पन्न होना चाहिए। परन्तु यह कार्य गुप्त रीति से होना चाहिए। सुरा बेचने वाले लोगों को, पानालय में आए हुए लोगों के गुप्त भावों का इन दासियों के द्वारा पता लगाते रहना चाहिए।[1]

इस प्रकार कौटिल्य ने सुरा उधोग के संघठन एवं उसके संचालन की व्यवस्था राज्य के स्वामित्व एवं उसके नियंत्रण में की है।

मांस की प्राप्ति और व्यापार की व्यवस्था

अर्थशास्त्र के रचनाकाल में भारतीय जनता मे एक वर्ग ऐसा अवश्य था जिसके भोजन में मांस को स्थान मिलता था। कौटिल्य ने बैल, अश्व और हाथी आदि पशुओं के लिए भी उनके भोजन में मांस को भी सम्मिलित किया है। इसलिए मनुष्यों एवं पशु के भोजन के निमित्त शुद्ध मांस की प्राप्ति के साधन एवं मांस के व्यापार पर राज्य का नियंत्रण होना आश्वयक समझा गया था।

पशु–वध स्थान

कौटिल्य का कथन है कि मांस की प्राप्ति के निमित्त पशु–वध राज्य की ओर से नियत किए गए स्थानों पर ही किया जाना चाहिए। पशु वध के इन स्थानों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर पशु–वध करने पर जो मांस प्राप्त हो, उसके व्यापार किये जाने पर निषेध किया गया है।[2] इस कथन से विदित होता है कि राजकीय पशु–वध स्थान पर जिन पशुओं का वध किया जाता होगा उनके मांस अथवा चमड़े आदि पर एक विशेष चिन्ह लगाया जाता होगा। जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता होगा कि यह मांस उस पशु का है जिसका वध राजकीय पशुवध–स्थान पर हुआ है। राजकीय पशुवध–स्थान को कौटिल्य ने सूना–स्थान के नाम से सम्बोधित किया है।

सूनाध्यक्ष

मांस के व्यापार के संघठन एवं उसके संचालन के निमित्त राज्य की ओर से एक विशेष राजकर्मचारी की नियुक्ति का प्रतिपादन कौटिल्य ने किया है। अवध्य पशुओं की रक्षा करना, वध पशुओं का नियमानुसार वध होना, पशुओं के व्यापार की व्यवस्था करना, आदि कार्यों का

---

1. *वाणिजस्तु सर्वृतेषु कवयाविभागेषु स्वदासीभिः पेश लरूपभिरागन्तू नांवास्तब्यानां चार्यरूपाणां मत्तसुप्तानां भावं विधुः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 25, वार्ता 16 ।*
2. *परिसूनमर्शिरः न विक्रीणीरन् ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 16 ।*

विधिवत कराना सूनाध्यक्ष का प्रमुख कर्त्तव्य कौटिल्य द्वारा बताया गया है।

अवध्य—पशु

कौटिल्य इस पक्ष में नहीं है कि प्रत्येक पशु का मांस भोजन के लिए उपयोग में लाया जाए, और इसलिए सब पशुवध्य समझे जाने चाहिए। मनुष्य के लिए जो पशु उनके जीवन में सहायक होते हैं और इस दृष्टि से उपयोगी है उनको कौटिल्य ने अवध्य घोषित किया है। इन पशुओं में बछियां एवं बछडे, वृष और धेनु मुख्य है।[1] इन पशुओं के वध करने वाले को पचास पण दण्ड होना चाहिए।[2]

कुछ पशु एवं पक्षी उनकी उपयोगिता अथवा सौन्दर्य अथवा अलौकिकत के कारण अवध्य माने गए थे। कुछ पशुओं को अवध्य घोषित करते हुए कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि समुद्र में उत्पन्न होने वाले हाथी, अश्व पुरुष, वृष ओर गन्धर्व की आकृति वाले मत्स्य, नदी पर उत्पन्न सारस, जल कुक्कुट, कौंच, कुरंरी, एक प्रकार की कोयल, हंस, चक्रवाक, जीवजीवक, भृंगराज चकोर, मत्तकोकिल, मोर, तोता, मदन, सारिक आदि हिंसक जन्तुओं से इनकी रक्षा होनी चाहिए।[3] इन पशु अथवा पक्षियों की रक्षा करने में यदि सूनाध्यक्ष प्रमाद करता है तो उसको प्रथम साहस दण्ड मिलना चाहिए।[4]

तपोवन निवासी पशुओं के वध का निषेध किया गया है। इस विषय में कौटिल्य ने व्यवस्था देते हुये कहा है कि राज्य की ओर से जिन पशुओं को अवध्य घोषित किया जा चुका है जिसमें तपोवन निवासी मृग,पशु, पक्षी और मछलियों आदि हैं को पकड़ने वाले अथवा वध करने वाले को उत्तम साहस दण्ड देना चाहिए।[5] इस प्रकार के स्थानों पर यदि गृहस्थ लोग पशु पकड़े तो उनको मध्यम साहस दण्ड मिलना चाहिए।[6] दुष्ट पशु, मृग, हाथी, अभयचारी मत्स्य आदि यदि यह सुरक्षित वनों से अन्यत्र हो तो पकड़े या मारे जा सकते हैं।[7]

---

1. *वत्सो वृषो धेनुश्चैषामवध्याः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 13 ।*
2. *घ्नतः पम्चाशत्को दण्डः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 14 ।*
3. *साम्रद्रहस्त्यश्वपुरुषवृषगर्दभकृतयोंमत्स्यासारसा नादेयास्ताढाक्कुल्यो दूभवावाक्रोधोत्को शकदात्यूह हंस चक्रवाक जीवजीवक भृडंराजचकोरमत्त कोकिलमयूर हिंसावाधेम्योरचयाः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 8 ।*
4. *रक्षातिक्रमे पूर्वः साहसदण्डः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 9 ।*
5. *सूनाध्यक्षः प्रदिष्टाभयानाममयवनवासिनां च मृगपशुपक्षि मत्सयानां बन्ध बधहिसायामुत्तमं दण्डं कारयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 1 ।*
6. *कुटुम्बिनामभयवनपरिग्रेषु मध्यमम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 2 ।*
7. *दुष्टा पशु मृगब्याला मत्स्याश्चाभय चारिणा।*
   अब्दत्र गुप्तिस्थानेभ्यों बधबन्धमवाप्नुयुः ।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 18 ।*

मांस के व्यापार के नियम

मांस का व्यापार राज्य के नियंत्रण में होना चाहिए। इस नियंत्रण को कार्यरूप में परिणित करने के लिए सूनाध्यक्ष नाम का राज्य का एक पदाधिकारी रहता था जिसकी देख–रेख में मांस का व्यापार किया जाता था। हड्डी रहित और ताजा मांस ही बेचा जाना चाहिए।[1] यदि हड्डी सहित मांस, मांस के किसी व्यपारी ने बेचा है तो उस व्यापारी को उस हड्डी के बराबर और मांस देना चाहिए।[2] यदि तौल में कम किया जाए तो कम दिए गए मांस से आठ–गुना मांस , मांस बेचनेवाला को देना पडेगा।[3] सून–स्थान से अन्यत्र मारे हुए पशु का मांस तथा सिर, पैर और अस्थिहीन मांस, दुर्गन्ध पूर्ण मांस स्वयं मरे हुए पशु के मांस के बेचने का निषेध किया गया है।[4] इसका उल्लंधन करने वाले को बारह पण दण्ड होना उचित होगा।[5] इस प्रकार कौटिल्य ने पशुवध और उनके मांस के व्यापार को राज्य के नियंत्रण में रखा है।

गणिका–वृत्ति व्यवसाय

गणिका की आवश्यकता

मनुष्य जीवन में सरसता लाने के लिए विनोद के प्रचुर साधन होने चाहिए, कठोर परिश्रम के उपरान्त मनुष्य को उसके श्रम के प्रभाव को दूर करने के लिए विनोद की सामग्री आवश्यक है। सुन्दर स्त्री द्वारा नृत्य, गान एवं हृास–परिहास भी इस विषय में प्रमुख स्थान रखता है। उत्सव मेला, देवयात्रा, लीलाएँ, नाटक आदि भी मनुष्य जीवन में सरसता लाने में सहायक सिद्ध होते है। इन अवसरों पर नृत्य, गान एवं हृास–परिहास में निपुण सुन्दर स्त्री मनुष्य के मनोरंजन का प्रमुख साधन होती है।

राजा के लिए गणिका की उपयोगिता दूसरी दृष्टि से भी मानी गयी है। राज्य में अनेक दुष्ट पुरुष होते हैं जो राज्य में गुप्त रीति से विध्न–बाधांए उपस्थित करते रहते है। राजा के शत्रु भी अपने गुप्तचरो के द्वारा राज्य के विध्नकारी क्रिया–चक्रों में गुप्त रीति से प्रोत्साहान देते रहते है। शत्रु के इन गुप्तचरों एवं राज्य के दुष्ट पुरुषों के कुभावों को जानने के लिए उन्हें उन्मत्त कर उनके गुप्तभावों को जानने के लिए सुन्दर गणिका सफल साधन समझी गयी हैं। चेष्ठा

---

1. *मृगपशूनामनस्थिमासं सधोहतं विक्रीणीरन् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 10 ।*
2. *अस्थिमतः प्रतिपातं दधुः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 11 ।*
3. *तुला हीनें हीनाष्टगुणाम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 12 ।*
4. *परिसूनमशिरः पादस्थि विगन्धं स्वयं मृतम् च न विक्रीणीरन् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 16 ।*
5. *अन्यथा द्वादशपणो दण्डः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 26, वार्ता 17 ।*

संकेतों आदि से सारा भाव जान लेने वाली तथा प्रत्येक देश की भाषा में पटु, इन स्त्रियो (गणिका वृत्तिधारी) को उनके बन्ध–बान्धवों की आज्ञा से शत्रु राजा के चरों और दुष्ट पुरुषों की कुचेष्टाओं को जानने एवं उनको प्रमादित करने के निमित्त कार्य में लाना चाहिए।[1]

सम्भवतः इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर कौटिल्य ने गणिका–वृत्ति व्यवसाय के स्थापित किए जाने की व्यवस्था दी है। गणिका की आवश्यकता के साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि इस व्यवसाय के स्थापित हो जाने से मनुष्य इसका दुरूपयोग न करने पाए अथवा भोला–भाला मनुष्य गणिका द्वारा छला न जाने पाए, गणिका–वृत्ति व्यवसाय राज्य नियंत्रण के अन्तर्गत संचालित होना चाहिए।

गणिकाध्यक्ष

गणिका वृत्ति–व्यवसाय का संघठन एवं संचालन राज्य के नियंत्रण के अन्तर्गत रखने के लिए कोटिल्य एक विशेष राजकर्मचारी की नियुक्ति की व्यवस्था देते हैं। तथा यह आदेश देते है कि इसी राजकर्मचारी की देख–रेख में गणिका –वृत्ति व्यवसाय नियमानुसार संचालित होना चाहिए। इस राजकर्मचारी को कौटिल्य गणिकाध्यक्ष नाम से सम्बोधित करते है। गणिकाध्यक्ष का एक प्रमुख कर्त्तव्य यह बतलाया गया है, कि उसको इस विषय का पूर्ण ज्ञान रखना चाहिए, कि राज्य में कितनी स्त्रियां ऐसी है जो गणिका–वृत्ति धारण किए हुए हैं, कितने ऐसे मनुष्य है जो इन स्त्रियों के घर पर भोग की कामना से जाते है, कितने ऐसे पुरुष है जिनके घरों पर गणिका स्वयं जाती है अथवा ऐसे मनुष्य है जिनको घरों पर गणिका स्थायी रूप से रहती है, यह लोग अपने घर अथवा गणिकाओं के घर गणिकाओं के विषय में कितना धन प्रतिदिन व्यय करते है और वह धन उनको कहाँ से प्राप्त होता है इत्यादि। गणिकाध्यक्ष को इन समस्त विषयों को प्रतिदिन निबन्धपुस्तक में लेखबद्ध करते रहना चाहिए।[2] जो मनुष्य गणिका पर अधिक धन व्यय करते हों, अधिक व्यय करने से रोकना भी इस अध्यक्ष का कर्त्तव्य बतलाया गया है।[3] इसके अतिरिक्त गणिका–वृत्ति–व्यवसाय के विधिवत संचालन हेतु राज्य की ओर से जिन नियमों को निर्माण किया जाए उन नियमों का उसी रूप में लागू करना एवं इन नियमों के भंग करनेवालों

---

1. *संज्ञा भाषान्तरज्ञाश्च सित्रस्तेषांमनात्मसु।*
   चारघातप्रभादार्थ प्रयोज्या बन्धुवाहना।। — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 43 ।
2. *भोगं दायभागं ब्ययमायतिं च गाणिकायाः निबन्धथेत् ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 14 ।
3. *अतिब्ययकर्म च वारयेत्।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 15 ।

को सनुचित दण्ड दिलाना भी इसी राजकर्मचारियों का कर्त्तव्य कौटिल्य द्वारा निर्धारित किया गया है।

गणिका

गणिका वृत्तिधारण करने वाली स्त्रियां दो प्रकार की बतलायी गयी है। प्रथम प्रकार की वह स्त्रियां जो गणिका वंश में उत्पन्न होने के कारण गणिका– वृत्ति को ग्रहण करती थी। दूसरी प्रकार की वह स्त्रियां बतलायी गयी है, जो गणिका अंश में तो उत्पन्न नहीं हुई है परन्तु परिस्थितिवश उन्होंने गणिका– वृत्ति धारण करना अंगीकार किया है।[1] गणिका का मूल्य उसके सौन्दर्य एवं अलंकारों आदि की विशेषता पर माना गया है। इस दृष्टि से कौटिल्य ने गणिकाओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है और जिनको उन्होंने उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ नाम से सम्बोधित किया है।[2] गणिका की शुल्क भी इसी दृष्टि से निर्धारित किया गया है। उत्तम गणिका की शुल्क मध्यम और कनिष्ठ से और मध्यम गणिका की शुल्क कनिष्ठ गणिका से अधिक बताया है।

कुछ गणिकाएं राज्य के कार्य सम्पादन हेतु नियत थी। इनको राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था। कौटिल्य ने इस प्रकार की गणिकाओं के वेतन का उल्लेख किया है। कौटिल्य के मतानुसार युवती और गान– कला में निपुण गणिका को एक सहस्त्र पण तक प्रति मास वेतन दिया जा सकता था।[3] उसकी सहायक गणिका को भी उसके कुटुम्ब पालन हेतु उसका आधा वेतन दिया जाना चाहिए।[4]

गणिका रक्षण

कौटिल्य के अनुसार उन स्त्रियां की रक्षा राज की ओर से होनी चाहिए जिन्होंनें राज्य में गणिका वृत्ति–व्यवसाय को अंगीकार किया है यदि कोई पुरुष कामना रहित किसी गणिक पर बलात्कार करे अथवा कुमारी कन्या (गणिका पुत्री) के साथ व्यभिचार करे तो उस पुरुष पर उत्तम साहस दण्ड होना चाहिए।[5] यदि कोई पुरुष सकामा स्त्री के साथ व्यभिचार करता है तो

---

1. *गणिकाम्वयामगणिकान्धयां वा ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 1 ।
2. *सौभाग्यालंकारबृद्धया सहस्त्रणो वारं कनिष्ठं मध्यममुत्तमं वा रोपयेत् ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 6 ।
3. *रूपयौवनशिल्पसम्पन्नां सहस्त्रणो गणिकां कारयेत् ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 1 ।
4. *कुटुम्बार्धेन प्रतिगणिकाम् ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 2 ।
5. *अकामायाः कुमार्या वा साहसे उत्तमोदण्डः ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 21 ।

उसको मध्यम साहस दण्ड दिया जाना चाहिए।[1] जो पुरुष न रहनेवाली गणिका को बलपूर्वक रोक रखता है अथवा उसको मुक्त नहीं होने देता तथा नाक– कान आदि काटकर उसको कुरूपा बनाता है, उस पुरुष पर एक हजार पण दण्ड होना चाहिए।[2] गणिका के मर्म स्थानों की विशेषता से (विशेष मर्म स्थान पर आधात किया है) इस दण्ड में भी वृद्धि की जा सकती है। वह एक हजार पण से लेकर गणिका के निष्क्रय दण्ड से दो गुना (24 हजार पण तीन गुना)तक आर्थिक दण्ड दिया जा सकता है।[3] जो पुरुष राजकीय– अधिकार प्राप्त गणिका का वध कर देता है उस पर निष्क्रय दण्ड का तीन गुना (72 हजार पण) दण्ड हो सकता है।[4] गणिका की माता, पुत्री अथवा उसकी रूपवती दासी पर आघात करने पर उत्तम दण्ड होना चाहिए।[5] इन समस्त विषयों मे अपराध बार–बार करने पर उसके लिए दण्ड भी उसी मात्रा में बढ़ता जाएगा। प्रथम बार अपराध करने पर निर्धारित दण्ड मिलना चाहिए।[6] द्वितीय बार किसी अपराध के करने पर निर्धारित दण्ड से दो गुना दण्ड दिया जाना चाहिए।[7] उसी अपराध के तीसरी बार करने से तीन गुना दण्ड दिया जाना चाहिए।[8] उसी अपराध के चतुर्थ बार करने पर राजा को अधिकार है कि वह जितना दण्ड उचित समझे दें।[9] गणिका के आभूषण, धन या भोगधन (भोग शुल्क) को जो पुरुष नहीं देता उस पर आठगुना दण्ड होना चाहिए।[10]

गणिका के कुव्यवहार पर नियंत्रण

गणिका –वृत्ति व्यवसाय धारी स्त्रियों की रक्षा राज्य की ओर से की जाती थी। उनके शरीर अथवा व्यवसाय पर क्षति पहुँचाने वाले को राज्य दण्ड देता था। परन्तु इस ओर भी राज्य को सहज रहने की आवश्यकता समझी गयी थी कि गणिका वृत्ति–धारण करने वाले स्त्रियों का भी व्यवहार उचित होना चाहिए। इसलिए कौटिल्य ने इन स्त्रियों के कुव्यवहार को रोकने

---

1. *सकामायाः पूर्वः साहसदण्डः ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 22 ।
2. *गणिकामकामां रून्धतो निष्पातयो वा व्रणविदारणेन वा रूपमुध्नतः सहस्त्र दण्डः ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 23 ।
3. *स्थानविशेषेण वा दण्डवृद्धिरानिष्क्रयद्विगुणात्पणासहस्त्र वा दण्डः ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 24 ।
4. *प्राप्ताधिकारां गणिकां धातयतो निष्क्रयत्रिगुणो दण्ड ः।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 25 ।
5. *मातृकादुहितकारूपदासीनां धात उत्तमः साहसदण्ड ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 26 ।
6. *सर्वत्र प्रथमेअपराधे प्रथमः।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 27 ।
7. *द्वितीये द्विगुणः ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 28 ।
8. *तृतीये त्रिगुणः।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 29 ।
9. *चतुर्थेयथाकामी स्यात् ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 30 ।
10. *गाणिकाभरणार्थ भोगं वापहारतोअष्टगुणों दण्डः ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 36 ।

के लिए कतिपय व्यवथाएँ दी है, जिनके राज्य द्वारा अपनाने से मनुष्य की गणिका के कुव्यवहारों से रक्षा की जा सकती थी। इन व्यवस्थाओं में से कुछ व्यवस्थाऐं इन प्रकार है – यदि राजा की आज्ञा किसी गणिका को हुई कि उसको अमुक पुरुष के पास भोग के निमित्त जाना चाहिए, परन्तु गणिका को उस पुरुष के पास जाने का निषेध करती है तो ऐसी गणिका पर एक सहस्त्र कोडे[1], अथवा पांच सहस्त्र पण का दण्ड होना चाहिए।[2] भोग की शुल्क प्राप्त करने के उपरान्त यदि गणिका उस पुरुष से द्वेष करती है तो ऐसी गणिका पर शुल्क का दो गुना दण्ड होना चाहिए।[3] रात भर के लिए भोगशुल्क लेकर यदि गणिक किसी पुरुष को धोखा देकर टरका देती है तो उस गणिका पर उस शुल्क का आठगुना दण्ड होना चाहिए। परन्तु यदि गणिका अचानक रोग–ग्रस्त हो गयी अथवा पुरुष अपने पुंसत्व के अभाव के कारण भोग न कर सका तो वह गणिका दण्ड की भागी न होगी।[4] यदि कोई गणिका अपने घर पर आए हुए किसी धनी व्यक्ति का वध करा दे तो उस गणिका को उसी पुरुष की चिता में उस मृत पुरुष के साथ ही जला दिया जाना चाहिए अथवा जल में डुबाकर मार दिया जाए।[5] गणिका वृत्ति धारण करने वाली स्त्रियों को अपनी मासिक आय में से दो दिन की आय राजकीय कार्य के लिए देना चाहिए।[6] गणिका को अपने भोगधन (भोग–शुल्क) तथा अन्य प्रकार के प्राप्त आय एवं उसके घर पर भोगार्थ आने वाले पुरुषों की सूचना गणिकाध्यक्ष के पास भेजते रहना चाहिए।[7]

नट, नर्तक, गायक, वादक आदि

मनुष्य जीवन को सरस बनाने के लिए गणिका के अतिरिक्त और भी कतिपय लोगों का भी उल्लेख कौटिल्य ने किया है। इनमें नट, नर्तक, गायक, नादक, वाग्जीवक (कहानी द्वारा जीविका कमाने वाले), कुशीलव (भांड आदि), प्लवक (रस्सी पर खेल दिखाने वाले), सौमिक (जादूगर), चारण तथा स्त्रियों के द्वारा अपनी जीविका कमानेवाले पुरुषों तथा गुप्त व्याभिचार करने वाली स्त्रियाँ विशेष बतलायी गयी है। इनके व्यवसाय एवं व्यवहार पर भी राज्य का

---

1. *राजाज्ञया पुरुष मनभिगच्छन्ती गणिका शिफा सहस्त्र लभेत।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 31 ।
2. *पच्चसहस्त्रं वा दण्डः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 32 ।
3. *भोगं गृहीत्वां द्विषत्या भोगद्विगुणों दण्डः।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 33 ।
4. *वसातिभोंगापहारे भोगमष्टगुणां दशादन्यत्र ध्याधि पुरुषदोषेभ्यः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 34 ।
5. *पुरुषं ध्नत्याश्चिताप्रतापो अप्सु प्रवेशनं वा।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 35 ।
6. *रूपाजीवा भोगेद्वयगुणं मासं दधु ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 40 ।
7. *गणिका भोगेमायतिं पुरुषं च निवेदयेत् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 37 ।

नियत्रंण रहना चाहिए।[1] इन व्यवसायियों में जो व्यवसायी दूसरे देशों से आकर अपने कार्य दिखाये तो उनको पांच पण प्रेक्षाशुल्क के रूप में देना चाहिए।[2]

गणिका, गणिका—पुत्र, नट, नर्तक एवं वादक आदि की शिक्षा

गणिका, गणिका पुत्र, एवं नट, नर्तक, वादक आदि व्यवसायियों में कुछ व्यवसायी गण राज्य के हित कामना के कार्यों में लगाये जाते थे। इनके द्वारा अपने राज्य एवं परराज्य की प्रजा के गुप्त भावों का पता लगाया जाता था, शत्रु राजाओं की कुचेष्ठाओं का गुप्त रीति से पता लगा कर राजा के समक्ष निवेदन करने में यह लोग विशेष कुशल माने गये हैं, इसलिए इनकी उचित शिक्षा का प्रबन्ध भी राज्य की ओर से होना चाहिए। जिससे यह व्यवसायी गण अपने कर्त्तव्य का पालन विधिवत करने समर्थ रहें। कौटिल्य ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए यह व्यवस्था दी है जो लोग इन व्यवसायिकों को उनके व्यवसाय के अनुरूप गाना, बजाना, नाचना, अभिनय करना, पढ़ना, लिखना, चित्रकारी करना, वीणा और मृदंग आदि बजाना दूसरे के हित चित्त को पँहचानना, गन्ध, माला गुथना, पैर दबाना, वेश– भूषा तथा अन्य कलाओं के ज्ञान आदि की शिक्षा देने वाले हैं, उन की वृत्तिका प्रबन्ध राजा को राजकोश से करना चाहिए[3]। इस प्रकार इनकी शिक्षा का भार राज्य पर निर्भर था। गणिका पुत्रों को रंग मंच से जीविका करने वाले में प्रधान माना गया है। गान विधा के जितने स्थान हो इन पर सर्वप्रथम गणिका की संतान का ही स्थान होना चाहिए।[4]

इस प्रकार गणिका पुत्र एवं नट, नर्तक, वादक, आदि व्यवसायों के व्यवसाय पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए।

---

1. *एतेन नटनर्त कगायकवादंकवाग्जीवनकुशीलवप्लवकसौभिकचारणानां स्वीब्रवहारिणां सित्रयो गूढाजीवाश्च ब्याख्याताः ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 38 ।
2. *तेषां तूर्या मागन्तुक पत्रपणां पचपणं प्रेक्षा क्षेवेतनं दधात् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 39 ।
3. *गीताबाधपाब्य नृत्तनाटयाक्षरचित्रधीणावेणु मृदगं परचितज्ञानगन्धमात्लसयू हनसंपादनसंवाहनवै शिककलाज्ञानगि गणिका दासी रङोपजीविनाश्च ग्राहयतो रामण्डलादाजीवं कुर्यात् ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 41 ।
4. *गणिकापुत्रालंडोंपजीविनश्च मुख्यानिष्पायेयुः सर्वतालावचाराणां च ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 27, वार्ता 42 ।

अध्याय अष्टम्

कोष तथा राजस्व प्रशासन

अध्याय अष्टम्

कोष तथा राजस्व प्रशासन

कोष की उपयोगिता एवं महत्व

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों के ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में राजस्व प्रशासन की एक सुदृढ़ व्यवस्था थी। किसी भी शासन के सुचारु संचालन के लिए समुचित एवं समृद्ध कोष की आवश्यकता होती है और कोष का प्रमुख स्रोत है राजस्व। अतः राजस्व के संग्रह, संचालन एवं वितरण के लिए समुचित एवं सुदृढ़ व्यवस्था की अनिवार्यता है।

भीष्म ने कोष को राज्य का आधार मानते हुए राज्य को कोष के संरक्षण एवं उचित संचालन के लिए आवश्यक निर्देश दिये गये हैं।[1] मनु और याज्ञवल्क्य ने भी समुचित कोष–व्यवस्था पर बल दिया है।

अग्निपुराण में भी कोष की आवश्यकता पर बल दिया गया है। इस ग्रन्थ में उल्लिखित है कि पूर्ण और पर्याप्त कोष के बिना राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती है।[2]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा कामंदकीय नीतिसार में भी कोष के महत्व और पर्याप्तता पर बल दिया गया है।

सोमदेव ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कोष ही राजा का श्वांस है, इसी के द्वारा उनका जीवन संचालन होता है।[3]

शुक्र ने कहा है कि कोष सेना का आधार है और राजा को चाहिए कि वह प्रतिदिन स्वयं राज्य के आय–व्यय की जाँच–पड़ताल करे।[4]

कौटिल्य ने भी कोष की पर्याप्तता पर बल दिया है। राज्य–संचालन हेतु कोष की उपयोगिता एवं आवश्यकता सर्वोपरि मानी गयी है।[5] उन्होंने राज्य के समस्त कार्यों का आधार कोष ही माना है।[6] कोष के द्वारा ही राजा को सेवा की प्राप्ति होती है, कोष का भूषित

---

1. *महाभारत, शा0प0,अ0 7, श्लोक 119–120 ।।*
2. *अग्निपुराण ।*
3. *नीतिवाक्यमृत पृ0 81 ।।*
4. *शुक्रनीति0, अ0 6, श्लोक 2–14 ।।*
5. *सर्वद्रव्यप्रयोजकत्वारकोषव्यसनं गरीय इति ।।* *अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 55 ।*
6. *कोषपूर्वाः सर्वारम्भाः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 1 ।*

करने वाली भूमि की प्राप्ति कोष और सेना के द्वारा ही होती है।[1] इसलिए राजा को कोष का चिन्तन सर्वप्रथम करना चाहिए।[2] पर्याप्त कोष के आधार पर ही राज्य विजयी हो सकता है तथा कोष की कमी होने पर राजा संकट में पड़ सकता है, इसीलिए उसने स्पष्ट निर्देश दिया है कि कोष में कमी हो जाने पर राजा को कोष संचय के लिए अविलम्ब प्रयास करना चाहिए।[3]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने समृद्ध कोष को राज्य की जनता के कल्याण के लिए आवश्यक माना है। कोष में किसी प्रकार की कमी या क्षति राज्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

कोष विभाग के पदाधिकारी

कौटिल्य ने राजस्व प्रशासन के लिए एक पृथक एवं विशिष्ट तंत्र का विधान किया है। प्राचीनकाल के हिन्दू शासकों ने राजस्व प्रशासन को सुदृढ़ बनाने के लिए एक पृथक विभाग की स्थापना की थी। इस विभाग को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गयी थीं। कौटिल्य ने भी राजस्व प्रशासन की सुदृढ़ता के लिए एक पृथक तंत्र का उल्लेख किया है।

कोष–संचय, कोष–वृद्धि, कोष–रक्षा तथा उसके सदुपयोग के निमित्त राजकर्मचारियों की आवश्यकता होती है।

समाहर्ता

कौटिल्य के अनुसार राजस्व प्रशासन में समाहर्ता सर्वाधिक महत्वपूर्ण पदाधिकारी होता था। वह सम्पूर्ण राजस्व प्रशासन का केन्द्र–बिन्दु था। राजस्व संचय की समस्त क्रियाओं पर समाहर्ता का अधिकार और नियंत्रण था। सामान्यतः समाहर्ता का प्रमुख कार्य राज्य के आय–व्यय का लेखा–जोखा तैयार करना, निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर कर संचय करना तथा उसे विभिन्न मदों पर वितरित करना था। यह सुनिश्चित करना भी उसका उत्तरदायित्व था की राजस्व में यथासम्भव वृद्धि हो और राजकोष कभी रिक्त नहीं रहे। इसके अतिरिक्त समाहर्ता को अपने अधीन राजकर्मचारियों की सहायता से राज्य की जनगणना, पशुगणना, व्यक्तियों की आय, व्यय, व्यापार, वाणिज्य आदि के आँकड़ों को संकलित करने की व्यवस्था करना था।

---

1. *आकरप्रभवः कोषः कोषाद्दण्डः प्रजायते।*
   पृथिवी कोषदण्डाभ्यां प्राप्यते कोषभूषणा।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 49 ।*
2. *तस्मात्पूर्वं कोषमवेक्षेत।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 2 ।*
3. *अर्थशास्त्र अधि0 5, अ0 2।।*

समाहर्ता को कर संचय करने में सहायता देने के लिए अनेक महत्वपूर्ण पदाधिकारी नियुक्त किये जाते थे, जिसमें स्थानिक और गोप महत्वपूर्ण पदाधिकारी थे।

समहर्ता के कर्तव्यों का निरूपण करते हुए कौटिल्य ने मत व्यक्त किया है कि समाहर्ता को समस्त जनपद को चार भागों में विभक्त करना चाहिए। इन चार भागों में स्थित ग्रामों को ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ इन तीन श्रेणियों में परिगणित कर देना चाहिए। तत्पश्चात इनमें स्थित ग्रामों को इन श्रेणियों में परिगणित कर उनका अंकन निबन्धपुस्तक में कर देना चाहिए। वह ग्राम जो राजकर से मुक्त है, वह ग्राम जो राज्य की सेना के लिए योद्धा भेजते हैं, जो कर के बदले में अन्न, पशु, सुवर्ण, अथवा कुप्य देते हैं, और वह ग्राम जो विशिष्ट और दुग्ध–घृत आदि कर के रूप में राज्य को प्रदान करते हैं।[1] ग्रामों की सीमा निर्धारित कर कृषि योग्य क्षेत्र, कृषि के अनुपयुक्त भूमि, ऊँची भूमि, धानों के खेत, बगीचे, शाकभाजी के खेत, बाड़े, वन, वास्तु, चैत्य, देवगृह, जलाशय, श्मशान, सदावर्त, प्याऊ, पुण्य, स्थान, चरागाह, और रथ आदि के मार्गों के सहित खेत तथा इसी क्रम से उनकी सीमा, उनकी मर्यादा, वन, वन के मार्गों के प्रमाण, सम्प्रदाय, विक्रय, अनुग्रह, परिहार आदि समस्त विषयों को समहर्ता को निबन्धपुस्तक में लेखबद्ध करते रहना चाहिए।[2] ग्राम के कर देने वाले और कर से मुक्त घरों की संख्या का भी उल्लेख निबन्धपुस्तक में होना चाहिए।[3]

समाहर्ता को प्रत्येक ग्राम के निवासी, चारों वर्णों की सम्पूर्ण संख्या मात्र का ही उल्लेख निबन्धपुस्तक में नहीं करना चाहिए, अपितु ग्राम में निवास करने वाले किसान, ग्वाले, व्यापारी, शिल्पी, कर्मक और सेवा वृत्ति करने वाले व्यक्तियों की संख्या तथा ग्राम में द्विपद पशु, चतुष्पद पशु आदि की संख्या भी अंकित करनी चाहिये। प्रत्येक घर से इतना सोना, इतनी बेगार, इतना कर दण्ड रूप में प्राप्त होता है– इन समस्त विषयों का अंकन समाहर्ता को निबन्धपुस्तक में करते रहना चाहिए।[4] समाहर्ता को प्रत्येक कुल के स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्धों की संख्या, उनके

---

1. *समाहतां चतुर्धा जनपदं विभज्य ज्येष्ठमध्यक निष्ठभागेन ग्रामाग्रं परिहारकमायुधीयं धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिकर प्रतिकरमिदंमेतावदिति निबन्धयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 35, वार्ता 1 ।*
2. *सीमावरोधेन ग्रामाग्रं कृष्टाकृष्टस्थलकेदारारामषण्डवाटवनवारतुचैत्य देवगृहसेतुबन्धश्मशान सत्रप्रपापुणयस्थानविदीतपथिसंख्यानेन क्षेत्राग्रं तेन सीम्नां क्षेत्रायां च मर्यादारण्यपथिप्रमाण संप्रदानविक्रयानुग्रह परिहार निबन्धान्कस्येत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 35, वार्ता 3 ।*
3. *गृहाणाम करदाकरदसंख्यानेन।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 35, वार्ता 4 ।*
4. *तेषु चैतावच्चातुर्वर्ण्यमेतावन्तः कषंकगोरक्षक वैदेहककारूकर्मकरदासाश्चैतावच्च द्विपद चतुप्पदभिदं च हिरण्यविष्टि शु.ल्कदण्डं समुत्तिष्ठतोति।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 35, वार्ता 5 ।*

कार्य, उनके चरित्र, आजीविका, व्यय का परिमाण आदि का भी ज्ञान होना चाहिए।[1]

समाहर्ता को गुप्तचर रखने का अधिकार प्राप्त था। इन गुप्तचरों के माध्यम से वह जनपद के ग्रामों के निवासियों के विषय में पूर्ण परिचय पूर्व से ही प्राप्त करता रहता था, और अपने अधीन राजकर्मचारियों के आचरण एवं व्यवहार की जाँच करता रहता था।[2]

कौटिल्य ने समाहर्ता के कार्यों का विस्तृत विवेचन किया है। कौटिल्य ने समाहर्ता को यह आदेश दिया है कि उसे दुर्ग, राष्ट्र, खणि, सेतु, वन, ब्रज और व्यापार सम्बन्धी कार्यों का समय–समय पर निरीक्षण करते रहना चाहिए।[3] उसे राजस्व के संग्रह के साथ–साथ राजकोष में वृद्धि के लिए भी प्रयास करते रहना चाहिए।[4] उसे आय के साथ–साथ व्यय का भी लेखा–जोखा तैयार रखना चाहिए। समाहर्ता को चाहिए कि वह निर्दिष्ट विधियों, साधनों एवं मार्गों से राजकीय धन का संग्रह करे और आय–व्यय में बचत–हानि का लेखा–जोखा ठीक प्रकार रखे। यदि किसी अवस्था में भविष्य की विशेष आय की आशा में पहले अधिक व्यय भी करना पडे, तो उसे वैसा करके आय को बढ़ाना चाहिए।

कौटिल्य को अनुसार समाहर्ता को चतुर, कर्मठ, ईमानदार और दूरदर्शी होना चाहिए। उसकी योग्यता और कार्यकुशलता पर ही राज्य की वित्तीय सुदृढ़ता का उत्तरदायित्व है।

उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों ने कौटिल्य के समाहर्ता की तुलना आधुनिक राज्य के वित्त मंत्री से की हैं। कुछ विद्वानों ने उसकी तुलना आधुनिक जिला समाहर्ता से की है किन्तु हमारा मत है कि कौटिल्य के समाहर्ता की तुलना आजकल के किसी पदाधिकारी से नहीं की जा सकती है।

सन्निधाता

कौटिल्य के राजस्व प्रशासन के अन्तर्गत सन्निधाता की विशिष्ट और महत्वपूर्ण भूमिका है। यह राज्य के समस्त भण्डारों का मुख्य अधिकारी होता था। राज्य के कोषगृह, पण्यगृह, कुप्यगृह, कोष्ठागार तथा आयुधागार से संग्रहित होने वाली समस्त सामग्रियों एवं द्रव्यों पर

---

1. *कुलानां च स्त्रीपुरुषाणां बाल़वृद्धकर्म चरित्राजीवष्ययपरिमाणं विद्यात्।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 35, वार्ता 6।*
2. *समाहर्तृ प्रदिष्टाश व गृहपतिकव्यजना येषु गामेषु प्रणिहितास्तेषां प्रामाणां क्षेत्रगृहकुलाग्रं विद्युः।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 1 ।
3. *एवं समाहतृं प्रदिष्टास्तापसव्यजनाः कर्षकगोरक्षकवैदेहकनामध्यक्षाणां च शौचाशौचं विद्युः।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 35, वार्ता 15 ।
   समाहर्ता दुर्ग राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं ब्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत।।   अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 1 ।
4. *एवं कुर्यात्समुदयं वृद्धिं चायस्य दर्शयेत्।*
   हासं व्ययस्य च प्राज्ञः साधयेड़ वदिपर्थम्।।   अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 18 ।

पर्यवेक्षण और नियंत्रण का अधिकार सन्निधाता में निहित था। कोष, पण्य, कुप्य, कोष्ठागार तथा आयुधागार के अध्यक्ष सन्निधाता के अधीन और नियंत्रण में कार्य करते थे। इन भण्डारों में से जो सामग्री या द्रव्य आता था अथवा बाहर जाता था, उसका दायित्व सन्निधाता पर ही था।

कौटिल्य का विचार है कि सन्निधाता को अपने अधीन के कोषों के आय–व्यय का पूरा ज्ञान रहना चाहिए, जिससे राजा के द्वारा पूँछे जाने पर वह अविलम्ब संतोषप्रद सूचना दे सके।[1]

कौटिल्य ने सन्निधाता को ही कोष तथा भण्डारों के निर्माण का उत्तरदायित्व सौंपा है।[2] सन्निधाता का मुख्यालय राज्य की राजधानी में होता था और वह राजा के आदेशानुसार कार्य करता था। सन्निधाता कोष के राजस्व में वृद्धि के उपायों का भी प्रयत्न करता था और इसके लिए वह नवीन कार्यक्रम एवं योजनाएँ प्रस्तुत करता था।

समाहर्ता और सन्निधाता के कार्यों एवं शक्तियों की तुलना करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि सन्निधाता का प्रमुख कार्य राजकीय कर्मचारियों द्वारा संचय किये गये द्रव्यों एवं सामग्रियों को कोष में सुरक्षा के साथ रखना है,[3] जबकि समाहर्ता का कार्य कोष में संग्रहित राशि या सामग्रियों को राजा के पास भेजना है।[4]

कौटिल्य ने समाहर्ता और सन्निधाता से होने वाले खतरे के सम्बन्ध में भी मत व्यक्त किया गया है। कौटिल्य से पूर्व के विद्वानों के मत में सन्निधाता समाहर्ता की अपेक्षा राज्य को अधिक क्षति पहुँचा सकता है। वह भण्डारों में संग्रहित सामग्रियों को क्षतिग्रस्त कर या उपभोग के लिए अयोग्य घोषित कर राज्य को क्षति पहुँचा सकता है। वह प्रजाजनों पर अर्थदण्ड लगाकर उनमें राज्य के विरूद्ध असंतोष फैला सकता है।

कौटिल्य का मत अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत के विपरीत है। उनके अनुसार सन्निधाता की अपेक्षा समाहर्ता राज्य को अधिक क्षति पहुँचा सकता है। यह उत्कोच लेकर या किसी षड्यंत्र के अन्तर्गत प्रजाजनों पर लगाये जाने वाले कर की राशि कम निर्धारित कर राजकोष को क्षति पहुँचा सकता है। कौटिल्य के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि सन्निधाता

---

1. *वाह्यमाभ्यन्तरं चायं विद्याद्वर्ष शतादपि।*
   यथा पृष्टो न सज्येत व्ययशेषं च दर्शयेत्।। *अर्थ0, अधि0 2, अ0 5, वार्ता 24।*
2. *सन्निधाता कोशगृहं पण्यगृहं कोष्ठागारं कुप्यगृहमायुधागारं बन्धनागारं च कारयेत्।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 5, वार्ता 1 ।
3. *सन्निधाता कृतावस्थमन्यैः कोशप्रवेश्यं प्रतिगृह्णाति।।* *अर्थ0, अधि0 8, अ0 4, वार्ता 47 ।*
4. *समाहर्ता पूर्वमर्थमात्मनः कृत्वा पश्चाद्राजार्थं करोति।।* *अर्थ0, अधि0 8, अ0 4, वार्ता 48 ।*

की अपेक्षा समाहर्ता की शक्तियाँ अधिक व्यापक थीं। वस्तुतः कौटिल्य ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है, इसलिए यह कहना अधिक संगत होगा कि सन्निधाता और समाहर्ता एक–दूसरे के पूरक थे।

स्थानिक

राजस्व प्रशासन में स्थानिक का भी महत्वपूर्ण स्थान था। वह समाहर्ता के अधीन और नियन्त्रण में कार्य करने वाला अधिकारी था, जिसे जनपद के एक भाग का प्रभार सौंपा गया था।

कौटिल्य के मतानुसार समाहर्ता को जनपद के चार भाग करने चाहिए।[1] प्रत्येक भाग को एक स्थानिक नाम के अधिकारी के अधीन होना चाहिए। इस प्रकार समाहर्ता के अधीन स्थानिक नाम के अधिकारी का प्रमुख कार्य अपने क्षेत्र में राजकोष के लिए राजस्व संग्रह करना था। उससे यह भी अपेक्षा की जाती थी कि वह राजस्व की वृद्धि एवं रक्षा के लिए आवश्यक उपाय करेगा।

गोप

कौटिल्य ने गोप को भी राजस्व प्रशासन की संरचना के अन्तर्गत महत्वपूर्ण पदाधिकारी माना था, जिसकी नियुक्ति समाहर्ता के द्वारा की जाती थी और वह स्थानिक के अधीन कार्य करता था।

डॉ0 शाम शास्त्री ने गोप नाम के अधिकारी को ग्राम का हिसाब–किताब रखने वाला कर्मचारी माना है। समाहर्ता के आदेशानुसार एक गोप पाँच अथवा दश ग्रामों का लेखा–जोखा रखता था।[2] इस प्रकार जनपद में अनेक गोप होते थे।

प्रदेष्टा

प्रदेष्टा एक विशेष पदाधिकारी के रूप में कार्य करता था। उसका मुख्य कार्य समाहर्ता के आदेशानुसार स्थानिक और गोपों के कार्यों का निरीक्षण करना तथा उनको राजस्व संचय में सहायता देना था। प्रजा पर यदि राजांश का कोई भाग शेष रह जाता तो उसको वसूलने में वह विशेष रूप से सहायता देता था। कौटिल्य ने कहा है कि प्रदेष्टा को अपना सामान्य कार्य करते हुए स्थानियों और गोपों को कर संग्रह करने में सहायता देनी चाहिए।[3]

---

1. *एवं च जनपद चतुर्भागं स्थानिकः चिन्त्येत्।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 35, वार्ता 7 ।
2. *तत्रदिटः पन्चग्रामी दशग्रामी वा गोपश्चिन्तयेत्।।* — अर्थ0, अधि0 2. अ0 35, वार्ता 2।
3. *गोपस्थानिकस्थानेषु प्रदेष्टारः कार्यकरणं बलिग्रग्रहं च कुर्युः।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 35, वार्ता 8 ।

अक्षपटलाध्यक्ष

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में राज्य के आय–व्यय का हिसाब–किताब रखने वाले कार्यालय को अक्षपटल और उसके अध्यक्ष को अक्षपटलाध्यक्ष कहा गया है। अक्षपटलाध्यक्ष प्रधान रूप से सम्पूर्ण राज्य के आय–व्यय का हिसाब–किताब रखने वाला प्रधान पदाधिकारी होता था। कौटिल्य के अनुसार अक्षपटलाध्यक्ष के मुख्य कार्य इस प्रकार थे–

(1) भिन्न–भिन्न अधिकरणों से प्राप्त धन का पूर्ण ब्योरा रखना।

(2) खानों एवं कारखानों में होने वाले कार्यों के लिए लगाये गये द्रव्य का हिसाब–किताब रखना।

(3) आय में वृद्धि तथा क्षति का आकलन करना।

(4) विलम्ब से प्राप्त धन, ब्याज, योग, स्थान, वेतन, विस्टी आदि से बचे हुए धन का हिसाब–किताब रखना।

(5) राजकोष में संग्रहित धन, रत्न, सार, कुप्य आदि वस्तुओं का नाप–तौल, गुण तथा मूल्य का विवरण रखना।

(6) देश, ग्राम, जाति और संघों के धर्म–व्यवहार, चरित्र और उनसे सम्बन्धित अन्य तथ्यों का विवरण तैयार करना।

(7) राजकीय सहायता पर जीवन–यापन करने वाले प्रग्रह, निवास स्थान, भेंट, परिहार एवं वेतन आदि का विवरण रखना।

(8) रानी तथा राजपुत्रों द्वारा रत्न एवं भूमि की प्राप्ति का विवरण रखना।

(9) राजा–रानी तथा राजपुत्रों को नियमित रूप से दिये जाने वाले धन के अतिरिक्त दिया हुआ धन, उत्सवों तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी सुधारों से प्राप्त धन का विवरण रखना।

(10) मित्र राजाओं तथा शत्रु राजाओं के साथ सन्धि–विग्रह आदि के निमित्त एवं प्राप्त हुए एवं व्यय किए गए धन का विवरण रखना।[1]

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त अक्षपटलाध्यक्ष अपने अधीनस्थ समस्त विभागों के करणीय, सिद्ध, शेष, आय–व्यय और नीबी तथा कर्मचारियों की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति आदि का ब्योरा रखता था। इन पदाधिकारियों द्वारा किये गये कार्य, उनके व्यवहार और आचरण का

---

1. *तत्राधिकरणानां संस्थानप्रचारसंजाताग्रं कर्मान्तानां .... पत्नीपुत्राणं रत्नभूमिलाभं प्रदानादानि निबन्धपुस्तकस्यं कारश्रेत्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 7, वार्ता 2 ।

आकलन निबन्ध पुस्तक में अंकित करके राजा के समक्ष प्रस्तुत करता था।[1] अक्षपटलाध्यक्ष की निबन्ध पुस्तक में अंकित किये गये विवरण के आधार पर राजा अपने कर्मचारियों की प्रोन्नति, अवनति, पदवृद्धि एवं वेतनवृद्धि पर विचार करता था।[2] इस प्रकार अक्षपटलाध्यक्ष का पद राज्य में बड़े महत्व का पद होता था।

कोषाध्यक्ष

राजस्व विभाग के अन्तर्गत कोषाध्यक्ष नाम का एक विशेष अधिकारी होता था। कोषाध्यक्ष का मुख्य कर्तव्य राज्य के कोष की देख–रेख करना, कोष में संग्रह होने वाले पदार्थों एवं रत्न, धन आदि का ग्रहण कर कोष में रखना, कोष से पदार्थों एवं रत्न, धन आदि को राजा की आज्ञा के अनुसार निकाल कर देना, और कोष में संग्रहीत पदार्थों एवं रत्न, धन आदि को सुरक्षित रखने की व्यवस्था करना था। कोषाध्यक्ष की योग्यताओं और उसके कत्तव्यों को बताते हुए कौटिल्य कहते हैं कि कोषाध्यक्ष को कोष में संग्रह करने योग्य रत्न, सार, फल्गु, कुप्य नामक वस्तुओं को पृथक–पृथक वस्तुओं के संग्रहकर्ता कर्मचारियों की उपस्थिति में ग्रहण करना चाहिए।[3] कोषाध्यक्ष को इन समस्त द्रव्यों एवं वस्तुओं के मूल्य, लक्षण, प्रमाण, जाति, रूप, खान और उनके नए–नए संस्कारों का पूर्ण ज्ञान रखना चाहिए।[4] पुराने रत्नों का संस्कार, रत्नों के गुह्य लक्षण, प्रकार, उपस्कर, देशकालानुसार उनका उपयोग तथा उनमें लगने वाले कीड़े अथवा चूहे आदि के प्रतिकार के साधनों का ज्ञान कोषाध्यक्ष को होना चाहिए।[5]

कोषाध्यक्ष की भी चारित्रिक योग्यताओं के विषय में शुक्र ने बताया है कि इन्द्रिय–दमन में समर्थ, धन–सम्पन्न, व्यवहार कुशल और धन ही प्राण है, ऐसा मानने वाले अत्यन्त कृपण व्यक्ति को कोषाध्यक्ष बनाना चाहिए।[6] इस प्रक[illegible] राजस्व प्रशासन में कोषाध्यक्ष बड़े महत्व का

---

1. *ततः सर्वाधिकरणानां करणीयं सिद्धं शेवमायव्ययौ नीवीमुपस्थानं प्रचारचरित्रसंस्थानं च निबन्धेन प्रयच्छेत्।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 7, वार्ता 3।
2. *उत्तममध्यमावरेषु च कर्मसु यज्जातिकमध्यक्षं कुर्यात्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 7, वार्ता 4 ।*
3. *कोषाध्यक्षः कोषप्रवेश्यं रत्नं सारं फल्गु कुप्यं वा तज्जातकरणाधिष्ठितः प्रतिग्रहणीयात्।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 11, वार्ता 1 ।
4. *अतः परेषां स्लानां प्रमाण मूल्यलक्षणम्।*
   जातिं रूपं च जानीवान्निधानं नवकर्म च।। *अर्थ0, अधि0 2, अ0 11, वार्ता 121 ।*
5. *पुराणप्रतिसंस्कारं कर्मगुह्यमुपस्करान्।*
   देशकालपरीभोगं हिंसाणां च प्रतिक्रियाम्।। *अर्थ0 अधि0 2, अ0 11, वार्ता 122 ।*
6. *दान्तस्तु सधनो यस्तु व्यवहार विशारदः।*
   धनप्रणोतिकृपणः कोषाध्यक्षः सएव हिं।। *शुक्रनीति, अ0 2, श्लोक 151–152 ।*

पद होता है।

अर्थकारणिक

अक्षपटलाध्यक्ष कार्यालय के मुख्य कर्मचारी को कौटिल्य ने अर्थकारणिक नाम से सम्बोधित किया है। यह कर्मचारी हिसाब–किताब रखने वाला मुख्य अकाउण्टेन्ट अथवा प्रधान क्लर्क होता था।

कौटिल्य ने इस कर्मचारी के कर्तव्यों की ओर अप्रत्यक्ष रूप में संकेत किया है कि जो अर्थकारणिक राजा के निमित्त आए हुए धन (राजांश) को विधिवत अंकित नहीं करता है और इस प्रकार राजा की आज्ञा का उल्लंघन कर देता है, अथवा उस धन को निबन्ध पुस्तक में उलट–पलट कर लिख देता है, उसको पूर्व साहस दण्ड मिलना चाहिए।[1] प्रस्तुत प्रसंग से यह स्पष्ट विदित होता है कि अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में इस कर्मचारी का कर्तव्य राज्य के विभिन्न भू–भागों से प्राप्त राजांश एवं तत्सम्बन्धी आय, व्यय आदि का निबन्धपुस्तक में विधिवत यथार्थ रूप में अंकन करना था।

कार्मिक

अर्थकारणिक के अधीन कई अन्य कर्मचारी होते थे जो उसके अधीन रह कर निबन्ध पुस्तकों का अंकन किया करते थे। इन कर्मचारियों के द्वारा अंकित किए गए निबन्धपुस्तकों का निरीक्षण अर्थकारणिक किया करता था। इस तथ्य की पुष्टि में कौटिल्य द्वारा व्यक्त एक व्यवस्था इस प्रकार है– जब अर्थकारणिक अपने अधीन कार्मिकों के द्वारा अंकन किये गये निबन्ध पुस्तक के हिसाब का निरीक्षण तुरन्त नहीं करता है तो उस अर्थकारणिक पर पूर्व साहस दण्ड होना चाहिए।[2] यदि कार्मिक इसके विपरीत आचरण करे अर्थात् समय पर निबन्धपुस्तक का विधिवत अंकन न करे और अर्थकारणिक द्वारा मांगने पर निबन्धपुस्तक को उसके समक्ष प्रस्तुत न करे तो ऐसे कार्मिक को पूर्वसाहस दण्ड का दोगुना दण्ड मिलना चाहिए।[3] इस प्रकार कार्मिक नाम के कर्मचारियों का कर्तव्य निबन्धपुस्तकों में अंकन करना था।

गणनिक्य

विभिन्न प्रदेशों के राजधन (राजांश) का लेखा–जोखा रखने वाले कर्मचारी गणनिक्य

---

1. *राजार्थे अर्थकारणिकस्याप्रतिवध्नतः प्रतिषेधयतोवाााांनिबन्धादाग्रव्ययमन्यथा व विकरुपयतः पूर्वः साहसदण्डः।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 7, वार्ता 35 ।*
2. *कार्मिके चोपस्थिते कारणिकस्याप्रतिबध्नतः पूर्वः साहस दण्डः।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 7, वार्ता 23 ।*
3. *विपर्यये कार्मिकस्य द्विगुणः।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 7, वार्ता 24 ।*

कहलाते थे। यह अपने–अपने प्रदेशों से अपने साथ लाए हुए राजधन और मुद्रित निबन्धपुस्तकों को अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में प्रस्तुत करते थे। इस कार्यालय में उस राजांश का मिलान लिखित विवरण के आधार पर कर किया जाता था। यह कर्मचारी वर्ष के अन्त में आषाढ़ मास में अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में उपस्थित होकर वार्षिक हिसाब देते थे। गणनिक्य कर्मचारियों के विषय में कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि गणनिक्यों को आषाढ़ मास में वर्ष की समाप्ति के, हिसाब मिलाने के लिए अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में आना चाहिए।[1] विभिन्न प्रदेशों से आए हुए गणनिक्यों से मुद्रित निबन्धपुस्तकों और राज्यांश सम्बन्धी सामग्री एवं नीवीधन कोष में जमा न कर दिया जाए तब तक उनको परस्पर वार्तालाप नहीं करने देना चाहिए।[2]

सांख्यायक

सांख्यायक नाम के कर्मचारियों का मुख्य कर्तव्य गणना करना था। इस प्रकार सांख्यायक गणना सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करते थे।[3]

लेखक

लेखक नाम के कर्मचारी का मुख्य कार्य लेखों का लिखना था। कौटिल्य ने राजा के लेखक की योग्यताओं का उल्लेख किया है कि अमात्य के गुणों से युक्त, प्रत्येक प्रतिज्ञा के लिखने की शैली का जानने वाला, शीघ्रता से सुन्दर अक्षर और विषय के लिख देने तथा अन्य के लेख को पढ़ देने में समर्थ, राजा का लेखक होना चाहिए।[4] न्यायालयों में जो लेखक होते थे उनका एक मात्र कर्त्तव्य वक्तव्यों आदि को ज्यों–का–त्यों लेखबद्ध करना था। जो लेखक इस कार्य में प्रमाद करता था अथवा कुछ का कुछ लिख देता था उसे दण्ड का पात्र माना है।[5]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर ज्ञात होता है कि अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में जो लेखक होते थे उनका मुख्य कर्तव्य सुन्दर और स्पष्ट लेखों का लिखना और अन्य के लेखों को पढ़कर सुनाना था।[6]

---

1. *गणानिक्यान्याषाढ़ीमागच्छेयुः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 7, वार्ता 17 ।*
2. *आगतानां समुद्रपुस्तभाण्डनीवीकानामेकत्र संभाषावरोधं कारयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 7, वार्ता 18 ।*
3. *तस्मादस्याध्यक्षाः संख्यायक लेखक–कुर्युः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 7, वार्ता 32 ।*
4. *तस्मादमात्यसंपदोपेतः सर्वसमयविदाशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेखवाचनसमर्थो लेखकः स्यात्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 10, वार्ता 4 ।*
5. *लेखकश्चेदुक्तं न लिखत्यमुक्तं लिखति दुरुक्तमुपलिखति सूक्तल्लिखत्यर्थोत्पत्तिं विकल्पयतीति पूर्वमस्मै साहसदण्डं कुर्यात्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 9, वार्ता 40 ।*
6. *संख्यायकलेखक ....कुर्युः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 9, वार्ता 32 ।*

रूपदर्शक

राजस्व विभाग के उस कर्मचारी को जिसका मुख्य कर्तव्य खरे–खोटे सिक्कों की परख करना था, रूपदर्शक कहलाता था।[1] कौटिल्य ने इस कर्मचारी के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है[7] कि रूपदर्शक को इन पणों (विशेष सिक्कों) के चलने अथवा कोष में डलवा देने की व्यवस्था करनी चाहिए,[2] यदि रूपदर्शक को कोई सिक्का जाली प्रतीत होता है तो उस सिक्के के कटवा देने की आज्ञा रूपदर्शक को देनी चाहिए।[3] रूपदर्शक को शुद्ध सिक्कों को ही ग्रहण करना चाहिए।[4]

नीवीग्राहक

नीवी धन की व्याख्या करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि व्यय से बचा हुआ राजधन नीवी कहलाता है। उन्होंने नीवी धन दो प्रकार का माना है–एक प्राप्ता और दूसरा अनुवृत्ता। जिस धन का कोष में प्रवेश हो चुका है वह प्राप्ता नीवी धन और जिस नीवी धन का कोष में प्रवेश होना अवशेष है अनुवृत्ता नीवीधन कहलाता है।[5] इस प्रकार वह कर्मचारी जो नीवीधन को प्राप्त कर उसको कोष में डालता था नीवीग्राहक कहलाता था।[6]

गोपायक

गोपायक नाम के कतिपय कर्मचारी राजस्व विभाग में होते थे। इनका मुख्य कर्तव्य राज्यांश की रक्षा करना था।[7]

अन्य कर्मचारी

उपरिवर्णित कर्मचारियों के अतिरिक्त अक्षपटलाध्यक्ष कार्यालय में कुछ अन्य कर्मचारी भी होते थे। इन कर्मचारियों में अपयुक्त, निधायक, निबन्धक, प्रतिग्राहक, दायक, मंत्रिवैयावृत्यक, आदि मुख्य हैं।[8]

---

1. *लेखकरूपदर्शक............कुर्युः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 9, वार्ता 32 ।*
2. *रूपदर्शकः पणयात्रां व्यावहारिकीं कोषप्रवेश्यां च स्थापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 29 ।*
3. *अशुद्धंछेदयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 5, वार्ता 13 ।*
4. *रूपदर्शक विशुद्धं हिरणयं प्रतिगृह्णीयात्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 5, वार्ता 12 ।*
5. *व्ययसंजातादायव्यपविशुद्धा नीवी प्राप्ता चानुवृत्ता चेति।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 27 ।*
6. *नीवोग्राहक.................कुर्युः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 9, वार्ता 32 ।*
7. *व्युष्टदेशकाल.....गोपायकैश्व नीवीं समानयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 7, वार्ता 34 ।*
8. *तत्रोपयुक्तनिधायक निबन्धकप्रतिग्राहकदायक दापकमंत्रिवैयावृत्यकरानेकैशोअनुयुश्रीत।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 63 ।*

उपर्युक्त नाम के विशेष कर्मचारी होते थे जो युक्त कर्मचारियों के सहायक तथा उनके अधीनस्थ होते थे। निधायक एक प्रकार का भण्डारी अथवा खजांची होता था। निबन्धक निबन्धपुस्तक रखने वाले कर्मचारी को, प्रतिग्राहक राज्यांश ग्रहण करने वाले कर्मचारी को, दायक संग्रहीत सामग्री अथवा धन से राजाज्ञानुसार सामग्री अथवा धन देने वाले कर्मचारी को, धन अथवा सामग्री के दिलाने वाले कर्मचारी को दापक और पदाधिकारी कर्मचारियों के सेवकों आदि को, मंत्रिवैयावृत्यक कर्मचारी कहते थे।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राजस्व विभाग में उच्च–निम्न पदस्थ अनेक कर्मचारी होते थे जिनकी सहायता से कोष–संचय–कार्य सम्पन्न होता था एवं राजांश का लेखा–जोखा रखा जाता था।

कोष–संचय के सिद्धान्त

कौटिल्य ने राजकोष की उपयोगिता एवं आवश्यकता पर बड़ा महत्त्व दिया है, परन्तु इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि राजा को राजकोष के निमित्त धनसंग्रह करने में पूर्ण स्वतन्त्रता दी गयी हो। कौटिल्य इस मत से असहमत हैं कि राजा को राजकोष के निमित्त इच्छानुसार प्रजा पर कर लगाकर संग्रहीत धन से कोष वृद्धि करनी चाहिए। राजा को ऐसा अधिकार दे देने से प्रजा पीड़ित होगी और इस प्रकार जिस उद्देश्य की पूर्ति हेतु राज्य अस्तित्व में आया है उसका ही मूलोच्छेद हो जाएगा। इसलिए विद्वान आचार्यों द्वारा निर्धरित सिद्धान्तों के आधार पर ही राजा को राजकोष के लिए धन सचय करना उचित माना है।

कौटिल्य ने इन सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुये व्यवस्था दी है कि राजा को इन सिद्धान्तों के ही आधार पर कोष के निमित्त धन–संचय करने हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(क) राजा का वेतन–सिद्धान्त

प्राचीन भारत में राजा प्रजा का वेतन भोगी सेवक माना गया है। प्रजा के योग–क्षेम के निमित्त राजा की स्थापना की जाती है और राजा द्वारा किए जाने वाले कार्यों के विधिवत सम्पादन हेतु उसका वेतन नियत कर दिया जाता है, जो करों के रूप में राजा को प्राप्त होता है। जो राजा प्रजा के योगक्षेम सम्बन्धी कार्य–सम्पादन में प्रमाद करता है और अपने निर्धारित कर्तव्यों का विधिवत पालन नहीं करता है, उसे इस वेतन की प्राप्ति के अधिकार से वंचित माना है। अर्थात् प्रजा से कर द्वारा धन प्राप्त करने का वही राजा अधिकारी समझा गया है जो इस

प्रकार प्राप्त धन के द्वारा प्रजा के योग–क्षेम हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहता है।

कौटिल्य भी राजा के वेतन के सिद्धान्त में आस्था रखते थे। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा कि राजा करों द्वारा जो धन प्रजा से प्राप्त करता है वह प्रजा द्वारा निर्धारित किया हुआ राजा का वेतन मात्र है, और उसके पाने का वही राजा अधिकारी है जो इस प्रकार प्राप्त धन के द्वारा प्रजा के योग–क्षेम का विधिवत ध्यान रखता है। कौटिल्य ने व्यवस्था दी गयी है कि राजा प्रजा से करों द्वारा प्राप्त धन अपने वेतन रूप में प्राप्त कर उस धन से प्रजा के योग–क्षेम सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करते आए हैं, मुनिगण भी अपनी उच्छवृत्ति से प्राप्त अन्न (सस्य के कट जाने के उपरान्त खेत से बीन कर लाए हुए अन्न) का छठवाँ भाग कर के रूप में राजा को समर्पित करते आए हैं। परन्तु इस कर के ग्रहण करने का अधिकारी वही राजा माना गया है जो प्रजा के योग–क्षेम कार्य में तत्पर रहता है।[1] इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार प्रजा से करों के रूप में प्राप्त धन राजा का वेतन मात्र है और इस धन का उपयोग प्रजा के योग–क्षेम के कार्यों में ही होना चाहिए।

करों द्वारा प्राप्त धन राजा का वेतन मात्र है इस सिद्धान्त की स्थापना महाभारत के शान्ति पर्व में भी की गयी है। भीष्म, राजा युधिष्ठिर से प्रजा से धन प्राप्त करने के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए अनुचित मार्ग से प्रजा से धन–संग्रह करने का विरोध करते हुए स्पष्ट करते हैं कि बलि, शुल्क, दण्ड आदि करों द्वारा जो धन राजा को प्राप्त होता है वह राजा का वेतन होता है।[2]

मार्कण्डेय पुराण में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स्वीकार किया गया है कि प्राचीन काल में बलि नाम के कर द्वारा प्राप्त धन राजा का वेतन ाना जाता था।[3]

इस प्रकार कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राजकोष के निमित्त धन–संचय का यह सिद्धान्त प्राचीनकाल से भारत में प्रचलित रहा है।

---

1. *तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहास्तेषां किल्विषमदणकरा हरन्ति अयोगक्षेमवहाश्च प्रजानाम्। तस्मादुम्च्छषड्भागमारण्यका अपि निवपन्ति तस्यैतद्भागधेयं यो अस्मान्गोपायतीति।।*
अर्थ0, अधि0 2, अ0 13, वार्ता 8,9 ।

2. *बलिषटेन शुक्तेन दण्डेनाथापराधिनाम्। शास्त्रानीतेनलिप्सेथा वेतनेन धनागमम्।।*
शान्तिपर्व, अ0 71, श्लोक 10 ।

3. *निरूपितमिदं राज्ञः पूर्वैरक्षणं वेतनम्। गृहतो शलिषड्भागं नृपतीर्नरको ध्रुवम्।।*
मार्कण्डयपुराण, अ0 16, श्लोक 126 ।

(ख) प्रजा–परिपुष्टि सिद्धान्त

कौटिल्य ने राज्य में किसी भी उद्योग अथवा आय सम्बन्धी कार्य के शैशवकाल में ही उस पर कर लगाये जाने का समर्थन नहीं किया है। यदि किसी उद्योग अथवा व्यवसाय पर प्रारम्भ से ही कर लगा दिए जाएंगे तो उस उद्योग अथवा व्यवसाय का पनपना कठिन हो जाएगा। इसलिए उद्योग अथवा व्यवसाय के सम्पन्न एवं समृद्ध हो जाने पर ही उस पर कर लगाना उचित होगा। ऐसा करने से वह बिना किसी क्षति के कर वहन करने में समर्थ हो सकेगा। इस सिद्धान्त के पालन करने से राज्य में प्रजा सम्पन्न एवं समृद्धि होगी और अधिक मात्रा में राजकोष के निमित्त धन देने में समर्थ हो सकेगी। इस प्रकार राजा और प्रजा दोनों का कल्याण होगा।

कौटिल्य इस सिद्धान्त के समर्थन में पके फलों का उदाहरण देते हुये कहते है कि जिस प्रकार चतुर माली वृक्षों से पके फलों को जो कि भूमि पर गिरकर नष्ट हो जाने वाले ही हैं, एकत्र कर उनका उपयोग करता है, वह कच्चे फलों को तोड़ता नहीं है अपितु उनकी रक्षा की व्यवस्था करता है और उनके पूर्ण विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है उसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा को परिपुष्ट करके उस पर सोंच–विचार कर, कर लगाने चाहिए जिससे उसको लेशमात्र भी क्षति न पहुँच पाए। इस नियम के विरूद्ध आचरण करने से प्रजा कुपित होकर राजा का विरोध करने लगती है।[1]

इसी सिद्धान्त की पुष्टि करने वाले कुछ अन्य प्रसंग देते हुये कौटिल्य ने कहा है कि यदि राज्य की प्रजा में कोई व्यक्ति (लाभ की दृष्टि से) नये तालाब अथवा सेतुबन्ध का निर्माण कराता है तो ऐसे तालाब एवं सेतुबन्ध की भूमि प्रारम्भ के पाँच वर्ष तक कर से मुक्त रहनी चाहिए।[2] यदि कोई व्यक्ति प्राचीन टूटे–फूटे तड़ाग अथवा सेतुबन्ध का जीर्णोद्धार कर उनको उपयोग योग्य बना लेता है तो वह तड़ाग अथवा सेतुबन्ध चार वर्ष तक राजकर से मुक्त रहना चाहिए।[3] यदि निर्मित तड़ाग अथवा सेतुबन्ध पर कुछ नया निर्माण कर उसका विकास किया जाए तो वह तड़ाग अथवा सेतुबन्ध तीन वर्ष तक राजकर से मुक्त रहने चाहिए।[4]

---

1. *पक्वं पक्वमिवारामात्फलं राज्यादवाप्नुयात्।*
 आमच्छेदभयादामं वर्जयेत्कोपकारकम्।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 5, वार्ता 82 ।*
2. *तटाकसेतुबन्धानां नवप्रवर्तने पाद्यवर्षिकः परिहारः।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 37 ।*
3. *भग्नोत्सृष्टानां चातुवर्षिकः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 39 ।*
4. *समुपपारुढानां त्रैवर्षिकः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 39 ।*

(ग) दौर्लभ्य एवं महान उपयोगिता का सिद्धान्त

प्रत्येक राज्य में कुछ पदार्थ अथवा सामाग्री ऐसी अवश्य होती है जो उस राज्य के लिए महान उपयोगी होती है, परन्तु उस राज्य में दुर्लभ होती है। इस प्रकार के पदार्थों अथवा सामग्री का राज्य में अन्य देशों से आयात अधिक से अधिक मात्रा में होने के लिए अथवा उस राज्य की सीमा के अन्तर्गत ही उसके निर्माण की व्यवस्था करने के लिए विशेष प्रोत्साहन मिलने की महती आवश्यकता होती है। सम्भवतः इसी विचार से कौटिल्य इस कोटि के पदार्थों एवं सामाग्री को शुल्क–मुक्त रखना उचित समझते हैं। स्पष्टतः वह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि राज्य में जो पदार्थ अथवा सामाग्री दुर्लभ है परन्तु राज्य के लिए महान उपकारक है उसे शुल्क–मुक्त होनी चाहिए।

प्रस्तुत सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कौटिल्य व्यवस्था देते हैं कि जो सामाग्री प्रजा का महान उपकार करने वाली है उसका राज्य में प्रवेश निःशुल्क होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार की सामाग्री का बीज अत्यन्त दुर्लभ होता है।[1]

(घ) विशेष क्रिया आधारित कर–मुक्ति सिद्धान्त

मानव जीवन में कुछ ऐसे विशेष कृत्य भी होते हैं जिनका अत्यन्त महत्व होता है और जिनका सम्बन्ध जीवन की विशेष घटनाओं से होता है। इनमें से कुछ का उल्लेख कौटिल्य ने शुल्क–मुक्ति सम्बन्धी प्रसंग में किया है। यह विशेष कृत्य मनुष्य के विशेष संस्कारों, व्रतों, यज्ञ, दान, उपायन आदि से सम्बन्धित बतलाए गए हैं। इन कृत्यों के सम्पन्न होने के लिए जिन पदार्थों अथवा जिस सामग्री की आवश्यकता होती है वह शुल्क–मुक्त रहना चाहिए। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि जो सामग्री विवाह सम्बन्धी हो, जो भेंट द्वारा प्राप्त हुई हो, जो यज्ञ, प्रसव, देवपूजा, मुण्डन, उपनयन, गोदान, धार्मिक व्रतों अथवा दीक्षा आदि विशेष कृत्यों के निमित्त हो, विशेष क्रिया में उपयोग होने के आधार पर वह शुल्क–मुक्त रहनी चाहिए।[2]

(ङ.) वाणिज्य नियंत्रण सिद्धान्त

मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण किए जाने की रोक–थाम के लिए कौटिल्य ने

---

1. *मद्दोपकारमुच्छुल्कं कुर्याद् बीजं तु दुर्लभम्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 39।*
2. *वैवाहिकमन्वायनमौपायनिकं यज्ञकृत्यप्रसवनैमित्तिकं देवेज्या चौलोपनयनगोदान व्रतदीक्षणदिषु क्रियाविशेषेषु भाण्डमुच्छुल्कं गच्छेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 22 ।*

राज्य–नियंत्रण के सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस दृष्टि से उन्होंने राज्य के मुख्य व्यवसायों, व्यापार एवं उद्योगों का संघठन एवं संचालन राज्य के नियंत्रण के अन्तर्गत करने की व्यवस्था दी है। इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने इन व्यवस्थाओं, व्यापार एवं उद्योगों पर कुछ ऐसे कर राज्य द्वारा लगाने का प्रतिपादन किया है जिससे भोला–भाला मनुष्य धूर्त–प्रकृति वाले मनुष्यों से छला न जा सके, स्वामी और सेवक दोनों को उनके श्रम एवं पूंजी के अनुसार उचित अंश प्राप्त हो सके। स्वामी सेवक को और सेवक स्वामी को ठगने न पाए।

कौटिल्य की इस व्यवस्था के अनुसार कर लगाए जाते थे और इन करों के द्वारा जो धन अथवा सामाग्री एकत्र की जाती थी, वह राजकोष में संग्रहीत की जाती थी। इस प्रकार व्यापार, व्यवसाय एवं उद्योग–नियंत्रण के आधार पर कर लगाने के सिद्धान्त की स्थापना कौटिल्य ने की है।

राजस्व के स्रोत

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राजस्व के अनेक स्रोतों का उल्लेख किया गया है। जो इस प्रकार थे– (1) नियमित कर व शुल्क, (2) आकस्मिक कर, (3) राज्य की सम्पत्ति से आय, (4) सामन्तों एवं जागीरदारों से उपहार, (5) दण्ड (जुर्माना)। महाभारत में राज्य के राजस्व के तीन मुख्य स्रोतों का उल्लेख किया गया है– (1) बलि, (2) शुल्क और (3) अपराधियों से वसूल किये गये जुर्माना की रकम।

विभिन्न ग्रन्थों, अभिलेखों तथा शिलालेखों के अध्ययन से यह विदित होता है कि राज्य द्वारा निम्नलिखित प्रकार के कर लगाये एवं वसूल किये जाते थे– (क) भाग कर, (ख) भोग कर, (ग) शुल्क, (घ) विश्ती, (ड.) उदरंग तथा (च) ऊपरी कर।

भाग कर का अर्थ है जमीन के उत्पादन का कुछ भाग जो राजा को दिया जाता था। राज्य के आकार, आवश्यकताओं तथा भूमि की उत्पादकता के अनुसार भाग कर का प्रतिशत निध ार्रित किया जाता था। सामान्यतः उत्पादन का 16 से 25 प्रतिशत भाग कर के रूप में वसूल किया जाता था।

भोग कर का अर्थ है उपहार। यह कर स्वेच्छा से फल, फूल, दूध, मेवे तथा इसी प्रकार की वस्तुओं के रूप में दिया जाता था। इस प्रकार के उपहार राजा तथा राज्य के उच्चाधिकारियों को दिये जाते थे।

शुल्क और विश्ती भी राज्य की आय के प्रमुख स्रोत थे। विश्ती को श्रम कर के रूप

में लिया जा सकता है। उदरंग और ऊपरी कर, के अर्थ और स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच मतांतर पाया जाता है। विभिन्न विद्वानों ने इनके विभिन्न अर्थ व्यक्त किये हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान 'फ्लीट' ने कहा है कि "उदरंग' का अर्थ है स्थायी रैयतों पर कर, और ऊपरी कर का अर्थ है उन कृषकों पर कर, जिनका जमीन पर स्वामित्व नहीं है।[1] कई विद्वानों ने इस व्याख्या पर आपत्ति व्यक्त की है। पद्मा उद्गाँवकर ने कहा है कि 'उपर्युक्त व्याख्या अमान्य है, क्योंकि यह बात ग्राह्य नहीं है कि राज्य स्थायी और अस्थायी रैयतों पर लगाये जाने वाले करों में अन्तर बरते। इसके अतिरिक्त इस तथ्य का कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि राज्य द्वारा उन व्यक्तियों पर जिन्हें भूमि स्वामित्व नहीं था, विशेष या अतिरिक्त कर लगाये जाते थे।"[2]

कौटिल्य ने राजस्व के विभिन्न स्रोतों का उल्लेख किया है। उसने स्रोत के आधार पर राजस्व का भेद किया है। उसके अनुसार राजस्व के दो प्रमुख स्रोत हैं– (1) आयशरीर और (2) आयमुख।

आयशरीर और आयमुख से कौटिल्य का क्या तात्पर्य रहा होगा स्पष्ट नहीं है। उन्होंने अर्थशास्त्र में कहीं भी इस विषय का उल्लेख नहीं किया है कि आय के कतिपय मार्गों को उन्होंने आयमुख और अन्य को आयशरीर क्यों सम्बोधित किया है। परन्तु उन्होंने इस विषय का स्पष्ट वर्णन दिया है कि आयशरीर और आयमुख के अन्तर्गत अलग–अलग कौन–कौन से आय के मार्ग परिगणित किए जाने चाहिए। आयशरीर और आयमुख के अन्तर्गत आने वाले आय के मार्ग कौटिल्य ने इस प्रकार दतलाए हैं–

आयशरीर

राजकोष की आय के कुछ ऐसे मार्ग थे जिनका सम्बन्ध राज्य के दुर्ग, राष्ट्र, खान, सेतु, वन, ब्रज और वणिक्पथ से था। आय के इन मार्गों को कौटिल्य ने आयशरीर के नाम से सम्बोधित किया है।[3] इस प्रकार कौटिल्य ने आय शरीर के मुख्य सात मार्ग माने हैं। इन सातों मार्गों के लक्षण भी कौटिल्य ने संकेत रूप में वर्णित किये हैं।

(क) दुर्गआय

दुर्ग से कौटिल्य का तात्पर्य पुर (राजधानी) से है। इस प्रकार दुर्ग में होने वाले विभिन्न

1. *सी0आय0आय0 III, पृ0, -98*
2. *पद्मा0 बी0 उद्गावंकर : दि पॉलिटिकल इंस्टीट्यूशन एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, पृ0 177।*
3. *समाहर्ता दुर्ग, राष्ट्रं खनिंसेतु वनं ब्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 1 ।*
   इत्याथ शरीरम्।। *अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 9 ।*

प्रकार के व्यवसायों, उद्योगों एवं व्यापार आदि पर राज्य की ओर से कतिपय कर लगाए जाते थे। इन करों के द्वारा जो धन अथवा सामग्री राजकोष के निमित्त संचय की जाती थी दुर्ग आय कहलाती थी। दुर्ग आय में जिन–जिन विभागों से कर द्वारा धन अथवा सामग्री राजांश के रूप में राजकोष के निमित्त संग्रहीत की जाती थी उनका उल्लेख कौटिल्य ने इस प्रकार किया है कि दुर्ग में व्यापार के निमित्त जिस सामग्री एवं जिन पदार्थों का प्रवेश दुर्ग में होता था, उन पर शुल्क नाम का कर लिया जाता था। इस प्रकार शुल्क रूप में जो धन अथवा सामग्री पुर में संग्रहीत की जाती थी, वह दुर्गआय की श्रेणी में समझी जाती थी। राज्य के दुर्ग (राजधानी) में जो व्यक्ति राज्य के विधियों का उल्लंघन करते थे उन को उनके अपराध के अनुसार दण्ड दिए जाते थे। इन दण्डों में अर्थदण्ड भी होते थे। अर्थदण्ड के रूप में जो धन एकत्र होता था वह भी दुर्गआय के अन्तर्गत राजकोष में संचित होता था।

इसी प्रकार दुर्ग में कतिपय विशेष अध्यक्ष, राज्य की ओर से नियुक्त थे जिनके अधीन उद्योगों एवं व्यवसायों का संघठन एवं संचालन होता था। यह अध्यक्ष अपने–अपने क्षेत्र में निर्धारित राजांश का संचय करते थे, और समय–समय पर उसको राजकोष के निमित्त भेजते रहते थे। यह राजांश भी दुर्गआय के अन्तर्गत सम्मिलित किए जाते थे। इन अध्यक्षों को कौटिल्य ने पौतवाध्यक्ष, नगराध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, द्यूताध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, सौवणिक, नागरिक, कुप्याध्यक्ष, वास्तुकलाध्यक्ष, देवताध्यक्ष आदि नाम से सम्बोधित किया है।

शिल्पी और कारीगरों से कर लिए जाते थे। पुर के द्वारों पर विशेष कर द्वार वाहिरिक द्वारा धन एकत्र किया जाता था। यह समस्त कर दुर्गआय कहलाते थे।[1]

(ख) राष्ट्र आय

प्राचीन भारत में राज्य दो मुख्य भागों में विभाजित किया जाता था जिनको पुर और जनपद नाम से सम्बोधित किया गया था। कुछ आचार्यों ने पुर को दुर्ग नाम से भी सम्बोधित किया है। पुर अथवा दुर्ग से उनका तात्पर्य राजधानी से था। इस प्रकार राजधानी को बहिष्कृत करने के उपरान्त राज्य का जो भाग अवशेष रह जाता था जनपद अथवा राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किया जाता था।

---

1. *शुल्कं दण्डः पौतव नागरिको लक्षणध्वी मुद्राध्यक्षः सुरा सुना सूत्रं तलं धृतं क्षारं सौदर्णिकः पणयसंस्थावेश्याद्युतं वास्तुकं कारूशिल्पिगणों देवताध्यक्षो द्वारवाहिरिकादेयं च दुर्गम्।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 2 ।*

जिन करों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध राष्ट्र से होता था वह राष्ट्रआय के नाम से सम्बोधित किए गए हैं। राजकीय कृषि क्षेत्रों से प्राप्त उपज, भाग, बलि, कर, वणिकों से प्राप्त कर, नदी एवं नावों के अध्यक्ष द्वारा संग्रहीत किया गया कर, नगरों से प्राप्त राजांश, गोचारण से एकत्र किया गया राजांश, सड़कों एवं मार्गों से संचित किया गया राजांश, रज्जू (भूमि नापने वालों के द्वारा एकत्र किया गया राजांश) और चोरों से एकत्र किया गया धन राष्ट्रआय के अन्तर्गत बतलाया गया है।[1]

(ग) खनि आय

राज्य में खानों से जो पदार्थ निकाले जाते थे, वह राजकोष के निमित्त संग्रहीत किए जाते थे। इनको भी आयशरीर बतलाया गया है। खनिआय के अन्तर्गत खानों से निकले हुए पदार्थ जैसे सोना, चांदी, हीरा, मरकत, मणि, मोती, मूंगा, शंख, लोह, लवण, विशेष प्रकार की मिट्टी, पत्थर, रसधातु आदि माने गए हैं।[2]

(घ) सेतु आय

पुष्प वाटिकाओं, फल वाटिकाओं, शाक के क्षेत्र, जलीय क्षेत्रों एवं उन क्षेत्रों से जिनमें मूलवाले पौधे रोपे जाते हैं, से जो राजांश राज–कोष के लिए एकत्र किया जाता था, सेतुआय कहलाता था।[3]

(ङ.) वन आय

पशु, मृग नाना प्रकार की काष्ठ, हाथी आदि वन से प्राप्त होते थे। अतः इनको कौटिल्य ने वनआय के नाम से सम्बाधित किया है। इस प्रकार की आय को भी आय–शरीर के अन्तर्गत परिगणित किया गया है।[4]

(च) ब्रज आय

कौटिल्य ने गाय, भैस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट, अश्व, खच्चर आदि पशु ब्रज नाम से सम्बोधित किए हैं। इस प्रकार इन पशुओं का व्यवसाय करने वाले लोगों से इन पशुओं की वृद्धि पर राजकर ग्रहण किया जाता था जो अधिकतर पशुओं के रूप में ही प्राप्त होता था। इस प्रकार

---

1. *सीता भागो बलिः करो वणिक् नदोपालस्तरो नावः पट्टनं विवीतं वर्तनी रज्जूश्चोररज्जूश्च राष्ट्रम्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 3 ।*
2. *सुवर्णरजतवज्रमणिमुक्ताप्रवालशंखलोहलवण भूमिप्रस्तररसधातवः खनिः।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 4 ।*
3. *पुष्पफलवाटषण केदारमूलबापाः सेतुः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 5 ।*
4. *पशु मृगद्रव्यास्तिवनपरिग्रहो बनम्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 6 ।*

प्राप्त राजांश राजआय कहलाता था और आयशरीर के अन्तर्गत परिगणित किया जाता था।[1]

(छ) वणिकपथ आय

स्थल मार्ग और जलमार्ग वणिक् पथ के नाम से सम्बोधित किए गए हैं। यह भी आय के मार्ग माने गए हैं।[2] इन्हें भी आयशरीर बतलाया गया है।

(ज) शुल्क

राजकोष की आय का एक प्रमुख मार्ग शुल्क द्वारा प्राप्त सामग्री अथवा धन भी था। शुल्क की स्पष्ट परिभाषा कौटिल्य ने नहीं की है परन्तु प्रसंग से विदित होता है कि शुल्क से कौटिल्य का वही तात्पर्य था जो कि आज–कल चुंगी से तात्पर्य लिया जाता है।
शुक्रनीति में शुल्क की स्पष्ट व्याख्या की गयी है और जो कि क्रयकर्ता अथवा विक्रयकर्ता को जो धन अथवा सामग्री राजांश के रुप में देनी पड़ती है शुल्क कहलती है।[3]

शुल्क विभाग का संगठन

शुल्क विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी शुल्काध्यक्ष होता है, शुल्काध्यक्ष के कार्यालय को कौटिल्य शुल्कशाला के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस शुल्कशाला का मुख्य द्वार पूर्व अथवा उत्तर की दिशा में होना चाहिए और इस द्वार पर ऊंची ध्वजा लगायी जानी चाहिए।[4] इस शुल्कशाला में चार अथवा पांच अन्य राजकर्मचारी शुल्काध्यक्ष के अधीन होने चाहिए जिनके द्वारा शुल्काध्यक्ष को शुल्क–संचय कराते रहना चाहिए।[5] यह कर्मचारी शुल्कशाला में आए हुए व्यापारियों के विषय में इस प्रकार का विवरण लिखते रहें– यह व्यापारी कौन हैं, कहां के निवासी हैं, कहां से आए हैं, इनके पास कितनी और किस प्रकार की विक्रय सामग्री है, उस सामग्री पर कहां की और किस–किस प्रकार की मुद्रा लगी है।[6] इस प्रकार शुल्क संचय सम्बन्धी समस्त व्यवस्था करना शुल्काध्यक्ष का कर्तव्य माना गया है।

शुल्क–क्षेत्र की सीमा पर एक अधिकारी होता है जिसका कौटिल्य ने अन्तपाल के नाम

---

1. *गोमहिपमजाविक खरोष्ट्रमश्वाश्वतराश्च ब्रजः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 7 ।*
2. *स्थलयथो वारिपथश्चवणिक्पथः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 8 ।*
3. *विक्रेतृकेतृतो राजभागः शुल्कमुदाहतम्।।* — *शुक्रनीति, अ0 4, श्लोक 217 ।*
4. *शुल्काध्यक्षः शुल्कशालां ध्वजं च प्राड़्मुखमुदड़्मुख वा महाद्वाराभ्याशेनिवेशयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 1 ।*
5. *शुल्कादायिनश्चत्वारः पद्य वा सार्थोपयातान्वणिजो लिखेयुः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 2 ।*
6. *के कुतस्तयाः कियत्पदाः क्व चाभिज्ञानमुद्रा वा कृता इति।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 3 ।*

से सम्बोधित किया है। शुल्क–क्षेत्र की सीमा में प्रविष्ट होने के लिए प्रत्येक प्रकार की विक्रय सामग्री पर अन्तपाल की मुद्रा लगना अनिवार्य था। किसी प्रकार की भी विक्रय–सामग्री अन्तपाल की मुद्रा के बिना शुल्क–क्षेत्र में प्रवेश नहीं हो सकती है। कौटिल्य ने उस व्यक्ति को अपने व्यापार की सामग्री पर दो गुना शुल्क दण्ड के रुप में देने की व्यवस्था दी है जो अपना माल अन्तपाल की मुद्रा लगवाए बिना शुल्कक्षेत्र के अन्तर्गत पकड़ा जाता।[1] यदि किसी ने अपने माल पर जाली मुद्रा लगा ली तो उसको निर्धारित शुल्क का आठगुना शुल्क दण्ड रुप में देने का आदेश दिया गया है।[2] यदि मुद्रा के चिन्ह को मिटा दिया गया हो, अथवा मुद्रा को तोड़ दिया गया हो तो ऐसे व्यापारी को घटिका स्थान में रोक लेना चाहिए।[3] घटिका स्थान की व्याख्या करते हुए डॉ0 शाम शास्त्री ने बतलाया है कि घटिका स्थान एक कोठरी होती थी जिससे कुसमय इधर–उधर घूमने वाले व्यक्ति पकड़कर बन्द कर दिए जाते थे।[4] मुद्रा के बदल देने या उस पर विक्रय वस्तु का नाम बदल देने पर सवापण दण्ड दिया जाना चाहिए।[5]

विक्रय हेतु जो वस्तुएँ अथवा सामग्री शुल्कक्षेत्र में प्रवेश होती थी वह सब शुल्कशाला के समीप लायी जाती थीं। यहाँ व्यापारी अपनी विक्रय–सामग्री अथवा वस्तु शुल्क–मुक्त न रहने पाए इसलिए जहाँ उपर्युक्त नियमों को अपनाया गया है वहीं एक विशेष नियम का भी उल्लेख किया गया है। इस नियम के अनुसार कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि जो वस्तु जहाँ उत्पन्न हो वहाँ उसका विक्रय नहीं किया जाना चाहिए।[6] कौटिल्य ने इस विषय में कुछ उदाहरण भी दिए हैं जैसे पुष्प और फलों की वाटिका से फल–फूल क्रय– विक्रय करने वाले मनुष्यों पर चौवन पण दण्ड होना चाहिए।[7] शाक की वाडियों से शाक, मूल, कन्द आदि के क्रय–विक्रय करने वाले पर पौने बावन पण दण्ड होना चाहिए।[8] अन्न के क्षेत्रों से अन्न के क्रय करने पर तिरपन पण दण्ड होना चाहिए।[9]

---

1. *अमुद्राणामत्ययो देयद्विगुणः।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 4 ।
2. *कूटमुद्राणां शुल्काष्टगुणो दण्डः।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 5 ।
3. *भिन्नमुद्राणामत्ययो घटिकाः स्थाने स्थानम्।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 6 ।
4. *ए रूम व्हेयर पर्सनल आर लाक्ड अप फार अनटाइमली वाकिंग इन स्ट्रीट आर रोड्स।। अर्थशास्त्र, पृष्ठ 121।*
5. *राजमुद्रापरिवर्तने नामकृते वा सपादपणिकं बह दापयेत्।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 7 ।
6. *जातिभूमिषु च पण्यानाम विक्रयः ।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 22, वार्ता 9 ।
7. *पुष्पफलवाटेभ्यः पुष्पफलादाने चतुष्पचाशत्पणो दण्डः।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 22, वार्ता 11 ।
8. *षण्डेभ्यः शाकमूलकन्दादाने पादोनं द्विपचाशत्पणो दण्डः।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 22, वार्ता 12 ।
9. *क्षेत्रेभ्यः सर्वसस्यादाने त्रिपच्चाशत्पणः।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 22, वार्ता 13 ।

इस प्रकार शुल्क से विक्रय–वस्तु को बचाने के लिए व्यापारी गण जिन उपायों का आश्रय ले सकते थे, उनके रोक–थाम के लिए कौटिल्य ने नियम निर्धारित करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

शुल्क की दर

कौटिल्य ने शुल्क सम्बन्धी व्यापारिक माल को मुख्य तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम श्रेणी में वह माल रखा है जो उस राज्य के विभिन्न भूभागों से पुर में विक्रय हेतु आता था। दूसरा वह माल जिसका निर्माण अथवा उत्पत्ति पुर में ही हुई है और वह बिक्रय हेतु बाजारों को भेजा जाता था। तीसरा वह माल जो अन्य राज्यों से विक्रय हेतु राज्य में आता था। प्रथम प्रकार के माल को बाह्य, दूसरे को आभ्यान्तर और तृतीय प्रकार के माल को आतिथ्य के नाम से सम्बोधित किया गया है।[1] पुर में प्रवेश होने वाले अथवा बाहर जाने वाले दोनों प्रकार के व्यापारिक माल पर शुल्क देना पड़ता था।[2]

शुल्क, विक्रय की सामग्री के प्रकार के अनुसार ही न्यून, अथवा अधिक लगायी जाती थी। इस विषय में एक नियम यह भी था कि बाहर से आने वाले माल के मूल्य का पाँचवा भाग शुल्क के रूप में लिया जाना चाहिए।[3] फूल, फल, शाक, मूल, कन्द बेरी के फल, बीज, सूखी मछली और सूखे मांस पर उनके मूल्य का छठा भाग शुल्क ग्रहण करना चाहिए।[4] क्षोम, दुकूल, क्रिमितान, कंकट, हरताल, मैनसिल, हींगलू, लोह, वर्णधासु, चन्दन, अगर, कटुक, मादकद्रव्य, सुरा, हाथीदाँत, चमड़ा क्षोम–दुकूल बनाने का तन्तुसमूह, अस्तरण आवरण (ओढ़ने का वस्त्र) अन्य रेशमी वस्त्र, बकरी तथा भेड़ के ऊनी वस्त्रों पर मूल्य का दसवां अथवा पन्द्रहवां भाग शुल्क लेना उचित होगा।[5] साधारण वस्त्र, चौपाए, पक्षी, सूत, कपास, गन्ध, औषधि, लकड़ी, बांस, छाल, मिट्टी के बर्तन, घी, तेल आदि क्षार, नमक, मद्य, पके अन्न, आदि पर उनके मूल्य का बीसवां

---

1. *शुल्कव्यवहारो वाह्यामाभ्यन्तरं चातिभ्यम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 22, वार्ता 1 ।*
2. *निष्क्राम्यं प्रवेश्यं च शुल्कम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 22, वार्ता 2 ।*
3. *प्रवेश्यानां मूल्यपच्चभागः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 22, वार्ता 3 ।*
4. *पुष्पफलशाकमूल कन्दवाल्लिक्य बीजशुष्कमत्स्यमांसानां षड्भागं गृह्णीयात्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 22, वार्ता 4 ।*
5. *क्षौमदुकूलक्रिमितान ककक्टहरितालमनः शिलाहिड.लुकलोहवर्णाधातूनां चन्दनागयकटुकक्विवावराणां सुरादन्ताजिनक्षौमदुकूलनिकरास्तरणाप्रावरणामि जातानामजैलजकस्य च दशभागः पन्चदशभागो वा।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 22, वार्ता 7 ।*

अथवा पचीसवां भाग शुल्क के रूप में ग्रहण करना चाहिए।[1]

इस प्रकार कौटिल्य ने शुल्क की दर विभिन्न प्रकार की व्यापारिक सामग्री के अनुसार नियत की है।

शुल्क–मुक्त विक्रय सामग्री

कौटिल्य ने कुछ ऐसी विक्रय वस्तुओं एवं सामग्री का भी उल्लेख किया है जिनको उन्होंने शुल्क–मुक्त रखने की व्यवस्था दी है। इस प्रकार की सामग्री में उन्होंने उन वस्तुओं को सम्मिलित किया है जो राजा के लिए महान उपकारक हैं परन्तु दुर्लभ है।[2] कुछ अन्य प्रकार की वस्तुओं एवं सामग्री को भी शुल्क–मुक्त रखने के लिए उन्होंने व्यवस्था दी है। यह वह वस्तुएँ एवं सामग्री थी जिनका सम्बन्ध मनुष्य के विशेष कृत्यों से था। इस प्रकार की वस्तुओं एवं सामग्री का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि जो सामग्री विवाह सम्बन्धी है, जो भेंट द्वारा प्राप्त हुई है, जो यज्ञ अथवा प्रसव के निमित्त हो और जो देव–पूजा, मुण्डन, उपनयन, गोशन धार्मिक व्रत विशेष आदि के निमित्त है उस पर शुल्क नहीं लेनी चाहिए।[3]

इस प्रकार जनता की विशेष सुविधा को ध्यान में रखकर कतिपय क्रय–विक्रय की वस्तुओं एवं सामग्री को शुल्क–मुक्त रखने की व्यवस्था दी गयी है।

(झ) दण्ड

दुर्ग आय का एक साधन दण्ड द्वारा प्राप्त धन भी बतलाया गया है। राज्य के नियमों को भंग करने वाले व्यक्तियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड दिए जाते थे। इनमें अर्थ दण्ड भी एक प्रकार का दण्ड माना गया है। दोषी के अपराध के अनुसार अर्थ दण्ड भी दिए जाते थे। चोर–डाकुओं के लिए दण्ड विधान करते हुए कौटिल्य ने उनके अपराध के अनुसार अर्थ दण्ड निर्धारित किए हैं जिनमें पुष्प, फल, शाक, मूल, कन्द, पंक्वान, चर्म, वेणु, मट्टी के पात्र आदि छूद्र वस्तुओं के बलपूर्वक छीन लेने पर बारह पण से चौबीस पण तक दण्ड होना चाहिए।[4] लोहा, काष्ठ, रस्सी, छुद्रपशु, वस्त्र आदि एवं स्थूल द्रव्यों के बलपूर्वक आहरण करने पर चौबीस पण से

---

1. *वस्त्र चतुष्पद द्विपद सूत्रकापसिगन्ध भैषज्य काष्ठवेणुवल्कल चर्ममृद्भाण्डानां धान्यस्नेह क्षारलक्णमद्यपक्वान्नदीनां च विंशति भागः पन्चविंशतिभागो वा।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 22, वार्ता 7 ।
2. *महोपकारमुच्छुल्कं कुर्यादबीजं तु दुर्लभम्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 39 ।
3. *वैवाहिकमन्वायन मौपायनिकं यज्ञकृत्यप्रसवनैमित्तिकं देवेज्याचौलोपनयन गोदानप्रतदीक्षणादि पुत्रियाविशेषेषु भाणमुच्छुरुकं गच्छेत्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 21, वार्ता 22 ।
4. *पुष्पफलशाकमूलकन्दपकान्न धर्मवेणुमृद् भाण्डादीनांक्षुद्र कद्र व्याणाद्वादशपणावरश्चतुर्विंशतिपणापरो दण्डः।।* अर्थ0, अधि0 3, अ0 17, वार्ता 6 ।

अड़तालीस पण तक दण्ड होना चाहिए।[1] ताँबा, पीतल, कांसी, काँच और दान्त की बनी स्थूल वस्तुओं के अपहरण करने पर अड़तालीस पण से छियानवे पण तक पूर्वसाहस दण्ड देना चाहिए।[2]

इसी प्रकार अन्य कोटि के अपराधों के निमित्त भी अर्थदण्ड देने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है। अर्थदण्ड के रूप में जो धन इस प्रकार एकत्र किया जाता था वह राजकोष में संचय हेतु भेजा जाता था।

(ट) पौतव कर

कौटिल्य ने राज्य में तौल–नाप के साधनों में एकरूपता की स्थापना हेतु एवं जनता को वंचकों के दांव–पेच से सुरक्षित रखने के लिए पौतवाध्यक्ष की नियुक्ति की व्यवस्था दी है। पौतवाध्यक्ष का मुख्य कर्तव्य राज्य में विभिन्न प्रकार के नाप–तोल के साधनों का ठीक–ठीक निर्माण कराना, उनके उचित प्रयोग की व्यवस्था करना, उनका समय–समय पर निरीक्षण करना, इस क्षेत्र से राजांश का संचय करना एवं इन नाप–तोल के साधनों का दुरूपयोग करने वालों को नियमानुसार दण्ड की व्यवस्था करना बतलाया है।

पौतवाध्यक्ष को प्रति चार मास के उपरान्त कम से कम एक बार नाप–तोल के साधनों का निरीक्षण अवश्य करना चाहिए।[3] उनके मतानुसार जो व्यक्ति प्रयोग में लाए जाने वाले अपने नाप–तोल के साधनों का निर्धारित समय पर निरीक्षण कराने में प्रमाद करता है उस पर सवासत्ताइस पण दण्ड होना चाहिए।[4] इन नाप–तौल के साधनों की इस प्रकार की व्यवस्था के निमित्त व्यापारियों को एक प्रकार का कर देना पड़ता था। कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि व्यापारी को प्रति दिन की एक काकणी (सिक्का विशेष) की दर से पौतवाध्यक्ष के लिए कर देना चाहिए।[5] इस प्रकार पौतवाध्यक्ष के द्वारा कर के रूप में जो राजांश एकत्र किया जाता था वह भी राजकोष की आय का एक मार्ग माना गया है और जो दुर्ग आय के अन्तर्गत परिगणित किया गया है।

---

1. *काजायस काष्ठारज्जुदव्यकुद पशुवाटादीनां स्थूलकद्रव्याणां चतुर्विंशतिपणावरो अष्टवृत्वारिंशत्पणपरो दण्डः ।।*
   अर्थ0, अधि0 3, अ0 17, वार्ता 7 ।
2. *ताम्रवृत्तकंसका चदन्तभाण्डादीनां स्थूलद्रव्याणामष्ट चत्वारिंशत्पणावरं षझणवतिपरं पूर्वः साहसदण्डः ।।*
   अर्थ0, अधि0 3, अ0 17, वार्ता 8 ।
3. *चातुर्मासिकं प्रातिवेधनिकं कारयेत् ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 19, वार्ता 51 ।*
4. *भप्रतिविद्ध स्यात्ययः सपादः सप्तविंशति पणः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 19, वार्ता 52 ।*
5. *प्रातिवेधनिकं काकणीकमहरहः पौतवाकग्रक्षाय दद्युः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 19, वार्ता 53 ।*

नागरिक द्वारा प्राप्त राजांश

जिस प्रकार समाहर्ता समस्त राष्ट्र से राजांश का संचय करने का प्रमुख अधिकारी माना गया है उसी प्रकार सम्पूर्ण नगर से राजांश का संचय करना नागरिक का प्रधान कर्तव्य बतलाया गया है। नगर को सुव्यवस्थित एवं सुरक्षित रखने के लिए कतिपय नियमों का निर्माण किया जाता था। इन नियमों का विधिवत पालन नगरवासियों एवं नगर में बाहर से आकर ठहरने वाले लोगों को करना चाहिए। नगरवासियों के पशु, पक्षी, घर तथा अन्य सम्पत्ति पर इन नियमों के अनुसार कर लगाए जाते थे। इन करों के द्वारा जो धन राजांश के रूप में नागरिक द्वारा संचित किया जाता था, वह राजकोष में संचित होता था। इसलिए कौटिल्य ने इस राजांश को नागरिक आयमार्ग के नाम से सम्बोधित किया है।

लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष आदि द्वारा संचय किया जाने वाला राजांश

राज्य के निमित्त सिक्कों का निर्माण कराना एवं उनके राज्य में चलने की उचित व्यवस्था करना लक्षणाध्यक्ष का मुख्य कर्तव्य बतलाया गया है। इस प्रकार लक्षणाध्यक्ष की देख–रेख में जिन सिक्कों का निर्माण होता था उनमें से कुछ कोष में भी भेजे जाते थे एवं इनके निर्माण में जो नियंत्रण की व्यवस्था की जाती थी उससे भी कुछ राजांश प्राप्त होता था। इस प्रकार लक्षणाध्यक्ष के अधीन संचित होने वाला राजांश भी राजकोष की आय का एक मार्ग माना गया है।

इसी प्रकार मुद्राध्यक्ष मुद्रण–शुल्क द्वारा एकत्र किया हुआ धन राजकोष में संचय करता था। सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, सौवर्णिक, देवताध्यक्ष, वास्तुकलाध्यक्ष आदि के द्वारा अपने–अपने विभाग से जो राजांश संचित किया जाता था वह राजकोष में संग्रहीत किया जाता था और यह सब राजकोष की आय के मार्ग माने गये हैं जिनको कौटिल्य ने दुर्ग आय के अन्तर्गत परिगणित किया है।

राष्ट्र–आय के मार्ग

(क) सीता

राष्ट्र से जो आय राजकोष के निमित्त प्राप्त होती थी उसके अनेक मार्ग बतलाए गए हैं। इनमें सीता नाम की आय भी राष्ट्र की आय का एक मार्ग माना गया है।

कौटिल्य के मतानुसार राज्य में कृषि कार्य राज्य के ही स्वामित्व में होना चाहिए।

इसलिये उन्होंने एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था दी है। इस पदाधिकारी को उन्होंने सीताध्यक्ष नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रकार सीताध्यक्ष के अधीन जो कृषि कार्य सम्पन्न होता था तथा इससे जो अन्न, तृण आदि की उपज होती थी वह राजकोष में संचित की जाती थी। राजकीय कृषि क्षेत्रों से जो उपज होती थी यह सीता कहलाती थी,[1] और इसी को कौटिल्य राष्ट्र आय के अन्तर्गत मानते हैं।

(ख) भाग

राजकीय कृषि–क्षेत्रों के अतिरिक्त जो कृषि–भूमि अवशेष रह जाती थी वह कृषि कार्य हेतु अन्य कृषकों एवं श्रमजीवियों को दी जाती थी। इस कृषि भूमि पर एक प्रकार का कर लिया जाता था जो उपज का निर्धारित अंश होता था। उपज के आधार पर जो इस प्रकार उपज का अंश राजांश के रूप में राजकोष के निमित्त संचय किया जाता था उसको भाग नाम से सम्बोधित किया गया है।

कौटिल्य ने भाग कर के विषय में अपना मत प्रकट करते हुये बताया है कि जिस कृषि–भूमि में सीताध्यक्ष स्वयं कृषि कराने में असमर्थ हो, उस भूमि को बटाई पर अन्य किसानों को कृषि हेतु दे देनी चाहिए।[2] जो किसान अपने परिश्रम से ही अपना निर्वाह करते है उन किसानों को उपज का चौथा अथवा पांचवां भाग देना चाहिए अथवा जितना भाग निर्धारित हो जाए राजकोष के लिए राजांश के रूप में देना चाहिए।[3] अपने ही हाथ से जल लाकर सींचने पर जो उत्पत्ति हो, उसका पांचवां भाग कृषक को उदक भाग के रूप में राजकोष के निमित्त देना चाहिए।[4] यदि तालाब से कन्धों पर जल लाकर सिंचाई की जाए तो उपज का चौथा भाग,[5] यदि छोटी–छोटी नहरों से क्षेत्रों में सिंचाई की गयी है तो उपज का तीसरा भाग,[6] नदी, सरोवर, तालाब और कुओं से रहट द्वारा सिंचाई की गयी है तो उपज का चौथाई भाग मिलना चाहिए।[7]

---

1. *सीताध्यक्षोपनीत, सस्यवर्णकः सीता।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 15, वार्ता 2 ।*
2. *वापतिरिक्तमर्धसीतिकाः कुर्युः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 20 ।*
3. *स्ववीर्योपजीविनो वा चातुर्थपन्चभागिका यथेष्ठमनवसितं भागं दद्युरन्यत्र कृच्छेभ्यः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 21 ।*
4. *स्वसेतुभ्यः हस्तप्रावर्तिमुदकभागं पन्चमं दद्युः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 22 ।*
5. *स्कन्ध प्रावर्तिमं चतुर्थम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 23 ।*
6. *स्त्रोतयंन्नप्रावर्तिमं च तुतीयं।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 24 ।*
7. *चतुर्थ नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 24, वार्ता 25 ।*

कौटिल्य द्वारा व्यक्त यह व्यवस्थाऐं इस विषय की पुष्टि करती है कि जो कृषि भूमि राजकीय कृषि–क्षेत्रों के अतिरिक्त होती थी वह स्वतन्त्र किसानों को कृषि–कार्य हेतु 'उपज में राजा का इतना भाग रहेगा' इस प्रतिबन्ध के साथ दी जाती थी और इस प्रकार जो उपज का यह अंश राजकोष के निमित्त संग्रहीत किया जाता था, भाग कहलाता था।

(ग) बलि

बलि भी एक विशेष प्रकार का कर था, जो राजकोष की आय का एक मार्ग माना गया है। बलि के रूप में जो राजांश राजकोष में संचित किया जाता था उसको कौटिल्य ने राष्ट्र आय के अन्तर्गत माना है। कौटिल्य ने बलि की स्पष्ट विवेचना नहीं की है अतः यह स्पष्ट नहीं है कि बलि से उनका क्या तात्पर्य रहा होगा। डॉ० शाम शास्त्री ने बलि को एक प्रकार का धार्मिक कर माना है।

परन्तु मनु बलि कर को इस प्रकार परिभाषित करते हैं कि प्रजा के रक्षणार्थ राजा के द्वारा जो व्यवस्था की जाती थी, उसके कार्यान्वित करने के लिए राजा को प्रजा से जो धन धान्य अथवा अन्य आवश्यक सामग्री प्राप्त होती थी बलि नाम से सम्बोधित की जाती थी। यह कर विशेषरूप से ग्रामवासियों पर लगता था और जो मासिक में अथवा वार्षिक रूप से संग्रहीत कर राजकोष में संचय हेतु भेजा जाता था।[1]

महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म ने बलि के विषय में लगभग वही विचार प्रकट किए हैं जो कि इस विषय में मनु ने व्यक्त किये हैं। भीष्म ने यह व्यवस्था दी है कि राजा को अपनी प्रजा से बलि ग्रहण करनी चाहिये। यह षडांश होना चाहिए। बलि द्वारा प्राप्त धन, धान्य आदि का व्यय प्रजा–रक्षण कार्य में होना चाहिए।[2] पुराणों में भी बलि के विषय में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये गये हैं।[3] बलि के विषय में शुक्र मौन हैं। ऐसा विदित होता है कि उन्होंने सम्भवतः बलि को भाग के ही अन्तर्गत माना है।

---

1. *अरक्षितारं राजानम् बलिषड्भागहारिणम्। तमाहुः सर्वलोकस्यसमग्रमलहारकम्।।*
   मानवधर्मशास्त्र, अ0 8, श्लोक 308 ।
2. *आददीतबलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन। सषट्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये।।*
   महाभारत शान्ति0 पर्व, अ0 69, श्लोक 25।
3. *गृहातो बलिषड्भागं नृपतेर्नरको ध्रुवम्।।*
   मार्कण्डेय पुराण, अ0 16, श्लोक 126 ।

(घ) कर

प्राचीन भारत में सशक्त राज्य के अधीन कुछ सामन्त भी होते थे, सामन्तों को अपने स्वामी राजा को वार्षिक कर देना होता था। सम्भवतः इसी देयधन को कौटिल्य ने कर के नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रकार से प्राप्त होने वाले धन को कौटिल्य ने राजकोष की आय का एक मार्ग माना है।

(ड.) वणिक् कर

जिस प्रकार राज्य की राजधानी में क्रय–विक्रय हेतु आने वाली वस्तुओं एवं सामग्री पर कर लगाए जाते थे और इस प्रकार करों द्वारा संग्रहीत धन, पुर की आय का एक मुख्य अंश माना गया है, इसी प्रकार राष्ट्र में व्यापारियों द्वारा क्रय–विक्रय हेतु वस्तुओं एवं सामग्री का व्यापार करने वालों पर कर लगाए जाते थे। इन करों के द्वारा जो आय होती थी उसको कौटिल्य ने वणिक् आय के नाम से सम्बोधित किया है। इस आय में वह कर सम्मिलित थे जिनका भुगतान वणिकों को राष्ट्र में करना पड़ता था। वणिकों से कर की दर के विषय में कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि अपने–अपने नगर (पत्तन) के अनुरूप वणिक्जन को शुल्क देते रहना चाहिए।[1]

(च) नदीपाल

कौटिल्य का कथन है कि नदीपाल नाम का एक अधिकारी होना चाहिए जिसका कर्तव्य नदियों के पुल, घाट, नदीपार करके अन्य साधनों की सुव्यवस्था करना होना चाहिए। इस सुव्यवस्था करने के कारण इन पुल, घाट, नदियों के पार करने के अन्य साधनों आदि के प्रयोग करने वालों से कर संग्रहीत किए जाते थे, और इस प्रकार इन करों के रूप में प्राप्त धन नदीपाल द्वारा संचित किया जाता था और राजकोष में संग्रहीत किया जाता था।

(छ) तर

नावों, बोगियों आदि के द्वारा नदियों, नालों एवं अन्य जल के स्थानों को पार करने के लिए यात्रियों को उतराई देनी पड़ती थी, जिसको कौटिल्य ने तर नाम से सम्बोधित किया है। नावों, डोंगियों आदि के द्वारा नदियों, नालों एवं अन्य जल के स्थानों को पार करने की व्यवस्था एक राजकीय अधिकारी की संरक्षता में की जाती थी। इस राजकीय अधिकारी को कौटिल्य ने

---

1. *पत्तनामुवृतं शुल्कभागं वणिजो दद्युः ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 4 ।*

नावाध्यक्ष नाम से सम्बोधित किया है। इसी अध्यक्ष की देख–रेख में यात्रियों से उतराई ली जाती थी। यात्रियों से उतराई की दर के विषय में कौटिल्य ने व्यवस्था दी हैं कि छूद्र पशु (भेड़, बकरी आदि) और हाथ से उठ जाने वाले भारयुक्त मनुष्य से साधारण नदियों को पार करने के लिए माषक (सिक्का विशेष) उतराई लेनी चाहिए।[1] शीश और पीठ पर वहन करने योग्य भार से युक्त पुरुष, और गाय तथा अश्व पर दो माषक;[2] ऊँट और भैस आदि पर चार माषक;[3] छोटे–छोटे यानों पर पाँच माषक;[4] मध्यम प्रकार की बैलगाड़ी पर छः माषक;[5] बड़ी बैलगाड़ी पर सात माषक;[6] क्रय–विक्रय की सामग्री के भार से युक्त व्यापारी पर चौथाई माषक उतराई (तर) लेनी चाहिए।[7] बड़ी गाड़ियों के पार करने में दोगुनी उतराई लेनी चाहिए।[8]

कौटिल्य ने कुछ ऐसे यात्रियों का भी उल्लेख किया है जिनसे उतराई (तर) लेने का निषेध किया गया है। कौटिल्य के विचारानुसार ब्राह्मण, सन्यासी, बालक, वृद्ध, रोगी, शासनहर (दूत) और गर्भिणी नावाध्यक्ष की मुद्रा से युक्त होने पर बिना उतराई दिए हुए नाव अथवा डोंगी द्वारा नदी पार कर सकते थे।[9]

(ज) विवीतम्

विवीत से कौटिल्य का तात्पर्य राजकीय गोचारण भूमि से है और इस राजकोष की आय का एक मार्ग बतलाया गया है। इस प्रकार पशुओं के चारण योग्य वन के अध्यक्ष को विवीताध्यक्ष के नाम से सम्बोधित किया है। विवीताध्यक्ष के कर्तव्यों को बताते हुए कौटिल्य ने कहा है कि हस्तिवन और उत्तम काष्ठ वन की रक्षा करना, राज्य के मार्गों को सुरक्षित रखना, चोरों को पकड़वाना, व्यापारियों के माल एवं जान की रक्षा का प्रबन्ध करना, पशुओं की रक्षा करना एवं अन्य यात्रियों आदि के साथ उचित व्यवहार की व्यवस्था करना विवीताध्यक्ष का

---

1. *क्षुद्र पशुर्मनुष्यश्च सभारो माषकं दद्यात्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 27।
2. *शिरोभारः कायभारो गवाश्वं च द्वौ।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 28।
3. *उष्ट्रमहिषं चतुरः।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 29।
4. *पघलघुयानम्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 30।
5. *षड् गोलिङ्गम्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 31।
6. *सप्त शकटम्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 32।
7. *पण्यभारः पादम्।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 33।
8. *द्विगुणो महानदीषु तरः।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 35।
9. *ब्राह्मणाप्रव्रजितबालवृद्ध वयाधितशासहरगर्भिण्यो नावाध्यक्षमुद्राभिस्तरेयुः।।* अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 24।

कर्तव्य है।[1] उसके अतिरिक्त उसका यह कर्तव्य भी है कि उसको यात्रियों एवं व्यापारियों की मुद्रा का निरीक्षण करते रहना चाहिए।[2] विवीत का स्थान निर्धारित करते हुये कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि राष्ट्र में (मार्गो के समीप) जो भयजनक स्थान (वन) हों उनमें विवीतों की स्थापना करनी चाहिए।[3] इन विवीतों के अतिरिक्त ग्राम के पशुओं की चरायी की व्यवस्था करते हुए उन्होंने यह भो आदेश दिया है कि प्रत्येक ग्राम के समीप विवीत की स्थापना होनी चाहिए।[4]

उपर्युक्त वर्णन से यह विदित होता है कि विवीताध्यक्ष विवीतों में होने वाली उपज जैसे काष्ठ, तृणादि का संचय करता था और इस प्रकार संचित किए गए पदार्थों को वह राजकोष के निमित्त भेजता था। इसके साथ ही वह यात्रियों एवं व्यापारियों की सुव्यवस्था करने के कारण कुछ विशेष करों द्वारा धन इन यात्रियों एवं व्यापारियों से एकत्र करता था। इन करों में बर्तनी कर का उल्लेख भी किया गया है। इस प्रकार यात्रियों एवं व्यापारियों से विवीताध्यक्ष करों के रूप में धन संचय कर राजकोष के निमित्त भेजता था जो विवीत आय के नाम से राजकोष में संग्रहीत किया जाता था।

(झ) नौकाध्यक्ष द्वारा संग्रहीत किया जाने वाला राजांश

समुद्र, छोटी और बड़ी नदियों, बड़ी–बड़ी झील एवं सरोवरों आदि में बड़ी एवं छोटी नावों आदि की व्यवस्था नौकाध्यक्ष द्वारा की जाती थी। उसके द्वारा यात्रियों एवं व्यापारियों आदि से उतरायी तो संग्रहीत की जाती ही थी इसके अतिरिक्त वह कतिपय अन्य करों का भी संचय करता था। कौटिल्य ने इनका उल्लेख करते हुये बताया है कि नौकाध्यक्ष नदियों के तट पर अथवा समुद्र की बेला पर बसे हुए ग्रामों से निर्धारित कर (बलुप्त) एकत्र करता था।[5] मछुवारों को नौका का उपयोग करने पर अपनी आय का छठा भाग इस अधिकारी को देना पड़ता था।[6] शंख–मुक्ता निकालने वाले भी इसी प्रकार अपनी आय का छठा भाग देते थे।[7] समुद्र अथवा नदी

---

1. *द्रव्यहस्तिवनाजीवं वर्तिनीं चोररक्षणम्। सार्थतिवाह्मं गोरच्यंव्यवहारं चकारयेत्।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 34, वार्ता 13 ।
2. *विवीताध्यक्षो मुद्रां पश्येत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 34, वार्ता 6 ।*
3. *भयान्तरेषु च विवीतं स्थापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 34, वार्ता 7 ।*
4. *पशुप्रचारार्थं विवीतमालयनेनोपजीवेयुः।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 10, वार्ता 31 ।*
5. *तगेलाकूलग्रामाः क्लृप्तं दद्युः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 2 ।*
6. *मत्स्यबन्धका नौकाभाटकं षडभागं दद्युः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 3 ।*
7. *शंगमुक्ताग्राहिणौ नौभाटकं दद्युः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 6 ।*

के समीप नगरों में बसने वाले वणिक्जन भी नगर के अनुसार कर देते थे।[1] इस प्रकार नौकाध्यक्ष कर के रूप में जो धन संचय करता था वह भी राजकोष की आय का एक मार्ग बतलाया गया है।

(ट) रज्जू कर

रज्जू कर से कौटिल्य का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः रज्जुक एक प्रकार के राजकर्मचारी रहे होंगे जिनका कार्य भूमि की नाप–जोख करना था। इनका उल्लेख जातक गाथाओं में आया है। रज्जुकों द्वारा भूमि की नाप–जोख करने के बदले में एक प्रकार का शुल्क मिलता होगा, सम्भवतः इसी का उल्लेख कौटिल्य ने किया है।

अशोक के शिलालेखों में राजुक शब्द का प्रयोग जिलाधीशों के लिए हुआ है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में रज्जु का सम्बन्ध राजुक से स्थापित करना उचित प्रतीत नहीं होता है।

(ठ) रज्जु चोर

रज्जुचोर का शाब्दिक अर्थ है चोरों के बांधने के लिए रस्सी। परन्तु प्रस्तुत संदर्भ में कौटिल्य का रज्जुचोर से तात्पर्य अस्पष्ट है।

(ड) वर्तनी

यह एक प्रकार का मार्ग–कर था, जो यात्रियों एवं व्यापारियों को देना होता था। इसका संग्रह विशेषरूप में अन्तपाल करता था। यदि कोई यात्री इस कर का भुगतान बिना अदा किए हुए अन्तपाल को धोखा देकर निकल जाता था, तो ऐसे यात्रियों की जाँच विदीताध्यक्ष करता था और वह ऐसे यात्रियों से बर्तनी कर का भुगतान प्राप्त करता था।[2]

आयमुख

कौटिल्य ने राजकोष की वृद्धि के अन्य साधनों पर भी प्रकाश डाला है और उन्हें आयमुख नाम से सम्बोधित किया है। मूल, भाग, व्याजी, परिध, क्लृप्त, रूपिक और अत्यय के रूप में जो धन अथवा सामग्री राजकोष में संचित की जाती थी, कौटिल्य ने उसको आयमुख के अन्तर्गत परिगणित किया है।[3] आयमुख के इन विभिन्न मार्गों का कौटिल्य ने यत्र–तत्र

---

1. *पत्तनानुवृतं शुल्कभागं वणिजो दद्युः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 4 ।*
2. *द्रव्यहस्तिवनांजीवं वर्तिनीं चोररक्षणम् ।सार्थातिवाह्यं गोरक्ष्यं व्यवहारं च कारयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 34, वार्ता 13 ।*
3. *मूलं भागो व्याजी परिघःयप्तलृ रूपिकमत्यपश्चायमुखम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 10 ।*

सूत्ररूप में संकेत किया है। अतः उपलब्ध प्रामाणिक सामग्री के आधार पर आयमुख के इन विभिन्न मार्गों का विवरण इस प्रकार है।

(क) मूल

कौटिल्य के अनुसार राज्य के महत्वपूर्ण उद्योग राज्यनियंत्रण एवं राज्य स्वामित्व के अन्तर्गत संघठित एवं संचालित होने चाहिए। इन उद्योगों में समस्त पूंजी एवं श्रम राज्य का ही लगना चाहिए। इन उद्योगों से जिस सामग्री का उत्पादन होता था वह राजकीय दुकानों पर बेची जाती थी। इस प्रकार विक्रय से जो मूल्य लागत के रूप में प्राप्त होता था वह राजकोष में संचित किया जाता था। इसी धन को कौटिल्य ने मूल नाम से सम्बोधित किया हैं और आयमुख का अंग माना है।

(ख) भाग

राज्य में अनेक प्रकार की सामग्री का क्रय–विक्रय व्यापारी किया करते थे। इस सामग्री का कुछ भाग राजकोष की वृद्धि हेतु भी निर्धारित रहता था और जो राजकोष में संचित किया जाता था भाग कहलाता था।

कौटिल्य ने लवण उद्योग का वर्णन करते हुए भाग कर की दर निर्धारित की है। उनका मत है कि राज्य में बाहर से आने वाले लवण का छठवां भाग राजकोष के निमित्त भाग के रूप में प्राप्त होना चाहिए।[1]

स्मरणीय है कि राष्ट्रआय के अन्तर्गत जिस भाग कर का उल्लेख है उसका सम्बन्ध भूमि की उपज से है। और इस भाग का सम्बन्ध उद्योगों से प्राप्त कर से है। अतः इन दोनों प्रकार के भाग करों में भेद है।

(ग) व्याजी

राजकोष के निमित्त जो वस्तुएँ अथवा सामग्री व्यापारियों अथवा प्रजा जनों से प्राप्त की जाती थी, उसकी गणना एवं नाप–तोल में सामान्य गणना एवं नाप–तोल से कुछ अन्तर रखा जाता था। राजकोष के लिए जो वस्तुएँ अथवा सामग्री आदि इस प्रकार संचित की जाती थी उसकी गणना एवं नाप–तोल में पाँच प्रतिशत अधिक रहता था।[2] इस प्रकार गणना एवं नाप–तोल में अधिक लिया हुआ अंश व्याजी शुल्क नाम से सम्बोधित किया जाता था।

---

1. *आगन्तुलवणं षडभागं दद्यात्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 38 ।*
2. *पन्चकं शतं व्याजीम्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 39 ।*

व्याजी शुल्क को स्पष्ट करते हुए कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि वह वस्तुएं अथवा सामग्री जो गणना एवं नाप–तोल के सामान्य साधनों से गिनी गयी अथवा नापी–तोली गयी है या मुट्ठियों द्वारा नापी–तोली गयी है, उन वस्तुओं एवं सामाग्री की गणना एवं नाप–तोल की घटी–बढ़ी के रूप में जो वस्तुएं अथवा सामग्री अधिक दी जाती हैं व्याजी कहलाती हैं।[1]

अर्थदण्ड के रूप में जो धन अपराधियों से ग्रहण किया जाता था उसके साथ में ब्याजी धन लेने की प्रथा का भी उल्लेख कौटिल्य ने किया है। इन प्रसंग में भी व्याजी शुल्क पाँच प्रतिशत बतलायी गयी है।[2]

लक्षण के संघठन एवं संचालन का विवरण देते हुए कौटिल्य ने प्रसंगवश व्याजी शुल्क का भी उल्लेख किया है। यहाँ भी व्याजी शुल्क की दर पाँच प्रतिशत बतलायी गयी है।[3]

स्पष्ट है कि राजकोष के निमित्त जो वस्तुएँ, सामग्री अथवा धन संचय होता था उसकी गणना एवं नाप–तोल से पाँच प्रतिशत अधिक लिया जाता था, जो ब्याजी कहलाता था।

(घ) परिध

परिध भी विशेष प्रकार का कर था। जिसका सम्बन्ध खनि उद्योग से है।[4] परिध के स्वरूप के विषय में कौटिल्य मौन हैं। परन्तु डॉ0 शामशास्त्री परिध उस शुल्क को मानते हैं जो रूपदर्शक नामक राज्य का पदाधिकारी सिक्कों के परीक्षण हेतु ग्रहण करता था।[5]

(ड.) क्लृप्त

क्लृपत नामक विशेष कर, नदी तट, समुद्रवेला एवं झीलों आदि के किनारे पर स्थित ग्रामों के निवासियों को भुगतान करना पड़ता था।[6] क्लृप्त नाम के कर का संचय नावाध्यक्ष करता था और वही राजकोष के निमित्त इस धन को भेजा करता था।

(च) रूपिक

कौटिल्य ने लक्षण को राज्य के स्वामित्व एवं राज्य नियंत्रण में रखने का आदेश दिया

---

1. *तुलामानान्तरं हस्तपूरणमुत्करो ब्याजी।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 15, वार्ता 11 ।
2. *शतात्परे तु ब्याजीं च विद्यात्यन्चपणं शतम्।।* — अर्थ0, अधि0 3, अ0 17, वार्ता 15 ।
3. *पन्चकशतं व्याजीम्।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 31 ।
4. *एवं मूल्यं विभागं च व्याजीं परिघमत्यम्। शुल्कं वैधरणं दण्डं रूपं रूपिकनेव च।।*
   खनिम्पो द्वादशविधं धातुं पण्यं च संहरेत्।। — अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 47–48 ।
5. *डॉ. शाम शास्त्री : कौटिल्याज अर्थशास्त्र (फोर्थ एडीशन) पृ0–88 ।*
6. *तद्वेलाकुलग्रामाः क्लृप्तं दद्युः।।* — अर्थ0, अधि0 2, अ0 28, वार्ता 2 ।

है। राज्य में सिक्कों का निर्माण करने एवं राज्य में उनके प्रयोग किए जाने की सम्पूर्ण व्यवस्था राज्य के अधिकार के अन्तर्गत होनी चाहिए। जो धन सिक्कों के रूप में राजकोष में संचय हेतु प्रजा द्वारा दिया जाता था उन पर एक विशेष प्रकार का शुल्क लिया जाता था। जितने सिक्के राजकोष में संग्रह किए जाने के निमित्त दिए जाते थे उनसे आठ प्रतिशत अधिक शुल्क के रूप में लिए जाते थे।[1] इसके अतिरिक्त अपराधी को दण्ड रूप में जो सिक्के राजकोष के निमित्त देने पड़ते थे उनके साथ आठ प्रतिशत अधिक सिक्के देने पड़ते थे और इस प्रकार जो अधिक सिक्के दिए जाते थे, उसे रूपिक शुल्क कहते थे।[2]

(छ) अत्यय

अत्यय एक प्रकार का अर्थ–दण्ड था जो उन व्यक्तियों से प्राप्त किया जाता था जो राज्य द्वारा निर्धारित विक्रय स्थानों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर बिक्री हेतु लायी गयी सामग्री का क्रय करता था। कौटिल्य ने इस दण्ड के विषय में व्यवस्था दी है कि राजकीय पण्यों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर लवण के क्रय करने वाले व्यक्ति पर छः सौ पण अत्यय रूप में दण्ड के देने पड़ेंगे।[3] इसी प्रकार जो व्यक्ति राजकीय टकसाल सम्बन्धी राज्य के नियमों का उल्लंघन करता है उस पर पचीस पण अत्यय (दण्ड) होना चाहिए।[4]

इस प्रकार राज्य द्वारा निर्धारित बिक्री के स्थानों के अतिरिक्त क्रयकर्ता अथवा राजकीय टकसाल के अतिरिक्त अन्य स्थान पर गुप्तरीति से सिक्कों के निर्माण कर्ता आदि पर अत्यय नाम का दण्ड होता था। अत्यय दण्ड के द्वारा जो धन राजकोष के निमित्त संग्रह किया जाता था वह आयमुख का एक अंग बन जाता था।

कौटिल्य ने आय को तीन प्रकारों में बाँटा है– (1) वर्तमान, (2) पर्युषित और (3) अन्यजात। प्रतिदिन प्राप्त होने वाली आमदनी वर्तमान आय कहलाती थी, पिछले वर्ष का बकाया या शत्रु देहा से प्राप्त पर्युषित आय कहलाती थी। भूला हुआ धन, अपराधियों से वसूला गया

---

1. *रूपिकंमष्टकं शतम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 30 ।*
2. *दण्डकर्मसु सर्वेषु रूपमष्टपणं शतम्।शतात्परे तु ब्याजी चविद्यात्पन्जपणं–शतम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 17, वार्ता 15 ।*
3. *अन्यत्र क्रेता षट्छतमत्ययं च।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 41 ।*
   ए0 एस0 अल्टेकर : आप, सिट, पृ0–288
4. *पन्चविंशति पणमत्ययं च ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 12, वार्ता 33 ।*

धन, लावारिस धन तथा शत्रु सेना से अपहृत धन अन्यजात धन कहलाता था। उसी प्रकार सैनिक खर्च से बचा हुआ धन, स्वास्थ्य विभाग के खर्च से बचा हुआ धन तथा इमारतों के बनवाने के अर्थ से बचा हुआ धन 'व्यय प्रत्याय' कहलाता था। यह भी एक प्रकार की आय थी।

इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने आय के अन्य प्रकार के साधनों भी उल्लेख किया है, जैसे किसी वस्तु का मूल्य बढ़ जाने के कारण आय, निषिद्ध वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त आय तथा बाट–तराजू की बेईमानी तथा खरीददारी की प्रतिस्पर्द्धा के कारण प्राप्त आय भी राज्य की आय के साधन माने गये हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य ने राज्य के कोष को धनधान्य से सदैव परिपूर्ण रखने के लिए नियमित और आकस्मिक दोनों प्रकार की आयों का उल्लेख किया है। उन्होंने आवश्यकतानुसार अतिरिक्त कर लगाने की भी अनुशसा की है।

राज–कोष के व्यय के मद

कौटिल्य ने कोष का प्रयोग राजा के व्यक्तिगत हित के लिए नहीं, वरन् जनकल्याण के लिए करने का निर्देश दिया है, इसलिए उसने आय के साधनों के साथ–साथ व्यय के मदों का भी उल्लेख किया है।

शुक्रनीति के अन्तर्गत राज्य के व्यय के विभिन्न मदों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

दकौटिल्य ने राज्य के व्यय के अनेक मदों का उल्लेख किया है, जो डॉ0 अल्टेकर की दृष्टि में न तो क्रमबद्ध है और न ही विस्तृत है।[1] कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत व्यय के मदों का सम्बन्ध मुख्यतया राजमहल की व्यवस्था से है। उसने राज्य के अन्य मदों पर खर्च होने वाले व्यय का उल्लेख नहीं किया है। कौटिल्य द्वारा वर्णित व्यय के मदों में मुख्य हैं– (1) राजभवन की व्यवस्था पर खर्च, (2) धार्मिक संस्थाओं पर खर्च, (3) सरकारी कर्मचारियों को दिये जाने वाले वेतन और भत्ते पर खर्च, (4) सेना पर होने वाले खर्च, (5) फैक्टरियों और खानों पर होने वाले खर्च, (6) दैनिक मजदूरों को दिये जाने वाले पारिश्रमिक, (7) कृषकों को दिये जाने वाले अनुदान एवं कर्ज, (8) विधवाओं, अपंगों, निराश्रितों, अनाथों और पीड़ितों पर होने वाले खर्च, (9) शिक्षण संस्थाओं को अनुदान तथा शिक्षकों एवं विद्वानों को दी जाने वाली पेंशन, (10) मृत सरकारी

---

1. *डॉ0 ए0एस0 अल्टेकर : ऑप सिट, पृ0 288।*

पदाधिकारियों के बच्चों तथा आश्रितों को दी जाने वाली पेंशन, (11) सड़कों, नहरों तथा तटबंधों के मरम्मत और रख–रखाव पर होने वाले खर्च। व्यय के इन मदों को कौटिल्य ने व्यय शरीर नाम से सम्बोधित किया है।[1]

कौटिल्य ने कृषि पर होने वाले व्यय को प्राथमिकता दी है। उसने कहा है कि कृषि के विकास के लिए किसानों को अधिक से अधिक अनुदान एवं कर्ज दिया जाना चाहिए। अकाल, बाढ़ तथा अन्य प्राकृतिक विपदाओं की स्थिति में किसानों को राज्य की ओर से समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। यद्यपि कौटिल्य ने राजभवन की व्यवस्था पर होने वाले व्यय का विशेष उल्लेख किया है, तथापि उसने जन कार्य और जनहित सम्बन्धी कार्यों की भी उपेक्षा नहीं की है। उसने व्यय के अनेक ऐसे मदों का उल्लेख किया है जो परोपकारी और जनकल्याण सम्बन्धी हैं। कौटिल्य ने कृषि पर भी पर्याप्त व्यय करने का निर्देश दिया है।

कौटिल्य ने सेना पर होने वाले व्यय के सम्बन्ध में कहा है कि मौर्यकाल में राजकोष का बहुत बड़ा भाग सेना और सैन्य संगठन पर व्यय किया जाता था। इस सम्बन्ध में इस बात का उल्लेख करना और भी आवश्यक हो जाता है कि कौटिल्य ने व्यय के जिन मदों का उल्लेख किया है वे केन्द्रीय कोष पर भारित थे। क्षेत्रीय तथा ग्रामीण शासनों द्वारा अपनी आय से क्षेत्रीय कार्यों पर खर्च करने की व्यवस्था थी। उन्हें केन्द्रीय कोष से अनुदान दिया जाता था।

राजकर्मचारियों के वेतन

राज्य में शासन–व्यवस्था के विधिवत संचालन हेतु अनेक छोटे–बड़े कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। इन राजकर्मचारियों एवं उनके आश्रितों के भरण–पोषण का भार राज्य पर ही आश्रित होता है। अतः कौटिल्य के मतानुसार इन राजकर्मचारियों के पदों के अनुसार इन्हें राज्य की ओर से वेतन दिया जाना चाहिए। राजकर्मचारियों के वेतन सम्बन्धी सिद्धान्त कौटिल्य के विचारानुसार इस प्रकार हैं।

वेतन के सिद्धान्त

कौटिल्य के मतानुसार राज्य के कर्मचारियों के वेतन एवं भत्ते उनके द्वारा किए जाने वाले कार्य के लाघव एवं गौरव तथा उनकी विद्या के अनुरूप निर्धारित किए जाने चाहिए।[2] जिस

---

1. *देवपितृपूजादानार्थं स्वस्तिवाचनमन्तः पुरं महानसं दूतप्रवर्तनं कोष्ठागारमायुधागारं पणयगृहं कर्मान्तो विष्टिः पत्यश्वरथद्विपपरिग्रहो गोमण्डलं पशुमृगपरिब्यालवाटाः काष्ठतृणवाटाश्चेति व्ययशरीरम्।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 6, वार्ता 11 ।

2. *एतेन भृतानामभृतानां च विद्याकर्मभ्यां भक्तवेतनविशेषं च कुर्यात्।। अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 36 ।*

कर्मचारी में कार्य करने की अधिक क्षमता होगी, एवं वह विशेष गुणी होगा उसको राज्य में विशेष पद पर नियुक्त करना चाहिए और उसके इस विशेष पद के अनुरूप ही विशेष वेतन एवं भत्ता निर्धारित किया जाना चाहिए।

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य में छोटे–बड़े अनेक पदों का निर्माण होता है और इन पदों पर कार्य करने वाले राज्य–कर्मचारियों के वेतनों में भी उनके पदों के अनुसार अन्तर रहना चाहिए। इसीलिए कौटिल्य ने भी राज्य में छोटे–बड़े विभिन्न कर्मचारियों के वेतन में अन्तर रखना उचित समझा है।

दूसरा मुख्य सिद्धान्त यह है कि राज–कर्मचारी के वेतन इतने पर्याप्त होने चाहिए कि उनको अपने एवं अपने आश्रितों के भरण–पोषण के निमित्त दूसरे का मुँह ताकना न पड़े और उनको इसके लिए दूसरे साधनों को न अपनाना पड़े। कौटिल्य ने भी इसी सिद्धान्त के अपनाने की पुष्टि की है। उन्होंने राज्य के कतिपय कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों के वेतन निर्धारित करते हुए ऐसा स्पष्ट कहा है कि इतना वेतन पाने से यह कर्मचारी एवं पदाधिकारी अपना एवं अपने आश्रितों का भरण–पोषण सुखपूर्वक कर सकते हैं और वेतन की न्यूनता के अभाव के कारण कुपित नहीं होंगे।[1]

वेतन के साथ में भत्ता भी दिया जाता था। सम्भवतः यह भत्ता उस परिस्थिति में दिया जाता होगा जब राजकर्मचारी अपने स्थान से कहीं दूसरे स्थान को कार्यवश भेजा जाता होगा। कर्मचारियों के भत्ते की दर के विषय में कौटिल्य ने यह नियम बतलाया है कि जिस कर्मचारी का वेतन साठ पण है उसको एक आढक (अन्न) भत्ता के रूप में दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार जिसका जितना वेतन हो उसके अनुसार ही उसके भत्ता में घटी–बढ़ी होनी चाहिए।[2] अर्थात् जो कर्मचारी जितना कम वेतन पाता है उतना ही उसका भत्ता भी कम होगा। तथा अधिक वेतन पाने वाले कर्मचारी का भत्ता भी उसके वेतन के अनुसार ही अधिक होना चाहिए।

वेतन के विषय में कौटिल्य इस नियम के पालन करने को कहते हैं कि यदि कोई राजकर्मचारी कार्य करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उसका वेतन और भत्ता उसके पुत्र अथवा पत्नी को मिलना चाहिए।[3] राजकर्मचारियों एवं सेवकों के आश्रितों में किसी की मृत्यु पर,

---

1. *एतावता भरणे नानास्वाद्यत्वमकोपकं चैषां भवति।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 5।*
2. *षष्ठिवेतनस्याढकं कृत्वा हिरण्यानुरूपं भक्तं कुर्यात्।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 37।*
3. *कर्मसु भ्रतानां पुत्रदारा भक्तवेतनं लभेरन्।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 29।*

अथवा उसके रोगी होने पर या सन्तान उत्पन्न होने के अवसर पर उस सेवक को धन द्वारा सहायता देकर राजा को उसका मान प्रदर्शित करना चाहिए।[1] कर्मचारी की मृत्यु हो जाने पर उस कर्मचारी के आश्रित, बालक, वृद्ध एवं रोगियों पर राजा को विशेष कृपा कर उनके निर्वाह हेतु वेतन निर्धारित कर देना चाहिए।[2]

वस्तुतः कौटिल्य की विचाराभिष्यक्ति है कि राजा को अपने राज्य में राजकर्मचारियों एवं सेवकों पर अनुग्रह कर उनके आश्रितों के भरण–पोषण हेतु आर्थिक सहायता (गुजारा) का प्रबन्ध करते रहना चाहिए।

कौटिल्य वेतन के निर्धारण में सिद्धान्त का पालन करना आवश्यक मानते हैं कि राजा को दुर्ग और जनपद की आवश्यकता के अनुसार राज्य की समस्त आय का एक चौथाई धन राजकर्मचारियों एवं सेवकों पर व्यय करना चाहिए।[3] अर्थात राज्य की आय के अनुसार ही इनके वेतन नियत किए जाने चाहिए जिससे राज्य इस भार के वहन करने में सदैव समर्थ बना रहे तथा धनाभाव का अनुभव कभी भी न करना पड़े।

वेतन के विषय में इस सिद्धान्त का भी अनुसरण करने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है कि कर्मचारियों से त्योहार एवं पर्वों आदि सार्वजनिक अवकाश वाले दिनों में कार्य नहीं लेना चाहिए। यदि आवश्यकता पड़ने पर उनसे इन अवसरों पर कार्य लिया जाए तो उनको उन दिनों का अतिरिक्त वेतन दिया जाना चाहिए।[4] इस प्रकार कौटिल्य ने अतिरिक्त कार्य के लिए अतिरिक्त वेतन देने के सिद्धान्त की स्थापना की है, जो आधुनिक युग में हमारे देश में अनेक सेवाओं में भी लागू है।

कौटिल्य इस सिद्धान्त में विशेष आस्था रखते थे कि कर्मचारियों को उनके वेतन निर्धारित समय पर ही मिल जाने चाहिये। वेतन के देने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। कौटिल्य ने वेतन देने में विलम्ब करने वाले व्यक्ति को दण्ड का भागी बतलाया है।[5]

कौटिल्य ने राज्य मे विभिन्न कर्मचारियों के वेतन मे जो अन्तर रखा है वह आधुनिक समाजवादी सिद्धान्त का विरोधी है। उन्होनें राज्य के सर्वोच्य कर्मचारियों के लिये अड़तालिस

---

136. प्रेतव्याधितसूतिकाकृत्येषु चैषामर्थमानकर्म कुर्यात्।। — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 31 ।*

137. बालवृद्धव्याधिताश्चैषामनुग्राह्याः।। — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 30 ।*

138. दुर्गजनपद शक्त्या भृत्यकर्म समुदयपादेन स्थापयेत्।। — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 1 ।*

139. तिथिषुप्रतिपादनमानैश्य कर्मकारयितव्याः।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 6 ।*

140. वेतनकाज्ञातिपातने मध्यमः '। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 23, वार्ता 165 ।*

हजार पण वार्षिक वेतन निर्धारित किया है।[1] परन्तु राज्य के सबसे छोटे कर्मचारियों के लिये केवल साठ पण वार्षिक वेतन नियत किया गया है।[2] इन छोटे और बड़े कर्मचारियों के वेतन में बहुत बड़ा अन्तर है, जो समाजवादी राज्य में सर्वथा असह्य माना जायेगा। परन्तु इतना स्मरण रहना चाहिये कि अर्थशास्त्र के रचना काल में खाद्य सामग्री का मूल्य आधुनिक काल की तत्सम्बन्धी सामग्री के मूल्य की अपेक्षा अत्यन्त न्यून था। इसलिये पाँच पण मासिक वेतन उसकी सामान्य दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पर्याप्त कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भत्ता देने की प्रथा थी। अतः इस दृष्टि से वेतन की दर को देश, काल एवं समयानुसार उपयुक्त समझना उचित होगा।

वेतन की दर

कौटिल्य ने अपने आदर्श राज्य के कर्मचारियों एवं सेवकों के निमित्त दिए जाने वाले वेतनों की दर भी निर्धारित की है। उनके मतानुसार वेतन नगद दिये जाने चाहिये। कौटिल्य ने राज्य के कर्मचारियों को उनकी सेवा के निमित्त भूमि दान(जागीरों के) देने की भी व्यवस्था की है। परन्तु कौटिल्य ने उनको इस भूमि के बेचने अथवा गिरवी रखने के अधिकार से वंचित किया है।[3] उन्होंने वेतन दर निर्धारित करने की व्यवस्था इस प्रकार दी है कि ऋत्विक, आर्चाय, मंत्री, पुरोहित,सेनापति, युवराज, राजमाता और राजमहिषी इन में प्रत्येक को अड़तालिस हजार पण वार्षिक वेतन मिलना चाहिये।[4] द्वारपाल, अन्तःपुर रक्षक, प्रशास्ता, समाहर्ता, सन्निधाता में प्रत्येक को चौबीस हजार पण वार्षिक वेतन देना चाहिये।[5] इतने वेतन में वह (राज्य की) सेवा करने के योग्य बने रहते है।[6] कुमार, कुमारों की माता, नायक, पौरव्यावहारिक कर्मान्तिक मंत्रिपरिषद के सदस्य और राष्ट्र की सीमाओं के रक्षक (राष्ट्रान्तपाल) में प्रत्येक को बारह हजार पण वार्षिक वेतन दिया जाना चाहिए।[7] इतना वेतन पाने से यह कर्मचारी राजा के भक्त और राजकीय सेना

---

1. *अष्टचत्वारिं शत्साहस्त्राः ।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 19 ।*
2. *षष्टिचेतनाः ।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 19 ।*
3. *अध्यक्षसंख्यायकादिभ्योगोपस्थानिकानीकस्थचिकित्साश्वद् मकजंधकरिकेभ्यस्च विक्रयाधानवर्जम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 9 ।*
4. *ऋत्स्विमाचार्यमंत्रिपुरोहित सेनापतियुवराजराजमातृरामहिष्यो अष्टचत्वाशित्साहस्त्राः ।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 4 ।*
5. *दौवारिकान्तर्वशिकप्रशास्तृसमाहर्तु सन्निधातारश्चतुर्विशतिसाहस्त्राः ।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 6 ।*
6. *एतवता कर्मण्या भवन्ति ।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 7 ।*
7. *कुमारकुमारमातृनायकाः पौरव्यावहारिक कार्मान्तिकमंत्रिपरिषद्राष्ट्रान्तपालाश्च द्वादशसाहस्त्राः ।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 8 ।*

के सहायक बने रहेंगे।[1] श्रेणीमुख्य, हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य, रथमुख्य और प्रदेष्टा इनमें प्रत्येक को आठ हजार पण वार्षिक वेतन दिया जाना चाहिए।[2] इतना वेतन पाने से यह कर्मचारी अपने–अपने वर्ग के लोगों को राजा का अनुचर बनाए रखते हैं।[3] पैदल सेना के अध्यक्ष, अश्वारोही सेना के अध्यक्ष, हस्तसेना के अध्यक्ष, रथ सेना के अध्यक्ष, मूल्यवान काष्ठ और हस्तिवन के रक्षकों में प्रत्येक को चार हजार पण वार्षिक वेतन दिये जाने चाहिये।[4] सारथी, सेना मे रहने वाले चिकित्सक, अश्वशिक्षक,बढ़ई और पशुपालकों में प्रत्येक का वेतन दो हजार वार्षिक होना चाहिये।[5] भविष्य की बातें बतलाने वालों, शकुन के फल को बतलाने वालों, महुर्त बतलाने वालों, पौराणिकों, सूतों मागधो, पुरोहितों के समसत सहायकों और विभिन्न विभागों के समस्त अध्यक्षों में प्रत्येक का वार्षिक वेतन एक पण हजार होना चाहिये।[6] अप्रशिक्षित सिपाहियों, सांख्यायिक, लेखक आदि कर्मचारियों में प्रत्येक को पॉच सौ पण वार्षिक वेतन मिलना चाहिये।[7] नटनर्तकों को ढाई सौ पण,[8] परन्तु तूर्य बजाने वालों को इससे दूना वेतन मिलना चाहिये।[9] कारीगरों और शिल्पियों में प्रत्येक का वार्षिक वेतन एक सौ बीस पण होना चाहिये।[10] चौपायों और द्विपायों की सेवा में लगे हुये सेवकों, राजा की परिचर्या हेतु नियुक्ति सेवको,राजा के रक्षक और बेगारी सेवकोंके संग्रह करने वाले सेवकों में से प्रत्येक को साठ पण वार्षिक वेतन मिलना चाहिये।[11] राजा के साथ मनोरजंन के खेल खेलने वाले, फीलवान जादूगर पत्थरों पर नक्काशी करने वाले, अथवा पर्वत में खान खोदने वाले समस्त प्रकार के सहायक, अध्यापक,और विद्वानों

---

1. *स्वामिपरिबन्धबलसहायाह्योतावता भवन्ति।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 8 ।*
2. *श्रेणीमुख्याहस्त्यश्वरथमुख्याः प्रदेष्टारश्चाष्टसाहस्त्राः।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 10 ।*
3. *स्ववर्गानुकर्मिणो ह्योतावता भवन्ति।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 11 ।*
4. *पत्यष्वरथ हस्तयध्यक्षा द्रव्यहस्तिवनपालाश्चतुः साहस्त्राः।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 12 ।*
5. *रथिकानीक चिकिसकाश्वदमकवर्धकयो योनिपोषकाश च द्विसाहस्त्राः।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 13 ।*
6. *कार्तान्तिक नैमित्तिक मौहूर्तिक पौराणिक सूतमागधाः पुरोहितपुरुषाः सर्वाध्यक्षाश्च साहस्त्रााः।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 14 ।*
7. *शिल्पवन्तः पादाताः संख्यायक लेखकादिवर्गः पश्चशताः।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 15 ।*
8. *कुशीलवास्त्वधृतृतीयशताः।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 16 ।*
9. *द्विगुणवेतनाश्चैषां तूर्यकराः।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 17 ।*
10. *कारूशिल्पिनो विंशतिशतिकाः।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 18 ।*
11. *चतुष्पदद्विपदपरिचारक पारिकर्मिकोपस्थायिक पालकविष्टिबन्धकाः षष्ठिवेतनाः।।* — *अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 19।*

में प्रत्येक को एक हजार से पाँच हजार पण तक उनकी योग्यतानुसार वेतन दिया जा सकता है।[1] मध्यम कोटि के दूत (सन्देश वाहक) को प्रतियोजन की यात्रा पर दस पण वार्षिक दिये जाने चाहिये।[2] परन्तु यदि उसको दस योजन से सौ योजन दूरी की यात्रा करनी पडे तो उसको दस योजन के ऊपर प्रतियोजन निर्धारित वेतन से दो गुना दिया जाना चाहिये।[3] कापाटिक उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस, व्यंजन नाम के चरों में प्रत्येक को एक सहस्त्र पण वार्षिक वेतन होना चाहिये।[4] ग्रामभृतक (नाई, धोबी आदि) और सत्री, तीक्ष्ण, रसद, भिक्षुकी नाम के चरों को पाँच सौ पण वार्षिक वेतन मिलना चाहिये।[5] चरों के सहायक सेवकों को ढाई सौ पण प्रतिवर्ष मिलना चाहिये, अथवा उनके द्वारा किये गये कार्य के अनुसार उनको वेतन मिलना चाहिये।[6]

इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य में विधिवत शासन के संचालन हेतु विविध प्रकार के कर्मचारियों एवं सेवकों की नियुक्ति का विधान करके उनके पदों के अनुरुप ही अल्प एवं अधिक वेतन निर्धारित किये हैं।

कोष वृद्धि के आधार

कौटिल्य ने राजकोष के संचय के विभिन्न मार्गो का उल्लेख के साथ ही उसकी वृद्धि के उपाय या आधारों का उल्लेख भी किया है। कौटिल्य ने कहा है कि यदि राज्य की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नही है, तो राज्यकोष की स्थिति भी निर्बल रहेगी। इसलिये उसने ऐसे साधनों का उल्लेख किया है, जिनसे राज्य को वित्तीय स्थिति में वृद्धि हो सकती है। इन साधनों अथवा कोष की वृद्धि के इन मूल आधारें का कौटिल्य ने इस प्रकार उल्लेख किया है। कि राजकोष की वृद्धि का प्रथम मूल आधार राज्य के निवासियों की समृद्धि एवं संपन्नता है। कौटिल्य के मतानुसार राजकोष की वृद्धि तभी हो सकती है, जब राज्य के निवासी सभी दृष्टि से सम्पन्न एवं समृद्ध हों।

राजकोष की वृद्धि का दूसरा मूल आधार प्रजाजनों का आचरण और व्यवहार की

---

1. *कार्ययुक्तारोहकमाणवकशैलखनकाः सर्वोपस्थायिन आचार्या विद्यावन्तश्च पूजावेतनानियथार्ह लभेरन्पन्चशतावरं सहस्त्रपरम्।।* अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 20 ।
2. *दशपणिको योजने दूतः मध्यमः।।* अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 21 ।
3. *दशोत्तरेद्विगुणवेतन आयोजनशतादिति।।* अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 22 ।
4. *कापाटिकोदास्थित गृहपतिकवैदेहकतापसव्यजनाः साहस्त्राः।।* अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 24 ।
5. *ग्रामभृतकसत्रितीक्ष्णरसदभिक्षक्यः पन्चशताः।।* अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 25 ।
6. *चारसंचारिणोर्धतृतीयशताः प्रयासवृद्धवेतना वा।।* अर्थ0, अधि0 5, अ0 3, वार्ता 26 ।

शुद्धता है। कौटिल्य के मतानुसार आचरणवान जनता के कारण राज्य में विघ्नबाधायें नहीं उत्पन्न होती है और राजकोष के लिये धन एवं सामग्रियों के संचय में सुविधा होती है।

राजकोष की वृद्धि का तीसरा मूल आधार चोर–निग्रह है। चोर राजकोष एवं राज्य की सम्पत्ति का गुप्त रीति से अपहरण करते रहते हैं और राज्य की सम्पत्ति का दुरूपयोग करते हैं। इसलिए राष्ट्र की सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए चोरों के दमन करने की अपरिहार्य आवश्यकता को कोटिल्य ने उल्लेखित किया है।

राजकोष की वृद्धि के लिए राजकीय कर्मचारियों की संख्या भी संतुलित होनी चाहिए। यदि कर्मचारियों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो जाती है तो उनके वेतन, भत्ते तथा उन पर खर्च होने वाली राशि बढ़ जाती है। इसलिए आवश्यकता से अधिक राजकीय कर्मचारियों की नियुक्ति का प्रतिषेध कर राजकोष में वृद्धि की संभावना बढ़ायी जा सकती है।

राजकोष की वृद्धि का एक प्रमुख आधार राज्य में अन्न की वृद्धि है। यदि राज्य अन्न की दृष्टि से स्वावलम्बी है तो प्रजाजनों के लिए अन्न क्रय करने पर व्यय नहीं होगा और राजकोष में वृद्धि की सम्भावना रहेगी।

राज्य में उद्योग एवं व्यापार में वृद्धि से भी राजकोष में वृद्धि हो सकती है। व्यापार ध ान का प्रमुख स्रोत है। व्यापार एवं उद्योगों में वृद्धि होने से राज्य को विभिन्न प्रकार के कर लगाने का अवसर मिलता है। इन करों के द्वारा प्राप्त धन से राजकोष की वृद्धि हो सकती है। अतः राज्य में उद्योगों एवं व्यापारों में वृद्धि राजकोष की वृद्धि का एक प्रबल आधार है।

राजकोष की वृद्धि के लिए राज्य को बाह्य एवं आन्तरिक आपदाओं से मुक्त रखना आवश्यक है। आपदाओं के कारण राज्य की आय का प्रमुख भाग उनके निराकरण करने में ही लग जाता है। फलस्वरूप राजकोष में धनसंचय नहीं हो सकता है। इसलिए कौटिल्य ने राज्य को आपदाओं से मुक्त रखना राजकोष की वृद्धि का एक प्रमुख आधार माना है।

राज्य की ओर से विपत्तियों में या विशेष स्थितियों में प्रजा को दिये गये धन की समय–समय पर अदायगी से भी राजकोष में वृद्धि होती है। यदि प्रजा समय–समय पर कर अदायगी नहीं करती है, तो राजकोष में धन की कमी होगी। इस दृष्टि से प्रजा द्वारा समय पर ऋण की अदायगी भी राजकोष वृद्धि का एक प्रमुख आधार है।

कौटिल्य के मतानुसार स्वर्ण संग्रह भी कोष की वृद्धि का एक प्रमुख आधार है। कौटिल्य ने कहा है कि राज्य को लगातार स्वर्ण संग्रह करते रहना चाहिए। सोने के संचय से कोष में

वृद्धि होती है। इस प्रकार कौटिल्य ने कोष वृद्धि के नौ मूल आधार माने हैं।[1]

कोष क्षय के कारण

कौटिल्य ने उन कारणों का भी उल्लेख किया है जिन कारणों से कोष का क्षय हुआ करता है। यह आठ हैं। कौटिल्य ने कारणों को प्रति, प्रयोग, अबोध, व्यवहार, अवस्तार, परिहापण, उपभोग, परिवर्तन और अपहार के नाम से सम्बोधित किया है।[2]

सिद्धि की साधना न करना अर्थात् लाभ वाले किसी कार्य का प्रारम्भ न करना, अथवा ऐसे कार्यों से जो लाभ हो सकता हो उसका ग्रहण न करना अथवा इस प्रकार के लाभकारी कार्यों के द्वारा प्राप्त की गयी सम्पत्ति एवं सामग्री का राजकोष में संग्रह न करना प्रतिबन्ध कहलाता है।[3] कोष के क्षय का यह एक प्रधान कारण कौटिल्य द्वारा बतलाया गया है। कोष–क्षय के इस कारण के उच्छेदन हेतु कौटिल्य ने दण्ड निर्धारित किया है। उनका आदेश है कि जो भी राजकर्मचारी इस प्रकार की भूल करता है उससे (इस प्रकार के लाभ की हानि का) दस गुना धन दण्ड रूप में राजा को प्राप्त करना चाहिए।[4]

कोष–क्षय का दूसरा कारण कौटिल्य ने राजकोष के द्रव्य को अपने लाभ के कार्यों में प्रयोग करना।

तीसरा कारण राजकोष के धन से निजी व्यापार करना बतलाया है। जिनको उन्होंने क्रमशः प्रयोग और व्यवहार नाम से सम्बोधित किया है।[5] इन कुप्रथाओं के रोकथाम के लिए जिस कर्मचारी ने प्रयोग अथवा व्यवहार में राजकीय धन लगाकर लाभ उठाया है उस पर उस लाभ का दो गुना धन दण्ड के रूप में प्राप्त करना चाहिए।[6]

राजकोष के क्षय का चौथा कारण अवस्तार बतलाया गया है। अवस्तार पद की व्याख्या करते हुए कौटिल्य यह बतलाते हैं कि राजकीय धन के भुगतान के निर्धारित समय पर राजकीय धन की उगाही न करना और जब भुगतान का समय न हो उस समय उस धन की उगाही करना

---

1. *प्रचारसमृद्धिश्चरित्रानुग्रहश्चोरनिग्रहो युक्तप्रतिषेधः सस्यसम्पत्पणयवाहुल्यमुप सर्गप्रमोक्षः परिहारक्षयो हिरण्योपायनमिति कोशवृद्धिः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 3 ।*
2. *प्रतिबन्धः प्रयोगो व्यवहारोअवस्तारः परिहापणमुपभोगः परिवर्तनमपहारश्चेति कोशक्षयः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 4 ।*
3. *सिद्धीनामसाधनमनवतारणमप्रदेशनं वा प्रतिबन्धः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 5 ।*
4. *तत्र दशबन्धो दण्डः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 6 ।*
5. *कोशद्रव्याणां वृद्धिप्रयोगाः प्रयोगः परायव्यहारो व्यवहारः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 7 ।*
6. *तत्र फलहिगुणो दण्डः ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 8 ।*

अवस्तार कहलता है।[1] इस दशा में ऐसे कर्मचारी पर उस धन का पांच गुना दण्ड होना चाहिए।[2]

कलृप्त (नदीतट अथवा समुद्रवेला आदि पर बसे ग्रामों से कर रूप में प्राप्त धन) आय को घटा देना अथवा तत्सम्बन्धी व्यय को बढ़ा देना कोष–क्षय का पांचवां कारण बतलाया गया है। उसको कौटिल्य परिहापण नाम से सम्बोधित करते हैं।[3] इस दोष के दूर करने के लिए कौटिल्यं सम्बन्धित कर्मचारी से उक्त हानि का चार गुना धन दण्ड के रूप में प्राप्त करना निर्धारित करते हैं।[4]

राजा के द्रव्यों का कर्मचारी द्वारा स्वयं उपभोग किया जाना अथवा उनका दूसरों से उपभोग कराना राजकोष के क्षय का छठा कारण बतलाया गया है। राजकोष के क्षय के इस कारण को कौटिल्य उपभोग के नाम से सम्बोधित करते हैं।[5] इस दोष के निराकरण हेतु कौटिल्य के इन द्रव्यों के महत्त्व के अनुसार दण्ड निर्धारित किए हैं। राजा के रत्नों के उपभोग करने पर प्राण दण्ड दिया जाना चाहिए। मूल्यवान वस्तुओं के उपभोग करने पर मध्यम साहस दण्ड और अन्य साधारण वस्तुओं के उपभोग करने पर उन वस्तुओं को पुनः प्राप्त कर उनके मूल्य के बराबर दण्ड देना चाहिए।[6]

राजा के द्रव्यों को उसी प्रकार के अन्य द्रव्यों से बदल लेना राजकोष के क्षय का सातवां कारण बतलाया गया है जिसको कौटिल्य परिवर्तन नाम से सम्बोधित करते हैं।[7] इस दोष को दूर करने के लिए कौटिल्य ने वही दण्ड निर्धारित किए हैं जो कि उपभोग नाम के दोष के निराकरण हेतु उन्होंने निर्धारित किए हैं।[8]

प्राप्त हुए धन को निबन्धपुस्तक में अंकित नहीं करना तथा व्यय किए जाने वाले धन को निबन्ध–पुस्तक में व्यय के कोष्ठ में अंकित तो कर देना परन्तु उस धन का व्यय नहीं करना और

---

1. *सिद्धिं कालमप्राप्तं करोत्यप्राप्तं प्राप्तं वेत्यवस्तारः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 9 ।*
2. *तत्र पन्चबन्धो दण्डः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 10 ।*
3. *क्लृप्तमायं परिहापयति व्ययं वा विवर्धयतीति परिहापणम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 11 ।*
4. *तत्रहीनचतुर्गुणो दणडः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 12 ।*
5. *स्वयमन्यैर्वा राजद्रव्याणामुपभोजनमुपभोगः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 13 ।*
6. *तत्र रत्नोपभोगे घातः सारोपभोगे मध्यमः साहसदण्डः फल्गुकुप्योपभोगे तच्च तावच्च दण्डः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 14 ।*
7. *राजद्र व्याण्मन्यद्रण्येणादानं परिवर्तनम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 15 ।*
8. *तदुपभोगेन व्याख्यातम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 16 ।*

नीवीधन (व्यय से बचे हुए धन) को उलट–पलट कर उसको इधर–उधर कर देना अपहार कहलाता है।[1] राजकोष के क्षय का अन्तिम एवं आठवां कारण बतलाया गया है। इस दोष के दूर करने के लिए कौटिल्य ने सम्बन्धित कर्मचारी पर उस धन का बारहगुना दण्ड निर्धारित किया है।[2]

इस प्रकार कौटिल्य ने राजकोष के क्षय के आठ कारणों तथा उनसे बचने के उपायों का क्रमबद्ध एवं सुसंगत वर्णन किया है।

कौटिल्य ने राजद्रव्य के अपहरण के लगभग चालीस प्रकार तथा इनसे बचने के उपाय भी बतलाए हैं।[3] राजधन के अपहरण के विषय में कौटिल्य ने मत प्रकट करते हुये कहा है कि जिस प्रकार जिह्वा पर रखा हुआ मधु अथवा विष (न खाने की इच्छा रखने पर भी) स्वाद लेने में आ ही जाता है इसी प्रकार राज्य में अर्थाधिकार पर नियुक्त पुरूष धन का कुछ–न–कुछ उपभोग करते ही हैं।[4] जिस प्रकार जल में रहने वाली मछली जल पीती हुई दिखलायी नहीं पड़ती (वह जल पीती अवश्य है) इसी प्रकार राजकर्मचारी अपने–अपने कार्य में लगे हुए राज्य के धन का अपहरण करते हुए, भी जाने नहीं जा सकते।[5] आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति का पता लगाया जा सकता है परन्तु गुप्त रूप में राजधन का अपहरण करने वाले कर्मचारियों के द्वारा ध्धनहरण की गति का पता नहीं लगाया जा सकता।[6] इसलिए इन कर्मचारियों को राज्य के धन के अपहरण से राजकोष की रक्षा करने के लिए कौटिल्य ने सबसे सुगम उपाय यह बतलाया है कि इस प्रकार के कर्मचारी का पता लग जाने पर उसकी समस्त सम्पत्ति का अपहरण कर लेना चाहिए और उनको पदच्चुत कर देना चाहिए जिससे वह भविष्य में धन अपहरण न कर सके और उनके अपहरण किए गए धन की पुनः प्राप्ति हो सके।[7]

---

1. *सिद्धमायं न प्रवेशयति निबद्धं व्ययं न प्रयच्छति प्राप्तां नीवीं विप्रतिजानीत इत्यपहारः।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 17 ।
2. *तत्र द्वादशगुणो दण्डः।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 18 ।*
3. *अर्थ0, अधि0 2, अ0 8, वार्ता 19 ।*
4. *यथाह्यनास्वादयितुं न शक्यं, जिह्वातलस्थं मधु वा विषं वा। अर्थस्तया ह्यर्थचरेण राज्ञः स्वल्पो अपयनास्वादयितु न शक्यः।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 9, वार्ता 36 ।*
5. *मत्स्या यथान्तः सलिले चरन्तो, ज्ञातुन शक्याः सलिलं पिबन्तः।। युक्तास्तया कार्यविधौ नियुक्ताः, ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 9, वार्ता 37 ।*
6. *अति शक्या गतिर्ज्ञातुं पततां खे पत्त्रिणाम्। न तु प्रच्छानभावनां युक्तानां चरतां गतिः।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 9, वार्ता 38 ।
7. *आस्त्रावयेच्चोपचितान्विपर्यस्येच्च कर्मसु। यथा न भक्षयन्त्यर्थ भक्षितं निर्वमन्ति वा।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 9, श्लोक 39 ।

इसके विपरीत उन कर्मचारियों को जो राज्य के धन का अपहरण न करके न्यायानुसार अपनी और राजा की वृद्धि करते हैं राज्य में उच्च पदों पर स्थायी रूप से नियुक्त करता रहे, क्योंकि वह राजा के प्रिय एवं हितकारी कार्यों के सम्पादन में संलग्न रहते हैं।[1]

इन शब्दों में कौटिल्य ने राजकर्मचारियों द्वारा राजधन के अपहरण किए जाने वाले दोषों से शासन को शुद्ध बनाये रखने की व्यवस्था दी है।

कर–उन्मुक्ति

प्राचीन भारत में हिन्दू शासकों के शासनकाल में कुंछ श्रेणियों के लोगों तथा सम्पत्तियों को कर से छूट देने का भी प्रावधान किया जाता था। करों की छूट के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न विद्वानों के भिन्न–भिन्न मत मिलते हैं।

शुक्र के अनुसार जो लोग नये उद्योग लगाते हैं, जो बंजर जमीनों को खेती के योग्य बनाते हैं, जो सिंचाई–व्यवस्था के लिए नहर बनवाते हैं, तालाब व कुआँ खुदवाते हैं, उन लोगों को तब तक कर से छूट, मिलनी चाहिए जब तक उन्हें व्यय की राशि से दूना लाभ न हो जाये।[2]

कौटिल्य ने भी कुछ श्रेणियों के लोगों तथा सम्पत्तियों को कर से मुक्त करने का प्रावधान किया है। सैनिक गाँवों को कर से मुक्त करने का प्रावधान किया है। गूंगे, बहरे तथा अन्य प्रकार से विकलांग लोगों को कर से मुक्त रखा गया है।

ब्राह्मणों को भी कर से मुक्त रखने का प्रावधान था। ब्राह्मणों को कर से मुक्त रखने के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। कुछ स्मृतियों में ब्राह्मणों को कर से छूट देने का प्रावधान है। इस सम्बन्ध में कई विद्वानों का मत है कि सम्पूर्ण ब्राह्मण जाति को कर से मुक्त करना उचित नहीं है। महाभारत में कहा गया है कि वैसे ब्राह्मण जो राजकीय पदों पर नियुक्त हैं तथा जो कृषि, उद्योग एवं धनोपार्जन करने वाले धंधों में लगे हुए हैं उन्हें कर से मुक्ति नहीं मिलनी चाहिए।[3] ब्राह्मणों को करों से छूट देने के सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि केवल विद्वान तथा वैदिक विद्वानों को कर से छूट मिलनी चाहिए। ऐसे विद्वानों को श्रोत्रिय ब्राह्मण कहा जाता था। कौटिल्य के अनुसार जो ब्राह्मण राजकीय पदों पर आसीन हैं तथा जिन्हें

---

1. *न भक्षयन्ति ये स्पर्थान्न्यायतो वर्धयन्ति च। नित्याधिकाराः कार्यास्ते राज्ञः प्रियहिते रताः।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 9, वार्ता 40 ।

2 *शुक्रनीति0 अ0 6, श्लोक 2,115।*

3 *महा0 शा0 प0, अ0 12, श्लोक 47, 76।।*

राजकीय कोष से वेतन एवं भत्ते दिये जाते हैं उन्हें करमुक्त करना उचित नहीं है। विद्या अर्जन करने वाले विद्यार्थियों को भी कर से मुक्त रखने का प्रावधान था।

कुछ विशेष प्रकार की भूमि और सम्पत्तियों को करमुक्त रखा गया था। ब्रह्मदेय एवं आतिथ्य सम्बन्धी भूमि को भी कर से मुक्त रखा गया था। वनों और जंगलों के उत्पादन पर कर नहीं लगाया जाता था, परन्तु इस प्रकार की छूट केवल उन लोगों के लिए लागू होती थी जो जंगलों के आस–पास रहते थे तथा जंगलों की लकड़ियों से अपना जीवन–यापन करते थे।

कौटिल्य के ने इस तथ्य की भी चर्चा की है कि दुर्भिक्ष पड़ने पर तथा न्य कारणों से फसल नहीं होने पर कर में छूट दी जाती थी। यह उल्लेख भी मिलता है कि सूखा पड़ने तथा अन्य विपदाओं के कारण फसल नहीं होने या फसल नष्ट होने पर छोटे–छोटे किसानों को राजकीय कोष से सहायता दी जाती थी।

इस प्रकार हम पाते हैं कि कौटिल्य ने करारोपण, कर–संग्रह तथा कर–मुक्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट एवं विस्तृत प्रावधानों का निर्धारण किया है। इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि कौटिल्य ने समाहर्ता द्वारा करमुक्त जमीनों की अलग पंजी तैयार करने की सलाह दी है।

आपातकाल में कर–वृद्धि

कौटिल्य ने आपातकालीन स्थितियों का मुकाबला करने के लिए अतिरिक्त कर लगाने या करों के दर में वृद्धि की अनुशंसा की है। कौटिल्य ने आपातकाल में अतिरिक्त कर लगाने तथा करों के दर में वृद्धि करने के नियम को उचित ठहराया है। उनके अनुसार आपातकाल में सामान्य नियम लागू नहीं होते, उस समय राजा किसी भी व्यक्ति या जमीन पर नवीन कर लगा सकता है। कुछ विशेष परिस्थितियों में मन्दिरों तथा देवी–देवताओं की सम्पत्ति पर कर लगाया जा सकता है। कौटिल्य ने आपातकाल में राजस्व प्राप्ति के लिए शक्ति तथा कपटपूर्ण तरीकों को अपनाने को भी उचित ठहराया है। उसने आपातकालीन करों के निर्धारण एवं संग्रह में लोगों की धार्मिक भावनाओं का दोहन करने का परामर्श दिया है। डॉ0 बेनी प्रसाद ने कहा है कि कौटिल्य ने आपातकाल में गुप्तचरों की सेवा के लिए भी धर्म के तत्व का दोहन करने की सलाह दी है। कौटिल्य का यह स्पष्ट मत है कि आपातकाल की आवश्यकताएँ सामान्य विधियों और नियमों से परे हैं और उनकी पूर्ति के लिए शासक को अपनी प्रजा से धन संग्रह के लिए पूरी

स्वतंत्रता होनी चाहिए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य ने आपातकाल में शासकों की स्वेच्छाचारिता को मान्यता देने में किसी प्रकार संकोच नही किया है। वर्तमान समय में आपातकाल में सरकार को असामान्य शक्तियों से विभूषित करने का प्रयास किया गया है। भारत में राष्ट्रपति को आपातकाल में सामान्य एवं वित्तीय क्षेत्र में असमान्य शक्तियाँ दी गयी हैं।

न केवल कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में, वरन् अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी इस प्रकार के प्रावधानों का उल्लेख मिलता है। जहाँ तक कथाओं में ऐसे अनेक उदाहरण दिये गये हैं जो यह संकेत करते हैं कि आपातकाल में राजा अपनी प्रजा से मनमाने ढंग से रकम वसूल करता था। महाभारत में भी ऐसे प्रावधानों का चर्चा है, किन्तु उसमें यह उल्लेख किया गया है कि राजा को अपनी प्रजा को आपातकालीन आवश्यकताओं से परिचित करा देना चाहिए तथा इस प्रकार के प्रावधानों को तभी लागू किया जाये जब अन्य कोई विकल्प न हो।[1] इस सम्बन्ध में इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि आपातकालीन आवश्यकताओं के आधार पर अनेक राजाओं ने मनमाने ढंग से प्रजा से धन वसूले जिसके कारण साम्राज्य में असंतोष और विद्रोह का जन्म हुआ और साम्राज्य की नींव अत्यधिक कमजोर हो गयी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य तथा अन्य विद्वानों ने आपातकाल में राज्य द्वारा अतिरिक्त कर तथा विशेष कर लगाने की व्यवस्था का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि में आपातकालीन विपदाओं का मुकाबला करने के लिए अतिरिक्त धन और बल दोनों की आवश्यकता होती है। इसलिए उन्होंने राजा को प्रजाजनों से अतिरिक्त कर या विशेष कर वसूलने की अनुमति दी है, किन्तु उन्होंने यह भी चेतावनी दी है कि इस प्रकार के कर लगाने और वसूलने की व्यवस्था तभी अपनायी जानी चाहिए जब दूसरा कोई विकल्प न रह जाये।

उपुर्यक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य ने एक सुदृढ़ राजस्व व्यवस्था की चर्चा की है। उसके अनुसार राजस्व व्यवस्था की सुदृढ़ता पर ही सम्पूर्ण राज्य की सुदृढ़ता एवं समृद्धि निर्भर करती है। कौटिल्य ने राज्य की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए कृषि, उद्योग तथा अन्य प्रकार की विभिन्न आर्थिक क्रियाओं और संस्थाओं के बीच समुचित सम्बन्ध एवं सहयोग की स्थापना की अनुशंसा की है। उसने स्पष्ट रूप से अनेक प्रकार के व्यापारों, व्यवसायों, उद्योगों तथा आर्थिक क्रियाओं पर राज्य के नियंत्रण की बात कही है। कौटिल्य द्वारा

1. *महाभारत, XII, 87, 26-29 ।।*

चित्रित अर्थव्यवस्था के विश्लेषण के आधार पर कई विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में नियोजित अर्थव्यवस्था की तस्वीर प्रस्तुत की गयी है। ब्रेलर नामक विद्वान इस मत के प्रतिपादन में अग्रणी है। ब्रेलर के अनुसार "नियोजित अर्थव्यवस्था" कौटिल्य के 'अर्थव्यवस्था' की एक विशिष्ट विशेषता है, किन्तु विद्वान बी0के0 सरकार ने कहा है कि "नियोजित अर्थव्यवस्था" आधुनिक युग की देन है, इसलिए कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र; के साथ नियोजित अर्थव्यवस्था को जोड़ना उचित नहीं है। 'अर्थशास्त्र' में वर्णित राजस्व व्यवस्था पर राज्य के नियंत्रण के आधार पर इसे नियोजित अर्थव्यवस्था मान लेना उचित नहीं होगा। प्राचीन भारत में व्यवस्था पर राजकीय नियंत्रण जैसी व्यवस्था अन्य राज्यों में भी थी। मिस्र में भी अर्थव्यवस्था पर राजकीय नियंत्रण का संदर्भ मिलता है। रोस्तोवजेफ ने टॉलमी शासनकाल में अर्थव्यवस्था पर राजकीय नियंत्रण का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। रोस्तोवजेफ ने कहा है क मिस्र में टॉलमी काल में भूमि पर राजा का स्वामित्व तथा प्रजाजनों द्वारा अनिवार्य श्रम तत्कालीन अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण थे।[1]

अनेक विद्वानों का मत है कि कौटिल्य द्वारा चित्रित अर्थव्यवस्था कई संदर्भों में यूनानी राज्यों की अर्थव्यवस्था से अधिक उन्नत और अधिक संतुलित थी। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में चित्रित अर्थव्यवस्था की सुदृढ़ता की समीक्षा करते हुए विद्वानों ने कहा है 'कि कौटिल्य की अर्थव्यवस्था गम्भीर चिन्तन और सूझ–बूझ का परिणाम थी।'

भारतीय विद्वान कृष्णाराव ने कहा है कि 'कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' राजनीतिक अर्थव्यवस्था का महज सैद्धांतिक विवेचन नहीं है,[2] अपितु व्यावहारिक अर्थव्यवस्था पर लिखी गयी एक श्रेष्ठ कृति है। यह लोकविन्त पर समकालीन विचारों एवं शिक्षण की एक महत्वपूर्ण रचना है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कौटिल्य की 'अर्थशास्त्र' वित्तीय व्यवस्था पर लिखी गयी एक श्रेष्ठ और उपयोगी कृति है, और आज के संदर्भ में इसकी उपयोगिता बरकरार है।

कर निर्धारण के सम्बन्ध में भी कौटिल्य द्वारा निर्धारित सिद्धान्त आधुनिक वित्तीय प्रशासन की कसौटी पर खरे उतरते हैं, क्योंकि कौटिल्य ने भी कर निर्धारण के सम्बन्ध में

---

1. *एम रास्टोवट्जेफ : दि सोशल एण्ड इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ हेलेन्सिटिक वर्ल्ड, आक्सफोर्ड 1941, VII, पृ 271 ।*
2. *एम0वी0 कृष्णा राव, : स्टडीज इन कौटिल्य, मुंशी राम मनोहर लाल, देलही 1958,पृ - 201 ।*

लोकहित को ध्यान में रखने का अनुदेश दिया है। यद्यपि उसने कई स्थितियों में विशेषकर आपातकालीन स्थितियों में अतिरिक्त कर निर्धारण की अनुशंसा की है, परन्तु उसने कर निर्धारण में स्वेच्छाचारिता का विरोध किया है। यह कहना अधिक समीचीन होगा "कि कौटिल्य का कर निर्धारण सिद्धान्त न्याय और औचित्य पर आधारित है। उसने अर्थव्यवस्था के आधारों का उल्लेख करते हुए इस बात पर बल दिया है कि प्रजाजनों से उनकी क्षमता के अनुसार ही कर वसूल किया जाना चाहिए। उसने धनवानों से अधिक कर वसूलने तथा निर्धनों से कम कर वसूलने की अनुशंसा की है। इस प्रकार कौटिल्य का सिद्धान्त लोकवित्त के सम्बन्ध में एक प्रगतिशील सिद्धान्त कहा जा सकता है।

कौटिल्य ने न केवल आय को समुचित ढंगसे निर्धारित करने का निर्देश दिया है, वरन् व्ययों को नियंत्रित करने के लिए भी आवश्यक निर्देश दिये हैं। कौटिल्य के मतानुसार राजा को अपने राजस्व का अधिकांश लोकहित के लिए व्यय करना चाहिए। कौटिल्य की अर्थव्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्त आधुनिक लोककल्याणकारी राज्य की अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त के बहुत समीप है।

अध्याय नवम्

पुर, जनपद तथा लोकतंत्रात्मक राज्य

पुर, जनपद तथा लोकतंत्रात्मक राज्य

प्राचीन भारत में राज्य के दो मुख्य भाग दुर्ग अथवा पुर और जनपद माने गये हैं। सम्भवतः इसीलिए पुर और जनपद को सप्तांग अथवा सप्तात्मक राज्य के दो अलग–अलग अंग माने गए हैं। कौटिल्य ने भी इसी परम्परा की पुष्टि की है। उन्होंने भी राज्य के दुर्ग और जनपद यह दो मुख्य भाग माने हैं। दुर्ग को वह पुर अथवा नगर का पर्यायवाची मानते हैं और जिससे उनका तात्पर्य राजधानी से है। इस दुर्ग अथवा पुर को बहिष्कृत करने के उपरान्त राज्य का जो भाग अवशेष रह जाता है उसको कौटिल्य ने जनपद नाम से सम्बोधित किया है।

दुर्ग अथवा पुर में नागरिक

दुर्ग अथवा पुर में शासन व्यवस्था को विधिवत संचालित करने के लिए कौटिल्य ने एक प्रमुख राजकर्मचारी की नियुक्ति की व्यवस्था दी है। इस राजकर्मचारी को कौटिल्य ने नागरिक नाम से सम्बोधित किया है और यह बतलाया है कि नागरिक को नगर (राजधानी) में शासन व्यवस्था के संचालन हेतु उसी प्रकार चिन्तन करना चाहिए जिस प्रकार कि जनपद में शासन–व्यवस्था के संचालन में समाहर्ता चिन्तन करता है।[1] इस प्रकार पुर के शासन का सम्पूर्ण दायित्व नागरिक पर ही आश्रित था।

दुर्ग अथवा पुर के शासन सम्बन्धी भाग

शासन की सुविधा के अनुसार दुर्ग अथवा पुर को छोटे–छोटे भागों में विभक्त किया जाना चाहिए और इस प्रकार विभाजित किए गए शासन सम्बन्धी प्रत्येक भाग में एक मुख्य राज्यकर्मचारी होना चाहिए, जिसकी देख–रेख में उसके अधीन इस प्रकार विभाजित किए गए पुर के छोटे अथवा बड़े भागों में शासन होता रहे। कौटिल्य ने इन छोटे–बड़े भागों में स्थानिक एवं गोपों की नियुक्ति की व्यवस्था दी है।

स्थानिक

कौटिल्य के मतानुसार दुर्ग (राजधानी) के मुख्य चार भाग करने चाहिए। इनमें से प्रत्येक भाग में एक राजकर्मचारी की नियुक्ति करनी चाहिए। इस राजकर्मचारी को कौटिल्य ने स्थानिक नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रकार राजधानी में स्थानिक नाम के चार राजकर्मचारी होंगे,

---

1. *समाहर्तृवन्नागरिको नगरं चिन्तयेत्।* *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 1 ।*

जिनमें से प्रत्येक के अधीन राजधानी का चौथायी भाग रहेगा। स्थानिक के कर्तव्यों का बोध कराते हुए कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि समस्त नगर के प्रति जो कर्तव्य नागरिक का बतलाया गया है, स्थानिक का वही कर्तव्य उसके अधीन नगर के चौथायी भाग के प्रति होगा।[1]

गोप

प्रत्येक स्थानिक के अधीन गोप नाम के राजकर्मचारी होने चाहिए। कौटिल्य के मतानुसार राजधानी का वह चौथायी भाग जोकि स्थानिक के अधीन होता है, उसके भी कुटुम्बों के अनुसार दस, बीस और चालीस कुटुम्बों के संयोग से अलग–अलग संगठन किए जाने चाहिए। दस कुटुम्बों की देख–रेख के लिए गोप नाम के राजकर्मचारी की नियुक्ति होनी चाहिए। इसी प्रकार बीस कुटुम्बों और चालीस कुटुम्बों के अलग–अलग गोप नियुक्त किए जाने चाहिए।[2] इस गोप नाम के राजकर्मचारियों के कर्तव्यों का निरूपण करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि इन गोपों के अपने अधीन कुटुम्बों के स्त्री–पुरुषों की आय–व्यय का व्योरा भी अंकित करते रहना चाहिए।[3] इन गोपों को इस समस्त ब्योरे से अपने ऊपर के स्थानिकों को अवगत कराते रहना चाहिए। इस प्रकार प्राप्त ब्योरे को स्थानिक को नागरिक तक पहुँचाना चाहिए।

नगर में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था

नागरिक का प्रमुख कर्तव्य अपने अधीन नगर में शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था का स्थापित करना था। नगर में शान्ति एवं सुरक्षा के निमित्त कौटिल्य ने कतिपय साधनों के अपनाने की व्यवस्था दी है।

(क) रात्रि में पथिकों के ठहरने के नियम

प्रत्येक नगर में प्रति दिन बाहर से कुछ पुरुष अवश्य आया करते हैं और रात्रि में धर्मशालों, गृहस्थों के घरों, एवं इसी प्रकार के अन्य स्थानों पर ठहरा करते हैं। परन्तु इनके आचरण के विषय में जानकारी करना एक कठिन समस्या होती है। सम्भव है कि इन लोगों में कुछ ऐसे भी लोग हों जो चोर, डाकू, व्यभिचारी आदि हों और नगर में आकर गुप्त–रीति से दुष्टता करते हों। इसके रोकथाम के लिए कौटिल्य ने कतिपय सावधानियों का उल्लेख किया है।

बाहर से आए हुए पथिकों के ठहरने के लिए राजधानी में धर्मशालायें होती थीं।

---

1. *एवं दुर्गचतुर्भागं स्थानिकश्चिन्तयेत्।।* *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 4 ।*
2. *दशकुलीं गोपी विंशतिकुलीं चत्वारिशत्कुलीं वा।।* *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 2 ।*
3. *स तस्यां स्त्रीपुरुषाणां जातिगोत्रनामकर्मभिः जंघाप्रमावप्ययौ च विद्यात्।।* *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 3 ।*

कौटिल्य के अनुसार इन धर्मशालाओं के प्रबन्धकों का यह कर्तव्य था कि उनको धर्मशाला में आकर ठहरने वाले समस्त पथिकों की सूचना गोप अथवा स्थानिक को दें। पाखण्डियों को धर्मशाला में ठहरने का निषेध था।[1] धर्मशाला के प्रबन्धक धर्मशाला में उन्हीं पथिकों को ठहरा सकते थे जिनको वह जानते हों अथवा वह तपस्वी या वेदपाठी ब्राह्मण हों।[2] शिल्पी गण अपने–अपने घरों में जहाँ कि वह कार्य करते हैं, काम करने वाले शिल्पियों को ठहरा सकते थे।[3] व्यापारी लोग अभ्यागत व्यापारियों को अपनी दुकानों पर ठहरा सकते थे।[4] परन्तु यदि बाहर से आकर ठहरे हुए व्यापारी देश–काल के विपरीत वस्तु को बेचने वाले अथवा चोरी आदि का माल रखने वाले हों तो उनकी सूचना जिस व्यापारी की दुकान में वह व्यापारी ठहरा है उसको गोप अथवा नागरिक तक पहुँचाना अनिवार्य था। मद्य–विक्रेता एवं पक्वान्न या पका मांस बेचने वाले और वेश्याएँ अपने परिचित लोगों को हो अपने पास रात्रि में ठहरा सकती थीं।[5] इन व्यवसायियों को यह सूचना गोप अथवा स्थानिक को देना आवश्यक था, कि उनके सम्पर्क में आने वाले कौन ऐसे व्यक्ति हैं जो अधिक व्यय कर रहे हैं अथवा निषिद्ध कार्यों को करते हैं।[6] यदि कोई चिकित्सक किसी घर में गुप्त रीति से किसी व्यक्ति के घाव की अथवा भोजन की कमी या मदिरापन के कारण होने वाले रोगों की चिकित्सा करता हो, तो उस चिकित्सक एवं चिकित्सा होने के स्थान के स्वामी दोनों को इस विषय की सूचना गोप अथवा स्थानिक तक पहुँचाना अनिवार्य था अन्यथा वह चिकित्सक एवं ग्रहपति दोनों अपराधी समझे जाते थे।[7] गृहस्थों को प्रतिदिन इस विषय की सूचना गोप अथवा स्थानिक के लिए देना अनिवार्य था कि उनके घरों से कौन व्यक्ति बाहर जा रहे हैं और कौन व्यक्ति बाहर से आकर रात्रि में ठहरे हैं।[8] यदि ऐसा नहीं किया गया तो उक्त रात्रि में होने वाले अपराध के दोषी वह गृहपति समझे जाएगें।[9] यदि

---

1. *धर्मावस स्थिनः पापण्डपधिकानाषेद्य वासयेयुः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 5 ।*
2. *स्वप्रत्यांश्च तपस्विनः श्रोत्रियांश्च।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 6 ।*
3. *कारुशिल्पिनः स्वकर्मस्थानेषु स्वजनं वासयेयुः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 7 ।*
4. *वैदेहकाश्यान्योन्यं स्वकर्मस्यानेषु पण्यानामदेशकालविक्रेताश्मस्वकरणं च निवेदयेयुः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 8 ।*
5. *शौण्डिकपाश्यमांसिकीदनिरुपाजीयाः परिज्ञातमावासयेयुः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 9 ।*
6. *अतिव्ययकर्तारमत्याहितकर्माणं च निवेदयेयुः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 10*
7. *चिकित्सकः प्रच्छन्नग्रण्णप्रतीकारकाशयिताश्मपप्यकारिणं च गृहस्सवामी च निषेद्य गोपस्यानिकयोर्मुण्येतान्यया सुक्ष्यदोषः स्यात्।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 11 ।*
8. *प्रस्थितागतौ च निवेदयेत्।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 12 ।*
9. *अन्यथा रात्रिदोषं भजेत।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 13*

रात्रि में कोई घटना भी नहीं हुई परन्तु इनके रात्रि में ठहरने की सूचना गृहपति ने नहीं दी है तब भी उस गृहपति पर सूचना न देने के अपराध के निमित्त तीन पण दण्ड दिया जाना चाहिए।[1]

इस प्रकार नगर में बाहर से आकर रात्रि में ठहरने वाले एवं नगर के कुटुम्बों से रात्रि को बाहर जाने वाले अथवा इधर–उधर जाने वाले लोगों के आचरण एवं व्यवहार का विशेष प्रकार से निरीक्षण करने और उनके द्वारा नगर में किसी प्रकार का अपराध एवं दोष न होने पाए इस ओर विशेष सतर्क रहने की व्यवस्था किये जाने का प्रबन्ध कौटिल्य द्वारा किया गया है।

(ख) रात्रि के समय नगर में आवागमन के नियम

चोर, डाकुओं एवं व्यभिचारियों आदि से नगर की जनता की रक्षा होती रहे, इस विचार से कौटिल्य के अनुसार रात्रि के समय नगर में लोगों का इधर–उधर आना जाना कतिपय प्रतिबन्धों के अनुसार होना चाहिए। मनुष्य बुरे काम छिपकर ही करता है, तथा रात्रि का समय बुरे कामों के करने में विशेष सहायक होता है। इसीलिए कौटिल्य ने कई ऐसे नियमों का आश्रय लेने का सुझाव दिया है जिससे दुष्ट लोग रात्रि में दुष्टता करने का अवसर न पा सकें। कौटिल्य का कहना है कि सूर्योदय के छः नालिक (छः घड़ी) पूर्व और सूर्यास्त के छः नालिक पश्चात के बीच का जो रात्रि का समय है इसके संकेत करने के लिए तुरी का शब्द होना चाहिए।[2] तुरी के शब्द हो जाने के उपरान्त रात्रि के इस निषिद्ध समय में प्रारम्भ के तीन याम अथवा अन्त के तीन याम के समय जो व्यक्ति राजकीय भवनों के पास–पड़ोस घूमता हुआ पाया जाए उस पर सवा पण दण्ड होना चाहिए।[3] यदि इन दोनों समयों के मध्य भाग अर्थात अर्धरात्रि के आस–पास राजकीय भवनों के समीप कोई व्यक्ति घूमता हुआ पाया जाए, तो उस पर दो गुना और नगर के बाहर घूमने वाले पर चार गुना दण्ड विधान किया गया है।[4] शंका के योग्य स्थान पर पकड़े हुए शस्त्र आदि किसी चोरी आदि के साधन से सम्पन्न अथवा पूर्व में चोरी के अपराध में पकड़े गए पुरुष से वहाँ आने के विषय में पूँछ–ताँछ करनी चाहिए।[5] यदि कोई पुरुष राजकोष, कार्यालयों या नगर की रक्षा की प्राचीर पर चढता हुआ पकड़ा जाए तो ऐसे पुरुष को मध्यम

---

1. *क्षेमरात्रिषु त्रिपणं दधात्।।* *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 14 ।*
2. *विषण्नालिकमुभयतोरात्रं यामतूर्थम्।।* *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 42 ।*
3. *तूर्यशऽदे राज्ञो गृहाम्याशे सपादपणमक्षणताडमं प्रथमपश्चिमयामिकम्।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 43 ।*
4. *मध्यमयामिकं द्विगुणं बहिश्चतुर्गुणम्।।* *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 44 ।*
5. *शंकनीये देशे लिगं पूर्वापदश्ने च गृहीतमनुयुंजीत।।* *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 45 ।*

साहस दण्ड का विधान किया गया है।[1]

इन प्रतिबन्धों के होते हुए भी आवश्यक कार्य के लिए आवागमन करने वाले व्यक्तियों को स्वतंत्रता दी गयी है। कौटिल्य ने मत व्यक्त किया है कि यदि इस निषद्ध समय में कोई पुरुष सूतिका (बच्चा के उत्पत्ति के समय दायी आदि के लाने के हेतु), वैद्य (रोगी के लिए), प्रेत (मुर्दा उठाने) दीपक हाथ में लेकर चलते हुए, नागरिक के पास जाने, बाजा बजवाने, नाटक देखने अथवा अग्नि बुझाने के हेतु आते–जाते पाए जाएं अथवा जो पुरुष मुद्रा के साथ आ–जा रहे हों उनको स्वतंत्रतापूर्वक आने–जाने की आज्ञा होनी चाहिए।[2] कौटिल्य ने कुछ ऐसे अवसर भी बतलाए गए हैं जब रात भर लोग बिना रोक–टोक आ–जा सकते थे। सम्भव है यह रात्रि राष्ट्रीय उत्सव आदि से सम्बन्धित होंगे। परन्तु इन रातों में भी जो लोग छिपे वेश बनाकर घूमते हुए, सन्यासी अथवा दण्ड शस्त्र हाथ में धारण किए हुए पकड़े जाएं तो उनके अपराध के अनुसार उनको दण्ड मिलना चाहिए।[3]

(ग) रक्षकों के प्रति नियम

रात्रि के समय इस प्रकार के आवागमन के नियंत्रण करने के लिए नगर में रक्षक होते थे उनको इन नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करना पड़ता था। जो रक्षक नहीं रोकने वाले पुरुषों को रात में रोक दे और रोकने योग्य पुरूषों को न रोंके तो ऐसे रक्षक पर निषिद्ध समय के नियत दण्ड से दो गुना दण्ड होना चाहिए।[4] यदि रक्षक किसी दासी के साथ व्यभिचार के अपराध में पकड़ा जाए तो उस पर प्रथम साहस दण्ड होना चाहिए।[5] यदि वह अदासी साधारण स्त्री के साथ व्यभिचार करता है तो मध्यम साहस दण्ड,[6] किसी रोकी हुई निरूद्ध स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर उत्तम साहस दण्ड का विधान किया गया है।[7] परन्तु यदि वह किसी कुल–स्त्री को भ्रष्ट कर देता है तो उसको वध दण्ड दिया जाना चाहिए।[8]

---

1. *राजपरिग्रहोपगमने नगरक्षरोहणे च मध्यमः साहसदण्डः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 46 ।*
2. *सूतिकाचिकित्सकप्रेतप्रदीपयाननागरिकतूर्यप्रेक्षाग्निनिमित्तं मुद्राभिश्चाग्राह्याः।।* *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 47*
3. *चारशत्रिषु प्रच्छन्नविपरीतवेषाः प्रव्रजिता दण्डशस्त्रहस्ताश्च मनुष्या दोषतो दण्डयाः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 48 ।*
4. *रक्षिणामपार्थ वारयतां वार्ध चावारयतामक्षणद्विगुणो दण्डः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 49 ।*
5. *स्त्रियं दासीमधिमेहयतां पूर्वः साहसदण्डः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 50 ।*
6. *अदासीं अच्छमः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 51 ।*
7. *कृतावरोधामुत्तमः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 52 ।*
8. *कुलस्त्रियं वधः।।* — *अर्थ० अधि० 2 अ० 36 वार्ता 53 ।*

(घ) दुष्टचरित्र व्यक्तियों पर निगरानी

पथिक वेश में मार्ग में घूमने वाले तथा ग्वाले आदि के वेश में मार्ग का त्याग कर वन में घूमने वाले गुप्तचर, नगर के बाहर अथवा नगर के देवालय, धर्मशाला, वन अथवा श्मशान में किसी ब्रणयुक्त, विषशस्त्र आदि अनुचित साधन से युक्त, घबड़ाए हुए, अधिक सोने वाले, मार्ग की थकावट से युक्त एवं अद्भुत ढंग के पुरुष को देखकर उसकी सूचना नागरिक को देनी चाहिए।[1] इसी प्रकार नगर में शून्य स्थान, शिल्पशाला, मद्य की दुकान, पक्वान्न एवं पके मांस की दुकान, द्यूतगृह एवं पाखण्डी साधुओं के स्थानों की भी खोज करते रहना चाहिए।[2] इस प्रकार कौटिल्य ने दुष्ट पुरुषों के विषय में जानकारी रखने का नागरिक को आदेश दिया है।

(ड.) खोयी हुयी वस्तु के पाने की व्यवस्था

यदि किसी व्यक्ति की कोई वस्तु कहीं खो जाए तो वह वस्तु नागरिक के पास लायी जानी चाहिए और नागरिक को उस वस्तु की तब तक रक्षा करनी चाहिए जब तक कि उस खोयी हुई वस्तु का स्वामी नागरिक से लेने के लिए उसके पास न आए। कौटिल्य व्यवस्था देते हैं कि यदि कोई वस्तु खोई हुई अथवा गिरी हुई पडी मिल जाए तो उसके स्वामी के आने तक उसकी रक्षा करनी चाहिए।[3]

(च) अग्नि से रक्षार्थ सावधानी

अग्नि–प्रकोप के प्रतिकार हेतु कौटिल्य ने सावधानियों से काम लेने के लिए इस प्रकार व्यवस्थाएं दी हैं कि ग्रीष्म ऋतु में दिन के आंठ भागों में मध्य के चार भागों में अग्नि जलाने का निषेध रहना चाहिए।[4] यदि कोई व्यक्ति इस नियम का उल्लंघन करता हुआ पाया जाए तो उस पर पण का आठवां भाग दण्ड होना चाहिए।[5] इस निषिद्ध समय में यदि किसी को अग्नि जलाने की आवश्यकता पड जाएं तो उसको घर के बाहर अग्नि जलाकर कार्य कर लेना चाहिए।[6] जो

---

1 पथिकोत्पथिकाश्चबहिरन्तश्चनगरस्यदेव गृहपुण्यस्यानवनश्मशान`षुब्रणमनिष्टोपकरणमुद्भाण्डी कृतमाविग्नमतिस्वप्नमध्वक्लान्तमपूर्व वा गृहीयुः।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 15 ।

2.. एवमन्यन्तरे शून्यनिवेशावेशनशौण्डिकौदनिकपाक्वमांसिक द्यूतपाषण्डादासेषु विचर्य कुर्युः।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 16 ।

3. नष्टप्रभृतापसतानां च रक्षणम्।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 56 ।

4. अग्निप्रतीकारं च ग्रीष्मे मध्यमयोरह्नश्तुर्भागयोः।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 17 ।

5. अष्टभागोऽग्निदण्डः।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 18 ।

6. बहिरधिश्रयणं वा कुर्युः।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 19 ।

गृहस्थ अपने घर में ग्रीष्म ऋतु में, घड़ा, नांद, सीढ़ी, कुल्हाड़ी, सूप, अंकुश, कचगृहणी और चमड़े की मशक का प्रबन्ध न रखे उस पर चौथाई पण दण्ड होना चाहिए।[1] इस अवधि में घास–फूस और चटाई की बनी हुई झोपड़ियां हटवा देनी चाहिए।[2] अग्नि के द्वारा जीविका कमाने वाले (लोहार आदि) मनुष्यों की नगर के एक ओर एक ही स्थान पर कार्य करने की व्यवस्था की जानी चाहिए।[3] गृहस्वामी रात्रि में अपने घर के द्वार पर ही शयन करें।[4] नगर की गलियों एवं बाजारों में सहस्त्रों की संख्या में जल से भरे घड़ों का प्रबन्ध रहना चाहिए।[5] इसी प्रकार नगर में चौराहों, मुख्य द्वारों और राज्य के कार्यालयों पर भी जल से भरे घड़ों का प्रबन्ध होना चाहिए।[6]

कौटिल्य ने उस मनुष्य को भी दोषी ठहराया है जो नगर के किसी स्थान में आग लग जाने पर उदासीनता प्रकट करता है अथवा अग्नि दाह में सहयोग देता है। कौटिल्य का कथन है कि घर में आग लग जाने पर गृहस्वामी जानबूझ कर उसके बुझाने के लिए दौड़–घूप नहीं करता है तो ऐसे गृह–स्वामी पर बारह पण दण्ड विधान किया गया है।[7] घर में आग लग जाने पर उस घर में रहने वाला किराएदार उस अग्नि के बुझाने के लिए दौड़–धूप नहीं करता है तो उस पर छः पण दण्ड होना चाहिए।[8] जिस व्यक्ति की असावधानी से आग लग जाए उस पर चौवन पण दण्ड होना चाहिए।[9] यदि कोई व्यक्ति जानबूझकर आग लगाता हुआ पाया जाए तो उसको उसी अग्नि में डाल दिया जाना चाहिए।[10]

इस प्रकार कौटिल्य ने अग्नि के प्रकोप के प्रतिकार हेतु अनेक सावधानियों एवं उपायों का उल्लेख किया है।

नगर में स्वच्छता प्रबन्धन

कौटिल्य ने स्वच्छता पर विशेष महत्त्व दिया है। वह नगर को स्वच्छ और स्वस्थ रखने

---

1. *पादः पश्चघटीनां कुम्भद्रोणीनिश्रेणीपरशुशूर्पाक शकचग्रहणीहतीनां चाकरणे।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 20*
2. *तृणकटच्छन्नान्यपनयेत्।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 21 ।*
3. *अग्निजीविन एकस्थान् वासयेत्।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 22 ।*
4. *स्वगृहप्रद्वारेषु गृहस्वामिनो वसेयुरसंपातिनो रात्रौ। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 23 ।*
5. *रथ्यासु कटव्रजाः सहस्त्रं तिष्ठेयुः।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 24 ।*
6. *चतुष्पथ द्वारराजपरिग्रहेशु च ।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 25 ।*
7. *प्रदीप्तमनभिधावतो गृहस्याभिनो द्वादश पणो दण्डः।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 26 ।*
8. *षट्पणोऽवक्रविणः।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 27 ।*
8. *प्रमादाहीप्तेषु चतुष्पश्चाशत्पणो दण्डः।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 28 ।*
10. *प्रदीपिकोऽग्नि दण्डः।। अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 29 ।*

के पक्ष में थे। इसीलिए उन्होंने नगर में स्वच्छता रखने के लिए व्यवस्थाएं व्यक्त की हैं। नगर की गलियों एवं सड़कें स्वच्छ रखने हेतु उन्होंने कहा है कि जो व्यक्ति गलियों एवं सड़कों में कूड़ा–करकट डालता हुआ पाया जाए उस पर पण का आठवां भाग दण्ड होना चाहिए।[1] जो व्यक्ति पानी अथवा कीचड़ से गलियों को गन्दा करता है उस पर पण का चौथाई भाग दण्ड होना चाहिए।[2] राजमार्ग को गन्दा करने वाले व्यक्ति पर आधा पण दण्ड होना चाहिए।[3] राजमार्ग, धर्मशाला, तीर्थ आदि पवित्र स्थान, जलस्थान, देवालय और राजकीय कार्यालयों के पास जो व्यक्ति मलोत्सर्ग कर दे उस पर क्रमशः एक–एक पण बढ़ाते हुए दण्ड होना चाहिए।[4] इन स्थानों के समीप मलोत्सर्ग करने पर इसका आधा दण्ड निर्धारित किया गया है।[5] औषधि, रोग, भय आदि के कारण इन स्थानों पर किसी व्यक्ति का मल अथवा मूत्र का त्याग मजबूरी में करना पड़े तो ऐसे व्यक्ति को दण्ड नहीं देना चाहिए।[6]

कौटिल्य ने नगर में मृत बिल्ली, कुत्ता, न्योला और साँप के डालने वाले व्यक्ति पर तीन पण दण्ड निधारित किया गया है।[7] यदि मृत गधा, ऊँट, खच्चर, घोड़े आदि पशुओं को कोई व्यक्ति डाल देता है तो उस पर छः पण दण्ड निर्धारित किया है।[8] यदि कोई व्यक्ति अपने मृतक को नगर में पड़ा सड़ने देता है तो उस व्यक्ति पर पचास पण दण्ड होगा।[9] मृतक को निर्धारित मार्ग से श्मशान को न ले जाने तथा उसको नियत द्वार से न ले जाने वाले व्यक्ति पर पूर्वसाहस दण्ड विधान किया गया है।[10] जो द्वार रक्षक इस प्रकार ले जाते हुए शव को रोकता नहीं है उस पर दो सौ पण का दण्ड निर्धारित किया गया है।[11] श्मशान के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर यदि कोई व्यक्ति शव को जलाता है अथवा भूमि में गाड़ता है तो उस पर बारह पण [12] दण्ड होना

---

1. *पांसुन्यासे रथ्यायामाष्टभागो दण्डः।।* — *अर्थ अधि0 2 अ0 36 वार्ता 30 ।*
2. *पंकोदकसन्निरोधे पादः।।* — *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 31 ।*
3. *राजमार्गे द्विगुणः।।* — *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 32 ।*
4. *पुण्यस्थानोदकस्थानदेषगृहराजपरिग्रहेशु पणोत्तरा विष्टादण्डाः।।* — *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 33 ।*
5. *मूत्रेष्वर्धदण्डाः।।* — *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 34 ।*
6. *भैषज्यध्याधिभयनिमित्तमदण्डयाः।।* — *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 35 ।*
7. *मार्जारश्वनकुलसर्पप्रेतानां नगरस्यान्तरुत्सर्गे त्रिपणो दण्डः।।* — *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 36 ।*
8. *खरोष्ट्राश्वतराश्वपशुप्रेतानां षट्पणः।।* — *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 37 ।*
9. *मनुष्यप्रेतानां प्रजाशत्पणः।।* — *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 38 ।*
10. *मार्ग विपर्यासे शकद्वारादन्यतः शवनिर्णयने पूर्वः साहसदण्डः।।* — *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 39 ।*
11. *द्वाः स्थानां द्विशतम्।।* — *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 40 ।*
12. *श्मशानादन्यत्रन्यासे दहने च द्वादशपणो दण्डः।।* — *अर्थ0 अधि0 2 अ0 36 वार्ता 41 ।*

चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य ने नगर की स्वच्छता एवं नगर निवासियों के स्वास्थ्य लाभ के लिए व्यवस्था की है।

इस प्रकार कौटिल्य ने पुर अथवा नगर में सुशासन की स्थापना हेतु एक योजना व्यक्त की है।

उत्तम जनपद के लक्षण

कौटिल्य ने राज्य की सात प्रकृतियों में से एक प्रकृति जनपद को माना है।[1] महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म ने भी जनपद को राज्य का एक अंग माना है।[2] परन्तु मनु और शुक्र ने जनपद के स्थान में राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया है।[3]

कौटिल्य ने उत्तम जनपद के विशेष लक्षण दिये हैं जो इस प्रकार हैं– जनपद के मध्य और अन्त में दुर्ग होने चाहिए जो आपात्काल में अपने जनपद के निवासियों और बाहर से आने वाले व्यक्तियों के भोजन के लिए पर्याप्त धान्य प्रदान करने की सामर्थ रखता हो। इस जनपद में ऐसी नदियां और ऐसे पर्वत होने चाहिए जिनसे बाहरी आक्रमणकारियों से जनपद की रक्षा भली–भांति हो सकती हो। जहां अल्प परिश्रम से ही अन्न की उपज हो सकती हो। उस जनपद में जनपद के शत्रुओं से द्वेष करने वाली जनता वास करती हो, उसमें शक्ति–सम्पन्न सामन्त होने चाहिए। कीचड़, पत्थर, ऊसर, विषम भूमि, कष्टकश्रेणी, सर्प, मृग आदि जन्तु और वन से रहित नदी और सरोवरों से सम्पन्न, कृषि के योग्य भूमि, खान, उत्तम काष्ठ वाले वनों एवं हस्तवन से संयुक्त, जहाँ की जलवायु गो और मनुष्यों के लिए उपयोगी, सुरक्षित गोचरभूमि से युक्त, पशुओं से सम्पन्न, सारयुक्त, विचित्र वस्तुओं से युक्त, परिश्रमी किसानों से युक्त, दण्ड कर को सहन कर लेने वाला, बुद्धिमान राजा से परिपालित, उत्तम वर्ण के लोगों से आवासित, राजभक्त एवं पवित्र आचरण वाले पुरूषों से युक्त जनपद उत्तम माना गया है और इसी को

---

1. *स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।।* — *अर्थ0, अधि0 6, अ0 1, वार्ता 1 ।*
2. *आत्माऽमात्याश्चकोपाद बदण्डेमित्राणि चैवहि।*
   तथा जन पदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।।
   एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाक्ष्यं प्रयत्नतः।। — *महा0 शा0पर्व, अ0 69, श्लोक 65–66 ।*
3. *स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोषदण्डौ सुहृत्त्था।*
   सप्तप्रकृतह्येताः सप्तांक राज्यमुच्यते।। — *मनुस्मृति, अ0 9, श्लोक 294 ।*
   स्वाम्यमास्यसुहत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च।
   सप्तांगमुच्यते राज्यं............. ।। — *शुक्रनीति0, अ0 1, श्लोक 61 ।*

कौटिल्य ने जनपद सम्पद् नाम से सम्बोधित किया है।[1] इस प्रकार कौटिल्य ने उत्तम जनपद के मुख्य लक्षणों का उल्लेख किया है।

जनपद संघठन

जनपद को बसाये जाने के विषय में कौटिल्य ने मत व्यक्त किया है कि पुराने अथवा नए जनपद के बसाने के लिए राजा को दूसरे जनपद के लोगों को बुलाकर अथवा अपने ही जनपद के प्रान्तों को उलट–पलट कर बसा लेना चाहिए।[2] जनपद की सबसे छोटी बस्ती ग्राम माना है। ग्राम के उपरान्त कौटिल्य शासन की सुविधा हेतु दस ग्रामों के एक छोटे क्षेत्र के बनाने के पक्ष में है। दस ग्रामों के क्षेत्र को संघठित कर उसके मध्य में राजांश के संचय की सुविधा हेतु संग्रहण नाम के स्थान की स्थापना होनी चाहिए।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि संग्रहण नाम का एक कार्यालय होता होगा जहाँ वह ग्रामों से संचित किया हुआ राजांश का संग्रह किया जाता होगा। इसीलिए इस स्थान को कौटिल्य ने संग्रहण नाम से सम्बोधित किया है।

कौटिल्य का मत है कि दस–दस ग्रामों के इस प्रकार संघठित किए गए क्षेत्रों के ऊपर दो–दो सौ ग्रामों को एक सूत्र में गूंथकर एक क्षेत्र का निर्माण करना चाहिए। इस क्षेत्र के मध्य में खरवटक नाम की बस्ती बसानी चाहिए।[4] इस स्थान से इन दो सौ ग्रामों पर शासन किया जाना चाहिए और इन ग्रामों में संचित हुआ राजांश यहीं संग्रहीत होता होगा। इसके उपरान्त चार सौ ग्रामों का संघठन किया जाना चाहिए। इन चार सौ ग्रामों के मध्य में कौटिल्य द्रोणमुख नाम की बस्ती की स्थापना करने की व्यवस्था देते हैं।[5] द्रोण–मुख नाम की बस्ती खरवटक नाम की बस्ती से अवश्य बड़ी रही होगी। इसके उपरान्त आठ सौ ग्रामों के संघठन के लिए कौटिल्य ने आदेश दिया है। इन आठ सौ ग्रामों के बीच में भी एक बस्ती बसायी जानी चाहिए जहाँ से इन ग्रामों पर शासन किया जा सके। इस बस्ती को कौटिल्य स्थानीय नाम से सम्बोधित करते हैं।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य ने जनपद के चार भाग करके एक–एक भाग में स्थानिक

---

1. *मध्ये चान्ते च स्थानवानात्मधारणः ....कर्मशीलकर्शकोऽवालिशस्वाम्यवरवर्णप्रायो भक्तशुचि मनुष्य इति जनपदसंपत्।।* *अर्थ० अधि० 6 अ० 1 वार्ता 8 ।*
2. *भूतपूर्वमभूतपूर्व वा जनपद परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्।।* *अर्थ० अधि० 2 अ० 1 वार्ता 1 ।*
3. *दशग्रामीसंग्रहेण संग्रहणां स्थापयेत्।।* *अर्थ० अधि० 2 अ० 1 वार्ता 4 ।*
4. *द्विशतग्राव्याखार्वटिकं ....स्थापयेत्।।* *अर्थ० अधि० 2 अ० 1 वार्ता 4 ।*
5. *चतुः शतग्राम्याद्रोणमुखं .... स्थापयेत्।।* *अर्थ० अधि० 2 अ० 1 वार्ता 4 ।*
6. *अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं .... स्थापयेत्।।* *अर्थ० अधि० 2 अ० 1 वार्ता 4 ।*

नाम के अध्यक्ष के नियत किए जाने का जो आदेश दिया है उस स्थानिक की राजधानी इसी बस्ती में होती थी। यही स्थानिक जनपद के चौथाई भाग पर शासन करता था और राजांश को अपने अधीन ग्राम से संग्रहीत करवा कर यहाँ संग्रहीत करता था और फिर समाहर्ता के पास भेजा करता था।[1]

कौटिल्य का मत है कि जनपद के सीमान्त पर दुर्ग बनवाने चाहिए जिनमें अन्तपाल नाम के अधिकारी (सीमारक्षक) नियुक्त करने चाहिए।[2] इन अन्तपालों का प्रथम कर्तव्य जनपद के शत्रुओं से जनपद की रक्षा करना है। जनपद में प्रवेश के लिए द्वार निर्धारित हों और वह द्वार इन्हीं अन्तपालों के दुर्गों के पास से होने चाहिए।[3] अन्तपालों के दुर्गों के मध्य जनपद की सीमाओं पर व्याध, शवर, पुलिन्द, चाण्डाल तथा अन्य वनचर जाति के लोगों को बसाकर उन्हें जनपद की सीमाओं की रक्षा का भार सौंप देना चाहिए।[4] इस प्रकार कौटिल्य ने जनपद की रक्षा एवं जनपद में बसने वाले लोगों की विभिन्न बस्तियों की स्थापना की योजना दी है।

मनु और भीष्म ने जनपद (राष्ट्र) के संगठन के विषय में जो योजना दी है उसमें और कौटिल्य द्वारा दी गयी तत्सम्बन्धी योजना में कुछ अन्तर है। मनु और भीष्म दोनों ने ग्राम, दस ग्राम, बीस ग्राम, सौ ग्राम और सहस्र ग्रामों के संगठनों के निर्माण का आदेश दिया है और तद्नुसार इनके क्रमशः ग्रामिक, दश ग्रामाधिपति, विशत्याधिपति, शतग्रामाधिपति वं सहस्रग्रामाधिपतियों की नियुक्ति की व्यवस्था दी है,[5] जो कौटिल्य द्वारा दिये गए जनपद–संघठन सम्बन्धी क्षेत्रों एवं उनके अधिपतियों से कुछ भिन्न है।

ग्राम

कौटिल्य ने ग्राम को जनपद की सबसे छोटी और अंतिम इकाई माना है। उसने ग्राम के आकार, उसके भौगोलिक क्षेत्र तथा उसके प्रशासन का उल्लेख किया है। प्राचीन काल में ग्रामीण प्रशासन राज्य के प्रशासन का महत्वपूर्ण अंग होता था। वस्तुतः ग्राम सम्पूर्ण राज्य की

---

1. *जनपदचतुर्भागं स्थानिकः चिन्येत्।।* — *अर्थ0,अधि0 2, अ0 35, वार्ता 7 ।*
2. *अन्तेष्वन्तपालदुर्गाणि।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 5 ।1*
3. *जनपदद्वाराणयन्तपालाधिष्ठितानि श्थापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 6 ।*
4. *तेषामनतराणिवागुरिकशवरपुलिन्दचणडालारण्यचरा रक्षेयुः।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 7 ।*
5. *ग्रामास्याधिपतिं कुयाद्दशग्रामपतिं तथा विंशतीशं शतेशं च सहस्त्रपतिरेष च ।।*
   मनुस्मृति, अ0 7, श्लोक 115।

   ग्रामत्यस्याधिपतिः कार्यो दशग्राऽयास्तवापरः।
   द्विगुणयाः शतस्यैयं सहस्त्रस्य च कारयेत्।। — *महा0 शा0 पर्व, अ0 87, श्लोक 3 ।*

रीढ़ माना जाता था। प्रत्येक ग्राम का एक मुखिया हुआ करता था। वैदिक साहित्य में उसे 'ग्रामिणी' नामों से पुकारा गया है। कुछ ग्रन्थों में एक ग्राम के लिए कई प्रधानों का भी उल्लेख किया गया है। कई विद्वानों ने इस प्रक़ार के उल्लेख के प्रति शंका व्यक्त की है, ध्यातव्य है कि आज–कल भी ग्राम–पंचायत के अन्तर्गत मुखिया और सरपंच नामक दो पदाधिकारी होते हैं। ग्राम–प्रधान एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी होता था और उसे व्यापक शक्तियाँ प्राप्त थीं। वह ग्राम में शांति–व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी होता था और ग्राम के लोगों से राजस्व संगह करता था। ग्रामीण प्रशासन सम्बन्धी विभिन्न कागजात एवं दस्तावेज उसी के संरक्षण में रहते थे और इसके लिए उसका एक कार्यालय हुआ करता था। गाँवों में ग्रामीण परिषदों के अस्तित्व का उल्लेख अनेक ग्रंथों में मिलता है। कहा जाता है कि ग्राम प्रधान ग्रामीण परिषद की सहायता से गाँवों में शांति–व्यवस्था बनाये रखता था और गाँवों के पारस्परिक विवादों का निपटारा भी करता था। लगभग सभी विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि ग्राम प्रधान का पद अत्यधिक महत्वपूर्ण था और उसका प्रभाव सम्पूर्ण ग्राम पर रहता था।

कौटिल्य ने भी ग्राम प्रशासन के सम्बन्ध में इनसे मिलते–जुलते विचार व्यक्त किये हैं। कौटिल्य ने सर्वप्रथम ग्रामों के बसाने और उसके संगठन को प्राथमिकता दी है। उसके अनुसार ग्रामों के बसाने में उनकी सुरक्षा और कृषि सम्बन्धी सुविधाओं पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। उसने कहा है कि एक या दो कोस के अन्तर पर ग्रामों की स्थापना की जानी चाहिए जिससे वे एक–दूसरे क़ी रक्षा कर सकें। उसके मतानुसार ग्राम में शूद्रों और किसानों की संख्या अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए। इसका हेतु कौटिल्य सम्भवतः यह मानते होंगे कि ग्राम कृषि–प्रधान बस्ती होती है इसलिए इस प्रकार की बस्ती में कृषि कार्य करने वाले एवं इस कार्य से सम्बन्धित अन्य कार्यों के करने वालों तथा उनमें सहायता देने वालों की संख्या का अन्य लोगों की संख्या से अधिक होना ही न्यायसंगत होगा। कौटिल्य के आदर्श ग्राम में कम से कम एक सौ और अधिक से अधिक पांच सौ कुल होने चाहिए।[1] प्रत्येक ग्राम की सीमाएँ निर्धारित होनी चाहिए। नदी, पर्वत, वन, बेर के वृक्ष, खाई, सेतु, सेमर, शमी वट अथवा गूलर आदि वृक्षों के द्वारा ग्राम सीमा निर्धारित कर देना चाहिए।[2]

---

1. *शूद्रकर्षकप्रायं कुक्षशतावरं पश्चशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसोमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत्।।*
अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 2 ।

2. *नदीशैलबलगृष्टिदरीसेतुवन्धशलमलीशमीकीरदुक्षानन्तेषु सीम्नां स्थापयेत्।। अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 3 ।*

ग्राम की सीमा के निर्धारित करने के विषय में मनु ने भी लगभग कौटिल्य के समान ही विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने ग्राम सीमा के निर्धारण के विषय में अपना मत प्रकट किया है कि ग्राम सीमा को बट, पीपल, पलाश, सेमर, शाल तथा अन्य दूधवाले वृक्षों के द्वारा चिन्हित कर देना चाहिए।[1] गुल्म, नाना प्रकार के बांस, शमी, बेलि के स्थल, जलाशय, कुब्ज आदि स्थापित करने चाहिए। जिससे ग्राम सीमाएँ नष्ट न होने पाएँ।[2] तड़ाग, पीने वाले जल की प्राप्ति के उपयुक्त अन्य साधन, बावली, झरने, देवस्थान आदि ग्रामों की सीमा–सन्धि पर बनवा देने चाहिए।[3]

इस प्रकार ग्राम सीमा निर्धारित करने के विषय में कौटिल्य और मनु दोनों के विचार समान हैं।

ग्राम प्रशासन

कौटिल्य ने ग्राम में शासन–व्यवस्था के विधिवत संचालन के लिए ग्रामिक नाम के अधिकारी को नियुक्त करने का मत व्यक्त किया है। कुछ समीक्षकों का यह कहना है कि 'कौटिल्य ने जिस ग्रामिक नामक अधिकारी का उल्लेख किया गया है, वह राजकीय कर्मचारी होता था अथवा जनप्रतिनिधि, इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है। मनु, भीष्म और शुक्र ने राजा द्वारा इस अधिकारी की नियुक्ति की बात कही है, इसलिए यह अनुमान लगाया जाता है कि कौटिल्य का ग्रामिक भी राजकीय कर्मचारी रहा होगा।

कौटिल्य के अनुसार ग्रामिक का पद बड़ा ही महत्वपूर्ण था। उसने यह आदेश दिया है कि यदि ग्रामिक किसी राजकीय कार्य से ग्राम की सीमा से बाहर जाये तो ग्राम के कुछ प्रमुख व्यक्तियों को भी उसके साथ जाना चाहिए।[4] कौटिल्य के कथनानुसार ग्रामिक को ग्रामवृद्धों की सहायता से ग्राम में शासन संचालन का कार्य करना चाहिए। ग्राम में होने वाले सभी प्रकार के विवादों का निपटारा ग्रामवृद्धों की सहायता से ग्रामिक के द्वारा किया जाना चाहिए।[5]

---

1. *सीमावृक्षांश्च कुर्णीत न्यग्रोधाश्यवत्थ किंशुकान्।*
   शाल्मलीन्शखतालांश्च क्षीरिणाश्चैव पादपान्।। — *मनुस्मृति, अ0 8, श्लोक 246 ।*
2. *गुल्मान्वेर्णाश्च विविधाच्छमीबक्लीस्थलानि च ।*
   शाल्मलीन्शालतालांश्च क्षीरिणाश्चैव पादपान्।। — *मनुस्मृति, अ0 8, श्लोक 246 ।*
3. *तडागान्युदपानानिवाप्यः प्रस्रवणानि च। सीमासन्धिषु कार्याणिदेवतायतनानि च ।।*
   मनुस्मृति, अ0 8, श्लोक 248 ।
4. *ग्रामार्थेन ग्रामिकं ब्रजन्तमुपवासाः पर्यायेणानुगच्छेयुरननुगच्छन्तः पणार्धपणिकं योजनं दद्युः ।।*
   अर्थ0, अधि0 3, अ0 10, वार्ता 26।
5. *क्षेत्राविवादं सामन्तग्रामवृद्धाः कुर्युः ।।* — *अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 16।*

कौटिल्य ने ग्रामिक द्वारा ग्राम–वृद्धों की सहायता लेने की अनिवार्यता को स्वीकार करके ग्रामों में लोकतांत्रिक व्यवस्था का संकेत किया है। ग्रामिक की तुलना वर्तमान मुखिया से तथा ग्राम–परिषद की तुलना आधुनिक कार्यसमिति से की जा सकती है। आज भी मुखिया अपनी कार्यकारिणी समिति की सहायता से ग्राम पंचायत में निहित कार्यों का सम्पादन करता है। कौटिल्य ने ग्रामिक को मनमाने ढंग से कार्य करने पर रोक लगाने के लिए उसे दंडित करने का भी प्रावधान किया है।[1]

इस प्रकार ग्राम के शासन का भार ग्रामिक नाम के पदाधिकारी पर आश्रित था और वह ग्राम–वृद्धों की सहायता से ग्राम का शासन करता था।

पंचग्रामी

कौटिल्य ने पंचग्रामी नाम के राजकर्मचारी का भी उल्लेख किया है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने पांच ग्रामों के सामूहिक जीवन को संघठित करने के लिए पाँच–पाँच ग्रामों को एक–एक सूत्र में गूंथ कर जनपद में पाँच–पाँच ग्रामों के शासन क्षेत्रों के निर्माण की भी योजना दी थी। उन्होंने यह आदेश दिया है कि यदि दो अथवा दो से अधिक ग्रामों में पारस्परिक सीमा सम्बन्धी विवाद खड़ा हो जाए तो इस प्रकार के विवाद का निर्णय पंचग्रामी अथवा दशग्रामी नाम के पदाधिकारी को करना चाहिए।[2] इसी प्रकार जनपद में राजांश के संचय हेतु व्यवस्था की स्थापना करते हुए कौटिल्य ने यह आदेश दिया है कि समाहर्ता द्वारा नियुक्त किया हुआ पंचग्रामी अथवा दशग्रामी गोप नाम के पदाधिकारी अपने–अपने अधीन ग्रामों की देख–रेख करते रहें। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि पाँच और दश ग्रामों के सुशासन हेतु पंचग्रामी एवं दशग्रामी गोप नाम के पदाधिकारी होते थे जिनकी नियुक्ति समाहर्ता के परामर्श से राजा द्वारा होती थी।[3]

खार्वटिक

कौटिल्य के मतानुसार दो सौ ग्रामों के मध्य इन ग्रामों के शासन हेतु केन्द्र स्थान होना चाहिए जिसको उन्होंने खार्वटिक नाम से सम्बोधित किया है।[4]

---

1. *ग्रामिकस्य ग्रामादस्तेनपारदारिकं निरस्यश्चतुर्विं शतिपणो दण्डः।। अर्थ0, अधि0 3, अ0 10, वार्ता 27।*
2. *सीमाविवादं ग्रामयोरुभयोः सामन्ताः पन्चग्रामी दशग्रामी वा सेतुभिः स्थवरैः कृत्रिमैर्वा कुर्यात।।*
   अर्थ0, अधि0 3, अ0 9, वार्ता 11।
3. *तत्प्रदिष्टः पन्चग्रामी दशग्रामीं वा गोपश्चिन्तयेत्।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 35, वार्ता 2 ।*
4. *द्विशतग्राम्या खार्वटिकं.............स्थापयेत् ।।* *अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 4 ।*

खार्वटिक के स्वरूप का बोध कराने के लिए अर्थशास्त्र में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। अतः खार्वटिक के वास्तविक स्वरूप के विषय में कुछ भी सप्रमाण नही कहा जा सकता। मार्कण्डेय पुराण में जनपद की विभिनन बस्तियों का उल्लेख करते हुए खार्वटिक का वर्णन दिया गया है। इस वर्णन के आधार पर खार्वटिक उस बस्ती को माना गया है जो खेटक की आधी या पुर की चौथाई हो।[1] यह बस्ती प्राकार और परिधा रहित नगरी बतलायी गयी है।[2] इस प्रकार मार्कण्डेय पुराण के अनुसार खार्वटिक से तात्पर्य उस बस्ती से है जो प्राकार और परिधा रहित हो और पुर की चौथाई बस्ती हो।

द्रोणमुख

खार्वटिक बस्ती के ऊपर इससे अधिक महत्वपूर्ण बस्ती बतलायी गयी है जो चार सौ ग्रामों का शासन केन्द्र थी और जिसको कौटिल्य ने द्रोणमुख नाम से सम्बोधित किया है।[3] द्रोणमुख बस्ती के स्वरूप के विषय में भी कौटिल्य मौन हैं। अतः कौटिल्य के मतानुसार द्रोणमुख का जो भी स्वरूप रहा हो उसको स्थिर नहीं किया जा सकता। परन्तु इतना निश्चित है कि द्रोणमुख नाम की बस्ती खार्वटिक बस्ती से आकार एवं महत्व दोनों की दृष्टि से बड़ी अवश्य रही होगी।

स्थानीय

जनपद में आठ सौ ग्रामों के शासन केन्द्र को कौटिल्य ने स्थानीय नाम से सम्बोधित किया है।[4] इस बस्ती का सबसे बड़ा अधिकारी स्थानिक बताया गया है।[5] कौटिल्य ने बतलाया है कि जनपद के चतुर्यांश की देख–रेख स्थानिक को करनी चाहिए।[6] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थानीय नाम की बस्ती जनपद के चतुर्यांश का शार न–केन्द्र होती थी और जिसका सबसे बड़ा पदाधिकारी स्थानिक होता था।

कौटिल्य ने यह भी व्यवस्था दी है कि जनपद के इन कर्मचारियों को इनकी सेवाओं के लिए वेतन के स्थान में भूमि प्रदान करनी चाहिए। परन्तु उनको इस भूमि (जागीर) के विक्रय

---

1. *तत्पादेन च खर्वटम्।।* — *मार्कण्डेय पुराण, अ0 46, श्लोक 45 ।*
2. *प्राकारपरिखाहोनं पुरम् खर्वटमुच्यते।।* — *मार्कण्डेय पुराण, अ0 46, श्लोक 46।*
3. *वतुः शतग्राम्या द्रोणामुखं.......... स्थापयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 4।*
4. *अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं ....स्थापयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 4।*
5. *x x गोपस्थानिक ....वर्जम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 9।*
6. *एवं च जनपद चतुर्भागं स्थानिकः चिन्डोत्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 35, वार्ता 7।*

एवं गिरवी रखने का अधिकार नहीं दिया गया है। कौटिल्य व्यवस्था देते हैं कि राजा को जनपद में विभिन्न अध्यक्षों एवं सांख्यायिक आदि तथा गोप, स्थानिक, सेनापति (अनीकस्थ), चिकित्सक, अश्वशिक्षक और दूत कर्म करने वाले एवं सैनिक को भी भूमि प्रदान करनी चाहिए। परन्तु उनको इस भूमि के बेचने अथवा गिरवी रखने का अधिकार नही होना चाहिए।[1]

कौटिल्य ने ग्रामीण प्रशासन के लिए एक कार्यालय का भी उल्लेख किया है, जहाँ ग्रामों के संबंध में समस्त प्रकार की सूचनाओं की पंजी रखी जाती थी। कौटिल्य ने कहा कि सम्पूर्ण ग्राम के लिए एक ग्राम पुस्तिका या पंजी रहनी चाहिए, जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार की जमीनों, वनों, वृक्षों, तालाबों व सरोवरों, कुओं, नदियों तथा सिंचाई के साधनों का उल्लेख किया जाना चाहिए। इनके अलावा ग्रामों की आबादी, वहाँ रहने वाले लोगों के लिंग, उम्र, पेशा, व्यवसाय, व्यसन तथा उनके आचरणों की सूचना अंकित रहनी चाहिए। इस प्रकार की पुस्तिका में इस बात का भी संकेत किया जाना चाहिए कि गाँव के लोगों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति कैसी है और कितने लोग समय पर राजांश देने की क्षमता रखते हैं। संक्षेप में ग्राम पुस्तिका के अन्तर्गत गॉव की छोटी से छोटी बातों को अंकित किया जाना चाहिए। इस संबंध में एक विद्वान लेखक ने कहा है कि कौटिल्य ने ग्राम–पुस्तिका के रूप में ग्राम के तथ्यों के संबंध में वृहद निर्देशिका तैयार करने की हिदायत दी थी, जिसके द्वारा शासकों को किसी ग्राम के संबंध में सम्पूर्ण जानकारी हो सके, जिससे ग्राम पर समुचित नियंत्रण रखा जा सके।[2] ग्राम प्रशासन के सभी पदाधिकारी अपने उच्चतर पदाधिकारियों के प्रति उत्तरदायी हुआ करते थे। समाहर्ता और गोप के बीच अधिकारियों की एक बड़ी श्रंखला थी, जिसके माध्यम से केन्द्रीय शासन और ग्रामीण प्रशासन के बीच सम्पर्क सूत्र बना रहता था। कौटिल्य ने संघात्मक शासन व्यवस्था का संकेत तो नहीं किया है, परन्तु अनेक संदर्भों में केन्द्रीय शासन और विभिन्न स्तरों पर संगठित क्षेत्रीय प्रशासनों के बीच समन्वय और पारस्परिक संबंधों का उल्लेख आवश्यक किया है।

कौटिल्य द्वारा वर्णित ग्रामीण प्रशासन की रूप–रेखा निश्चित रूप से आदर्शमूलक कही जा सकती है। ग्रामों में सहयोग और सद्भाव का वातावरण उत्पन्न किया जाता था। अनेक दृष्टियों से ये गाँव स्वायत्त और स्वावलम्बी थे। इन्हीं स्वरूपों को देखते हुए सर चार्ल्स 'मेटकॉफ'

---

1. *अध्यद संख्यायकादिम्यो गोपस्थनिकानीकस्य चिकित्साश्वदमकजङ्घकरिकेभ्यश्च विक्रवाधानवर्जम्।।*
   अर्थ0, अधि0 2, अ0 1, वार्ता 9।

2. *आर0 के0 चौधरी, : कौटिल्याज पॉलिटिकल आयडिया एण्ड इंस्टीट्यूशन ,पृ0–192*

ने कहा है कि "प्राचीन भारत के ये ग्रामीण समुदाय स्वायत्त और स्वावलम्बी थे और लघु गणतंत्रों के रूप में काम करते थे।" चीनी पर्यटक ह्वैनसाँग और फॉहियान ने भी इन ग्रामीण गणतंत्रों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। मेगस्थनीज ने भी कहा है कि प्राचीन भारत में ग्रामीण प्रशासन के अन्तर्गत लोकवाणी को बहुत ही महत्वपूर्ण माना जाता था।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में प्रशासनिक संगठन का आधार विकेन्द्रीकरण और लोकतंत्र था। कौटिल्य ने यद्यपि स्वामी को सर्वोपरि माना है, किन्तु उसने स्वामी को जनहित की उपेक्षा न करने के कठोर निर्देश दिये हैं।

लोकतन्त्रात्मक राज्य

कौटिल्य नृपतन्त्रात्मक राज्य के पोषक थे। उनके जीवन का उद्देश्य समस्त भारत में एक सशक्त एवं सम्पूर्ण राज्य का निर्माण करना था। वह लोकतन्त्रात्मक राज्यों को श्रेष्ठ नहीं समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने लोकतन्त्रात्मक राज्य एवं उनकी सरकारों की उपेक्षा की है। परन्तु इतना होने पर भी उन्हें यह तो स्वीकार करना ही पड़ा है 'कि अर्थशास्त्र के रचनाकाल एवं उसके पूर्व भारत में कुछ ऐसे भी राज्य थे जिनमें लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर शासन कार्य सम्पादित होता था।'

युनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी अपनी "इण्डिका" नाम की पुस्तिक में ऐसे उल्लेख किये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उसके समय में भारत में गणराज्य भी अस्तित्व में थे।

वैराज्य

कौटिल्य ने द्वैराज्य और वैराज्य के विशेष लक्षणों का उल्लेख किया गया है। इन दोनों प्रकार के राज्यों में किस राज्य को श्रेष्ठ माना जाए इस विषय में कौटिल्य ने अपने से पूर्व के कतिपय आचार्यों के मत उद्घृत करते हुए अपना मत स्पष्ट किया है। इन मतों का गंभीरतापूर्वक अध्ययन एवं विश्लेषण करने के उपरान्त इन राज्यों के वास्तविक स्वरूप को स्थिर करना सुगम हो जाता है। कौटिल्य अन्य आचार्यों के मत उद्घृत करते हुए लिखते हैं कि द्वैराज्य और वैराज्य में द्वैराज्य शीघ्र नष्ट हो जाता है क्योंकि एक ही राज्य में दो राजा होने से उन दोनों पक्षों में पारम्परिक राग-द्वेष से अथवा पारस्परिक संघर्ष के कारण द्वैराज्य शीघ्र नाश को प्राप्त होता है।[1]

---

1. *द्वैराज्यवैराज्योद्वै राज्यमन्योन्यक्षद्वै षानुरागाभ्यां परस्परसंघर्षेण वा विनश्यति।।*

अर्थ0, अधि0 8, अ0 2, वार्ता 6 ।

परन्तु वैराज्य प्रजा के चित्त के अनुकूल चलता हुआ सबके भोगने योग्य होता है।[1]

इन आचार्यों के वैराज्य सम्बन्धी विचारों की भली–भाँति विवेचना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वैराज्य राजारहित राज्य थे। वैराज्य शब्द अराजकता के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त नहीं हुआ है, क्योंकि अराजकता में प्रजा में सुख और शान्ति नहीं रहती। अराजकता लोकप्रिय नहीं हो सकती। अराजक भूभाग में राज्य नहीं होता।[2] परन्तु इस प्रसंग में दो प्रकार के राज्यों की तुलना की गयी है और तुलना करते हुए इन आचार्यों ने वैराज्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उन्होंने वैराज्य को श्रेष्ठ राज्य इस हेतु बतलाया है कि ऐसा राज्य जनता के चित्त के अनुकूल होता है। इस दृष्टि से वैराज्य राजा रहित, लोकप्रिय, समस्त जनता के उपभोग की क्षमता रखने वाला राज्य था। दूसरे शब्दों में इस राज्य में राज्य की संप्रभुता का निवास जनता मे निहित होता है। इस प्रकार ऐसे राज्यों को लोकसत्तात्मक अथवा लोकतन्त्रात्मक राज्य कहना न्यायसंगत ही होगा, क्योंकि इस प्रकार के राज्यों में राजसत्ता अथवा राज्य की प्रभुसत्ता का भोग केवल व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्तिसमूह विशेष को प्राप्त नही था, अपितु राज्य के समस्त निवासी उसके भोगने का अधिकार रखते थे। ऐसी परिस्थिति में यह मानना ही पड़ेगा कि कौटिल्य ने जिस वैराज्य का उल्लेख किया गया है वह लोकतन्त्रात्मक राज्य था और वह नृपतन्त्रात्मक राज्यों से नितान्त भिन्न था।[3]

कौटिल्य ने इन आचार्यों के मतों का खण्डन करते हुए अपने मत की पुष्टि इस प्रकार की है–द्वैराज्य की कलह पिता–पुत्र अथवा दो भाइयों के मध्य होती है। यह कला एक ही कुल की होने के कारण इनका एक ही स्वार्थ होता है इसलिए मंत्रियों के द्वारा इसका शीघ्र निर्णय किया जा सकता है।[4] वैराज्य को समग्ररूप में छीन कर विजयी राजा अपना न मानकर क्षीण कर देता है और अपने राज्य में सम्मिलित कर लेता है।[5] अथवा उसको विक्रय कर देता है।[6] यदि इस राज्य (वैराज्य) के निवासी विरक्त हो गए तो वह ऐसे राज्य को त्याग कर चला जाता है।[7]

---

1. *वैराज्यं तु प्रकृति चित्तग्रहण पेक्षि यथास्थितमन्यैर्भुज्यत इत्याचार्याः।। अर्थ0, अधि0 8, अ0 2, वार्ता 7 ।*
2. *अराजकं हि नो राष्ट्रम्।। अयोध्या काण्ड, अ0 67, श्लोक 8 ।*
3. *नेति कौटल्यः।। अर्थ0, अधि0 8, अ0 2, वार्ता 8 ।*
4. *पितापुत्रयोर्भ्रात्रोर्वा द्वैराज्यं तुल्ययोगक्षेममाल्यावग्रहं वर्तयेतेति।। अर्थ, अधि0 8, अ0 2, वार्ता 9 ।*
5. *वैराज्ये तु जीवतः परस्याच्छिद्य नैतन्ममेति मन्यमानः कर्शयत्यपवाहयति।। अर्थ0, अधि0 8, अ0 2, वार्ता 10।*
6. *पण्यं वा करोति।। अर्थ0, अधि0 8, अ0 2, वार्ता 11 ।*
7. *विरक्तं वा परिस्यज्यापगच्छतीति।। अर्थ0, अधि0 8, अ0 2, वार्त्रा 12 ।*

उपर्युक्त कथन से यह ज्ञात होता है कि द्वैराज्य एक ही कुटुम्ब के दो व्यक्तियों द्वारा शासित राज्य होते थे। चाहे वह व्यक्ति पिता–पुत्र हों अथवा भाई–भाई जिनके मध्य होने वाली कलह कोटुम्बिक कलह होने के कारण उनके मंत्रियों के द्वारा सरलतापूर्वक निपटायी जा सकती थी। ऐसे राज्यों पर बाह्य शत्रुओं के द्वारा इतनी सरलतापूर्वक विजय प्राप्त नहीं की जा सकती थी। जितनी सरलता से वैराज्यों पर विजय प्राप्त की जा सकती थी। कौटिल्य के अनुसार विजेता राजा वैराज्य को अपना नहीं समझता था। यह कथन इस सिद्धान्त की स्थापना करता है कि वैराज्य नृपतन्त्रात्मक राज्य से भिन्न राज्य होता था। अतः विजेता राजा वैराज्य को अपना न समझकर उस राज्य को क्षीण कर देता था अर्थात् उसके साथ कूरता का व्यवहार करता था, कौटिल्य का यह कथन स्वाभाविक है। दो असमान सिद्धान्तों के आधार पर संघठित किए जाने वाले राज्यों में इस प्रकार का व्यवहार होना चाहिए। विजेता राजा यह प्रयत्न करता ही है कि विजित राज्य में उसी प्रकार की शासन प्रणाली स्थापित की जानी चाहिए जैसी कि विजेता राजा के राज्य में प्रचलित होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त वह विजित राज्य के प्रति कूरता–पूर्ण व्यवहार भी करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है।

आधुनिक युग में यूरोप में सबसे बड़ी समस्या यही रही है। विश्व का प्रत्येक राज्य इस ओर निरन्तर प्रयत्नशील दिखलायी पडता है कि विश्व के विभिन्न भूभागों में ऐसे राज्यों की स्थापना होनी चाहिए जो कि शासन प्रणाली की दृष्टि से समान हो। इसी उद्देश्य के लिए विश्वव्यापी महायुद्ध भी होते रहे हैं। संयुक्त राज्य अमरीका और साम्यवादी रूस के मध्य जो आज पारस्परिक प्रतिद्वन्द्वता एवं कलह के चिन्ह दिखलायी पड़ रहे हैं उसका मूल कारण यही है कि इन दोनों राज्यों के मूल सिद्धान्तों में असमानता है।

इसलिए कौटिल्य के उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि वैराज्य नृपतन्त्रात्मक राज्यों से भिन्न राज्य अवश्य रहे होंगे। इस विषय में कौटिल्य दूसरी बात यह कहते हैं कि इस प्रकार के राज्यों (वैराज्यों) को विजेता राजा अपने राज्य में सम्मिलित कर लेता है। परन्तु कौटिल्य ने पराजित राजा के प्रति विजेता राजा का कैसा व्यवहार होना चाहिए इस विषय में अपना मत प्रकट करते हुए इस प्रकार लिखा है कि पराजित राजा की भूमि, द्रव्य, पुत्र और स्त्रियों पर विजेता राजा को कभी अधिकार नहीं करना चाहिए किन्तु पराजित राजा के वंशजों को उनकी योग्यता के अनुसार उचित पद पर नियुक्त कर देना चाहिए। यदि शत्रु युद्ध में राजा मारा जाए

तो उस राजा के पुत्र को ही उसके राज्य पर आसीन कर देना चाहिए।[1] परन्तु कौटिल्य के इन दोनों मतों में बहुत अन्तर है। इसका समाधान तभी हो सकता है जबकि ऐसा मान लिया जाए कि वैराज्य लोकतंत्रात्मक राज्य थे अन्यथा कौटिल्य इन राज्यों को विजेता राजा के राज्य में सम्मिलित करने का आदेश कदापि न देते।

वैराज्य के विषय में कौटिल्य तीसरी विशेष बात यह बतलाते हैं कि इन राज्यों की जनता को विजेता राजा के प्रति विरक्त हो जाने की भी संभावना रहती थी और उनकी यह वृत्ति इस पराकाष्ठा तक भी पहुँच जाती थी कि उन पर विजेता राजा द्वारा शासन किया जाना असंभव हो जाता था। इसका परिणाम यह होता था कि इस राज्य के लोगों को विजेता राजा अपने नियंत्रण में ले आने में असमर्थ समझकर उसको इस पराजित राज्य को त्याग कर चले जाने के लिए विवश हो जाना पड़ता था। इस वर्णन से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि वैराज्य लोकतंत्रात्मक राज्य थे जिनमें राज्य की प्रभुता राज्य के निवासियों के अधीन थी और वहाँ के निवासी नृपतन्त्रात्मक राज्यों के नितान्त विरोधी थे।

इस प्रकार इस सिद्धान्त की स्थापना हो जाती है कि कौटिल्य के समय में कुछ ऐसे राज्य अवश्य रहे होंगे जो जनतन्त्रात्मक शासन सिद्धान्त के आधार पर संघठित एवं संचालित थे और जिनको उन्होंने सम्मान की भावना से न देखकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। इन राज्यों के प्रति कौटिल्य द्वारा इस प्रकार का व्यवहार उचित ही था क्योंकि वह लोकतंत्रात्मक राज्यों के पोषक न थे। साम्राज्यवादी प्रत्येक व्यक्ति लोकतन्त्रात्मक राज्यों के प्रति स्वाभाविक रूप से इसी प्रकार का व्यवहार करेगा इसमें किचिंत मात्र भी सन्देह नहीं होना चाहिए।

वैराज्य शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर भी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। वैराज्य संस्कृत के विराज शब्द से बना है जो "वि" और "राज" इन दो शब्दों का संयोग है। 'वि' उपसर्ग है जिसका अर्थ यहाँ "विगत" है । इस प्रकार वैराज्य की व्युत्पत्ति "विगत राजकं वैराज्यं" होगी जिसके अनुसार वैराज्य वह राज्य होगा जिसमें राजा नहीं होगा। इस प्रकार संस्कृत भाषा के व्याकरण शास्त्र के अनुसार वैराज्य को राजा रहित राज्य के अर्थ में लेना न्यायसंगत होगा।

---

1. *न च हतस्य भूमिद्रव्य पुत्रदारानभिमन्यते।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 42 ।*
   कुल्यानप्यस्य स्वेषु पात्रेषु स्थापयेत्।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 43 ।*
   कर्मणि मृतस्य पुत्रं राज्ये स्थापयेत्।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 44 ।*

महाभारत में भी वैराज्य को एक विशेष प्रकार का राज्य माना है जिसका अधिपति राजा नहीं होता।'[1]

ऐतरेय ब्राह्मण में भी वैराज्य को एक विशेष प्रकार का राज्य बताया गया है और वह नृपतन्त्रात्मक राज्य से नितान्त भिन्न माना गया है।[2]

इस प्रकार हमारा यह दृढ़ अभिमत है कि वैराज्य लोकतन्त्रात्मक राज्यों में एक विशेष प्रकार के राज्य थे जिनकी आधुनिक युगीन प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक राज्य की धारणा से समानता की जा सकती है।

संघनीति

कौटिल्य ने वैराज्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार के लोक–तंत्रात्मक राज्यों का भी उल्लेख किया है। इन राज्यों के विषय में उल्लेख करते हुए उन्होंने संघनीति पर विशेष प्रकाश डाला है।

प्रत्येक राज्य के समक्ष सर्वाधिक जटिल समस्या उसकी रक्षा का प्रश्न होता है। इस समस्या को सफलतापूर्वक सुलझाने के लिए राज्य को अनेक प्रकार की शक्तियों का संचय करना आवश्यक होता है। इन शक्तियों में सैन्यबल और मित्रबल का प्रमुख स्थान है।

परन्तु कौटिल्य उपर्युक्त मान्यता में आस्था नही रखते हैं। उन्होंने सैन्यबल और मित्रबल की अपेक्षा संघलाभ को अधिक उपयोगी माना है।[3] उनका मत है कि जो राज्य संघवृत्त नियम के आधार पर संघठित होकर संघ बना लेते हैं उनका संघठन स्थायी होता है और वह शत्रु द्वारा दबाये नहीं जा सकते।[4]

उन्होंने संघवृत्त सिद्धान्त के आधार पर संघठित राज्यों के लिए साम और दाम की व्यवस्था दी है।[5] संघवृत्त सिद्धान्त के आधार पर संघठित राज्यों में शान्ति और उदारता का व्यवहार होना चाहिए। ऐसे राज्यों में एक दूसरे को समझा बुझाकर एवं पारस्परिक सहयोग की नीति का पालन कर कार्य करना चाहिए। यदि संघ में किसी प्रकार भेद उत्पन्न हो जाय तो ऐसी दशा में कौटिल्य के मत से दण्ड और भेद नीति का आश्रय लेना उचित होता है।[6]

---

1. *न वैराज्यं न राजा असीन्न न च दण्डः न दण्डिकः।।* — *शा० पर्व, अ० 59, श्लोक 14 ।*
2. *तानहमनु राज्याय साम्राश्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय............।। ऐतरेय ब्राह्मण।*
3. *संघलाभो दण्डमित्रलमामानामुत्तमः।।* — *अर्थ०, अधि० 11, अ० 1, वार्ता 1 ।*
4. *संघा हि संहतत्वाधृष्याः परेषाम्।।* — *अर्थ०, अधि० 11, अ० 1, वार्ता 2 ।*
5. *ताननुगुणान्भुञ्जीत सामदानाभ्याम्।।* — *अर्थ०, अधि० 11,अ० 1, वार्ता 3 ।*
6. *विगुणान्भेददण्डाभ्याम्।।* — *अर्थ०, अधि० 11, अ० 1, वार्ता 4 ।*

कौटिल्य के इस कथन से ऐसा विदित होता है कि वह ऐसे अवसरों पर संघवृत्त सिद्धान्त के आधार पर संघठित राज्यों में भेद उत्पन्न कर संघ से वियुक्त होने की इच्छा रखने वाले राज्यों को संघठित न होने दें। इस प्रकार की व्यवस्था देखकर संघ से वियुक्त होने वाला राज्य अपने को असहाय समझकर पुनः उसी संघ में संयुक्त रहने के लिए बाध्य हो जाएगा। यदि वियुक्त होने वाला राज्य संघ–नियम को तोड़ता है और भेद नीति से भी वह संघ नियम के पालन करने में असमर्थता प्रकट करता हुआ संघविच्छेद करता है तो ऐसी दशा में संघ के अन्य राज्य उसे दण्डित करें और उसे संघ के नियम पालन करने के लिए विवश करें। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से कौटिल्य ने भेद और दण्डनीति का विधान इस प्रकार के संघराज्यों के लिए किया है।

संघराज्य

कौटिल्य के समय में राज्यों के कतिपय संघ अस्तित्व में थे। जो राज्य इन संघराज्यों में संघीभूत हुए थे वह क्षेत्र की दृष्टि से बहुत छोटे थे। इनके समक्ष सर्वाधिक गहन समस्या इनकी रक्षा का प्रश्न था। इनमें से कुछ राज्यों ने अपनी रक्षा सम्बन्धी इस गहन समस्या को संघवृत्तनीति को अपनाकर सुलझाने का प्रयत्न किया था। कौटिल्य ने इस प्रकार के संघों की ओर संकेत किया गया है। इनमें से कुछ ऐसे संघ थे जिनमें वह गणराज्य सम्मिलित थे जिनकी जनता कृषि और व्यापार एवं शस्त्रों के द्वारा अपना जीविकोपार्जन करती थी। सम्भव है इन राज्यों की जनता को नैतिक शिक्षा की प्राप्ति अनिवार्य रही होगी, क्योंकि छोटे राज्यों की रक्षा के लिए यह सम्भव नहीं कि वह इतनी बड़ी सेना राज्य की ओर से रख सकें जिसके द्वारा वह बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकते। ऐसी परिस्थिति में सबसे सुगम साधन यही सम्भव था कि ऐसे राज्यों में राज्य की ओर से ऐसी व्यवस्था की जाती थी कि राज्य के प्रत्येक वयस्क व्यक्ति के लिए सैनिक शिक्षा की प्राप्ति अनिवार्य कर दी जाती जिससे समय पड़ने पर राज्य का प्रत्येक नागरिक अपने राज्य की रक्षा के निमित्त सन्नद्ध रहता। ऐसे राज्यों में स्थायी सेना नाम के लिए ही होती होगी। युद्ध काल में समस्त नागरिक सैनिक रूप में परिणत होकर अपने राज्य की रक्षा के लिए कटिबद्ध होकर रणक्षेत्र में उपस्थित हो जाते होंगे।

यूनान देश के सुप्रसिद्ध वीर योद्धा सिकन्दर महान को भारत में आक्रमण करते समय कई ऐसे राज्यों से युद्ध करना पड़ा था जहाँ राज्य के नागरिकों ने युद्धस्थल में सिकन्दर के वीर सिपाहियों के दाँत खट्टे कर दिए थे। इस प्रकार के राज्यों का उदाहरण देते हुए कौटिल्य ने

चार राज्यों के नाम प्रकाशित किये हैं। यह काम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय और श्रेणी नाम के राज्य थे, जिनको कौटिल्य ने शस्त्रोपजीवि संघ के अन्तर्गत परिगणित किया है।[1] ऐसा ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र में वर्णित यह शस्त्रोपजीवि संघ पाणिनि के वाहीक देश में स्थित आयुधजीवि संघों के समान ही थे जिनमें प्रत्येक वयस्क नागरिक को सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप से प्राप्त करनी पड़ती थी।

(क) काम्बोज

अर्थशास्त्र में काम्बोज राज्य शस्त्रोपजीवि संघ के अन्तर्गत माना गया है। पाणिनि ने भी 'अष्टाध्यायी' ग्रन्थ में कतिपय देशों एवं क्षत्रियपरक शब्दों के अन्त में प्रत्यय लगाकर उन देशों अथवा क्षत्रिय जाति से सम्बन्धित शब्दों के बनाने के नियमों को बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि काम्बोज शब्द में प्रत्यय कालुक हो जाने से कोम्बोजाः एवं कम्बोजः दो शब्द समान अर्थबोधक प्राप्त होते हैं।[2] परन्तु इतने संकेत मात्र से यह स्पष्ट नहीं होता कि काम्बोज राज्य किस प्रकार के शासन विधान के अनुसार शासित होता था। परन्तु इस ग्रन्थ में पाणिंनि ने यह व्यवस्था दी है कि गण और संघ शब्द पर्यायवाची हैं।[3] इससे यह सिद्ध हो चुका है कि गणराज्य लोकतंत्र राज्य में जिनमें राज्य के नागरिकों के प्रतिनिधियों द्वारा शासन होता था और यह राज्य नृपतंत्रात्मक राज्य से नितान्त भिन्न था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कौटिल्य ने जिन गण राज्यों का यहां उल्लेख किया है वह भी गणराज्य ही थे। इसलिए काम्बोज, सुराष्ट्र आदि संघराज्य गणराज्य ही रहे होंगे।

महाभारत में भी काम्बोज राज्य को गण राज्य बतलाया गया है।[4] महाभारत के अनुसार परमकाम्बोज नाम का एक और गणराज्य था।[5] यह दोनों राज्य महाराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के अवसर पर अर्जुन के द्वारा पराजित होकर युधिष्ठिर के अधीन करद–राज्य बनाए गए थे।

---

1. *काम्बोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेष्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः।।* — *अर्थ0, अधि0 11, अ0 1, वार्ता 5 ।*
2. *काम्बोजाल्लुक।।* — *अष्टाध्यायी, पाद 4, अ0 1, सूत्र 175 ।*
3. *सङ्घोद्धौगण प्रशंसयोः।।* — *अष्टाध्यायी, पाद 3, अ0 3, सूत्र 86 ।*
5. *गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः। दरदान्सह काम्बोजैरजयत्पाकशासनिः।।* — *महा0 सभापर्व, अ0 27, श्लोक 23 ।*
6. *लोहाम्परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि। सहितांस्ताम्महाराज व्यजयत्पाकशासनिः।।* — *महा0 सभापर्व, अ0 27, श्लोक 25 ।*

सम्राट अशोक के शिलालेखों के अवलोकन करने से भी ज्ञात होता है कि उनके समय में काम्बोज नाम का एक गणराज्य था, जो गान्धार राज्य के समीप, आधुनिक, अफगानिस्तान के पूर्वी भाग में स्थित था।

(ख) सुराष्ट्र

कौटिल्य ने सुराष्ट्र राज्य को भी शस्त्रोपजीवि संघ के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। यह राज्य आधुनिक गुजरात प्रान्त में था। गुजरात प्रान्त का कुछ भूभाग ऐसा है जो इस समय भी सुरठ कहलाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि सुरठ सुराष्ट्र का ही अपभ्रंश है और कौटिल्य द्वारा इंगित सुराष्ट्र गणराज्य इसी भूभाग में स्थित रहा होगा।

(ग) क्षत्रिय

क्षत्रिय राज्य भी एक गणराज्य था जिसको अर्थशास्त्र में शस्त्रोपजीवि संघ के अन्तर्गत माना है। इस राज्य के निवासी अनिवार्य रूप से सैनिक शिक्षा प्राप्त करते थे। यह राज्य आधुनिक सिन्ध प्रान्त में था।

यूनानी लेखकों ने क्षत्रिय राज्य को क्षतरोई नाम से सम्बोधित किया है। इस राज्य के नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के निवासी बहुसंख्यक क्षत्रिय रहे होंगे। इसीलिए आचार्य कौटिल्य ने इस राज्य को क्षत्रिय राज्य के नाम से सम्बोधित किया है।

(घ) श्रेणी

श्रेणी नाम का एक गणराज्य था। यह भी सिन्ध प्रान्त में था। यूनानी लेखकों ने अग्रश्रेणी नाम के राज्य की ओर संकेत किया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अग्रश्रेणी को ही कौटिल्य ने श्रेणी राज्य के नाम से पुकारा है अथवा श्रेणी राज्य इसी अंग्रश्रेणी राज्य के आस–पास कहीं स्थित रहा होगा। कौटिल्य ने श्रेणी राज्य को भी शस्त्रोपजीवि संघ के अन्तर्गत परिगणित किया है।

राजशब्दोपजीवि संघ

शस्त्रोपजीवि संघ राज्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य संघराज्य थे जिनको राजशब्दोपजीवि संघ के नाम से सम्बोधित किया है। यह संघ उन राज्यों के संघीभूत होने से बने थे जो शस्त्रोपजीवि गणराज्यों से भिन्न थे। यहाँ के निवासियों के लिए सैनिक शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य न था। इन राज्यों में स्थायी सेना होती थी। कौटिल्य द्वारा वर्णित राजशब्दोपजीवि संघ

में कई गणराज्य सम्मिलित थे जो इस प्रकार हैं–

(क) लिच्छिवि

कौटिल्य ने राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत जो राज्य सम्मिलित किए हैं इनमें लिच्छिवि भी एक राज्य था। बौद्ध एवं जैन साहित्य में इस राज्य का उल्लेख है। बौद्ध और जैन साहित्य में लिच्छिवि राज्य को गणराज्य के रूप में वर्णित किया गया है। इस राज्य के विषय में बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में ऐसा वर्णन प्राप्त है कि इस राज्य के समस्त नागरिक राज्य की प्रभुता का भोग करते थे और राज्य के शासन सम्बन्धी कार्यों में भाग लेने का अधिकार रखते थे। इस राज्य में एक सभा होती थी जिसके द्वारा राज्य का शासन कार्य सम्पादित होता था। इस सभा का एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होता था जो क्रमशःराजा और उपराजा कहलाते थे। यह राज्य चिरकाल तक गणराज्य के रूप में ही संचालित होता रहा। गुप्त साम्राज्य के उदय काल में लिच्छिवि राज्य ने गुप्तराज्य के विकास में बड़ी सहायता की थी। लिच्छिवि राज्य ने गुप्त राज्य के नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर गुप्तराज्य के विकास में बड़ी सहायता दी थी। कुछ समय के उपरान्त लिच्छिवि राज्य गुप्त साम्राज्य का ही एक अंग बन गया था। अतः लिच्छिवि गणराज्य का अस्तित्व गुप्त काल में विलुप्त हो गया।

(ख) वृजि

कौटिल्य ने वृजिक (वृजि) राजा को राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत परिगणित किया है।[1] पाणिनि ने भी वृजिक राज्य को आयुधजीवि संघ के बाहर ही माना है। पाणिनि ने वृजि शब्द के अन्त में कन प्रत्यय को जोड़कर वृजिक शब्द की उत्पत्ति बतलायी है।[2] इस प्रकार पाणिनि का वृजिक संघ और कौटिल्य के वृजिक संघ एक ही रूप में वर्णित किये गये हैं। इन घटनाओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि कौटिल्य द्वारा वर्णित वृजिक राज्य गणराज्य था।

(ग) मद्र

'अर्थशास्त्र' के रचनाकाल में मद्र राज्य भी एक गणराज्य था। यह राज्य भी राजशब्दोपजीवि संघ में सम्मिलित किया गया है। पाणिनि ने भी ऐसे विचार व्यक्त कर मद्र राज्य को आयुधजीवि संघ से बाहर माना है। उन्होंने मद्र शब्द में कन प्रत्यय लगाकर मद्रक शब्द की

---

1. *लिच्छिविक..........राजशब्दापजीविनः।।* — *अर्थ0, अधि0 11, अ0 1, वार्ता 6 ।*
2. *मद्रक वृज्योःकन्।।* — *अष्टध्यायी, पाद 4, अ0 2, सूत्र 131 ।*

उत्पत्ति बतलायी है।[1] कौटिल्य ने भी इस राज्य का यही रूप प्राप्त है। इससे विदित होता है कि मद्रक राज्य भी कौटिल्य के समय में गणराज्य था।

(घ) मल्ल

मल्ल राज्य को भी अर्थशास्त्र में राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत माना है। पाणिनि ने भी इसी सिद्धान्त की ओर संकेत किया है। काशिका में पाणिनि के आयुधजीवि संघों की व्याख्या की गयी है। काशिकाकार ने पाणिनि के आयुधजीवि संघ राज्यों की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि अमुक सूत्र मल्लक शब्द पर लागू नहीं होता जिसका तात्पर्य यह है कि मल्ल राज्य पाणिनि के आयुधजीवि संघ के बाहर था। बौद्ध और जैन साहित्य में मल्लक का वर्णन गणराज्य के रूप में प्राप्त है। बौद्धकाल में मल्ल एक प्रसिद्ध गणराज्य था।

(ड.) कुकुर

कुकुर राज्य को भी कौटिल्य ने राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत वर्णित किया है। महाभारत में भी कुकुर राज्य का उल्लेख है। अन्धक, वृष्णि, भोज, यादव और कुंकुर इन पाँच गणराज्यों का एक संघ था और जो प्रभास देश में स्थित है। प्रभास देश आधुनिक गुजरात प्रान्त में था।[2] इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि यह पाँचों गणराज्य भी राजशब्दोपजीवि कोटि के अन्तर्गत संघठित थे।

(च) कुरु

कौटिल्य ने कुरु राज्य को भी राजशस्त्रोपजीवि संघों की श्रेणी में ही परिगणित किया है। पाणिंनि ने भी अपने एक सूत्र में कुरु राज्य की ओर संकेत किया है।[3] परन्तु यह सूत्र इस विषय पर लेश मात्र भी प्रकाश नहीं डालता कि कुरु राज्य पाणिनि के समय में नृपतन्त्रात्मक राज्य था अथवा गणराज्य। महाभारत में कुरु राज्य नृपतन्त्रात्मक राज्य माना गया है। विष्णु पुराण में कुरुवंश की तालिका दी गयी है जिसके अनुसार पिता के उपरान्त उसका पुत्र ही राजा बनाया गया था। बौद्धकाल में कुरु वंश महत्वपूर्ण वंश नहीं माना गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धकाल में कुरुवंश निर्बल हो गया होगा और उसके कुछ समय के पश्चात् कुरु राज्य

---

1. *मद्रकवृज्योःकन्।।* — *अष्टध्यायी, पाद 4, अ0 2, सूत्र 131 ।*
2. *यादवाः कुकुराः भोजाः सर्वे च अन्धक वृष्णायः।*
   त्वयासच्च महावाहो लोका लोकेश्वराश्च।। — *महा0शान्ति पर्व, अ0 81, श्लोक 30 ।*
2. *ऋष्यन्धकवृष्णि कुरूम्यश्च।।* — *अष्टाध्यायी, पाद 4, अ0 1, सूत्र 114 ।*

गणराज्य में परिगणित हो गया होगा और जो कौटिल्य के समय में गणराज्य के रूप में चल रहा होगा।

(छ) पांचाल

कौटिल्य ने पांचाल राज्य को भी राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत माना है। महाभारत में पांचाल राज्य को नृपन्त्रात्मक कोटि के राज्यों में परिगणित किया गया है। ऐसा विदित होता है कि कौटिल्य के समय में पांचाल गणराज्य में बदल गया होगा।

इस प्रकार कौटिल्य ने ग्यारह गणराज्यों की ओर संकेत किया है जिनमें प्रथम चार राज्यों को शस्त्रोपजीवि संघ और शेष सात राज्यों को राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। इसके अतिरिक्त दोनों प्रकार के संघों के अन्त में आदि शब्द का प्रयोग किया गया है जो इस ओर संकेत करता है कि इन राज्यों के अतिरिक्त अन्य गणराज्य भी थे जो इन्हीं संघों की श्रेणी में परिगणित किये जाते होंगे।

अध्याय दशम्

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, युद्ध एवं सैन्य प्रशासन

अध्याय दशम्

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, युद्ध एवं सैन्य प्रशासन

भारत के प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में हिन्दू शासकों ने न केवल राज्य की विधि–व्यवस्था को सुदृढ़ और सशक्त बनाने का प्रयास किया था, वरन् दूसरे राज्यों के साथ उत्तम एवं मित्रवत् सम्बन्ध बनाने की भी नीति अपनायी थी। इसके लिये विभिन्न प्रकार की कूटनीतियों और सम्बन्धों की स्थापना की जाती थी।

बिजिगीषु राजा अपने को सुरक्षित और सशक्त बनाने के लिये विभिन्न राज्यों के साथ पारस्परिक सम्बन्ध बनाये रखता था। अपने समीपस्थ फैले हुए राज्यों के साथ उसके पृथक–पृथक सम्बन्ध होते थे। अपनी शक्ति तथा साम्राज्य को बढ़ाने के लिए वह अश्वमेघ यज्ञ करता था। अश्वमेघ यज्ञ द्वारा बिजिगीषु राजा अपने चारों ओर राज्यों के पास अपनी राज्य पताका के साथ अश्वारोहियों को भेजता था और सभी राज्यों से विजय पताका लहराते हुए उसके अश्व एवं उसके अश्वारोही सेना लौट आती थी तो वह चक्रवर्ती राजा मान लिया जाता था। किसी राज्य द्वारा विरोध होने की स्थिति में उसके साथ युद्ध किया जाता था। युद्ध का प्रयोग अंतिम शस्त्र के रूप में किया जाता था।

स्मृतियों में इस तथ्य का स्पष्ट संकेत मिलता है कि जब कोई राजा यह अनुभव करता हो कि उसकी सेना शत्रु राज्यों की अपेक्षा अधिक बलवान और उत्साही है तो वह युद्ध की घोषणा कर देता था।[1] कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जब युद्ध को त्यागकर शांति संदेश के द्वारा राज्यों के साथ मित्रवत सम्बन्ध स्थापित किये जाते थे। सम्राट अशोक ने राजकुमार महेन्द्र और राजकुमारी संघमित्रा को शांति दूतों के रूप में विभिन्न देशों के साथ मित्रवत एवं सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिए भेजा था। ऐसे उदाहरण अपवाद स्वरूप हा थे।

सामान्यतयः आमतौर पर किसी भी देश का राजा अपने साम्राज्य को बढ़ाने के लिए युद्ध का आश्रय लेता था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि प्राचीनकाल के चिन्तकों ने विभिन्न राज्यों के बीच युद्ध को त्यागकर सद्भावपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की शिक्षा नहीं दी है। अधिकांश प्राचीन भारतीय आचार्यों ने युद्ध के ही परित्याग का संदेश दिया है। मनुस्मृति

---

1. *मनुस्मृति अ० 7, श्लोक 171 ।*

और कामंदक नीतिसार में युद्ध नहीं अपनाने की शिक्षा दी गयी है। मनुस्मृति में कहा गया है "विजेतुं प्रयतेतारीन्न युध्येत कदाचन।"[1] इसी प्रकार कामंदकनीतिसार में कहा गया है कि "नाशो भवति युद्धने कदाचिदुभयोरपि।"[2] महाभारत में भी कई स्थलों पर युद्ध को त्यागने का संदेश दिया गया है– "वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धर्मिता।"[3] महाभारत में यह प्रसंग मिलता है कि युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व पांडवों की ओर से शांतिवार्ता के लिए कृष्ण शांतिदूत के रूप में भेजे गये थे। शांतिवार्ता की विफलता के बाद ही महाभारत का इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हुआ था।

प्राचीन भारतीय विचारक यह अनुभव करते थे कि युद्ध को बिल्कुल टाला नहीं जा सकता है, इसलिए उन्होंने विभिन्न राज्यों के बीच शक्ति संतुलन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था और इसी के प्रतिफल स्वरूप कुछ राज्यों के वृत्त या समूह की परिपाटी प्रारम्भ हुई। जिसने मण्डल सिद्धांत को जन्म दिया।

मंडल सिद्धान्त

कौटिल्य ने विभिन्न राज्यों के बीच परस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से मंडल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यद्यपि मण्डल सिद्धान्त का उल्लेख कौटिल्य के पूर्व भी मिलता है, किन्तु कौटिल्य ने इसका विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है।

आचार्य कणिक ने अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के संदर्भ में कई प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार युद्ध की अपेक्षा कूटनीति के द्वारा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए साम, दाम और दंड तीनों प्रकार की पद्धतियों को अपनाना चाहिए।

नारद ने भी विदेशी राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की अनेक नीतियों का उल्लेख किया है।

कौटिल्य ने कणिक और नारद दोनों के सिद्धान्तों को मिलाकर मंडल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्रो0आर0के0 चौधरी के शब्दों में कौटिल्य का गतिशील मण्डल सिद्धांत भारतीय कूटनीति के सिद्धान्त में एक अनुपम और महत्वपूर्ण देन है।"[4]

---

1. *"विजेतुं प्रयतेतारीन्न युध्येत कदाचन।"* — *मनुस्मृति अ0 7, श्लोक 198 ।*
2. *"नाशो भवति युद्धने कदाचिदुभयोरपि।"* — *कामंदकीयनीतिसार अ0 9, श्लोक 11 ।*
3. *"वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धर्मिता।"* — *महा0,शा0प0 अ0 12, श्लोक 32–69 ।*
4. *आर0के0 चौधरी : कौटिल्याज पॉलटिकल आइडियाज एण्ड इंस्टीट्यूशन्स, पृ0 305 ।*

कौटिल्य के मंडल सिद्धान्त में मंडल का अर्थ है राज्यों का वृत्त। कौटिल्य ने बिजिगीषु राजा को मध्य में रखते हुए मंडल की रचना की है। मंडल सिद्धान्त के द्वारा कौटिल्य ने विभिन्न राज्यों के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए। वस्तुतः मंडल सिद्धान्त कौटिल्य की विदेश नीति का प्रमुख आधार कहा जा सकता है। कौटिल्य एक ऐसे वृत्त की कल्पना करता है, जिसमें छोटे–बड़े अनेक राज्य हों और इन्हीं राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उसने बिजिगीषु को केन्द्र में रखकर मंडल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कौटिल्य का यह विश्वास था कि कोई भी राज्य तभी समृद्ध और सफल हो सकता है, जब पड़ोसी राज्यों के साथ उसके सम्बन्ध अच्छे हों। पड़ोसी राज्यों से अच्छा सम्बन्ध रखते हुए शत्रु राज्य पर विजय प्राप्त करके ही कोई राजा सबल. पराक्रमी और प्रभावी हो सकता है।

प्राचीन भारत में चक्रवर्ती राजा उसे कहा जाता था, जो अपने पराक्रम, वैभव, सैन्य शक्ति और युद्ध कौशल के द्वारा पड़ोसी राज्यों को अपने आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश कर देता था। कौटिल्य के मंडल सिद्धान्त का उद्देश्य अपने राजा को दिग्विजयी बनाना था। उसने उसी परिप्रेक्ष्य में चंद्रगुप्त मौर्य को उतारने का प्रयास किया। अपने पड़ोसी राज्यों पर विजय प्राप्त कर अपने शासन का विस्तार करने वाले राजा को कौटिल्य ने बिजिगीषु की संज्ञा दी है। कुछ विद्वानों के मतानुसार कौटिल्य के मंडल सिद्धान्त में वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का बीज देखा जा सकता है।

कौटिल्य के मंडल सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्यों को चार श्रेणियों में रखा गया है, (1) शत्रु (2) मित्र (3) मध्यम और (4) उदासीन। इन राज्यों में से प्रत्येक राज्य का एक मंडल होता है, जिसमें राजा का शत्रु राज्य, राजा का मित्र राज्य और राजा का उदासीन राज्य सम्मिलित होते हैं। मनु ने भी मंडल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसने राज्यों को चार मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया है :– (1) मित्र (2) शत्रु (3) मध्यम और (4) उदासीन।[1]

कौटिल्य का मंडल राज्यों का वृत्त है। ये हैं– (1) बिजिगीषु (2) अरि (3) मित्र (4) अरि मित्र (5) मित्र–मित्र (6) अरिमित्र–मित्र (7) आक्रंद (8) पार्ष्णिग्राह (9) आक्रंदासार (10) पार्ष्णिग्राह सार (11) मध्यम और (12) उदासीन।[2] भौगोलिक दृष्टि से बिजिगीषु का स्थान मंडल

---

1. *मनुस्मृति, अध्याय–7, श्लोक 15.5 ।*
2. *अर्थ०, अधि० 6, अ० 2, वार्ता 12 ।*

के मध्य में है। अरि, मित्र, अरि मित्र, मित्र–मित्र और अरि मित्र–मित्र ये पाँच बिजिगीषु के सामने वाले राज्य होते हैं। पार्ष्णिग्राह, आक्रंद, पार्ष्णिग्राहसार और आक्रंदासार ये चार उनके पीछे रहते हैं। शेष दो राज्य–मध्यम और उदासीन बगल में कहीं भी रह सकते हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है कि कौटिल्य ने राज्य और राजा को एक ही रूप में देखने का प्रयास किया है। कांग्ले के शब्दों में "राज्य में राजा की स्थिति इतनी विशिष्ट और महत्वपूर्ण है कि राजा के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है।[1] यू0एन0 घोषाल ने भी कहा है कि राज्य और राजा के बीच तादात्मय था।[2] इस प्रकार मंडल सिद्धान्त में राज्य और राजा को एक ही मानकर कौटिल्य ने उनके गुण और लक्षण व्यक्त किये हैं।

1. बिजिगीषु

कौटिल्य ने पराक्रमी, वैभवशाली और पड़ोसी राज्यों पर विजय की इच्छा रखने वाला राजा को बिजिगीषु कहा है। उसके शब्दों में जो राजा आत्म सम्पन्न, अमात्य आदि द्रव्य प्रकृति सम्पन्न और नीति का आश्रय लेने वाला हो उसे बिजिगीषु कहते हैं। बिजिगीषु राजा का स्थान वृत्त के मध्य में होता है।

2. अरि

बिजिगीषु राजा के चारों ओर से फैले हुए राज्य अरि राज्य कहलाते हैं। ये बिजिगीषु से शत्रुता रखते हैं और उसके प्रति दुर्भाव भी रखते हैं। कौटिल्य ने इस मान्यता को स्वीकार किया है कि जिन राज्यों की सीमाएँ परस्पर सम्बद्ध होती है, उन राज्यों के बीच शत्रुता रहना स्वाभाविक है।[3]

इस प्रकार के राज्यों में समान हित होने के कारण प्रतिद्वंद्विता एवं पारस्परिक स्पर्द्धा की भावना उत्पन्न होती है। अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है कि उस युग में पड़ोसी राज्य की विजयाकांक्षा के दमन करने के साधन और अवसर आधुनिक युग की अपेक्षा कम थे। इसलिए कौटिल्य की यह मान्यता थी कि पड़ोसी राज्य परस्पर शत्रु होते हैं, बहुत सीमा तक सही थी। मनु ने भी पड़ोसी राज्यों को परस्पर शत्रु राज्य माना है।[4]

---

1. *डॉ0 आर0पी0 कांग्ले : दि कौटिल्य अर्थशास्त्र, भाग–3, पृ0 128 ।*
2. *डॉ0 यू0एन0 घोषाल, दि आथर्टी ऑव दि किंग इन कौटिल्याज पॉलिटिकल थॉट, (भाग–2), पृ0 307–311।*
3. *भूम्यनन्तरा अरिप्रकृति।।* *अर्थ0, अधि0 6,अ0 2, वार्ता 17 ।*
4. *अनन्तरर्मार –विधात ।।* *मनुस्मृति, अ0 7, श्लोक 158 ।*

कौटिल्य ने तीन प्रकार के शत्रु राज्यों का उल्लेख किया है (1) प्रकृति शत्रु (2) सहज शत्रु और (3) कृत्रिम शत्रु। जिन राज्यों की सीमाएँ परस्पर सम्बद्ध होती हैं, वे प्रकृति शत्रु हैं।[1] बिजिगीषु राजा के अपने ही वंश में उत्पन्न दायभागी सहज शत्रु होते हैं[2] तथा स्वयं विरुद्ध होने अथवा बिजिगीषु राजा के विरोध के कारण उत्पन्न शत्रु कृत्रिम शत्रु होते हैं।[3] कवि माघ ने भी शत्रुओं और मित्रों को प्रकृति सहज एवं कृत्रिम श्रेणियों में बाँटकर कौटिल्य के मत की पुष्टि की है।[4]

कौटिल्य ने न केवल शत्रु राजा के लक्षणों और विशेषताओं का उल्लेख किया है वरन् शत्रु राज्यों के साथ किये जाने वाले व्यवहार की भी चर्चा की है। उनका मत है कि शत्रु राजा की परिस्थिति, शक्ति तथा उसके आचरण एवं व्यवहार को देखकर समयानुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए। जब शत्रु राजा विपत्तियों से ग्रस्त हो, तब वह समय आक्रमण के लिए उत्तम समय माना जाता है।[5] आश्रयहीन अथवा दुर्बल आश्रयवाला शत्रु–राजा का संहार करने का प्रयास किया जाना चाहिए।[6] यदि शत्रु राजा न तो दुर्बल हो और न ही आश्रयहीन और व्यसनग्रसित हो तो ऐसे समय में उसे पीड़ित कर क्षति पहुँचाई जा सकती है।[7]

3. मित्र

अरि राज्य की सीमाओं से लगे हुए राज्य मित्र राज्य कहलाते हैं। मित्र राजा बिजिगीषु के समर्थक होते हैं और उसे हर समय हर सम्भव सहायता देने के लिए तैयार रहते हैं। कौटिल्य ने शत्रु राजाओं की तरह मित्र राजाओं को भी प्रकृति मित्र, सहज मित्र और कृत्रिम मित्र की श्रेणियों में बाँटा है। अरि राज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले राज्य, प्रकृति मित्र कहलाते हैं।[8] माता और पिता की ओर से सम्बन्धित राजा सहज मित्र कहलाता है।[9] धन या जीविका के लिए

---

1. *भूम्यनन्तरः प्रकृत्य मित्रः।।* — *अर्थ0, अधि0 6,अ0 2, वार्ता 25 ।*
2. *ग्ग तुल्या़भिजनं सहजः।।* — *अर्थ0, अधि0 6, अ0 2, वार्ता 25 ।*
3. *विरुद्धो विरोधयिता सा कृत्रिमः।।* — *अर्थ0, अधि0 6, अ0 2, वार्ता 26 ।*
4. *सखा गरीबाच्छत्रु श्चकृतिमस्तौहि कार्यतः।*
   स्यातामित्रौ मित्रे चसहजप्राकृतिवपि।। — *महाशिशुपालवध सर्ग 2 श्लोक 36 ।*
5. *व्यसनो यातव्यः।।* — *अर्थ0, अधि0 6, अ0 2, वार्ता 20 ।*
6. *..........अनपाश्रयो दुर्बलाश्रयो वोच्देदनीयः।।* — *अर्थ0, अधि0 6, अ0 2, वार्ता 20 ।*
7. *विपर्थयेपीडनीयः कर्षनोमी वा।।* — *अर्थ0, अधि0 6, अ0 2, वार्ता 21 ।*
8. *भूमेकाः–तरं प्रकृति मित्रं।।* — *अर्थ0 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 27 ।*
9. *.......मातापितृसम्बदं सहजम।।* — *अर्थ0 अधि0 अ0 2 वार्ता 27 ।*

आश्रित राजा कृत्रिम मित्र होता है।[1] कृत्रिम मित्र भी प्रकृति और सहज मित्रों की तरह व्यवहार करता है, किन्तु प्रकृति और सहज मित्र की तरह उसकी मित्रता स्थायी नहीं होती है।

4. अरि–मित्र

मित्र राज्य के बगल वाले राज्य अरि–मित्र हैं। ये राज्य बिजिगीषु के शत्रुओं के मित्र होने के कारण बिजिगीषु से दुर्भाव और शत्रुता रखते हैं। कौटिल्य ने कहा है कि बिजिगीषु को अरि–मित्रों से भी सावधान रहना चाहिए और उनके साथ उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिए, जिस प्रकार शत्रु राज्य के साथ व्यवहार किया जाता है। बिजिगीषु को अरि–मित्र राज्यों पर आक्रमण करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

5. मित्र–मित्र

मित्र का मित्र राज्य मित्र–मित्र कहलाता है। अरि–मित्र के बगल वाला राज्य मित्र–मित्र कहलाता है। उसका शत्रु राज्य और उसके मित्र से शत्रुता और द्वेष रहता है। यह मित्र राज्य की तरह बिजिगीषु का मित्र होता है और उसकी सहायता और समर्थन करने के लिए तत्पर रहता है। कौटिल्य ने कहा है कि बिजिगीषु मित्र और मित्र–मित्र ये तीन प्रकृतियाँ हैं। इन तीनों के अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष और दण्ड पाँच प्रकृतियाँ एक साथ मिलकर अठारह प्रकृतियों के एक मंडल का रूप धारण कर लेती हैं। इनके बीच पारस्परिक सहयोग और सद्भाव रहता है।

6. अरि मित्र–मित्र

शत्रु के मित्र के मित्र राज्य को अरि–मित्र कहा जाता है। यह राज्य मित्र राज्य के मित्र के बगल में स्थित होता है। बिजिगीषु के मित्र–मित्र से इसकी शत्रुता रहती है तथा शत्रु मित्र से मित्रता। बिजिगीषु के प्रति इसका शत्रुता का भाव रहता है। बिजिगीषु के शत्रु–मित्र के मित्र होने के कारण यह बिजिगीषु के प्रति दुर्भाव रखता है। इसलिए बिजिगीषु को भी इसके साथ शत्रु की तरह व्यवहार करना चाहिए।

जिस प्रकार बिजिगीषु मित्र और मित्र–मित्र का मंडल रहता है। उसी प्रकार अरि, अरि–मित्र और अरि मित्र–मित्र का भी एक मंडल रहता है जो बिजिगीषु के प्रति शत्रुता एवं द्वेष का भाव रखता है।

---

21. धन जीवितहेतोराश्वितं कृत्रिममिति।। अर्थ0 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 28 ।

7. पार्ष्णिग्राह

पार्ष्णिग्राह राज्य वह है जो बिजिगीषु के पीछे स्थित होता है और उसकी बिजिगीषु के साथ शत्रुता रहती है।

8. आक्रंद

पार्ष्णिग्राह के पीछे वाले राज्य को आक्रंद कहा जाता है। उसकी पार्ष्णिग्राह से शत्रुता रहती है, इसलिए वह बिजिगीषु का मित्र और समर्थक बन जाता है। मित्र राज्यों की तरह वह भी विजिगीषु को सहायता देने के लिये तैयार रहता है।

9. पार्ष्णिग्राह्यसार

पार्ष्णिग्राह्यसार पार्ष्णिग्राह का मित्र होता है और आक्रंद का शत्रु। बिजिगीषु के साथ उसका सम्बन्ध शत्रुवत रहता है। अतः कौटिल्य के मतानुसार बिजिगीषु को भी उसके साथ शत्रुवत् व्यवहार करना चाहिए।

10. आक्रंदासार

पार्ष्णिग्राह्यसार के पीछे स्थित राज्य आक्रंदासार राज्य कहलाता है। आक्रंद का मित्र होने के कारण यह बिजिगीषु का भी मित्र होता है। पार्ष्णिग्राह्यसार के साथ इसका शत्रुवत सम्बन्ध रहता है।

11. मध्यम

बिजिगीषु और राज्य की सीमा के बीच में पड़ने वाला राज्य मध्यम कहलाता है। मध्यम राज्य का राजा शक्तिशाली राजा होता है और वह बिजिगीषु और शत्रु दोनों राजाओं को एक ही साथ अथवा अलग–अलग सहायता देने या उनका निग्रह करने में समर्थ होता है। वह बिजिगीषु और अरि राजाओं की संधि में संधि का समर्थक और विग्रह में विग्रह का समर्थक होता है। कौटिल्य द्वारा उल्लेखित मध्यम राजा के लक्षणों के विवरण से यह प्रतीत होता है कि मध्यम राजा बिजिगीषु और शत्रु राजा दोनों से अधिक बलशाली होता है और समय पड़ने पर दोनों को अलग–अलग, या एक ही साथ दमन करने में समर्थ होता है। कौटिल्य द्वारा दी गयी मध्यम राज्य की अवधारणा आज भी प्रसंगिक है। आज अमरीका जैसे बलशाली राज्य ही दो राज्यों के बीच होने वाले विग्रह का निबटारा कर सकता है। निर्बल राज्य इतना सामर्थ्यवान नहीं होता है कि उसके भय से दो राज्य उसके मनोनुकूल कार्य कर सकें।

12. उदासीन

उदासीन राजा सभी राजाओं से बलशाली होता है। वह अरि, बिजिगीषु और मध्यम के अतिरिक्त, शक्तिशाली मध्यम राजा से भी बलवान होता है। वह अरि, बिजिगीषु और मध्यम राजाओं की संधि में संधि का समर्थक और विग्रह में विग्रह का समर्थक होता है। उसकी सीमा बिजिगीषु, अरि और मध्यम राज्यों की सीमा से परे होती है।

कुछ विद्वानों ने कौटिल्य के उदासीन राज्य की तुलना आज के तटस्थ राज्यों से की है। बहुत कुछ समानता रहने के बावजूद दोनों में कुछ मूल अंतर है। कौटिल्य का उदासीन राज्य सभी राज्यों से शक्तिशाली होना आवश्यक नहीं है।

षाड्गुण्य मंत्र

प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य के लिए षाड्गुण्य मंत्र को मूल मंत्र माना है। राजाओं की विजय अथवा पराजय इसी मंत्र पर आश्रित है।[1] प्राचीन भारत के आचार्यों ने इस मंत्र के छः गुण बतलाए हैं। इसीलिए इन आचार्यों ने मंत्र को षाड्गुण्यमंत्र के नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य का मत है कि इस षाड्गुण्य मंत्र की योनि बहत्तर प्रकृतियों से युक्त राज्य मण्डल होता है।[2] कौटिल्य के अनुसार इस षाड्गुण्य मंत्र का उद्देश्य क्षय, स्थान, और वृद्धि का निश्चय करना होता है।

षाड्गुण्य मंत्र पर विभिन्न मत

कौटिल्य का कथन है कि विभिन्न आचार्यों का मत है कि सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वेधी भाव यह मंत्र के छः गुण होते हैं।[3]

कौटिल्य आचार्य वायव्याधि को इस सिद्धान्त का विरोधी मानते हैं। उनका कहना है कि आचार्य वातव्याधि मंत्र के केवल दो ही गुण मानते हैं।[4] आचार्य वातव्याधि के मतानुसार सन्धि और व्रिग्रह इन्हीं दो गुणों में ही शेष चार गुणों का अन्तर्भाव होता है।[5] परन्तु आचार्य कौटिल्य

---

1. *मंत्रोविजय मूखं हि राज्ञां भवति राघव।। वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग 100, श्लोक 16 ।।*
   विजयोमंत्रमूलो हि राज्ञो भवति भरत।। — *महा0, सभापर्व अ0 5 श्लोक 28 ।*
   मंत्रिणां मंत्रमूलं हि राजे राष्ट्रं विवर्धते।। — *महा0, शान्ति पर्व अ0 8 श्लोक 48 ।*
2. *षाड्गुण्यस्य प्रकृतिमण्डलं योनिः।।* — *अर्थ0 6 अधि0 7 अ0 1 वार्ता 1 ।*
3. *संधि विग्रहासनयान संश्रय द्वैधी भावाः षाड्गुण्य मित्याचार्याः।।* — *अर्थ0 6 अधि0 7 अ0 1 वार्ता 2 ।*
4. *द्वैगुण्यमिति वातव्याधिः।।* — *अर्थ0 अधि0 7 अ0 1वार्ता 3 ।*
5. *सन्धिविग्रहाभ्यां हि पाड्गुण्यं संपद्यत इति।।* — *अर्थ0 अधि0 7 अ0 1 वार्ता 4 ।*

इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि आसन, यान आदि गुणों का अन्तर्भाव सन्धि और विग्रह गुणों मात्र में नहीं हो सकता क्योंकि उनकी अवस्था में भेद है। इसलिए मंत्र के उपर्युक्त छः गुणों को मानना ही उचित होगा।[1]

मनु ने भी षाड्गुण्यमय मंत्र माना है। मनु ने राजा को आदेश दिया है कि राजा अपने मंत्रियों में सबसे अधिक बुद्धिमान मंत्री के साथ षाड्गुण्ययुक्त मंत्र का निश्चय करना चाहिए।[2]

महाभारत में भी षाड्गुणी मंत्र का वर्णन किया गया है। भीष्म षाड्गुण्य मंत्र का उपदेश देते हुए बतलाते हैं– षाड्गुण्य मंत्र, त्रिवर्ग तथा परम त्रिवर्ग को, जो राजा विधिवत जानता है वही राजा इस सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग करता है।[3] शुक्र ने भी मंत्र षाड्गुण्यमय बतलाया है।[4]

षाड्गुण्य मंत्र के छः गुण

ऊपर बतलाया जा चुका है कि कौटिल्य ने मंत्र के छः गुण माने हैं। यह छः गुण सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वेधीभाव है। इन्ही छः गुणों में भीष्म, मनु, शुक्र आदि आचार्य भी आस्था रखते थे।

(1) सन्धि

सन्धि की परिभाषा करते हुए कौटिल्य बतलाते हैं कि कुछ पणों के आधार पर दो राजाओं में जो मेल हो जाता है उसी को सन्धि कहते हैं।[5]

कौटिल्य ने उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जिनमें राजा को सन्धि गुण का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। अन्य आचार्यों के मत उद्घृत किये हैं कि यदि राजा अपने शत्रु राजा से अपने को दुर्बल समझता है तो ऐसी परिस्थिति में उसको सन्धि कर लेनी चाहिए।[6] जिस परिस्थिति में दो शत्रु राजाओं को समान फल प्राप्त हो रहा हो अथवा समान वृद्धि हो रही हो

---

1. *षाड्गुण्यमेवैतद्वस्थाभेदादिति कौटल्यः।।* — *अर्थ० अधि० 7 अ० 1 वार्ता 5 ।*
2. *सर्वेषांतु विशिष्टेन ब्राहमणेन विपश्चिता। मंत्रयेत्परमं मंत्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्।।* — *मनु०, अ० 7 श्लोक 58 ।*
3. *षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गपरमं तथापि। यो वेत्ति पुरुषभ्याध्र स भुंक्ते पृथ्वीमिमाम्।।* — *महा०, शान्तिपर्व अ० 66 श्लोक 66 ।*
4. *सन्धिविग्रहंयानमासनं च समाश्रयम्। द्वैधीभावं च संविद्यान्मंत्रस्यैतांस्तुषड्गुणान्।।* — *शुक्रनीति अ० 4 श्लोक 1065 ।*
5. *तत्र पण वन्धः सन्धिः।।* — *अर्थ०, अधि० 7, अ० 1, वार्ता 6 ।*
6. *परस्माद्धीयमानः संदधीत।।* — *अर्थ०, अधि० 7, अ० 1, वार्ता 12 ।*

ऐसी परिस्थिति में उन दोनों राजाओं को सन्धि का आश्रय लेना उचित होगा।[1] यदि दो शत्रु राजाओं को ऐसा प्रतीत हो कि उनके परस्पर बैर करने से उनकी शक्तियों के क्षीण होने से एक ही समय में दोनों को समान ही फल प्राप्ति की आशा है अथवा समान क्षण होने की सम्भावना है तो ऐसी परिस्थिति में उन दोनों राजाओं को परस्पर सन्धि गुण का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए।[2] जब दो शत्रु राजा इस प्रकार देखें कि उनके परस्पर बैर से वह दोनों राजा तुल्य स्थिति में ही बने रहते हैं, और एक ही समय में दोनों को तुल्य ही धन अथवा शक्ति की प्राप्ति होती है, तो ऐसी परिस्थिति में उन दोनों राजाओं को परस्पर सन्धि कर लेनी चाहिए।[3]

परन्तु आचार्य कौटिल्य इस मत को नहीं मानते। उनका कहना है कि यह कोई बहुत नीतिपूर्ण बात नहीं है क्योंकि इन परिस्थितियों में सन्धि के अतिरिक्त और दूसरा उपाय ही नहीं है।[4] कौटिल्य का मत है कि शत्रु राजा को निर्बल बनाने और अपने को प्रत्येक प्रकार से सबल बनाने का साधन सन्धि होता है। सन्धि की अवस्था वाली अवधि में राजा को ऐन–केन प्रकारेण अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति का अवसर ग्रहण कर अपने राज्य को सबल बनाने के निमित्त उपयोग करना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि–"यदि राजा यह देखता है[5] कि सन्धि करने पर मैं बड़े बड़े कार्यों को सम्पादित कर शत्रु के महान कार्यों को हानि पहुँचा दूंगा,[6] अथवा अपने उत्तम कार्यों के सम्पादन करने के साथ–साथ शत्रु के उत्तम कार्यों का भी लाभ उठा सकूंगा,[7] अथवा शत्रु से सन्धि कर लेने के उपरान्त जब शत्रु में मेरे प्रति विश्वास हो जाएगा तो गुप्तचरों अथवा निष प्रयोग आदि के द्वारा शत्रु का नाश कर सकूंगा,[8] अथवा शत्रु के उत्तम मनुष्यों को कृपा दिखलाकर अपनी कार्य कुशलता से अपनी ओर आकृष्ण कर सकूंगा,[9] अथवा अत्यन्त बलवान के साथ सन्धि करने से शत्रु अपने कार्यों में हानि पहुँचा लेगा,[10] अथवा जिस से विग्रह करने के

---

1. *तुल्य काल फलोदयांधां या वृद्धौ सन्धिभुपेयात्।।* — *अर्थ0,. अधि0 7, अ0 1, वार्ता 23 ।*
2. *तुल्यकालफलोदये या ञये सन्धिमुपेयात्।।* — *अर्थ0, अधि0 6, अ0 1, वार्ता 27 ।*
3. *तुल्यकालफलोदये वा स्थाने सन्धिमुपेयादित्याचार्याः।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 30 ।*
4. *नैतद्विभाषितमिति कौटल्यः।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 31 ।*
5. *यदि या पश्येत्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 22 ।*
6. *सन्धौ स्थितो महाफलैः स्वकर्मभिः परकर्माण्युपहनिष्यामि।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 33 ।*
7. *महाफलामि या स्वकर्माण्युपभोक्ष्ये परकर्माणि या।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 34 ।*
8. *सन्धिविश्वासेम या योगोपनिषत्माणिधिभिः परकर्मण्युपहनिष्यामि।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 35 ।*
9. *सुख या साहग्रहपरिहारसौकर्य फललाभनभूयस्त्येन स्वकर्मणा परकर्मयोगा बहजनमास्त्रावयिण्यामि।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 36 ।*
10. *बलिनातिमात्रेण वा संहितः परः स्वकर्मोपधातं प्राप्स्यति।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 37 ।*

लिए मुझसे मिलना चाहता है उससे ही दीर्घकालीन युद्ध करवा दूंगा,[1] अथवा यह मेरे शत्रु के राज्यों में जाकर उन्हें पीड़ित करेगा,[2] अथवा शत्रु से क्षीणबल हो जाने पर अपने राज्य की वृद्धि कर सकूंगा,[3] अथवा जब यह शत्रु विपत्ति आने पर कार्य करने से विपदाग्रस्त हो जाएगा तो वह मेरे राष्ट्र पर आक्रमण नहीं कर सकेगा,[4] अथवा दूसरों की सहायता से उसने कार्य आरम्भ किया और उन दोनों से सन्धि कर लेने पर मेरे कार्यों में भी वृद्धि होगी,[5] अथवा शत्रु से सन्धि करने पर शत्रु के मण्डल में भेद उत्पन्न करने में समर्थ हो सकूंगा,[6] जब उनमें भेद उत्पन्न हो जाएगा तो मैं शत्रु को वश मे कर लूँगा[7] अथवा मैं इस समय सेना द्वारा सहायता देकर शत्रु का उपकार कर दूंगा और यह शत्रु राजा यदि अपने मण्डल से मिलना चाहेगा तो मैं उसको मिलने न दूंगा।[8] और जब इनका परस्पर द्वेष हो जाएगा तो इसका उन्ही के द्वारा वध करा दूंगा," इन परिस्थितियों में सन्धि कर लेनी चाहिए।[9]

इस प्रकार कौटिल्य पराजित राजा के लिए सन्धि काल वह अवसर मानते हैं जिस में वह अपने सबल शत्रु से मिलकर उसको किसी न किसी प्रकार से शक्तिहीन बनाने में प्रयुक्त करता है और अपने को प्रत्येक प्रकार से सबल बनाने में गुप्तरीति से प्रयत्नशील रहता है।

(अ) हीनसंधि के प्रकार

कौटिल्य ने सन्धि के अनेक प्रकार बतलाए हैं। इनमें एक वह प्रकार भी है जिसके अनुसार एक हीनबल राजा अपने सबल शत्रु राजा से सन्धि कर लेता है। इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य हीन सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं। हीन सन्धि के विषय में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं– जब मण्डल से युक्त बलवान राजा किसी हीनबल राजा पर आक्रमण कर देता है तो उक्त हीनबल राजा को अपने कोष, सेना भूमि और अपनी आत्मा को भी यथायोग्य

---

1. *येन वा विगृहीतो मया संध्यत्ते तेनास्य विग्रहं दीर्घं किरण्यामि।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 38 ।
2. *मया वा संहितस्य मद्द्वे षिणो जनपदं पीडयिप्यति।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 39 ।
3. *परोपहतो वास्य जनपदो मामा गमिष्यति।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 40 ।
4. *ततः कर्मसु वृद्धि प्राप्स्यामि।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 41 ।
5. *विपन्नकर्मारम्भो वा विषमस्थः परः कर्मसु न मे विक्रमेत।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 42 ।
6. *परतः प्रवृत्त कर्मारम्भो वा ताम्यां संहितः कर्मसु वृद्धिं प्राप्स्यामि।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 43 ।
7. *शत्रु प्रतिबद्धं या शत्रुणा संधिं कृत्वा मण्डलं भेत्स्यामि।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 44 ।
8. *मित्रमवाप्स्यामि।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 45 ।
9. *दण्डानुग्रहेण वा शत्रुमुपग्रह्य मण्डलन्तिप्सायां विद्वेषं ग्राहयिष्यामि।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 46 ।

समर्पित करके सन्धि कर लेनी चाहिए।[1] कौटिल्य हीनसन्धि के मुख्य तीन प्रकार मानते हैं जो दण्डोपनत सन्धि, कोषोपनत सन्धि, और देशोपनत सन्धि के नाम से अर्थशास्त्र में वर्णन की गयी है। कौटिल्य का मत है कि हीनबल राजा को अपने से अधिक शक्तिशाली राजा द्वारा आक्रमण किए जाने पर देश, कल और कार्य की विशेष परिस्थिति को देखकर इन सन्धियों में से किसी एक सन्धि का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।[2]

दण्डोपनत सन्धि

जब हीनबल राजा आक्रमणकारी अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु राजा से सेना द्वारा सहायता देने अथवा सेना के न्यून कर देने आदि के प्रण के आधार पर उस शत्रु राजा से सन्धि कर लेता है, तो इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य दण्डोपनत हीनसन्धि के नाम से सम्बोधि त करते हैं। दण्डोपनतहीन सन्धि भी तीन प्रकार की मानी गयी है जो आत्मामिष सन्धि, पुरुषान्तर सन्धि, और मुख्यात्मरक्षा सन्धि के नाम से अर्थशास्त्र में वर्णित है।

(क) आत्मामिष दण्डोपनत सन्धि

निर्धारित सेना अथवा सेना के उत्तम सैनिकों के सहित हीनबल राजा स्वयं शत्रु राजा की सेवा में उपस्थित हो इस पण के अनुसार जो हीनबल राजा और उसके सबल शत्रु राजा के मध्य जो सन्धि की जाती है आत्मामिष सन्धि कहलाती है।[3] इस प्रकार की सन्धि के अनुसार हीनबल राजा को स्वयं अपनी सेना के साथ सबल राजा की सेवा में उसकी सहायतार्थ उपस्थित होना पड़ता है।

कामन्दक ने आत्मामिष सन्धि की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि जब किसी राजा और उसी सेना के मध्य जो सन्धि की जाती है आत्मामिष सन्धि कहलाती है।[4]

---

1. *विद्विष्टे तेनैव घातयिप्याभीति संधिना वृद्धिमातिप्ठेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 47।*
   प्रवृत्तचक्रेणाक्रान्तो राज्ञा बलवताबलः।।
   सन्धिनोपनमेतृर्ण कोशदण्डात्मभूमिनिः।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 3, वार्ता 23।*
2. *स्वकार्माणां वशेनैते देशे काले च भाषिताः।*
   आवलीयसिकाः कार्यास्त्रिविधा हीनसंधयः।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 3, वार्ता 37।*
3. *स्वयं संख्मातदण्येन दण्डस्य विभवेन वा।*
   स्थातव्यमित्येय सन्धिरात्मामिषो मतः।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 3, वार्ता 24।*
4. *स्वसैस्येन त सब्धातामस्यामिख इति स्मृतः।।* — *कामन्दकीयनीतिसार सर्ग 6 श्लोक 16।*

(ख) पुरुषान्तर दण्डोपनत सन्धि

हीनबल राजा का सेनापति राजकुमार के सहित शत्रु राजा की सेवा में उसके बुलाए जाने पर उपस्थित हुआ करें इस प्रण के आधार पर जो सन्धि की जाए पुरुषान्तर सन्धि कहलाती है। इस प्रकार की सन्धि में राजा की आत्मरक्षा हो जाती इसलिए इस प्रकार की सन्धि को आत्मरक्षा सन्धि भी कहते हैं।[1]

कामान्दकनीतिसार में पुरुषोत्तर सन्धि को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि जब दो राजाओं में इस प्रण के साथ सन्धि हो जाती है कि इन दोनों राजाओं के (सेनापतियों) के द्वारा उनके परस्पर कार्य सिद्धि होते रहेंगे तो वह सन्धि पुरुषान्तर सन्धि कहलाती है।[2]

(ग) अदृष्ट पुरुष दण्डोपनत सन्धि

'राजा अथवा अन्य कोई व्यक्ति सेना सहित अपने शत्रु राजा के कार्य सम्पादन हेतु किसी स्थान पर (शत्रु राजा के राज्य के बाहर) आवश्यकतानुसार गमन किया करे' इस प्रण के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह अदृष्ट पुरूष दण्डोपनत सन्धि कहलाती है। क्योंकि इस प्रकार की सन्धि के अनुसार किसी निर्दिष्ट पुरुष को ही अपने शत्रु राजा के कार्य सम्पादन हेतु उपस्थित होना पड़ेगा, ऐसा प्रतिबन्ध नहीं रहता। इस प्रकार की सन्धि से हीनबल राजा और उसकी सेना के मुख्य अधिकारियों की भी रक्षा हो जाती है।[3]

कामन्दक ने भी अदृष्टपुरुष सन्धि का उल्लेख किया है और जिसको वह अदृष्टनर और अदृष्टपुरुष दोनों नामों से सम्बोधित करते हैं।[4] उनका मत है कि जब शत्रु राजा के साथ हीनबल राजा इस प्रण के आधार पर सन्धि कर लेता है ''कि हीन बल राजा अकेले ही शत्रु राजा के कार्य सम्पादन हेतु अपनी सेना के साथ गमन करता रहेगा'' अदृष्ट पुरुष सन्धि कहलाती है।[5]

---

1. *सेनापतिकुमाराभ्यामुपस्थातष्यमित्ययम्।*
   पुरषान्तरसंधिः स्यात्रात्मनेत्यात्मरक्षणः।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 3, वार्ता 25।*
2. *आवयोर्योधमुख्याभ्यां मदर्थः साध्य इत्यपि।*
   यस्मिन् पणः प्रक्रियते स सन्धिः पुरषान्तरः।। — *कामंदकीयनीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 13।*
3. *एकेनान्यत्र यातव्यं स्वयं दण्डेन वेत्ययम्।*
   अदृष्टपुरुषः सन्धिर्दण्डमुख्यात्मरक्षणः।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 3, वार्ता 26।*
4. *अदृष्टनर आदिष्ट आत्मामिष उपगृह।।* — *कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 3।*
5. *त्वयैकेन मदीयार्थः साम्प्रसाध्यस्त्यसाविति।*
   यत्र शत्रुः पं0 कुर्यात्सोडददकर एषःस्मृतः।। — *कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 114।*

इस प्रकार की सन्धि में यह आवश्यक नहीं कि हीनबल राजा शत्रु राजा के अधीन रहकर युद्ध के लिए स्वयं अथवा अपनी सेना शत्रु राजा के शत्रु से युद्ध करने के लिए प्रस्थान किया करे।

इस प्रकार उपयुक्त तीन प्रकार की सन्धि दण्डोपनत सन्धि कहलाती है। इनमें से प्रथम दो प्रकार की सन्धि (आत्मामिष और पुरुषान्तर) में उच्च पद वाली स्त्री की प्रतिबन्दी के रूप में प्रस्तुत करना और तीसरी प्रकार की सन्धि (अदृष्ट पुरुष) में गुप्तचरों के द्वारा हीनबल राजा को अपना कार्य साधना चाहिए।[1]

कौटिल्य ने इस प्रकार यह दो साधन बतलाए हैं जिनके द्वारा दण्डोपनत सन्धि कर लेने के उपरान्त हीनबल राजा को अपना कार्य साध लेना चाहिए।

(2) कोषोपनत सन्धि

'' जब हीनबल राजा अपने सबल शत्रु राजा की धन द्वारा सहायता करता रहेगा'' इस प्रकार वचनबद्ध होकर सन्धि कर लेता है तो इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने कोषोपनत सन्धि के नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य कोषोपनत सन्धि के चार प्रकार मानते हैं जो परिक्रय, उपग्रह, सुवर्ण और कपाल सन्धि हैं।[2]

(क) परिक्रय कोषोपनत सन्धि

युद्ध में शत्रु द्वारा बन्दी बनाए गए मंत्री आदि किसी मुख्य व्यक्ति की मुक्ति हेतु धन–दान के पण के आधार पर जो सन्धि की जाए उस सन्धि को परिक्रय कोषोपनत सन्धि कहा गया है।[3]

कोष के कुछ अंश अथवा सम्पूर्ण कोष दान कर अन्य प्रकृतियों (कोष के अतिरिक्त राजा, मंत्री आदि अवशेष छः प्रकृतियों) की रक्षा के निमित्त जो सन्धि की जाती है उस सन्धि को कामन्दक प्ररिक्रय सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं।[4]

---

1. *मुख्यस्त्रीबन्धनं कुर्यात्पूर्वयोः पश्चिमे त्वरिम्।*
   साधयेद्गूढमीष्येते दण्डोपनत संधयः।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 3, वार्ता 27 ।*
2. *त्रिष्टेचातुर्थ इत्येते कोशोपनत संधयः।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 3, वार्ता 32 ।*
3. *कोषोदानेनाशेषणां प्रकृतीनां बिमोक्षणम्।*
   परिकृयोभिवेत्सन्धिः स एव च यथासुखम्।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 3, वार्ता 28 ।*
4. *कोशांशेनाय कुप्येन सर्वकोषेण वा पुनः।*
   शेष प्रकृतिरक्षार्थ परिक्रय उदाहृतः।। — *कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 17 ।*

(ख) उपग्रह कोषोपनत सन्धि

यदि परिक्रय सन्धि में कई बार में थोड़ा–थोड़ा करके बहुत धन देने की प्रतिज्ञा करके सन्धि की जाय तो इस पकार की सन्धि को कौटिल्य उपग्रह सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं। वह इसी संधि को स्कन्धोपनेय सन्धि भी कहते हैं।[1] उपग्रह सन्धि की व्याख्या करते हुए कामन्दक कहते हैं कि प्राण रक्षा के निमित्त सर्वस्व दान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह उपग्रह सन्धि कहलाती है।[2] वह स्कन्धोपनीय सन्धि को उपग्रह सन्धि से भिन्न मानते हैं। उनके मतानुसार जहाँ फल आदि थाली में रखकर कन्धे पर रखकर भृत्यजन विजयी राजा को भेंट करते हैं और इस प्रकार जो संधि की जाती है उसको स्कन्धोपनेय सन्धि कहते हैं।[3] इसी सन्धि के अन्तर्गत देयधन शत्रु राजा को देश, काल के अनुसार कुछ दिन के अनन्तर भुगतान कर देने की प्रतिज्ञा के आधार पर जो संधि की जाती है उस सन्धि को कौटिल्य उपग्रह सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं।[4] कामन्दक ने अपग्रह सन्धि का उल्लेख नहीं किया हैं।

(ग) सुवर्ण कोषोपनत सन्धि

जब दो शत्रु राजाओं में परस्पर सन्धि के द्वारा विश्वास उत्पन्न होकर परस्पर एकता हो जाती है, इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य सुवर्ण सन्धि कहते हैं।[5]

कामन्दक सुवर्ण सन्धि को काच्चन सन्धि एवं संगत सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि सज्जन राजाओं के मध्य मित्रता स्थापित करने के हेतु जो सन्धि की जाती है संगत सन्धि कहलाती है। जब तक जिऐंगे तब तक अर्थ के प्रयोजन वाली सम्पत्ति–विपत्ति में किसी कारण से भी नहीं टूटेगी। यह संगति सन्धि अत्युत्तम होने से सुवर्ण के समान है इसीलिए सन्धि के अन्य ज्ञाताओं ने संगति सन्धि को कांच्चन सन्धि कहा हैं।[6]

---

1. *X X X स ऐव चं यथा सुखम्।।*
   स्कन्धोपनेयो बहुधाज्ञेयः सन्धिरुपग्रहः।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 3, वार्ता 28–29 ।*
2. *क्रियते प्राणरक्षार्थ सर्वदानाषुपग्रह।।* — *कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 16 ।*
3. *परिछिन्नं फलं यंत्र स्कन्धः स्कन्धेन दीयते।*
   स्कन्धोपनेयं तं प्राहूः सन्धि सन्धिविदोजनाः।। — *कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 19 ।*
4. *निरुद्धौ देशकालाभ्यां अत्ययः स्यादपग्रहः।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 29 ।*
5. *सुवर्णसन्धि विश्वासदेकीभावगतो भवेत।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 30 ।*
6. *सन्धिः संगतसन्धिस्तु मैत्रीपूर्व उदाहृतः।।* — *कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 6 ।*
   संगतः सन्धिरेवैष प्रहृष्टत्वात्सुवर्णवत्। — *कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 28 ।*

(घ) कपाल कोषोपनत सन्धि

कौटिल्य के अनुसार अत्याधिक धन दान की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाती है कपाल सन्धि कहलाती है। यह सन्धि सुवर्ण कोषोपनत सन्धि के विरुद्ध होती हैं।[1]

कामंदक ने भी सन्धि का एक प्रकार कपाल सन्धि माना हैं। कामंदक के मतानुसार दो समान सामर्थ्य वाले राजाओं के मध्य की गयी सन्धि का नाम कपाल सन्धि हैं।[2]

कौटिल्य उपर्युक्त चार प्रकार की कोषोपनत सन्धियों के करने के उपरान्त हीनबल राजा को अपने सबल शत्रु राजा के प्रति अपना कार्य किस प्रकार साधना चाहियें इस विषय का उल्लेख करते हुए कहते हैं –प्रथम दो सन्धियों (परिक्रय और उपग्रह) में जो कुप्य, हाथी अश्व उन के परिच्छद के साथ– साथ लौट आने वाले देना चाहिए अथवा देर में मृत्यु देने वाले विष खिलाकर हाथी– घोडे आदि देने चाहिए।[3] तीसरी प्रकार की सन्धि (सुवर्ण सन्धि) में निर्धारित धन का आधा धन देकर निवेदन करना चाहिए कि अभी हमारी आय के साधन नष्ट हो गये हैं (अतः अवशेष धन देने में असमर्थ हूँ) और चौथी प्रकार की सन्धि (कपाल सन्धि) में जहाँ तक हो सके बहाना बनाकर समय टालते रहना चाहियें, देना कुछ भी नहीं चाहियें।[4]

(3) देशोपनत सन्धि

कौटिल्य का कथन है कि जब हीनबल राजा अपने सबल शत्रु को भूमि दान करने की प्रतिज्ञा कर उससे सन्धि करता है इस प्रकार की सन्धि देशोपनत सन्धि कहलाती है। देशापनत सन्धि भी कई प्रकार की बतलायी गयी हैं।

(क) आदिष्ट देशोपनत सन्धि

देश का एक अंश शत्रु राजा को प्रदान कर अन्य प्रकृतियों (राजा, मंत्री आदि) की रक्षा करने की प्रतिज्ञा के आधार पर की जाने वाली सन्धि को कौटिल्य आदिष्ट सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं। उनका मत है कि हीनबल राजा को इस प्रकार प्रदत्त अपनी भूमि में चोर– डाकूओं के नाश हेतु यह सन्धि उपयोगी होती हैं।[5]

---

1. *विपरीतः कपालः स्यादत्यदानाभिभाषितः।।* — अर्थ० अधि० 7, अ० 3, वार्ता 31 ।
2. *कपाल सन्धिविज्ञेयः केवलं समसन्धितः।।* — कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 5 ।
3. *पूर्वयोः प्रणायेत्कुप्यं हस्त्यस्वं थागुरानवितम्।* — अर्थ० अधि० 7, अ० 3, श्लोक 31 ।
4. *तृतीये प्रणयेदर्धं कपयन्कर्मणां क्षयम्।।* — अर्थ० अधि० 7, अ० 3, वार्ता 31 ।
5. *भूम्येक देशत्यागने शेषप्रकृतिरक्षणं।*
   आदिष्ट सन्धिस्तंत्रष्टो गूढ़स्तेनोपधातिनः।। — अर्थ० अधि० 7, अ० 3, वार्ता 33 ।

कामंदक भी आदिष्ट सन्धि की परिभाषा कौटिल्य की भाँति ही करते हुए कहते हैं कि जहाँ पृथ्वी का कुछ अंश देकर सन्धि की जाती है उसे आदिष्ट सन्धि कहते हैं।[1]

(ख) उच्छिन्न देशोपनत सन्धि

राजधानी एवं सारभूमि (सार सामग्री को उत्पन्न करने वाली भूमि) को छोड़कर राज्य की अनउपजाऊ (ऊषर—बंजर) भूमि को प्रदान करने के आधार पर जो सन्धि की जाय इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने उच्छिन्न सन्धि के नाम से सम्बोधित किया है। उनका मत है कि इस प्रकार की सन्धि उस राजा के लिए उपयोगी होती है जो अपने शत्रु राजा को संकट में डालना चाहता है।[2]

कामंदक भी उच्छिन्न सन्धि उस सन्धि को उच्छिन्न सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं जो सार भूमि के प्रदान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर की जाती है।[3]

(ग) अवक्रय देषोपनत सन्धि

भूमि की उपज देते रहने की प्रतिज्ञा कर भूमि को शक्ति सम्पन्न शत्रु से मुक्त कराने के प्रतिबन्ध के साथ जो सन्धि की जाय उस सन्धि को कौटिल्य ने अवक्रय सन्धि की संज्ञा दी है।[4]

(घ) परिदूषण देशोपनत सन्धि

भूमि में जितनी उपज हो उससे अधिक उपज प्रदान करने की प्रतिज्ञा कर शत्रु राजा से अपनी भूमि के मुक्त कराने के निमित्त जो सन्धि की जाती है उस सन्धि को कौटिल्य ने परिदूषण सन्धि की संज्ञा दी है।[5]

कामन्दक उस सन्धि को परिदूषण अथवा परिभूषण सन्धि कहते हैं जिसके अनुसार भूमि की सम्पूर्ण उपज प्रदान कर देने की प्रतिज्ञा कर अपनी भूमि को विजयी राजा की सम्पूर्ण उपज

---

1. *यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिसवर्जितः।*
   सन्धियते सन्धिविद्भिरादिष्टः सन्धिरुच्यते।। — *कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 15 ।*
2. *भूमीनामात्तुसाराणां मूलवर्ज प्रणमृनम्।*
   उच्छिसन्धिस्तेण्टः परव्यसनकांक्षिणः।। — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 34 ।*
3. *भूवां सारयतीनान्तु दानादुच्छिन्न उध्यते।।* — *कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 18 ।*
4. *फलदानेन भूमीनां मोक्षणं स्यादवक्रयः।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 35 ।*
5. *फलातिभुक्तो भूमिभ्यः सन्धि च परिदूषणः।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 35 ।*

प्रदान कर देने की प्रतिज्ञा कर सन्धि की जाती है।[1]

इस प्रकार देशोपनत सन्धि के आदिष्ट, उच्छन्न, अवक्रय और परिदूषण सन्धि यह चार भेद माने गए हैं। कौटिल्य का मत है कि इन चारों प्रकार की सन्धियों में प्रथम दो–आदिष्ट और उच्छिन्न–सन्धियों की स्थिति में हीनबल राजा को अपने शत्रु राजा की विपत्ति की प्रतीक्षा करते हुए (अपनी भूमि के पुनः प्राप्ति का) अवसर की खोज करते रहना चाहिए और अन्तिम दो–अवक्रय और परिदूषण–प्रकार की सन्धियों में सन्धि के अनुसार भूमि की निर्धारित उपज केवल उसी दशा में शत्रु के पास भेंट करनी चाहिए जब कि वह शत्रु राजा द्वारा उपज प्रदान किए जाने के लिए विवश कर दिया जाए अन्यथा टाल–मटोल करते रहना चाहिए।[2]

अन्य सन्धियाँ

हीन–सन्धि के अतिरिक्त कौटिल्य ने अन्य ऐसी सन्धियों का भी उल्लेख किया है जो उन दो अथवा दो से अधिक राज्यों के मध्य सन्धि की जाती थीं, जो किसी राजा पर आक्रमण करने के निमित्त परस्पर गठबन्धन करने के हेतु सन्धि करते थे। इस प्रकार की सन्धियों को कौटिल्य ने कई श्रेणियों में परिगणित किया है।

आक्रमण के क्रम के अनुसार सन्धि

जब दो अथवा दो से अधिक राजा इस आधार पर परस्पर सन्धि करते हैं कि उनको किस कम से आकमण करना चाहिये इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने परिपणित और अपरिपणित नाम से सम्बोधित किया है।[3] परिपणित सन्धि के मुख्य तीन भेद बतलाये गये हैं जिनका आधार देश,काल और अर्थ माना गया है और इस दृष्टि से उनको कौटिल्य ने परिपणित सन्धि के तीन भेद–परिपणितदेशसन्धि, परिपणित कालसन्धि,परिपणित्तार्थसन्धि– माने हैं।

---

1. *सर्वभुफलादा नेनपरिभूषणः ।।* *कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9, वार्ता 18 ।*
   सर्वभूमिफलादानात् सन्धि स्यात्परदूषणः ।। *कामन्दकीयनीतिसार, सर्ग 9 श्लोक 17 ।*
   Paribhusan Sandhi is that which is concluded by giving up the products of the whole territory. *कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग 9, श्लोक 18 का मनमथदत्त का अग्रेजी अनुवाद ।*
2. *कुर्यादवेक्षणं पूर्वौ पश्चिमौंत्वावयलीसम् । अदाय फलमित्येते देशोपनत् सन्धहः ।।*
   अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 36 ।
3. *सन्धिः परिपणितश्चापरिपणितश्च ।।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 8 ।*

(क) परिपणित देश सन्धि

जब दो अथवा दो से अधिक राज्य विजयाभिलाषा से इस प्रतिबन्ध के साथ परस्पर संघठित होकर किसी राजा के राज्य पर आक्रमण करते हैं कि तुम इस देश पर आकमण करो और मैं अमुक देश की ओर यात्रा करता हूँ इस प्रकार की सन्धि को परिपणित देश सन्धि कहते हैं।[1]

(ख) परिपणित काल सन्धि

तुम इतने काल तक विजय की चेष्टा करते रहो, मैं इतने काल तक चेष्टा करता रहूँगा। इस अनुबन्ध के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह परिपणित काल सन्धि कहलाती है।[2]

(ग) परिपणितार्थ सन्धि

"तुम इतना कार्य पूरा करना मैं इतने कार्य को पूरा करुँगा" इस प्रकार की सन्धि में कार्य सम्बन्धी प्रतिबन्ध है अतः ऐसी सन्धि को कौटिल्य ने परिपणितार्थ सन्धि कहलाती है।[3]

कौटिल्य ने उन परिस्थितियों को बताया है जिनमें इन सन्धियों का आश्रय लेना उचित होगा। कौटिल्य के मतानुसार विजयाभिलाषी राजा को ऐसी परिस्थिति में परिपणितदेश सन्धि अपने सहायक राजा से करनी चाहिये जब उसको यह विश्वास हो जाये कि उसका सहायक राजा पर्वत, वन, नदी, दुर्ग, और अटवी से व्याप्त, धन–धान्य, सैनिक वीर पुरुष, तैल, घृत, आदि वस्तु समूह से रहित, दाना–घास से विहीन, अपरिचत, लम्बी यात्रा वाले, अन्य भाषा भाव से युक्त, सेना के व्यायाम के योग्य भूमि के अभाव वाले देश पर आक्रमण कर लेगा और उसको इससे विपरीत सुगम देश पर आक्रमण करना पड़ेगा।[4]

विजयाकांक्षी राजा को किस परिस्थिति में परिपणितकाल सन्धि करनी चाहिये इस विषय में कौटिल्य कहते हैं कि वर्ष, गरमी और सर्दी के कारण, क्लेश जनक रोग प्रकोप से युक्त, आहार की प्राप्ति से रहित, सेना की व्यायाम की रुकावट करने वाले कार्य साधन मे दुर्लभ, अधिक समय तक मेरे सहायक राजा को काम करना होगा और उसको स्वयं इसके बिपरीत इन

---

1. *त्वमेतं देशं याह्यहमिमं देशं यास्यमीति परिपणित देशः।।* अर्थ० अधि० 7, अ० 6, वार्ता 9 ।
2. *त्वमेतावन्तं कालं चेष्टस्याहामेतावतं कालं चेष्टिय इति परिपणित कालः।।* अर्थ० अधि० 7, अ० 6, वार्ता 10 ।
3. *त्वमेताकार्य साध्यहमिदं कार्य साधयिष्यामीति परिपणितार्थः।।* अर्थ० अधि० 7, अ० 6, वार्ता 11 ।
4. *यदि वा मन्येत शैलवननदीदुर्गमटवीस्यवहित .... परिपणितदेशं सन्धिमुपेयात्।।* अर्थ० अधि० 7, अ० 6, वार्ता 12 ।

बिघ्न बाधाओं से रहित होकर अल्प काल तक ही युद्ध करना है जब विजयाभिलाषी राजा इस परिस्थिति में हो तो उसको अपने सहायक राजा के साथ परिपणित काल सम्बन्धी सन्धि कर लेनी चाहिये।[1]

अमुक कार्य में शत्रु के मंत्री आदि कुपित करने पडेगें। बहुत बड़े धन के व्यय और जनक्षय के उपरान्त दीर्घ काल में यह कार्य सिद्ध हो सकेगा, इस कार्य में अल्प फल है परन्तु अनर्थ अधिक है, यह बहुत ही क्लेशदायक अधर्मयुक्त कार्य है माध्यम और उदासीन राजाओं के विरुद्ध होगा। मित्रों को भी इस कार्य में हाँनि पहुँच जाने की सम्भावना है, परन्तु इस कार्य को विजयाभिलाषी राजा का सहायक राजा करने को उद्यत है, जब ऐसी परिस्थिति उपस्थिति हो तो उस राजा को परिपणितार्थ सन्धि का आश्रय लेना चाहिये।[2]

परिपणितदेश,परिपणितकाल और परिपणितार्थ सन्धियों के भेद

कौटिल्य ने परिपणित सन्धि के उपर्युक्त तीन भेदों के उपभेदों को भी उल्लिखित किया है। जब इन सन्धियों में उपर्युक्त किन्ही दो परिस्थितियों (देश–काल) का समावेश एक साथ होता है तो वह सन्धि इन दोनों से संयुक्त सन्धि मानी गई है। इस प्रकार देश और काल के मेल से देशकालपरिपणित सन्धि, काल और कार्य के मेल से काल कार्यपरिपणित सन्धि, देश और कार्य के मेल से देशपरिपणित सन्धि और देश काल और कार्य तीनों के मेल से देशकालकार्यपरिपणित सन्धि मानी गयी है। इस प्रकार परिपणित सन्धि के कौटिल्य ने कुल सात भेद बतलाए हैं।[3]

(घ) अपरिपणित सन्धि

व्यसन–ग्रस्त, शीघ्र घबड़ाजाने वाले, मंत्री आदि से तिरस्कृत, आलसी, मूर्ख, शत्रु का विजय करने की इच्छा रखने वाला राजा, देश, काल और कार्य में से किसी का प्रतिबन्ध न लगाकर सहायक राजा से जो सन्धि करता है और इसी सन्धि के आधार पर शत्रु पर आक्रमण कर देता है इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने अपरेणितसन्धि की संज्ञा दी है।[4]

---

1. *यदि वा मत्येत प्रवर्षोष्णशीतमतिष्याधिप्रायमुपक्षीणाहारीपभोगं ....परिपणितकालं सन्धिमुपेयात्।।*
   अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 13 ।
2. *यदिवामन्येत प्रत्यादेयं प्रकृतिकोपकं दीर्घकालं ....विपरीतमहमित्येतस्मिन्विशेषे परिपणितार्थ सन्धिमुपेयात्।।*
   अर्थ0 अधि0 7, अ0 6 वार्ता 14 ।
3. *एवं देशकालयोः कालकार्ययोर्देशकालकार्याणां चावस्थापनात्सप्तविधः परिपणितः।।*
   अर्थ0 अधि07, अ0 6, वार्ता 15 ।
4. *व्यसनत्वरावमानालस्ययुक्तमज्ञं वा शत्रुमति संघातुकामो देशकालकार्याणामनवस्थापनात्सहितौ स्व इति सन्धि विश्वासेन परिच्छद्रमासाद्य प्रहरेदित्य परिपणितः।।*
   अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 17 ।

विजय के उपरान्त लाभ के आधार पर सन्धि–भेद

विजयाभिलाषी राजा और उसके सहायक राजा के मध्य युद्ध–विजय में लाभ की आशा के आधार पर भी सन्धि होनी चाहिये। इस लाभ को कौटिल्य ने मित्र लाभ, हिरण्यलाभ, भूमि लाभ और कर्म लाभ माना है। इस लाभ के आधार पर कौटिल्य ने इस कोटि की सन्धि के चार प्रकार बतलाए हैं जो मित्रसन्धि, हिरण्यसन्धि, भूमिसन्धि और कर्मसन्धि के नाम से सम्बोन्धित की गयी है।

(क) मित्र लाभ सन्धि

जब विजयाभिलाषी राजा और उसके सहायक राजा के मध्य इस प्रतिबन्ध के आधार पर सन्धि होती है कि विजय के उपरान्त मित्र लाभ का इस इस प्रकार बँटवारा होगा ऐसी सन्धि को मित्रलाभसन्धि बतलाया गया है। कौटिल्य ने इस विषय की भी विवेचना की है कि कौन सा मित्रलाभ श्रेष्ठ होता है। कौटिल्य ने इस विवेचना में पहले यह प्रश्न उठाया है कि सदा के लिये मित्र बन जाने वाला परन्तु स्वतन्त्र रहने वाला मित्र अच्छा होता है अथवा सदा के लिये मित्र न रहने वाला परन्तु अधीन रहने वाला मित्र? इस प्रश्न के उत्तर में कौटिल्य अन्य आचार्यो के मत को स्वाधीन नित्य मित्र के लाभ के पक्ष में बतलाते हैं।[1] इसका हेतु वह यह देते हैं कि नित्य मित्र यदि उपकार नहीं करेगा तो वह अपकार भी नहीं होगा।[2] परन्तु अन्य आचार्यो के इस मत को कौटिल्य नही मानते।[3] वह अपने अधीन रहने वाले मित्र राजा को श्रेष्ठ मानते है चाहे वह अनित्य मित्र ही क्यो न हो।[4] उनका कहना है कि मनुष्य जब तक उपकार करेगा तभी तक ही मित्र रहेगा, उपकार करना मित्र का लक्षण ही है।[5]

कौटिल्य ने यह प्रश्न भी उठाया कि एक राजा बहुत सा कर देने को उद्यत हो परन्तु सदैव कर देता रहेगा, ऐसी प्रतिज्ञाबद्ध नही होता। दूसरा राजा थोड़ा कर देता है परन्तु सदैव देता रहेगा, ऐसी प्रतिज्ञा के आधार पर अधीनता स्वीकार करता है, तो इन दोनों में किस को मित्र बनाना श्रेयस्कर होगा।[6] कौटिल्य का कहना है कि अन्य आचार्य गण प्रथम प्रकार के राजा को

---

1. *नित्यमवश्यं श्रेयः।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 10।*
2. *तद्धयनुपकुर्वदपि नापकरीतीत्याचार्याः।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 11।*
3. *नेति कौटल्यः।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 12।*
4. *वश्यमनित्स्यं श्रेयः।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 13।*
5. *पावदुपकरोति तावन्मित्रं भवत्यपकारलक्षणं मित्रमिति।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 14।*
6. *वश्ययोरपि महाभोगम नित्यमल्पभोगं वा नित्यमिति।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 15।*

मित्र बनाना श्रेयस्कर मानते है।[1] परन्तु कौटिल्य इस मत को अच्छा नही मानते।[2] वह तो सदैव के लिये अल्प–कर जिस मित्र राजा से मिलता रहे उसी राजा से सन्धि करना श्रेयस्कर मानते है।[3] कौटिल्य अपने इस मत की पुष्टि का यह हेतु देकर करते है कि जो अधिक द्रब्य देता है इस भय से कि उसको अधिक द्रब्य देना पड़ेगा, मित्रता शीघ्र छोड़ देता है[4] अथवा वह द्रब्य देकर शीघ्र ही उसका बदला चुकाना चाहता है।[5] सदैव किया जाने वाला अल्प–अल्प उपकार भी अधिक समय में महान उपकार का कारण बन जाता है।[6]

इसके उपरान्त कौटिल्य यह विवाद प्रस्तुत करते है कि महान प्रयत्न के उपरान्त महान सहायता के लिये तैयार होने वाला अथवा अल्प प्रयत्न से तैयार होने वाला लघुमित्र श्रेष्ठ मानना चाहिये।[7] कौटिल्य का कहना है कि आचार्यगण प्रथम प्रकार के मित्र को श्रेयस्कर मानते है।[8] ज्यों ही वह उठता है त्यों ही कार्य सध जाता है।[9] परन्तु कौटिल्य इस सिद्धान्त का विरोध करते है।[10] वह दूसरे प्रकार के मित्र को श्रेयस्कर मानते है।[11] वह अपने मत का समर्थन करते हुये यह हेतु देते है कि थोड़े प्रयत्न से उठ जाने वाला मित्र कार्य के समय को नहीं खोता। वह दुर्बल होता है इसलिये जहाँ चाहे वहाँ उस राजा को कार्य मे लगाया जा सकता है। परन्तु महाशक्तिवान मित्र ऐसा नही कर सकता। यह महान शक्तिवान मित्र दूरी पर रहनेवाला होगा तो वह नितान्त ही कार्य में नहीं लगाया जा सकता।[12]

कौटिल्य फिर यह विवाद प्रस्तुत करते है कि इन दो प्रकार के मित्र राजाओं में किस मित्र राजा को श्रेयस्कर समझना चाहिये–जिस मित्र राजा की सेना वश में है परन्तु वह

---

1. *महाभोगमनित्यं श्रेयः ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 16 ।*
2. *नेति कौटल्यः ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 17 ।*
3. *नित्यमरुपभोगं श्रेयः ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 19 ।*
4. *महाभोगमनित्यमुपकारभयादपक्रामति ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 20 ।*
5. *उपकृत्य वा प्रन्यादातुमीहते ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 21 ।*
6. *नित्यमस्पभोगं सातत्यादक्पमुपकुर्वन्महता कालेन महदुपकरोति ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 22 ।*
7. *गुरुसमुत्यं महान्मित्रं लघुसमुत्यमल्पं वेति ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 23 ।*
8. *गुरुसमुत्यं महस्मित्रं प्रतापकरं भवति ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 24 ।*
9. *यदा चेतष्टते तदा कार्य साधयतीत्याचार्याः ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 25 ।*
10. *नेतिकौटल्यः ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 26 ।*
11. *लघुसमुत्थमल्पुं श्रेयः ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 27 ।*
12. *लघुसमुत्थमल्पुं मित्रं कार्यकालं नातिपातयति दीर्घश्याच्य यथेष्टभोग्यं भवति नेतरत्प्रकृष्टभौमम् ।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 28 ।*

भिन्न–भिन्न स्थानों में बिखरी है अथवा जिस मित्र राजा की सेना उस के समीप हो यद्यपि वह उसके वश मे नही है[1] कौटिल्य का कथन है कि ''अन्य आचार्यगण उसी मित्र को श्रेयस्कर बतलाते है जिसकी सेना वश में रहती है, चाहे वह भिन्न–भिन्न स्थानों में बिखरी क्यों न हो, क्योकि वह सेना वश मे होने के कारण शीघ्र एकत्र की जा सकती है।[2] परन्तु कौटिल्य ने इस मत का समर्थन नहीं किया है।[3] वह दूसरी कोटि के मित्र राजा को श्रेष्ठ समझते है, और उस का हेतु देते है कि आवश्यकता पड़ने पर साम दाम आदि उपायों से उस सेना को वश में कर लिया जायगा। परन्तु बिखरी हुयी सेना का एकत्र होना कठिन है, क्योकि वह अन्य कार्य में संलग्न होती है।[4]

सेना द्वारा सहायता देने वाला मित्र अथवा हिरण्य द्वारा सहायता देने वाला मित्र अच्छा होता है।[5] इस विषय मे कौटिल्य अन्य आचार्यो का मत देते हुए कहते है कि आचार्यगण सेना द्वारा सहायता देने वाले मित्र को अच्छा बतलाते है।[6] परन्तु कौटिल्य स्वंय इस मत को नही मानते।[7] वह हिरण्य द्वारा सहायता देनेवाले मित्र को श्रेयस्कर मानते है।[8] इसका हेतु वह यह देते है कि हिरण्य की सदैव आवश्यकता रहती है परन्तु सेना की तो कभी–कभी आवश्यकता होती है। हिरण्य से तो सेना भी एकत्र की जा सकती है और अन्य कार्य भी साधे जा सकते है।[9]

हिरण्य अर्पण करने वाला मित्र अथवा भूमि अर्पण करनेवाला मित्र अच्छा मानना चाहिये।[10] इस विषय मे आचार्यगण हिरण्य अर्पण करने वाले मित्र को अच्छा मानते है क्योकि हिरण्य प्रत्येक स्थान पर सहायता करता है और समस्त व्ययों के स्थानो के भार को हल्का बना

---

1. *विक्षिप्तसैन्यमवश्यसैन्यं वेति।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 29 ।*
2. *विक्षिप्तं सैन्यं शक्यं प्रतिसंहर्तु वश्यस्त्रादित्याभार्याः।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 30 ।*
3. *नेतिकौटल्यः।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 31 ।*
4. *अवश्य सैन्यंश्रेयः ।। अवश्यं हि शक्यं सामादिभिर्वश्यंकर्तुम।। नेतस्त्कार्यभ्यासक्तं प्रतिसंहर्तुभ्।।* — *अर्थ० अधि० 6, अ० 9, वार्ता 32,33,34 ।*
5. *पुरुषभोगं हिरण्यभोगं वा मित्रमिति।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 35 ।*
6. *पुरुषभोगं मित्रं श्रेयः।। पुरुषभोगंमित्रं प्रतापकरं भवति।। यदा चेष्टिते सदा कार्य साधयतीत्याचायाः।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 36,37,38 ।*
7. *नेतिकौटिल्यः।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 39 ।*
8. *हिरण्यभोगं मित्रं श्रेयः।।* — *अर्थ० अधि० 7, अ० 9, वार्ता 40 ।*
9. *नित्यो हि हिरण्येन योगः कदाचिरण्येन दण्डश्य हिरण्येनान्ये च कामाः प्राप्यन्त इति।।* — *अर्थ०, अधि० 7, अ० 9, वार्ता 41 ।*
10. *हिरण्यभोगं भूमिभोग या मित्रमिति।।* — *अर्थ०, अधि० 7, अ० 9, वार्ता 42 ।*

देता है।[1] परन्तु कौटिल्य ऐसा नही मानते ।[2] वह भूमि द्वारा सहायता करने वाले मित्र को श्रेष्ठ मानते है क्योकि भूमि द्वारा हिरण्य और मित्र दोनो की प्राप्ति हो जाती है।[3] इसलिये भूमि द्वारा सहायता करने वाला मित्र हिरण्य द्वारा सहायता करने वाले मित्र की अपेक्षा श्रेयस्कर होता है।[4]

मित्र राजा के भेद

कौटिल्य ने मित्र राजा के छः भेद माने है जिनको उन्होंने नित्यमित्र, वश्य–मित्र, लघूत्थान मित्र, पितृपैतामह मित्र, महद मित्र और अद्वैध्य मित्र नाम से सम्बोधित किया है।[5]

(1) नित्य मित्र

जो मित्र लोभ अथवा स्वार्थ के बिना ही अपने पूर्ण के सम्बन्ध (मित्रता) की रक्षा में तत्पर रहता है वह नित्य मित्र कहलाता है।[6]

(2) वश्यमित्र

साम,दाम और भेद उपायों के द्वारा जो दुर्बल राजा किसी सबल राजा द्वारा मित्र बनाकर वश में रखे जाते हैं इस कोटि के मित्र राजाओं को कौटिल्य ने वश्यमित्र की श्रेणी में परिगणित किया है।

वश्य मित्र के भेद

कौटिल्य ने वश्यमित्र छः प्रकार के बतलाये है और जिनको वह सर्वभोगी वश्यमित्र, चित्रभोग वश्यमित्र, महाभोग वश्यमित्र,एकतोभोगी वश्यमित्र, उभयभोगी वश्यमित्र और सर्वतोभोगी वश्य मित्र नाम से सम्बोधित करते है।[7]

(क) सर्वभोग वश्य मित्र

जो राजा अपने मित्र राजा के निमित्त दण्ड (सेना) कोष और भूमि आदि सब कुछ अर्पण

---

1. *हिरण्यभोगं गतिमत्यात्सर्वथ्ययप्रतीकारकरमित्याचार्या।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 43 ।*
2. *नेति कौटल्यः।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 44 ।*
3. *मित्र हिरण्ये हि भूमिलाभान्दवत इत्युक्तं पुरस्तात्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 45।*
4. *तस्माद्भूमिभोगं मित्रं श्रेयः इति।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 46 ।*
5. *नित्यं वश्यं लघूत्वानं पितृपैता महंमहत्।।*
   अष्टैभ्यं चेति संपन्न मित्रं एड गुणमुच्यते।। — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 51 ।*
6. *श्रते यदर्थ प्रणयाद्रक्ष्यते यच्च रक्षति।*
   पूर्वोपक्षितसम्बन्धं तस्मिन्नं नित्यमुच्यते। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 51 ।*
7. *सर्वचित्रमहाभोगं त्रिविधं वश्यमुच्यते।*
   एकतोभोग्युभयतः सर्वतोभोगि चापरम् ।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 52 ।*

कर देता है वह राजा सर्वभोग वश्यमित्र कहलाता है।[1]

(ख) चित्रभोग वश्यमित्र

जो राजा बड़े–बड़े बाजार, नगर, ग्राम या खान से उत्पन्न रत्न, सार,कुप्य तथा द्रव्य, वन, हस्तिवन,अथवा वैल आदि द्वारा बने हुए रथ, यान–वाहन आदि से अपने मित्र राजा का उपकार करता है वह राजा चित्रभोग वश्यमित्र कहलाता है।[2]

(ग) महाभोग वश्यमित्र

जो राजा सेना अथवा कोष द्वारा अपने मित्र राजा का महान उपकार करता है वह महा भोग वश्य मित्र कहलाता है।[3]

(घ) एकताभोगी वश्यमित्र

जो वश्यमित्र अपने मित्र राजा के शत्रु मात्र का प्रतीकार करता है वह एकताभोगी वश्य मित्र कहलाता है।[4]

(ङ.) उभयभोगी वश्यमित्र

जो वश्यमित्र अपने मित्र के शत्रु और उसके (शत्रु) मित्र दोनो का प्रतीकार कर देता है वह उभयभोगी वश्यमित्र कहलाता है।[5]

(च) सर्वतोभोगी वश्यमित्र

जो वश्य मित्र अपने मित्र राजा के शत्रु और उस (शत्रु) के मित्र तथा उसके पड़ोसी बानचर,भील आदि सब का प्रतिकार कर देता है वह सर्वतोभोगी वश्यमित्र माना गया है।[6]

(3) लघुत्थान मित्र

बिना ही प्रयत्न के सेना द्वारा सहायता करने वाले मित्र राजा को कौटिल्य लघुत्थान मित्र कहते है।

---

1. *यहण्डकोसभूमोरूपकरोति तत्सर्वभोगम् ।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 14 ।
2. *तेपां पण्यपत्तनग्रामखनिसंजतिन रत्नासारकुप्येन द्रव्यहस्तिवनव्रजसमुत्येनयाम वाहनेत या यदूवहुश उपकरोति तच्चित्रमोगम्।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 12 ।
3. *यहण्डेन कोशेन वा महदुपकरोति तन्महाभोगम्।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 13 ।
4. *यदमित्रमेकतः प्रतिकरोति तदेकतोभोगि।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 15 ।
5. *यदमित्रमासारं चोपकरोति तदुभयभोगि।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 16 ।
6. *यदमित्रासारप्रतिवेशाटविकान्सर्वतः प्रतिकरोति वत्सर्वतोभोगि।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 17 ।

(4) पितृपैतामह मित्र

जो कुल क्रमागत मित्र होता है वह पितृपैतामह मित्र कहलाता है।

(5) महद् मित्र

जो महान सेना युक्त मित्र राजा होता है वह महद् मित्र कहलाता है।

(6) अद्वैध्य मित्र

जिनका परस्पर एक ही स्वार्थ सम्बन्ध हो, जो उपकारी और विकार हीन हो और आपत्ति में भी दूर न होने वाला हो ऐसा मित्र अद्वैध्य मित्र कहलाता है।[1]

इस प्रकार कौटिल्य ने छः प्रकार के मित्रों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी राजा होते है जो किसी दूसरे राजा और उस राजा के शत्रु दोनों के मित्र होते है जिनको कौटिल्य ने उभय मित्र की संज्ञा दी है। उभय मित्र भी कई प्रकार का बतलाये गये हैं।

उभयभावी मित्र

जो अपना मित्र होने से ध्रुव और शत्रु का मित्र होने से चल तथा किसी का भी मित्र न होने से उदासीन होता है वह उभयभावी मित्र कहलाता है।[2]

दूसरा उभयभावी मित्र

जो विजय के लिये आक्रमण करने वाले राजा का शत्रु है परन्तु इसी राजा के शत्रुओं मे उलझा होने से मित्र भी बनता है जो शत्रु शक्तिशाली होकर उपकार भी कर देता है अथवा उपकार नही भी करता है, यह दूसरे प्रकार का उभयभावी मित्र माना गया।[3]

तीसरा उभयभावी मित्र

जो मित्र दुर्बल होने के कारण शत्रु और आकमण करने वाले राजा दोनों की सहायता में तत्पर रहता है और दोनो से द्वेष नहीं रखता उसे तीसरा उभयभावी मित्र कहते है।[4]

---

1. *एकार्येनार्थसम्वन्धमुपकार्यविकारिंच।*
   मित्रभावि भवस्येतन्मित्रमद्वैध्यमापदि।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 55 ।*
2. *मित्रभावाद्ध्र यं मित्रं शत्रु साधारणाच्चलम्।*
   न कस्मचिदुदासीनं द्वयोरभयभावि तत्।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 56।*
3. *विजीगीषोरमित्रं यन्मित्रमन्तर्धितां गतम्।*
   उपकारे निविष्ट या शक्तं वानुपकारि तत्।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 57 ।*
4. *अरेनतुश्च यद्वृद्धि दौर्वल्यादनुवर्तते।*
   उभयसयाच्यविद्विष्टं विद्यादुभषभाति तत्। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 60।*

साधारण शत्रु

जो शत्रु का प्रिय रक्षा के योग्य, पूज्य तथा सम्बन्धी है, अपना भी उपकार कर देता है वह मित्र शत्रु मे समान भाव रखने वाला शत्रु साधारण कहलाता है।[1]

(ब) भूमि सन्धि

जब दो राजाओं में इस अनुबन्ध के आधार पर परस्पर सन्धि होती है कि तुम और हम विजय के उपरान्त इस प्रकार भूमि का बँटवारा कर लेंगे, भूमि सन्धि कहलाती है।[2] कौटिल्य दुर्बल राजा से प्राप्त की गयी भूमि को उतना अच्छा नहीं मानते जितना कि सबल राजा से प्राप्त की गयी भूमि श्रेयस्कर होती है। उनका कहना है कि बलवान शत्रु को पराजित करने से भूमि लाभ, शत्रु–पराजय और प्रताप वृद्धि यह तीनों लाभ एक साथ होते हैं।[3] दुर्बल से भूमि छीनना यद्यपि सुगम कार्य है,[4] परन्तु यह लाभ उत्तम नहीं माना जा सकता क्योंकि दुर्बल पर आक्रमण करने पर आक्रमण करने वाले का मित्र शत्रु बन जाता है।[5]

कौटिल्य ने भूमि लाभ के विषय में यह प्रश्न उठाया है कि विजयाकांक्षी राजा के लिए सम्पन्न नित्य शत्रुयुक्त भूमि लेनी श्रेयस्कर है अथवा अत्यन्त समृद्धशाली अनित्य शत्रु से युक्त भूमि।[6] इस विषय में कौटिल्य अन्य आचार्यों का मत देते हुए कहते है कि 'आचार्यों के मतानुसार अत्यन्त सम्पन्न नित्यशत्रुयुक्त भूमि की प्राप्ति ही श्रेयस्कर होती है।[7] सम्पन्न भूमि के द्वारा कोष और सेना दोनों का संग्रह किया जा सकता है।[8] इन दोनों (कोश और सेना) से शत्रुओं का उच्छेदन किया जा सकता है।[9]

परन्तु कौटिल्य इस सिद्धान्त को नहीं मानते।[10] उनका कहना है कि नित्य शत्रुयुक्त

---

1. *प्रियं परस्य आरण्यं पूज्यं सम्प्रनधन्मेष वा।*
   अनुगृहणाति यन्मित्रं शत्रु आचारणं हि तत्।। — अर्थ०, अधि० 7, अ० 10, वार्ता 61 ।
2. *त्व चाह च भूमि लभावह इति भूमिसन्धिः।।* — अर्थ०, अधि० 7, अ० 10, वार्ता 1 ।
3. *भूमिलाभं शत्रुकर्शनं प्रतापं च हि प्राप्नोति।।* — अर्थ०, अधि० 7, अ० 10, वार्ता 4 ।
4. *दुर्बलाद्भूमिलाभे सत्यं सौकर्यं भवति।।* — अर्थ०, अधि० 7, अ० 10, वार्ता 5 ।
5. *दुर्बल एव च भूमिसामः तत्सामन्तश्च मित्रममित्रभावं गच्छति।।* — अर्थ०, अधि० 7, अ० 10, वार्ता 6 ।
6. *सम्पन्ना नित्यामित्रा मन्दगुणा वा भूमिरनित्यामित्रेति।।* — अर्थ०, अधि० 7, अ० 10, वार्ता 12 ।
7. *सम्पन्ना नित्यामित्रा श्रेयसीभूमिः।।* — अर्थ०, अधि० 7, अ० 10, वार्ता 13 ।
8. *सम्पन्ना हि कोशदण्डौ सम्पादयति।।* — अर्थ०, अधि० 7, अ० 10, वार्ता 14 ।
9. *तौ चामित्रप्रतिधातकावित्याचार्याः।।* — अर्थ०, अधि० 7, अ० 10, वार्ता 15 ।
10. *नेति कौटल्यः।।* — अर्थ०, अधि० 7, अ० 10, वार्ता 16 ।

भूमि के प्राप्त होने पर अत्यधिक शत्रु का विरोध हो जाता है।[1] क्योंकि जो नित्य शत्रु है, उसका चाहे उपकार किया जाए या अपकार वह शत्रु ही रहता है। अपनी स्वाभाविक शत्रुता का वह त्याग नहीं कर सकता।[2] परन्तु अनित्य शत्रु में यह बात नहीं देखी जाती है। उसके साथ उपकार अथवा अपकार से वह अवश्य ही शान्त हो जाता है।'[3] कौटिल्य उस भूमि को "नित्यमित्रा" मानते हैं जिस भूमि के सीमा प्रान्तों में होने वाले बहुत से दुर्ग, चोरों, म्लेच्छों तथा आटविकों से सदैव घिरे हुए रहते हों, और इससे विपरीत भूमि अनित्यामित्रा कहते हैं।[4]

कौटिल्य ने यह भी बताया है कि समीप की अल्प भूमि अथवा दूर की अधिक भूमि की प्राप्ति श्रेयस्कर होगी।[5] कौटिल्य समीप की अल्पभूमि की प्राप्ति दूर की अधिक भूमि को प्राप्ति की अपेक्षा श्रेयस्कर मानते हैं।[6] जिसके तर्क वह यह देते हैं कि समीप की भूमि की प्राप्ति और रक्षा दोनों सुगमता से हो जाती है तथा विपत्ति काल में इस भूमि का आश्रय भी लिया जा सकता है।[7] परन्तु दूरी पर स्थित विस्तृत होने पर भी इससे विपरीत ही होती है।[8] कौटिल्य समीप की भूमि में भी पररक्षित भूमि की प्राप्ति को अच्छा नहीं मानते। वह समीप में स्थित स्वरक्षित भूमि की प्राप्ति को पर रक्षित भूमि को प्राप्ति की अपेक्षा श्रेयस्कर मानते हैं।[9] क्योंकि स्वयं स्थापित किए हुए कोष और सेना के द्वारा उसकी सुव्यवस्था की जा सकती है।[10] परन्तु पररक्षित भूमि इसके विपरीत होती है। दूसरे के द्वारा स्थापित किए हुए कोष और सेना के द्वारा उसकी व्यवस्था की जाती है। ऐसी भूमि केवल अपनी रक्षा के लिए दूसरे की स्थापित की हुई सेना के निवास का एक स्थान मात्र होती है।[11]

मूर्ख और बुद्धिमान इन दो प्रकार के राजाओं में से किस राजा की भूमि प्राप्त करना

---

1. *नित्यामित्रसामे भूपाश्चत्रुलामो भवति।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 17 ।
2. *नित्यश्च शत्रु रुपकृते चापकृते च शत्रुरेय भवति।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 18 ।
3. *अनित्यस्तु शत्रु रुपकारादनुपकाराद्वा शाम्यति।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 19 ।
4. *प्रस्या हि भूमेषंहुदुर्गाश्चौरगणैम्क्षेंच्छाटवीमित्रां नित्याविरहिताः प्रत्यन्ता सा नित्यप्रामित्रा विपर्वये त्वनित्यामित्रंति।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 20 ।
5. *अल्पा प्रत्यासन्ना महती व्यवहिता वा भूमिरिति।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 21 ।
6. *अल्पा प्रत्यासन्ना श्रेयसि।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 22 ।
7. *सुखा हि प्राप्तु पालधितुभमिसारयितुं च भवति।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 23 ।
8. *विपरीता व्यवहिता।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 24 ।
9. *आत्मधारणा श्रेयसी।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 26 ।
10. *सा हि स्वसमुधाम्यां कोशदण्डाम्यां धार्यते।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 27 ।
11. *विपरीता दण्डधारणा दण्डत्यानमिति।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 28 ।

श्रेयस्कर होगा– इस विषय में कौटिल्य मूर्ख राजा की भूमि प्राप्त करना श्रेयस्कर मानते हैं।[1] मूर्ख राजा की भूमि बड़ी सरलता से प्राप्त हो जाती है और उसकी रक्षा भी सुख–पूर्वक की जा सकती है। इस भूमि के लौटाए जाने की भी शंका नहीं रहती।[2] परन्तु बुद्धिमान राजा से प्राप्त की गयी भूमि सर्वथा इसके विपरीत होती है क्योंकि बुद्धिमान राजा की प्रजा उसमें अनुराग रखने वाली होती है।[3]

पीडनीय और उच्छेदनीय इन दो प्रकार के राजाओं में किससे भूमि प्राप्त करना श्रेयस्कर होगा– इस प्रश्न के उत्तर में कौटिल्य उच्छेदनीय राजा की भूमि का प्राप्त करना श्रेयस्कर मानते हैं।[4] निराश्रय अथवा दुर्बल आश्रय प्राप्त किये हुए उच्देदनीय के ऊपर जब आक्रमण किया जाता है तो वह कोष और सेना को लेकर अपने स्थान से भाग जाने की इच्छा करता है। ऐसी अवस्था में प्रकृति जन उसकी सहायता नहीं करते। वह ऐसे राजा का त्याग कर देते हैं।[5] परन्तु पीडनीय दुर्ग और मित्रों की सहायता प्राप्त कर अपने स्थान पर ही स्थित रहता है इसलिए प्रकृति जन उसका त्याग नहीं करते।[6]

नदी दुर्गधारी और स्थल दुर्गधारी राजाओं में किस राजा की भूमि को प्राप्त करना श्रेयस्कर होगा इस विषय में कौटिल्य स्थल दुर्गधारी राजा की भूमि को प्राप्त करना श्रेयस्कर मानते हैं।[7] इसका कारण वह यह बतलाते हैं कि स्थल का दुर्ग भली प्रकार घेरा जा सकता है उसको उच्छेदन कर देना भी सुलभ होता है और शत्रु राजा वहाँ से भाग भी नहीं सकता।[8] परन्तु नदी दुर्ग तो दोगुना क्लेशदायी होता है। वहाँ पीने योग्य जल और निर्वाह करने योग्य फल आदि, घेरा डालने पर भी मिलते ही रहेंगे।[9] नदी दुर्गधारी और पर्वत दुर्गधारी राजाओं में पर्वत

---

1. *बालिशात्प्राज्ञाद्वा भूमिलाभः इति।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 30।
2. *सुप्राप्यानुपाल्या हि भवत्य प्रत्यादेया च।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 31।
3. *विपरीता प्राज्ञादनुरक्तेति।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 32।
4. *पीडनीयोच्छेदनीययोरुच्छेदनियाद्भूमिलाभः श्रेयान्।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 33।
5. *उच्छेदनीयो ह्यनपाश्रयो दुर्बलापाश्रयो वाभियुक्तः कोशदण्डावादायापसर्तुकामः प्रकृतिभिः त्यज्यते।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 34।
6. *न पीडनीयो दुर्गमित्र प्रतिस्तब्ध इति।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 35।
7. *दुर्गप्रतिस्तब्धयोरपि स्थलनदीदुर्गायाभ्यां स्थलदुर्गीयाद्भूमिलाभः श्रेयान्।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 36।
8. *स्थलीयं हि सुरोधायमर्दास्कन्दमनिखाषिशत्रु च।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 37।
9. *नदीदुर्गं तु द्विगुणाक्लेशुकरमुदकं च पातर्व्यं वृत्तिकरं चामित्रस्य।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 38।

दुर्गधारी राजा की अपेक्षा कहीं दुर्गधारी राजा की भूमि का प्राप्त करना श्रेयस्कर माना गया है।[1] नदी दुर्ग हाथी, लकड़ी के स्तम्भ, बेड़ें, पुल और नौकाओं से जीता जा सकता है। नदी के दुर्गों में स्थायी गम्भीरता नहीं रहती। नदी के किनारे तोड़कर जल बहाकर कम भी किया जा सकता है।[2] परन्तु पर्वत–दुर्ग बड़ा सुदृढ़ होता है। वह घेरा नहीं जा सकता और उस पर चढ़ा भी नहीं जा सकता। एक दो के मारे जाने के प्रतिरिक्त सबका एक साथ वध नहीं हो सकता।[3] इसके विपरीत आक्रमणकारियों पर पत्थर और वृक्ष गिराकर उनका नाश किया जा सकता है।[4]

निम्न स्थान से युद्ध करने वाले अथवा स्थल योधीवीरों में निम्न योधीवीरों से भूमि लाभ कर लेना कौटिल्य के मतानुसार कल्याणकारी है।[5] क्योंकि निम्न स्थान से युद्ध करने वाले देश, काल के बन्धन में होते हैं[6] परन्तु स्थल योधी इन बन्धनों से मुक्त होते हैं वह सर्वत्र एवं सदैव युद्ध करने में समर्थ होते हैं।[7] फिर कौटिल्य खन्दकों से युद्ध करने वाले और आकाश से युद्ध करने वाले वीरों में खन्दक खोदकर युद्ध करने वाले वीरों से भूमि लाभ अधिक कल्याणकारी मानते हैं [8] क्योंकि वह वीरगण युद्ध के लिए खन्दक और शास्त्र दो साधनों की आवश्यकता रखते हैं [9] परन्तु आकाश योधी तो केवल शस्त्रों के ही आश्रय रहते हैं।[10]

(स) अनवसित सन्धि

भूमि सन्धि का एक प्रकार अनवसित सन्धि भी माना गया है। जब दो राजाओं में इस विषय को सम्मुख रख करके वह दोनों राजा अनवसित भूभाग पर अधिकार कर लें परस्पर सन्धि की जाती है, अनवसित सन्धि कहलाती है।[11] इस सन्धि के आधार पर प्राप्त होने वाली भूमि अनेक प्रकार की होती है। अतः कौटिल्य ने इन विभन्न प्रकार के अनवसित भूभागों की

---

1. *नदीपर्वतदुर्गीयाभ्यां नदीदुर्गीवादभूलिाभः श्रेयान्।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 39 ।
2. *नदीदुर्ग हि हस्तिस्तम्भ्यंक्रमसेतुबन्धनौभिः साम्यमत्यिगाम्भीर्थमपसान्धुदकं।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 40 ।
3. *पार्वतं तु स्थारक्षं दुरवराधि कृच्छारोहणं भग्ने चैकसिमन्न सर्ववधः।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 41 ।
4. *शिलावृक्षपमोक्षश्च महापकारिणाम्।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 42 ।
5. *निम्नस्यलयोधिभ्यो निम्नयोधिभ्यो भूमिलाभः श्रेयान्।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 43 ।
6. *निम्नयोधिनो ह्युपरुड़देशकालाः।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 44 ।
7. *स्थलयोधिनस्तु सर्वदेशकालयोधिनः।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 45 ।
8. *खनकाकाशयोधिभ्यः खनकेभ्यो भूमिलाभः श्रेयान्।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 46 ।
9. *खनकाहि खातेनशस्त्रेण चौभयया युद्धयस्ते।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 47 ।
10. *शस्त्रेणैवाकाशयोधिनः।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 48 ।
11. *त्वं चाहं च शून्यं निदेशयावह इत्यनधसितसन्धिः।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 1 ।

प्राप्ति की सापेक्षित उपयोगिता का उल्लेख करते हुए इस विषय की विवेचना की है कि किस प्रकार का भूभाग प्राप्त कर लेना, प्राप्त करने वाले राजा के लिए हितकर होगा। कौटिल्य ने सबसे प्रथम जलरहित (स्थलीय) और सजला (जलीय) भूमि इन दो प्रकार के भूभागों की तुलना करते हुए बतलाया है कि अधिक शुष्कभूमि से अल्प जल वाली भूमि का लाभ श्रेयस्कर होता है। क्योंकि सजला भूभाग में सर्वदा निश्चित रूप से फलादि की उत्पत्ति सम्भव है।[1] इसमें भी वह भूभाग श्रेष्ठ समझा जाएगा जिसमें पूर्व और उत्तर (कार्तिकी और वैशाखी) दोनों फसलें होती हों, अल्पवर्षा से अच्छी खेती पक जाए, तथा जिसमें भली प्रकार जोत–खोद आदि की जा सके।[2] धान्य आदि की उपज में समर्थ सजला भूमि धान्य आदि की उत्पत्ति नहीं करने वाली सजला भूमि से श्रेष्ठ मानी गयी है।[3]

कौटिल्य ने यह प्रश्न भी उठाया है कि राजा को धान्य उत्पन्न करने वाल अल्पभूमि और धान्य को न उत्पन्न करने वाली अधिक भूमि में किस भूमि का लाभ श्रेयस्कर होगा? इस विषय में वह अल्पधान्य उत्पादिनी विशाल भूमि की प्राप्ति के पोषक हैं।[4] उनका कहना है कि जब भूमि का अधिक विस्तार होगा तो उसमें समयानुसार स्थल और जल के पदार्थ उत्पन्न किए जा सकते हैं [5] तथा अधिक भूमि में दुर्ग आदि सेनोपयोगी कर्म भी भली–भाँति किए जा सकते हैं।[6] भूमि में तो अपने परिश्रम से गुण उत्पन्न कर लिए जाते हैं। यही भूमि का गुण है।[7] खान और धान्य उत्पन्न करने वाले भूभागों की तुलना करते हुए कौटिल्य अपना मत इस प्रकार देते हैं कि खान और धान्थ उत्पन्न करने वाली भूमि में खान की भूमि कोष बढ़ाने वाली होती है,[8] परन्तु धान्य उत्पन्न करने वाली भूमि कोष और भण्डार दोनों को भर देती है।[9] राज्य में दुर्ग आदि की रचना धान्य के अधीन ही होती है।[10] खान से उत्पन्न होने वाले पदार्थ भी उत्तम माने गए

---

1. *महतः स्थलादल्यमौदकं श्रेय सातत्यादवस्थितत्वाच्च फलानाम्।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 4 ।
2. *स्थलयोरपि प्रभूतपूर्वापरसस्यमल्पवर्षपाकमसुक्तारम्भंश्रेयः।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 5 ।
3. *औदक्योरपि धान्यवापमधाल्यवापाच्दे यः।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 6 ।
4. *तयोरल्पबहुत्वे धान्यकान्तादल्पान्महदधान्यकान्तं श्रेयः।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 7 ।
5. *महत्यवकाशे हि स्थाल्याश्चानुप्याश्चौषधयो भवन्ति।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 8 ।
6. *दुर्गादीनि च कर्माणि प्राभूत्येन क्रियन्ते।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 9 ।
7. *क्रत्रिमा हि भूमिगुणाः।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 10 ।
8. *खनिधान्यभोगयोः खनिभोगः कोशकरः।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 11 ।
9. *धान्यभोगः कोशकोष्ठागारकरः।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 12 ।
10. *धान्यमूलो हि दुर्गादीनां कर्मणामारम्भ।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 13 ।

हैं। उनमें भी अपना वैभव अनेक देशों में फैलाया जा सकता है।[1]

द्रव्यवन और हास्तिवन इन दो प्रकार के वनों में किस प्रकार के वन की प्राप्ति राजा के लिए श्रेयस्कर होगी। इस विषय में कौटिल्य का कहना है कि आचार्यगण द्रव्यवान की प्राप्ति श्रेयस्कर मानते हैं जिसका तर्क इन आचार्यों ने यह दिया है कि द्रव्यवन से अनेक प्रकार के पदार्थ उपलब्ध होते हैं जो सब कामों के आरम्भ करने के कारण होते हैं और द्रव्यवन राजकोष की वृद्धि हेतु अनेक प्रकार के पदार्थ उत्पन्न करता है।[2] परन्तु हस्तवन से यह पदार्थ प्राप्त नहीं हो सकते।[3] कौटिल्य स्वयं इस मत से सहमत नहीं है।[4] उनका मत है कि द्रव्यवन अनेक लगाए जा सकते हैं परन्तु हस्तिवन सुगमता से तैयार नहीं किया जा सकता।[5] हाथियों से शत्रु सेना का नाश किया जा सकता है।[6]

जिस भू–भाग के लोग संघठित नहीं हैं वह भूमि लाभ अच्छा है अथवा जिस भू–भाग की जनता संघठित है ऐसे भू–भाग की प्राप्ति?[7] इस विषय में कौटिल्य असंगठित जनता वाले भू–भाग की प्राप्ति श्रेयस्कर मानते हैं।[8] इसका कारण वह यह बतलाते हैं कि इस प्रकार के भू–भाग के निवासी बाहरी शत्रु द्वारा अपनी ओर मिलाए नहीं जा सकते क्योंकि वह असंघठित होते हैं।[9] इसके विपरीत संघठित मनुष्यों से बसा हुआ भू–भाग दुःखदायी होता है। जब संघठित जनता किसी कारण अपने राजा के विरूद्ध कुपित हो जाती है तो उस राजा पर अधिक संकट आ घेरता है।[10] इसके उपरान्त कौटिल्य इस विषय की भी विवेचना करते हैं कि चारों वर्णों में किस वर्ण की निवास वाली भूमि श्रेष्ठ होती है? इस विषय में कौटिल्य राजा के लिए उस भूभाग को प्राप्त करना कल्याणकारी मानते हैं जिस भूभाग में सब कुछ देने में समर्थ शूद्र ग्वालों जैसी

---

1. *महाविषय विक्रमो या खनिभोगः श्रेयान्।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 14 ।
2. *द्रव्यहस्तिवनभोगयोर्द्रव्यवनभोगः सर्वकर्मणां योनिः प्रभुतनिधानक्षमश्च।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 15 ।
3. *विपरीतो हस्तिवनभोग इत्याचार्याः।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 16 ।
4. *नेति कौटल्यः।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 17 ।
5. *शक्यंद्रव्यवनमनेकमनेकस्यां भूमौ वापयितुं न हस्तिवनम्।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 18 ।
6. *हस्तिप्रधानो हि परानीकवध इति।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 19 ।
7. *भिन्नमनुष्या श्रेणीमनुष्या वा भूमिरीति।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 21 ।
8. *भिन्नमनुष्या श्रेयसी।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 22 ।
9. *भिन्नमनुष्या भोग्या भवत्यनुपजाप्या चान्येषामनापत्सहा तु।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 23 ।
10. *विपरीता श्रेणी मनुष्या कोपे महादोषा।।* — अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 24 ।

जाति से सम्पन्न भू–भाग ही उसके ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला होता है।[1] अधिक और निश्चित फल देने वाली होने से कृषि के योग्य भूमि ही कल्याणकारी होती है[2] कृषि के योग्य भूमि ही अनेक कार्यों के सम्पन्न करने के योग्य होने से गोकुल की वृद्धि करने वाली होती है।[3] निष्कर्षतः जो भूमि राजा को हर प्रकार से आश्रय देने में समर्थ होती है वही भूमि उत्तम मानी गयी है।[4] इस आश्रय को कौटिल्य ने दो प्रकार का माना है एक दुर्गों का आश्रय और दूसरा पुरुषों का।[5] उनके मतानुसार जिस भू–भाग में राजा को पुरुषों का आश्रय प्राप्त हो सके वह भूभाग श्रेष्ठ होता है,[6] क्योंकि राज्य का आधार पुरुष ही है।[7] पुरुषहीन भूमि वन्ध्या गो की भाँति होती है। उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।[8]

(द) कर्म–सन्धि

जब दो राजा इस प्रण के आधार पर परस्पर सन्धि कर लेते हैं कि वह दोनों मिलकर दुर्ग रचना करायेंगे तो इस प्रकार की गयी सन्धि को कौटिल्य कर्म–सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं।[9]

इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य प्रकार के कार्यों का भी उल्लेख किया है जिनके सम्पादन किए जाने के प्रण के आधार पर दो राजाओं में परस्पर सन्धि की जाती थी और जिसको उस युग में कर्म–सन्धि कहा जाता था। परन्तु राजा के लिए वही कर्म सन्धि कौटिल्य ने कल्याणकारी मानी है कि "जिसका आश्रय लेने से जिसमें अल्प व्यय से महान लाभ प्राप्त हो।" उनका कहना है कि जिस कार्य के सम्पादन से अल्प आय और महान व्यय हो उससे राजा का नाश होता है और जिस कार्य से अल्प व्यय और महान लाभ होता है उस कार्य से उसकी वृद्धि होती है और जिन कार्यों के करने से समान आय–व्यय होता है उनके सम्पादन से राजा एक ही स्थान

---

1. *तस्यां चातुर्वर्ण्याभिनिवेशं सर्वभोग सहत्वादवरवर्णाप्राया श्रेयसी।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 25 ।*
2. *बाहुल्याद्ध्रु वत्वाच्च कृष्याः कर्षणवतीः।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 26 ।*
3. *कृष्या चान्येषां चारम्भाणां प्रयोजकत्वात् गोरक्षकवती।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 27 ।*
4. *भूमिगुणानामपाश्रयः श्रेयान्।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 29 ।*
5. *दुर्गापश्रया पुरुषापाश्रया या भूमिरिति।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 30।*
6. *पुरुषापाश्रया श्रेयसी।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 31 ।*
7. *पुरुषवद्धि राज्यम्।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 32 ।*
8. *अपुरुषा गौर्वन्ध्येव किं दुहीत।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 33 ।*
9. *त्वं चाहं च दुर्ग कारयावह इति कर्मसन्धिः।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 11, वार्ता 1 ।*

पर स्थित रहता है। इसमें न तो राजा का नाश ही होता है और न उसकी वृद्धि होती है।[1] अतः राजा को विचार कर अपनी वृद्धि को दृष्टिगत रख कर कर्म–सन्धि करनी चाहिए।[2]

(य) सम सन्धि

मित्र, हिरण्य, भूमि के लाभ की मात्रा के आधार पर कौटिल्य संधि के तीन प्रकार मानते हैं जिनको वह समसंधि, विषम सन्धि और अतिसन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं। कौटिल्य ने समसन्धि की परिभाषा इस प्रकार की है– जब दो राजा इस अनुबन्ध के आधार पर कि उन दोनों राजाओं को युद्ध के उपरान्त मित्र का लाभ समान रूप में होगा, परस्पर सन्धि कर लेते हैं तो इस प्रकार की सन्धि सम सन्धि कहलाती है।[3] सम सन्धि में संधिकर्ता राजाओं को एक प्रकार के ही लाभ की प्राप्ति होती है। यदि एक राजा को मित्र का लाभ होगा तो दूसरे राजा को भी मित्र लाभ ही होगा। भूमि, हिरण्य आदि लाभ उसको प्राप्त नहीं होंगे।

(र) विषम सन्धि

जब दो राजाओं में इस प्रतिज्ञा के आधार पर सन्धि होती है कि उनमें से एक राजा मित्र लाभ को प्राप्त होगा और दूसरे को भूमि और हिरण्य की प्राप्ति होगी तो इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने विषमसन्धि माना है।[4]

(ल) अति संन्धि

समसन्धि अथवा विषमसन्धि के द्वारा निश्चित किए गए अपने–अपने लाभ की अपेक्षा विशेष लाभ प्राप्त हो जाता है तो वह सन्धि अतिसन्धि का रूप धारण कर लेती है।[5]

ध्यातब्य है कि कौटिल्य ने विविध प्रकार की सन्धियों का उल्लेख किया है और उनकी विशेष प्रकार से विवेचना की है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अन्य आचार्यो ने सन्धि के न तो इतने प्रकार ही बतलाये हैं और न उनकी इतनी विशद विवेचना ही की है यह कौटिल्य की उत्क्रष्ट बुद्धिमत्तापूर्ग सूझ–बूझ का ज्वलंत प्रमाण है।

---

1. *अल्पागमातिव्ययता क्षयो वृद्धिर्विपर्यधे।। समायभ्ययतास्थामं कर्मसु क्षेयमात्मनः।।*
   अर्थ0, अधि0 7, अ0 12, वार्ता 41 ।
2. *तस्मादल्पभ्ययारम्भं दुर्गादिपु महोदयम्। कर्मलम्धा विशिष्टः स्यादित्यक्ताः कर्मसंधयः।।*
   अर्थ0, अधि0 7, अ0 12, वार्ता 42 ।
3. *त्वं चाहं च मित्रं लभावह इत्येवमादिभिः समसन्धिः।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 4 ।*
4. *त्वं मित्रमित्येवमादिभिर्धिषम सन्धिः।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 5 ।*
5. *तयोविशेषलाभादतिसन्धिः।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 8, वार्ता 6 ।*

2 विग्रह

कौटिल्य ने विग्रह गुण की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि परस्पर एक–दूसरे के अपकार में लग जाना विग्रह गुण कहलाता है।[1] उनके मतानुसार राजा को विग्रह गुण का आश्रय लेना तब उचित होगा जब वह अपने को बलवान पाता है।[2]

शुक्र ने विग्रह गुण की परिभाषा इस प्रकार की है– जिस कर्म द्वारा विशेष प्रकार से पीड़ित हुआ शत्रु अपने अधीन हो जाता है उस कर्म को विग्रह कहते हैं।[3]

कौटिल्य ने उन परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिन में होने से राजा को विग्रह गुण का आश्रय लेना हितकर होगा। कौटिल्य का विचार है कि "यदि विजयाभिलाषी राजा ऐसी परिस्थिति में हो कि उसके राज्य में प्रायः लोग शस्त्र–प्रयोग करने में समर्थ और संगठित हैं तथा पर्वत, वन, नदी और दुर्ग से उसका राज्य सम्पन्न है। उसके राज्य में प्रवेश हेतु केवल एक द्वार है, वह शत्रु द्वारा किए गये आक्रमण का वीरतापूर्ण उत्तर देने में समर्थ है, और वह अपने राज्य की सीमा के दृढ़ दुर्ग में स्थित होकर शत्रु के कार्यों का नाश कर सकता है, व्यसन और कष्टों से उसके शत्रु का सम्पूर्ण उत्साह नष्ट हो रहा है, इस समय वह शत्रु वश में किया जा सकता है, यदि युद्ध छिड़ गया तो वह अपने शत्रु के कुछ भू–भागों पर अधिकार करने में समर्थ हो सकेगा, ऐसी परिस्थिति में उस राजा को विग्रह गुण का अवलम्बन करना उचित होगा।[4]

3. आसन

कौटिल्य के मतानुसार समय की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठे रहना आसन कहलाता है।[5] शुक्र ने आसन गुण की परिभाषा इस प्रकार की है– जिस स्थान पर बैठने से अपनी रक्षा और शत्रु का नाश सम्भव हो तो उस स्थान पर बैठने को आसन कहते हैं।[6]

कौटिल्य ने आसन गुण की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि अपनी वृद्धि के लिए चुपचाप बैठे रहना आसन कहलाता है।[7] वह स्थान, आसन और उपेक्षण इन तीनों को आसन के

---

1. *अपकारो विग्रहः ।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 7 ।*
2. *अभ्युच्चीयमानोतिगृहणीयात् ।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 13 ।*
3. *विकृर्षितः सन्नाधीनो भवेच्छत्रु स्तु येनवै ।।* — *शुक्रनीति, अ0 4, श्लोक 1067 ।*
4. *यदि वा पश्येत् । आयुधीय प्रायः श्रेणीप्रायो वापे जनपदः शैलवननदी ....*
   जनपदभपवाहवितुमिति विग्रहे स्थितो वृद्धिमातिष्ठेत् ।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 48–52 ।*
5. *उपेक्षणमासनम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 7 ,अ0 1 ,वार्ता 8 ।*
6. *स्वरक्षणं शत्रु नाशो भवेत्स्यानात्दासनम् ।।* — *शुक्रनीति, अ0 4, श्लोक 1069 ।*
7. *स्ववृद्धिप्राप्त्ययर्थमासनम् ।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 4, वार्ता 5 ।*

ही पर्यायवाची मानते हैं।[1] परन्तु इनमें कुछ विशेषता भी उन्होंने मानी है।[2] उनके मतानुसार किसी विषय में चुप बैठे रहना और किसी विषय में उपाय करते रहना स्थान कहलाता है।[3] अपनी वृद्धि की प्राप्ति हेतु चुपचाप बैठे रहना आसन कहलाता है।[4] किसी भी उपाय का अवलम्बन न करना उपेक्षण कहलाता है।[5]

कौटिल्य ने आसन दो प्रकार के बतलाए हैं एक विगृह्य आसन और दूसरा संधाय आसन। जब शत्रु और बिजयेच्छुक राजा, दोनों ही सन्धि करने की इच्छा रखते हों और वह परस्पर एक दूसरे के नष्ट कर देने की शक्ति न रखते हों तो कुछ काल युद्ध करके चुप बैठ जाते हैं, तो इस प्रकार के आसन को विगृह्य आसन कहते हैं और जब वह सन्धि करके चुप बैठते हैं तो ऐसी स्थिति को संधाय आसन कहा गया है।[6]

कौटिल्य ने आसन गुण का आश्रय लेने के सम्बन्ध में कहा है कि "यदि राजा ऐसा समझता है कि उसका शत्रु इतना समर्थ नहीं है कि वह उसके कार्यों को हाँनि पहुँचा सके और न वह ही शत्रु के कार्यों को बिगाड़ सकता है; यद्यिपि शत्रु राजा व्यसनग्रस्त है, परन्तु कल कलह का आश्रय लेने में कुत्ते और शुकर के आक्रमण के तुल्य कोई फल नहीं निकलेगा; यदि वह अपना काम करता रहा तो वृद्धि को प्राप्त हो जाएगा; इस परिस्थिति में राजा को चुपचाप बैठा हुआ आसन गुण का अवलम्बन करना चाहिए।[7]

4. यान

कौटिल्य के अनुसार एक राजा का दूसरे राजा पर आक्रमण करने का नाम यान है।[8] जब विजयाभिलाषी राजा ऐसा समझ लेता है कि शत्रु के कार्यों का नाश उस पर आक्रमण किए

---

1. *स्थानमासनमुपेक्षणं चेत्यासनपर्यायाः।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 4, वार्ता 2।*
2. *विशेषस्तु।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 4, वार्ता 3।*
3. *गुणैकदेशे स्थानम्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 4, वार्ता 4।*
4. *स्ववृद्धि प्राप्त्यर्थमासनम्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 4, वार्ता 5।*
5. *उपायानामप्रयोग उपेक्षणमिति।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 4, वार्ता 6।*
6. *सन्धानकामयोररिविजिगीष्वोरुपहन्तुमशक्तयोर्विगृह्यासर्ग संधाय वा।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 4, वार्ता 7।*
7. *यदि वा मन्येत। न मे शक्तः परः कर्माण्युपहन्तुम्। नाहं तस्य कर्मोपधातीवा व्यसनमस्य श्ववराहयोश्चि कलहे वा। स्वकर्मानुष्ठानपरो वा वर्धिष्य इत्यासनेन वृद्धिमातिष्ठेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 53–57।*
8. *अभ्युच्चयोयानम्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 9।*

जाने पर ही हो सकता है, तथा विषुगीषु ने अपने राज्य की रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर लिया है तो ऐसी परिस्थिति में उस राजा को यान गुण का आश्रय लेना उचित होगा।[1]

शुक्र के मतानुसार अपने इच्छित फलप्राप्ति की कामना से शत्रु के नाश के निमित्त जो गमन किया जाता है उस गमन को यान कहते हैं। वह यान के पाँच प्रकार मानते हैं जिनको उन्होंने विगृह्ययान, सन्धाययान, सम्भूययान, प्रसंगयान और उपेदययान के नाम से सम्बोधित किया हैं।[2] मनु ने यान के केवल दो भेद मानते हैं।

5. संश्रय

स्वयं का अपने शत्रु अथवा अन्य किसी बलवान राजा के समक्ष आत्म समर्पण कर देना कौटिलय के मतानुसार संश्रय गुण कहलाता है।[3] मनु और कौटिल्य दोनों ने इस गुण को संश्रय नाम से सम्बोधित किया है परन्तु शुक्र ने संश्रय गुण को आश्रय नाम से सम्बोधित किया है। शुक्र के मतानुसार ऐसे सबलमित्र राजा का सहारा लेना जिससे दुर्बल राजा भी सबल बन जाता है आश्रय कहलाता है।[4]

कौटिल्य का मत है कि जब राजा इस परिस्थिति में अपने को समझने कि वह शत्रु के कार्यों में हानि नहीं पहुँचा सकता और न ही अपने कार्यों की ही रक्षा करने में समर्थ हैं तो उसको किसी दूसरे बलवान राजा का आश्रय लेना चाहिए। इसके उपरान्त उसको अपना कार्य साधते हुए इस क्षणिक क्षय से स्थान की प्राप्ति करनी चाहिए और तदनन्तर स्थान के उपरान्त वृद्धि की प्राप्ति करनी चाहिए।[5]

निर्बल राजा को किस राजा का आश्रयग्रहण करना उचित होगा इस विषय में कौटिल्य का कहना है कि किसी राजा को संश्रय गुण का आश्रय लेना ही पड़े तो उसका शत्रु जितना बलशाली हो उससे अधिक बलशाली राजा का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।[6] यदि कोई अन्य

---

1. *यदि वा मन्येत्। यानसाध्यः कर्मोपयातः शत्रोः प्रतिविहितस्वकर्मत्क्षस्मीति यानेन् वृद्धिमातिष्ठेत।।*
अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 58–59 ।
2. *विगृह्य सधाय तया संभूयाय प्रसंगतः। उपेक्षयाच निपुणैर्थानं पंचविधमृस्मृतम्।।*
शुक्रनीति, अ0 4, श्लोक 1086 ।
3. *परार्पणं संक्षयः।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 10 ।*
4. *यैर्गुप्तो बलवान्भूयाहु र्बलोपि स आश्रयः।।* *शुक्रनीति, अ0 4, श्लोक 1066 ।*
5. *यदि वा मन्येत्। नास्मि शक्तः परकर्माण्युपहन्तुं स्वकमोंप धातुं वा त्रातुमिति वलवन्तमाश्रितः। स्वकर्मानुष्ठानेन् क्षयात्स्यानं स्थानादृवृद्धि चाकांक्षेत्र।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 1, वार्ता 60 ।*
6. *पद् बलः सामन्तस्ताद्विशिष्टबलमाश्रयेत।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 2, वार्ता 7 ।*

राजा शत्रु राजा की अपेक्षा बलवान न हो तो उस निर्बल राजा को अपने उसी सबल शत्रु का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए। कोष, सेना अथवा भूमि में से किसी वस्तु को देकर शत्रु राजा को सन्तुष्ट करना चाहिए परन्तु स्वयं उसके सम्मुख जाना उचित नहीं है।[1] अधिक बलशाली राजा का आश्रय लेना कौटिल्य अच्छा नहीं समझते। उनका कहना है कि विशेष प्रकार से बलवान राजा के आश्रय में जाने से कभी–कभी बड़ा अनिष्ट भी हो जाता है। यदि बलवान शत्रु का विग्रह अन्य शत्रु से हो रहा है तो ऐसी परिस्थिति में उस बलवान राजा का आश्रय लेना हानिकर नहीं होता।[2] जब राजा शक्तिहीन हो तो दण्डोपनत व्यवहार की भाँति नम्रता से समय काटना चाहिए। इसी प्रकार कौटिल्य ने उन विविध प्रकार की परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिनमें पड़कर उसको एकमात्र आश्रय गुण का ही आश्रय लेना उनके मतानुसार उचित होगा।

6. द्वैधीभाव

द्वैधीभाव का अर्थ है एक राजा से संधि और दूसरे से विग्रह करना। कौटिल्य के मतानुसार कभी–कभी बिजिगीषु राजा के लिए दोहरी नीति को अपनाना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह एक राजा से सन्धि करता है और दूसरे राजा से विग्रह।[3] द्वैधीभाव नीति को अपनाये जाने की परिस्थितियों के सम्बन्ध में मत व्यक्त करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि यदि राजा ऐसा समझता है कि एक राजा से सन्धि करने और दूसरे से विग्रह करने में वह अपने कार्यों को साध सकता है, और शत्रु को नष्ट कर सकता है, तो उसे द्वैधीभाव नीति का आश्रय लेना चाहिए।[4]

शुक्र के मतानुसार अपनी सेना को शत्रु और मित्र दोनों के स्थानों पर नियुक्त करना द्वैधीभाव कहलाता है।[5]

कौटिल्य का यह स्पष्ट मत है कि राजा को शक्तिशाली राजा के साथ सन्धि और दुर्बल राजा के साथ विग्रह करना चाहिए। द्वैधीभाव की नीति बिजिगीषु के लिए लाभदायक होती है। कौटिल्य ने कहा है कि कोई भी राजा तब द्वैधीभाव की नीति नहीं अपनायेगा, यदि उसे किसी

---

1. *तद्विशिष्टबलाभावे तमेवाश्रितः कोशदण्डभूमीनामन्यतमेनास्योपकर्तुमदष्टः प्रयतेत्।।*
   अर्थ0, अधि0 7, अ0 2, वार्ता 8 ।
2. *महादोषो हि विशिष्टबलसमागमो राज्ञामन्यत्रारिविगृहीतात्।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 2,वार्ता 9 ।*
3. *सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति षड्गुणाः।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 2, वार्ता 11 ।*
4. *यदि वा मन्येत। सन्धिनैकतः स्वकर्माणि प्रवर्तयिष्यामि विग्रहेणैकतः पर कर्माण्यपहनिष्यामीति द्वैधिभावने वृद्धिमातिष्ठेत्।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 2, वार्ता 63 ।*
5. *द्वैधीभावः स्वसैन्यानां स्वापनं गुल्मगुल्मतः।।* *शुक्रनीति, अ0 4, श्लोक 1070 ।*

प्रकार कुछ क्षति होने की संभावना हो।

कौटिल्य के मतानुसार द्वैधीभाव के दो रूप हैं– (1) विग्रह और (2) सन्धि। यह द्वैधीभाव नीति अपनाने वाले राजा की शक्ति और सामर्थ्य पर निर्भर करता है कि वह किस राजा के साथ सन्धि करे और किस राजा के साथ विग्रह करे।

कौटिल्य के बाद के युग में भी द्वैधीभाव की नीति को मान्यता दी जाती रही है। बाद के विद्वानों ने द्वैधीभाव के पाँच रूपों का उल्लेख किया है– (1) मिथ्याचित्त (2) मिथ्यावचन (3) मिथ्या कर्म (4) उभयवेतन (5) युगभाप्राभृत्रक।

कौटिल्य ने षाड़गुण्य मंत्र को अपनी विदेश नीति का आधार बनाकर विदेश नीति के विभिन्न पक्षों का विवेचन पस्तुत किया है, जिसका महत्व न केवल उस समय में था, वरन् आज भी है। यद्यपि कौटिल्य ने अपनी षाड़गुण्य नीति में छः गुणों और तथ्यों का उल्लेख किया है तथा उसने इस छूट की भी स्वीकृति दी है कि राजा समय और परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन कर सकता है।

उपाय

प्राचीन भारत के अधिकांश आचार्यों ने विदेश नीति की सफलता के लिए षाड्गुण मंत्र के साथ–साथ विभिन्न उपायों का उल्लेख किया है। शुक्र और मनु ने भी इन उपायों का उल्लेख किया हैं।

कौटिल्य ने षाड्गुण्य की छः नीतियों के अतिरिक्त चार उपाय–साम, दाम, भेद और दंड।[1]

कौटिल्य का मत है कि दुर्बल राजाओं को साम और दाम उपायों के द्वारा वश में करना चाहिए।[2] अर्थात जो राजा दुर्बल है उनको समझा–बुझाकर और यदि आवश्यकता समझी जाए तो कुछ दे दिलाकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए। परन्तु जो राजा सबल हों उनको भेद और दण्ड से वश में करना चाहिए।[3] कौटिल्य इन सामादि उपायों में उत्तर की अपेक्षा पूर्व का उपाय निर्बल मानते हैं।[4] उनके मतानुसार साम उपाय में केवल एक ही गुण होता है।[5] दाम दो गुणवाला होता है क्योंकि उसमें साम गुण भी सम्मिलित होता है।[6] भेद में तीन गुण होते हैं। भेद के

1. *सामदानभेददण्डान्प्रयुम्जीत्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 3, वार्ता 7।*
2. *सामदानाभ्यां दुर्बलानुपममयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 3।*
3. *भेद दण्डाभ्यां बलवतः।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 4।*
4. *पूर्वः पूर्वश्चास्य लधिष्ठः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 6, वार्ता 67।*
5. *सान्त्वमेकगुणम्।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 6, वार्ता 68।*
6. *दानं द्विगुणं सान्त्वपूर्वं,।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 6, वार्ता 69।*

अन्तर्गत साम और दाम गुण भी होते हैं।[1] दण्ड में चार गुण होते हैं। दण्ड में साम, दान और भेद यह तीनों भी सम्मिलित होते हैं।[2]

अनेक दुर्बलताओं के बावजूद कौटिल्य का षाड्गुण्य सिद्धान्त आधुनिक युग में भी प्रासंगिक है। आज भी इसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता है। कौटिल्य की षाडगुण्य नीति के अनेक गुण आज न केवल भारत की विदेश नीति में, वरन् अन्य देशों की विदेश नीतियों में भी पाये जाते हैं। भारत–चीन सम्बन्ध तथा भारत–पाक सम्बन्ध में कौटिल्य के षाडगुण्य सिद्धान्त की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है।

कुछ समीक्षकों ने कौटिल्य के षाडगुण्य सिद्धान्त के विरूद्ध यह आलोचना की है कि यह सिद्धान्त छल, प्रपंच, कपट जैसे साधनों के प्रयोग का समर्थन करता है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि आज भी अनेक देश राजनयिक क्षेत्र में छल, प्रपंच और कपट का आश्रय लेते हैं। 1962 के भारत–चीन युद्ध में चीन ने भारत के विरूद्ध छल, प्रपंच और कपट का आश्रय लिया था। भारत के संदर्भ में पाकिस्तान की विदेश नीति का मूल आधार छल, प्रपंच और कपट है।

षाडगुण्य नीति की व्याख्या करने के क्रम में कौटिल्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि युद्ध का आश्रय लेने के पूर्व सन्धि का प्रयोग किया जाना चाहिये। वर्तमान समय में भी अधिकांश देशों के शासकों ने सन्धि का प्रस्ताव करके यथासम्भव युद्ध को टालने का प्रयास किया है।

कौटिल्य की षाडगुण्य नीति के द्वारा यह स्पष्ट संकेत किया गया है कि बड़े साम्राज्यों को छोटे साम्राज्यों को अपने में विलय करने का प्रयास करना चाहिये अथवा आवश्यकता पड़ने पर उन पर आक्रमण भी करना चाहिये। अमरीका की विदेश नीति का यह मूल मंत्र है। इस प्रकार विभिन्न राज्यों की विदेश नीतियों में ऐसे अनेक तत्व विराजमान है जिनका उल्लेख कौटिल्य के षाडगुण्य सिद्धान्त में मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि कौटिल्य का षाडगुण्य सिद्धान्त आज भी प्रासंगिक और महत्वपूर्ण है। वस्तुतः कौटिल्य का षाडगुण्य सिद्धान्त विदेश नीति के क्षेत्र में एक यथार्थवादी सिद्धान्त है। अनेक दोषों के बावजूद इसके तत्वों के महत्व को कम करके नहीं आँका जा सकता है।

बल

कौटिल्य ने बल को शक्ति नाम से सम्बोधित किया है,[3] उन्होंने शक्ति तीन प्रकार की

---

1. *भेदस्त्रिगुणः सान्त्वदानपूवः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 6, वार्ता 70 ।*
2. *दण्डश्चतुर्गुणः सान्त्वदानभेदपूर्वः।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 6, वार्ता 71 ।*
3. *बलं शक्तिः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 40 ।*

बतलायी है[1] जिनको वह मंत्रशक्ति, प्रभु–शक्ति और उत्साह शक्ति के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह ज्ञान बल को मंत्रशक्ति,[2] कोष और सैन्य बल को प्रभुशक्ति[3] और विक्रम को उत्साह शक्ति मानते हैं।[4] इन तीनों प्रकार के बल से सम्पन्न राजा श्रेष्ठ माना गया है।[5] इन बलों से हीन राजा दुर्बल माना गया है।[6] जिस राजा में ज्ञानबल, कोषबल और सैन्यबल तथा विक्रमबल यह तीनों बल तुल्य होते हैं उस राजा को समशक्त राजा बतलाया गया है।[7]

सैन्यबल का महत्व

कौटिल्य ने भी अन्य आचार्यों की भाँति सप्तांग राज्य की एक प्रकृति दण्ड माना है।[8] दण्ड से उनका तात्पर्य सैन्यबल से है। सैन्यबल के महत्व पर अपने विचार प्रकट करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि– राजा पर बाह्य और आन्तरिक दो प्रकार के कोप आते हैं।[9] अमात्य आदि का कोप आन्तरिक कोप कहलाता है और जिसको कौटिल्य ने बाह्य कोप से अधिक भंयकारी माना है।[10] शत्रु का कोप (आक्रमण) बाह्य कोप माना गया है। इन दोनों प्रकार के कोपों से राजा को अपनी रक्षा करने का उपाय, कौटिल्य के मतानुसार दण्ड (सैन्यबल) और कोप को अपने अधीन रखना है।[11]

कोष और दण्ड में किस को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए इस विवादग्रस्त प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य कोणपदन्त ने अपना मत प्रकट किया है– कि सैन्यबल के द्वारा ही मित्र और शत्रु का निग्रह होता है। सैन्यबल के द्वारा ही दूसरे की सेना को अपनी ओर मिलाया जा सकता है और अपनी सेना की वृद्धि भी इसी के द्वारा की जा सकती है।[12] सैन्यबल के अभाव में कोष का नाश हो जाता है।[13] कोष न भी हो तो भी कुप्य तथा भूमि द्वारा अथवा शत्रु की भूमि

---

1. *शक्ति त्रिविधा।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 42 ।*
2. *ज्ञानवलं मंत्रशक्तिः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 43 ।*
3. *कोषदण्डदलं प्रभुशक्तिः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 44 ।*
4. *विक्रमबलंमुत्साहशक्ति।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 45 ।*
5. *ताभिरम्युच्चितो ज्यायान्भवति।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 50 ।*
6. *अपचितो हीनः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 51 ।*
7. *तुल्यशक्तिः समः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 52 ।*
8. *स्वाभ्यामात्यजनपददुर्गकोषदण्डमित्राणि प्रकृतयः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 1 ।*
9. *राज्ञोऽम्यन्तरो बाह्यो वा कोप इति।।* — *अर्थ0, अधि0 8, अ0 2, वार्ता 2 ।*
10. *अहिभयादम्यन्तरः कोपो बाह्यकोपात्पापीयान्।।* — *अर्थ0, अधि0 8, अ0 2, वार्ता 3 ।*
11. *अन्तरमात्यकोपश्चान्तः कोपात्।।* — *अर्थ0, अधि0 8, अ0 2, वार्ता 4 ।*
12. *तस्मात्कोशदण्डशक्तिमात्म संस्थां कुर्वीत्।।* — *अर्थ0, अधि0 8, अ0 2, वार्ता 5 ।*
13. *दण्डमूलो हि मित्रामित्रनिग्रहः परदण्डोत्साहनं स्वदण्डप्रतिग्रहश्च।। अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 41 ।*

के ग्रहण कर लेने से सेना का संग्रह किया जा सकता है।[1] कोष सैन्यबल के ही आश्रित होता है।[2] कौटिल्य ने मित्रबल और सैन्यबल की तुलना करते हुए मत प्रकट किया है– कि सैन्यबल मित्रबल से अधिक उपयोगी होता है। सैन्यबल युक्त राजा के मित्र तो उसके मित्र बने ही रहते हैं परन्तु उसके शत्रु भी मित्र बन जाते हैं।[3] इस प्रकार कौटिल्य ने सैन्यबल के महत्व को प्रतिपादित किया है।

सैन्यबल के प्रकार

कौटिल्य ने सेना के मुख्य छः प्रकार बतलाए हैं, जिनको उन्होंने मौलबल, भृतबल, श्रेणीबल, शत्रुबल, मित्रबल, और अटव्विल के नाम से सम्बोधित किया है।[4] सैन्यबल के इन छः प्रकारों में उत्तर की अपेक्षा पूर्व की सेना का प्रकार अधिक श्रेयस्कर माना गया है।[5] अधिक समय से वृत्ति लेकर चली आने वाली सेना को मौलसेना की संज्ञा दी गयी है। अपने स्वामी के भाव में भाव मिलाने और उसका नित्य सत्कार करने के कारण भृतबल से मौलबल श्रेष्ठ बतलाया गया है।[6] युद्ध काल के प्रारम्भ होने के समय अथवा युद्ध काल में ही भृति के आधार पर राजा जिस सेना को अपनी सेना में प्रविष्ट किया करता था उस सेना को भृतबल कहा गया है। सेना के महत्त्व की दृष्टि से राज्य की सेना में भृत सेना को द्वितीय स्थान देते हुए कौटिल्य ने कहा है कि नित्य समीप रहने और युद्ध के निमित्त सन्नद्ध की जाने योग्य होने के कारण श्रेणीबल की अपेक्षा भृतबल श्रेष्ठ है।[7] कौटिल्य ने श्रेणी बल पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है। अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि श्रेणी बल का स्वरूप क्या था। परन्तु विद्वानों का मत है कि श्रेणि मनुष्यों के उस संघ को कहते थे जिसमें विभिन्न जातियों के परन्तु एक ही व्यवसाय के आश्रित जीविका कमाने वाले लोग सदस्यता प्राप्त किए हों। इस प्रकार इस संघ के सदस्यों

---

1. *दण्डाभावे च ध्रुवः कोपविनाशः।।* — *अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 42 ।*
2. *कोषभावे च शक्यः कुप्येन भूम्या परभूमिश्चयंग्रहेण वा दण्डः पिण्डयितुम्।।* — *अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 43 ।*
3. *दण्डवता च कोशः।।* — *अर्थ0, अधि0 8, अ0 1, वार्ता 44 ।*
4. *मौलभृतकेणिमित्रामित्राटयीबलानां सारपक्ष्गुणां विद्यात्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 33, वार्ता 9 ।*
   यत्र तु दण्डः प्रतिहतस्त वा चार्वमन्यांश्च साधयति तत्र मौलभृतश्रेणीमित्रामित्राटकीष– लानामन्यतमभुपलव्ध देवाकालं दण्डं दद्यात्।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 8, वार्ता 30 ।*
5. *पूर्वपूर्ण चैपं श्रेयः संनातयितुम्।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 35 ।*
6. *तंद्भावभावित्वात्रित्यसत्कारानुगमाच्च मौलबलंभृतबलाच्छेयः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 36।*
7. *नित्यानन्तरं क्षिप्रोत्यायि वश्यं च भृतबलं श्रेणीबलाच्छेयः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 37 ।*

के अधीन आत्मरक्षा के लिए जो सेना रहती थी सम्भवतः उसी को श्रेणी बल कहा गया है। महत्व की दृष्टि से कौटिल्य ने श्रेणीबल को तीसरा स्थान दिया है। श्रेणीबल की उपयोगिता को बतलाते हुए उन्होंने अपना मत प्रकट किया है– कि अपने देश के होने तथा राजा एवं श्रेणी दोनों का एक ही स्वार्थ होने के कारण मित्रबल की अपेक्षा श्रेणीबल श्रेष्ठ होता है। राजा को जिससे संघर्ष अथवा अमर्ष हो उसी से श्रेणीबल को संघर्ष एवं अमर्ष होता है। दोनों को एक से सुख की सिद्धि होती है।[1] श्रेणीबल के उपरान्त मित्रबल का स्थान माना गया है। प्रत्येक समय में मित्रबल सहायता प्राप्त करने और राजा और उसके मित्र का समान स्वार्थ होने के कारण शत्रु बल की अपेक्षा मित्रबल सहायता करने में श्रेष्ठ माना गया है।[2] मित्रबल के पश्चात् शत्रुबल का स्थान बतलाया गया है। कौटिल्य का मत है कि यदि आर्य पुरुषों से युक्त शत्रुबल हो तो वह अटवी बल से श्रेष्ठ होता है।[3] शत्रुबल और अटवीबल दोनों लूटमार करने के काम आते हैं।[4] यदि इन सेनाओं को लूट का माल न मिले और राजा पर कोई संकट आ पड़े तो यह दोनों सेनाएँ सर्प के समान भय खड़ा कर देती हैं।[5] इस प्रकार सेना की उपयोगिता की दृष्टि से प्रथम स्थान मौलबल, और सबसे अन्तिम स्थान अटवी बल का माना गया है।

वर्णाधार पर सेना की श्रेष्ठता

कौटिल्य ने वर्ण के आधार पर भी सेना की उत्तमता का निर्णय दिया है। उन्होंने अपने पूर्व के आचार्यों का मत उद्घृत करते हुए बतलाया हैं कि आचार्यों का मत है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण की अलग–अलग सेनाओं में तेज की प्रधानता के कारण उत्तर की अपेक्षा पूर्व की सेना श्रेष्ठ होती है अर्थात् शूद्र वर्ण की सेना से वैश्य वर्ण की सेना, वैश्य वर्ण की सेना से क्षत्रिय वर्णय की और क्षत्रिय वर्ण की सेना से ब्राह्मण वर्ण की सेना श्रेष्ठ होती है। इसका कारण यह बतलाया गया है कि जिस सेना के सैनिकों में जितना अधिक तेज होता है उतनी ही उत्तम यह सेना होगी। ब्राह्मण में तेज की मात्रा अन्य वर्णों से अधिक होती है अतः इन

---

1. *जनपदमेकार्धोपगतं तुल्यसंधर्षामर्षसिद्धि लाभं च श्रेणीबलं मित्रबलाच्छ्रेयः ।।*
   अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 38 ।
2. *अपरिमित देशकालमेकार्धोपगमाध्ष मित्रबलममित्रबलाच्छ्रेयः ।।* *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 39 ।*
3. *आर्याधिष्ठितममित्रबलमटवीबलाच्छ्रेयः ।।* *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 40 ।*
4. *तदुभयं विलोपार्थम् ।।* *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 41 ।*
5. *अविलोपे व्यसने च ताभ्यामहिभयं स्यात् ।।* *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 42 ।*

आचार्यों के मत से ब्राह्मण सेना सर्वश्रेष्ठ होती है।[1]

परन्तु आचार्य कौटिल्य इस सिद्धान्त को नहीं मानते।[2] उनका कहना है क ब्राह्मणबल नमस्कार आदि के करने से शत्रु को क्षमा कर देता है।[3] युद्धविद्या में कुशल एवं विनयशील क्षत्रिय सेना ही सर्वश्रेष्ठ होती है।[4] वीर योद्धाओं से युक्त वैश्य अथवा शूद्र वर्ण की सेना को भी उसी प्रकार उत्तम समझना चाहिए।[5] इस प्रकार प्रत्येक सेना के तत्व एवं शत्रु की सेना के बलाबल को जान कर उसके अनुसार ही सेना का संग्रह करना चाहिए।[6]

सेनांग

कौटिल्य ने सेना के मुख्य चार अंग माने हैं और इसीलिए उन्होंने सेना को चतुरंगबल के नाम से सम्बोधित किया है। चतुरंग बल के यह चार अंग हस्तबल, अश्वबल, रणबल और पत्यबल बतलाए गए हैं।[7] इस चतुरंगणी सेना में हस्तसेना पर बहुत महत्त्व दिया गया है। कौटिल्य ने हस्तिसेना पर महत्त्व देते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है कि राजाओं की विजय हाथियों की सेना के आश्रित मानी गयी है।[8] शत्रु सेना, व्यूह, दुर्ग, छावनी (स्कन्धावार) के मर्दन करने में हस्त सेना कुशल होती है, क्योंकि इनके शरीर विशाल होते हैं। हाथी युद्धस्थल में मनुष्यों के प्राण तुरन्त नाश करने में समर्थ होते हैं।[9] कौटिल्य राजा के लिए हाथियों को अधि
ाक संख्या सेना में रखना हितकर मानते हैं। कौटिल्य बताते हैं "बहुत से दुर्बल हाथियों से थोड़े शूर हाथियों से युक्तबल कल्याणकारी होता है,[10] क्योंकि शूर हाथियों से ही युद्ध हो सकता है।[11] थोड़े शक्तिशाली हाथी बहुत से अशक्त हाथियों को भगा देते हैं और वह भागते हुए हाथी अपनी

---

1. *ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्यशूद्रसैन्यानां तेजःप्राधान्यात्पूर्वपूर्वश्रेयः संनाहयितुमित्याचार्याः।।*
   अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 43 ।
2. *नेति कौटल्यः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 44 ।*
3. *प्रणिपातेन ब्राह्मणबलं परोऽभिहात्येत्।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 45 ।*
4. *प्रहरण विद्याविनीतं तु क्षत्रियबलं श्रेयः।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 46 ।*
5. *बहुलसारं वा वैश्यशूद्रबलमिति।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 47 ।*
6. *तस्मादेवंबलः परस्तस्यैतत्प्रतिबलमिति बलसमुद्वानं कुर्यात्।।* — *अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 48 ।*
7. *वीर्मणो वा हस्तिनोऽश्यां वादर्मिणः कवक्षिनो रथा आवरणिनः पत्तयश्चतुरंगबलस्य प्रतिबलम्।।*
   अर्थ0, अधि0 9, अ0 2, वार्ता 52 ।
   चतुरंगस्य बलस्यानुष्ठानाधिष्ठानं विद्यात्।। — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 33, वार्ता 12 ।*
8. *हस्तिप्रधानो हि विजयो राज्ञाम्।।* — *अर्थ0, अधि0 2, अ0 2, वार्ता 14 ।*
9. *परानोकव्यूहदुर्गस्कन्धावारप्रमर्दनाह्यतिप्रमाणशरीराः प्राणहरकर्माणो हस्ति न इति।।*
10. *तत्रापिबहुकुण्ठाल्पशूरयोरल्पशूरं श्रेयः।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 12, वार्ता 9 ।*
11. *शूरेषु हि युद्धम्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 12, वार्ता 10।*

ही सेना का नाश कर देते हैं।[1] परन्तु कौटिल्य इस मत का समर्थन नहीं करते,[2] अशक्त भी बहुत से हाथी राजा के कल्याण में समर्थ हो सकते हैं क्योंकि वह अपने स्कन्ध पर वहन से कार्यों का भार ग्रहण कर लेते हैं। और अनेक युद्धोपयोगी कार्य करके अपने पक्ष के वीरों के आश्रय बन जाते हैं।[3] हाथियों की अधिक संख्या देखकर शत्रु भयभीत हो जाते हैं और वह आक्रमण करने में असमर्थ हो जाते हैं।[4] यदि बहुत से अशिक्षित हाथी भी हैं तो उनको सिखाकर शूर वीर बनाया जा सकता है।[5] परन्तु हाथियों को थोड़ी संख्या में बड़ी संख्या नहीं बनायी जा सकती।[6] इस प्रकार कौटिल्य ने हस्ति सेना की अधिक संख्या होने पर बहुत बड़ा महत्त्व दिया है।

विष्टि

सेना की इन चार श्रेणियों को सामग्री आदि की सहायता देने के निमित्त तथा इनके वाहनों की सेवा सुश्रुषा के निमित्त विशेष प्रकार के सेवकों की आवश्यकता होती है। कौटिल्य ने इन सेवकों को विष्टि नाम से सम्बोधित किया है।

भीष्म ने विष्टि को सेना का एक अलग अंग माना है।[7] कौटिल्य ने विष्टि के विशेष कर्तव्यों का वर्णन करते हुये बताया है कि– खेमें, तम्बु, मार्ग पुल, कुएं, घाटों आदि का शोधन, वनों में घास आदि उखाड़ कर मार्ग को साफ करना, यंत्र, आयुध, कवच तथा अन्य प्रकार की युद्धोपयोगी सामग्री, अन्न, घास, आदि का वहन करना, युद्धभूमि से आयुध, कवच आदि एकत्र करके ले आना–यह समस्त कार्य विष्टि के हैं।[8]

सैन्य चिकित्सक एवं परिचारिकायें

सेना के साथ अन्य उपयोगी लोग भी रहते थे जिनसे समय पड़ने पर सेवा कार्य लिया

---

1. *अल्पाः शूरा बहूनशूरान्भन्जन्ति ते भग्नाः स्वसैन्यावधातिनोभवन्तीत्याचार्याः।।*
   अर्थ0, अधि0 7, अ0 12, वार्ता 11।
2. *नेति कौटल्यः।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 12, वार्ता 12 ।*
3. *कुण्ठा बहवः श्रेयांसः स्कन्धविनियोगादनेकं कर्मकुर्याणाः स्वेषामपाश्रयो युद्धे।।*
   अर्थ0, अधि0 7, अ0 12, वार्ता 13 ।
4. *परेषां दुर्धर्या विभीषणाश्च।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 12, वार्ता 14 ।*
5. *बहुशु हि कुण्ठेपु विनयकर्मणा शक्यं शौर्यभाधातुम्।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 12, वार्ता 15 ।*
6. *न त्वेवाल्येषु शूरेषु बहुत्वमिति।।* *अर्थ0, अधि0 7, अ0 2, वार्ता 16 ।*
7. *रथानागाहवाश्चैव पाण्डव।*
   विशिष्टर्नाविश्चरश्चैव देशिका इति चाष्टमम्।। *महा0, शा0 प0, अ0 56, श्लोक 41 ।*
8. *शिविरमार्गसेतुकूपतीर्थ.................. ।।* *अर्थ0, अधि0 10, अ0 4, वार्ता 18 ।*

जा सकता था।

युद्ध में सैनिक एवं उनके वाहन घायल होते हैं और मरते भी हैं। ऐसी स्थिति में घायल हुए मनुष्य एवं पशुओं की चिकित्सा होनी चाहिए। इसीलिए घायल मनुष्यों एवं पशुओं की चिकित्सा के लिए सेना में चिकित्सक भी राज्य की ओर से नियुक्ति किये जाते थे। चिकित्सकों को आयुर्वेद शास्त्र सम्बन्धी पुसतकें, उपयोग में आने वाले यंत्र, औषधि, घृत, तेल, वस्त्र आदि से युक्त होना चाहिए। इनके साथ में कुछ स्त्रियाँ भी रहती थीं जो अन्न, पान आदि की रक्षिका और हास्य विनोद से सैनिकों को प्रसन्न करने वाली होती थीं। सम्भवतः यह स्त्रियाँ, आधुनिक काल की सेविकाओं की भांति सेवा सुश्रवा के हेतु रखी जाती होंगी। कौटिल्य ने इन वैद्य एवं स्त्रियों को सेना के पृष्ठ भाग में रखने का निर्देश दिया है।[1] यह स्त्रियां सेना में अन्न, पान की रक्षिका बतलायी गयी है। इससे आभासित होता है कि सेना के भोजन बनाने और उनको खिलाने का भार इन्हीं स्त्रियों पर रहता होगा।

सैन्य व्यसन

कौटिल्य ने सेना के कतिपय दोषों का भी उल्लेख किया है जिनको वह सेना के व्यसन के नाम से सम्बोधित करते हैं।[2] सेना के यह व्यसन चौतीस बतलाए गए हैं और जो इस प्रकार है– **अमानित, विमानित, अमृत, व्याधित, नवागत, दूरयात, परिश्रान्त, परिक्षीण, प्रतिहत, हताग्रवेग, अनृतुप्राप्त, अभूतिप्राप्त, आशानिषेंदि, परिसृप्त, कलप्रगार्ह, अन्तःशल्य, कुपितमूल, भिन्नगर्भ, अपसृत, अतिक्षिप्त, उपनिविष्ट समाप्त, उपरुद्ध, उपक्षिप्त, छिन्नधान्य, पुरुषवीवध, स्वविक्षिप्त, मित्रविक्षिप्त, दूष्ययुक्त,, दुष्टपार्ष्णिग्राह, शून्यमूल, अस्वामिसंहत, भिन्नकूट, और अन्ध।**[3] **उन्होंने इन में प्रत्येक व्यसन के लक्षण तथा इन व्यसनों से सेना को बचाने के उपाय भी बताये है। उनका मत है कि सेना के साथ किए गए दुर्व्यवहारों का लोप करना दूसरे की सेना से अपनी सेना को बलोत्साह सहित कर देना, दुर्ग, वन आदि में सेना की उचित स्थिति करना तथा बलवान पक्ष से सन्धि कर लेना** यह सेना व्यसनों के नाश करने के साधन हैं।[4]

---

1. *चिकित्सिकाः शस्त्रयंत्रागदस्नेहदस्त्रहस्ताः स्त्रियश्चपन्नपानरक्षिण्यः पुरुषक्षामुद्धषणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः।।*
अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 62।
2. *बलव्यसनानि।।* *अर्थ0, अधि0 8, अ0 5, वार्ता 1।*
3. *अमानित............शून्यमूलमस्वामिसंहतं मित्रकूटमन्धमिति।।* *अर्थ0, अधि0 8, अ0 5, वार्ता 2।*
4. *दोषशुद्धिर्वलापापः सत्रस्यानातिसंहितम्।*
सन्धिश्चोत्तरपक्षस्य बलभ्यसनसाधनम्।। *अर्थ0, अधि0 8, अ0 5, श्लोक 20।*

युद्धकाल

कौटिल्य ने काल शीत, उष्ण और वर्षायुक्त माना है।[1] अर्थात् कभी शीत, कभी उष्ण और कभी वर्षा युक्त काल होता है। सेना के लिए कौन सा उत्तम, मध्यम, अथवा अधम काल के विषय में कौटिल्य यह व्यवस्था देते हैं कि जिस काल में अपनी सेना के व्यायाम के लिए उत्तम ऋतु हो और शत्रु सेना के लिए वह ऋतु विपरीत पड़ती हो तो वह उत्तम काल माना गया है। जो ऋतु शत्रु के अनुकूल हो वह अधम और जिस ऋतु में अपनी सेना शत्रु सेना दोनों को व्यायाम के लिए समान सुविधा हो वह ऋतु मध्यम काल माना गया है।[2]

युद्ध काल के इस सामान्य नियम के साथ ही कौटिल्य ने युद्ध यात्रा के तीन मुख्य काल माने हैं जो मार्गशीर्ष और पौष, चैत्र–वैशाख और ज्येष्ठ और आषाढ़ मास माने गए हैं कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि यदि अपनी सेना के पराक्रम दिखाने के योग्य और शत्रु सेना का अनुपयोगी काल हो तो वर्षा ऋतु में भी आक्रमण करना उचित है।[3] मार्गशीर्ष मास में शत्रु की पुरानी खाद्य सामग्री समाप्त हो जाती है और नवीन संचित नहीं हो पाती है। दुर्गों का जीर्णोद्धार भी नहीं हो पाता है। नया मित्र भी नहीं बन पाता है। सस्य खेतों में खड़ी होती है। इसलिए हेमन्त की अन्नोंत्पत्ति के नाश हेतु मार्ग–शीर्ष मास की युद्ध–यात्रा उत्तम मानी गयी है।[4] हेमन्त और वसन्त वाली दोनों सस्यों के नाश हेतु चैत्र मास की युद्धयात्रा श्रेष्ठ मानी गयी है।[5] इस समय ज्येष्ठ आषढ़ मास में शत्रु तृण, काष्ठ, जल से हीन होता है और दुर्गों का जीर्णोद्धार भी नहीं करा पाता। वह मित्र–हीन भी होता है। वसन्त ऋतु में खड़ी हुई सस्य एवं वर्षा ऋतु में उत्पन्न होने वाले अन्न के नाश के निमित्त ज्येष्ठ काल की युद्ध यात्रा अच्छी मानी गयी है।[6] कौटिल्य का मत है कि यदि युद्ध दीर्घकाल में समाप्त होने वाला है तो ऐसे युद्ध का आरम्भ मार्गशीर्ष और पौष मास के मध्य में होना चाहिए, मध्यम काल में समाप्त होने वाले को

---

1. *कालः शीतोष्णवर्षात्मा।।* *अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 22।*
2. *यत्रात्मनः सैन्यप्यायामानामृतुश्नतुः परस्य स उत्तमः कालो विपरीतोऽधमः साधारणो मध्यमः।।* *अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 28।*
3. *स्वसैन्यप्यायामयोग्यं परस्या योग्यं वर्षति यायात्।।* *अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 39।*
4. *क्षीणपुराणभक्त भगृहीतनवभक्तमसैस्कृतदुर्गममिंवार्षिकं चास्य सस्यं हैमनं च मुष्ठिमुपहन्तुं मार्गशीर्षी यात्राम् आयात्।* *अर्थ0. अधि0 9, अ0 1, वार्ता 34।*
5. *हेमनं चास्य सस्यं वासन्तिकं च मुष्टिमुपहन्तुं चैत्रीं यात्रां यायात्।। अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 35।*
6. *क्षीणतृणकाष्ठोदकमसंस्कृतदुर्गममित्रं वासन्तिकं चास्य तस्यं वार्षिकीं या मुष्टिमुपहन्तुं ज्येष्ठमूलीयां यात्रां यायात्।।* *अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 36।*

चैत्र–वैशाख के मध्य में और जो युद्ध अल्पकाल में ही समाप्त हो जाने वाला हो तो ज्येष्ठ और आषाढ़ के मध्य में आक्रमण किया जा सकता है।[1] कौटिल्य ने प्राचीन आचार्यों का मत देते हुए चौथा यात्रा काल भी बतलाया है जो उस समय होना चाहिए जबकि शत्रु व्यसन ग्रस्त हो।[2] परन्तु कौटिल्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि जब राजा में शक्ति का उदय हो तभी उसको शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिए। विपत्ति तो कभी रहती है और कभी तुरन्त ही टल जाती है।[3] जब शक्ति सम्पन्न राजा ऐसा देखता है कि वह आक्रमण करने पर शत्रु की शक्ति को क्षीण करने में समर्थ हो जाएगा अथवा इसका उच्छेदन कर सकने में समर्थ हो सकेगा तभी उस पर आक्रमण करना चाहिए।[4]

इसके अतिरिक्त देश विशेष के अनुसार भी युद्ध यात्रा का काल निर्धारित करते हुए कौटिल्य व्यवस्था देते हैं कि अत्यन्त उष्ण और अल्प तृण, ईंधन, जल वाले भू–भाग पर हेमन्त ऋतु में आक्रमण करना चाहिए।[5] बर्फीले, नित्य वर्षा वाले, अगाध जल से भरे रहने वाले, घास और वृक्षों के वन से गहन भू–भाग पर ग्रीष्म ऋतु में आक्रमण करना चाहिए।[6]

स्कन्धावार

प्राचीन भारत में सेना की छावनी को स्कन्धावार के नाम से सम्बोधित किया गया है। कौटिल्य ने भी अन्य आचार्यों की भाँति ही छावनी को स्कन्धावार के नाम से सम्बोधित किया है। स्कन्धावार कहाँ और किस प्रकार का होना चाहिए इस विषय में कौटिल्य बताते हैं कि भवन–निर्माण कला के अनुसार जो भू–भाग उत्तम समझा जाए उसमें से नायक, कारीगर और ज्योतिषी को गोल अथवा चौकोर भूमि को स्कन्धावार के निमित्त नापना चाहिए। भूमि की सुविधानुसार इस छावनी में चार द्वार, छः मार्ग और नौ भाग होने चाहिए।[7] इसकी रक्षा के निमित्त खाई, परकोटा, द्वार, अट्टालिकाएँ एवं भय के समय रक्षा के स्थान होने चाहिए।[8] स्कन्धावार के

---

1. *चैत्रीं वैशाखीं चान्तरेण मध्यमकालां ज्येष्ठामूलीयामाषाढीं चान्तरेण ह्रस्वकालामुपोषिष्यन्।।* अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 41 ।
2. *व्यसने चतुर्थी।।* अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 42 ।
   प्रायशश्चार्याः परव्यसने यातव्यमित्युपदिशन्ति।। अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 44 ।
3. *शक्त्युदये यातव्यमनैकान्तिकत्वाद् व्यसनानामिति कौटल्यः।।* अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 45 ।
4. *यदा वा प्रपातः कर्शयितुमुच्छेतुं वा शश्नुयादमित्रं तदा यायात्।।* अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 46 ।
5. *अत्युष्णमल्पसवसेन्धनोदकं वा देशं हेमन्ते यायात्।।* अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 37 ।
6. *तुषारादुर्दिनमगाधनिम्नप्रायं गहनतृणवृक्षं या देशं ग्रीष्मे यायात्।।* अर्थ0, अधि0 9, अ0 1, वार्ता 38 ।
7. *वास्तुकप्रशस्ते वास्तुनि ....षट्पथं नवसंस्थामं मापयेयुः।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 1 ।
8. *खातवप्रसालद्वाराट्टालकलम्पन्नं भये स्थाने च।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 2 ।

नौ भागों में से एक भाग में स्कन्धावार के मध्य उत्तर की ओर सौ धनुष लम्बे और पचास धनुष चौड़े भू–भाग में राजभवन का निर्माण होना चाहिए। इसके पश्चिमी भाग में रनिवास की रचना होनी चाहिए और फिर अन्त में अन्तःपुर की रक्षा हेतु सेना के रहने का स्थान होना चाहिए।[1] राज–भवन के सम्मुख पूजागृह और उसके दाहिनी ओर कोष एवं शासन सम्बन्धी अन्य विभाग, बाई ओर राजा की सवारी के हाथी, घोड़ों और रथों की शालाओं का निर्माण किया जाना चाहिए।[2] इसके बाहर सौ–सौ धनुष की दूरी पर चार भाग होने चाहिए जो गाड़ियों, कटिवार वृक्षों, स्तम्भों और दीवारों द्वारा अलग बनाए जाने चाहिए।[3] इन चार भागों में प्रथम भाग में मंत्री और पुरोहित, इसके दाहिनी ओर एक भाग में भण्डार और भोजनालय और बाई ओर कुप्य और आयुध के आगारों की रचना की जानी चाहिए।[4] दूसरी परिधि में मौल, भृत आदि सेना का स्थान तथा अश्व और रथ शालाएँ एवं सेनापति का भवन होना चाहिए।[5] तीसरी परिधि में हाथी, रेणीबल और प्रशास्ता का भवन होना चाहिए।[6] चौथी परिधि में विधि कार्य करने वाले, नायक, मित्रबल, अमित्रबल, अटवींबल, उनके सेना–नायकों सहित उनका निवास होना चाहिए।[7] व्यापारियों और वेश्याओं के निवास–गृह बड़े मार्ग के साथ होने चाहिए।[8] शिकारी कुत्तों के रखने वाले तथा अग्नि एवं तुरी बाजा के संकेत से शत्रु के आने की सूचना के देने वाले रक्षक एवं गुढ़पुरुषों के निवास स्थान इसके बाहर की ओर होने चाहिए।[9]

स्कन्धावार में शत्रु के प्रवेश से सावधानी के उपाय

स्कन्धावार में जिस मार्ग से शत्रु के आने की सम्भावना हो उस मार्ग में बनावटी कुएँ,

---

1. *मध्यमस्योत्तरे नवभागे राजवास्तुकं धनुः शतायाममर्धविस्तारं पश्चिमार्धे तस्यान्तः पुरमन्तर्वंशिकसैन्यं चान्ते निविशेत।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 3 ।
2. *पुरस्तदुपस्यानं दक्षिणतःकोशशासनकार्यकरणानि वामतो राजोपवाह्यानां हरत्यश्वस्यानां स्थानम्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 4 ।
3. *अतो धनुः शतान्तराश्चत्वारः शकटमेधीप्रततिश्तम्भसालपरिक्षेपाः।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 5 ।
4. *प्रथमे पुरस्तान्मंत्रिपुरोहितो दक्षिणतः कोष्ठागारं महानसं च वामतः कुप्यायुधागारम्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 6 ।
5. *द्वितीये मौलभृतानां स्थानमश्वरयानां सेनापतेश्च।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 7 ।
6. *तृतीये हस्तिन5 श्रेण्यः प्रशासता च।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 8 ।
7. *चतुर्थेबिष्टिर्नायको मित्रामित्राटकीबलं स्वपुरुषाधिष्ठितम्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 9 ।
8. *वणिजो रूपाजीवाश्चामुमहापथम्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 10 ।
9. *ब्राह्मतो लुब्धकश्यगणिनः सतृयोप्रयः गूढाश्चारक्षाः।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 11।

टीले एवं कांटों का प्रबन्ध कर देना चाहिए।[1] अट्ठारह वर्ग के पुरूषों के पहरे बारी–बारी से बदलते रहने चाहिए।[2] शत्रु के चरों की क्रियाओं को जानने के लिए दिन का कार्यक्रम बनाया जाना चाहिए।[3] छावनी में लोगों में पारस्परिक विवाद, सुरापान, गोष्ठी, जुआ आदि का नितान्त निषेध होना चाहिए।[4] स्कन्धावार में प्रवेश एवं स्कन्धावार से बाह्य गमन के लिए राजकीय मुद्रा के प्रयोग के नियमों कां कठोरता से पालन किया जाना चाहिए।[5] स्कन्धावार के सीमा रक्षक उस सैनिक को जो कि अपनी सेना को छोड़कर इधर–उधर व्यर्थ घूम रहा हो उसके पास कोई राजशासन न हो तो बन्धन में डाल देना चाहिए। कौटिल्य ने स्कन्धावार की रक्षा हेतु व्यवस्था की है।[6]

स्कन्धावार से सेना गमन करने पर प्रशास्ता का कर्तव्य

कौटिल्य का कथन है कि स्कन्धावार से सेना के गमन करने के पूर्व ही प्रशास्ता नाम के अधिकारी को अपने आश्रित सेवकों एवं कारीगरों को साथ लेकर मार्ग की व्यवस्था करनी चाहिए। सेना के लिए जल आदि का प्रबन्ध करना चाहिए।[7]

सेना गमन करने की व्यवस्था

युद्ध के निमित्त सेना के गमन मार्ग में, एवं सेना के लिए आवश्यक रसद के प्रबन्ध के विषय पर कौटिल्य ने मत व्यक्त किया है कि सेना के यात्रा करते समय मार्ग में स्थित ग्रामों अथवा वनों में जहाँ कि सेना को ठहरना हो तृण, ईंधन, जल आदि का प्रबन्ध पहले से ही होना चाहिए और इस प्रबन्ध के अनुसार ही इन स्थानों पर अधिक अथवा कम दिन ठहर कर वहाँ से सेना को प्रस्थान करना चाहिए।[8] सेना को खाद्य सामग्री एवं वस्त्र आदि की जितनी आवश्यकता यात्रा के निमित्त प्रतीत हो, उससे दो गुनी सामग्री को साथ लेकर यात्रा करनी चाहिए।[9] यदि

1. *शत्रूणामापाते कूपकूटायपातकण्टकिनीश्च स्थापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 12।*
2. *अष्टादर्शवर्गाणामारक्षधिपर्यासं कारयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 1, अ0 1, वार्ता 13 ।*
3. *दिवायामं च कारयेदपसर्पज्ञामार्थम्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 14 ।*
4. *विवादसौरिटिकसमाजचतवारणं च कारयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 15 ।*
5. *मुद्रारक्षणं च।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 16 ।*
6. *सेनानिवृत्त्मायुधीयमशासनं शून्यपाजोऽनुयध्नीयात्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 17 ।*
7. *पुरस्तादध्वनः सम्यक्प्रशास्ता रक्षणानि च।*
   यायाद्वर्धकिविष्टिन्यामुदकानिच कारयेत्।। — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 1, वार्ता 18 ।*
8. *ग्रामारण्यानामध्वनि निवेशान् यवसेन्धनोदकवशेन परिसंख्याय स्थानासनगमनकालं च यात्रां यायात्।।*
   अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 1 ।
9. *तत्प्रतीकारद्विगुणं भक्तोपकरणं वाहयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 2 ।*

सामग्री अधिक है और उसके ले जाने के लिए गाड़ियाँ नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में थोड़ी–थोड़ी सामग्री सैनिकों को ले चलने के लिए सौंप देना चाहिए,[1] अथवा मार्ग में पड़ाव के स्थानों पर आवश्यकतानुसार उसका संग्रह करा देना चाहिए।[2]

सेना के मार्ग में गमन करते समय सेनानायक को सेना के अग्रभाग में रहकर सेना के आगे–आगे चलना चाहिए।[3] सेना के मध्य भाग में राजा और रनिवास को चलना चाहिए।[4] राजा के अगल–बगल में अश्वारोही सेना और वीर रक्षकों को चलना चाहिए।[5] सेना के पृष्ठ भाग में हस्तिसेना और बची हुई सेना चलनी चाहिए।[6] सेना के चारों ओर वन–जीवन के अभ्यस्त सैनिकों को चलना चाहिए।[7] सबसे पीछे अपनी–अपनी सेना के सेनापति को सेना के पृष्ठ भाग में रहकर गमन करना चाहिए।[8]

सेना के गमन करते समय यदि शत्रु के सामने से आने की सम्भावना हो तो अपनी सेना का मकरव्यूह, यदि पृष्ठ भाग की ओर से शत्रु के आने की सम्भावना हो तो शकटव्यूह, यदि अगल–बगल से आने की आशंका हो तो वज्रव्यूह, यदि चारों ओर से आक्रमण करने का भय हो तो सर्वतो भद्रव्यूह यदि किसी एक ओर अथवा संकुचित मार्ग से आने का भय हो तो सूची व्यूह की रचना कर गमन करना चाहिए।[9] यदि सेना की यात्रा के लिए दो मार्ग हों अर्थात् एक तो राजा की अपनी भूमि से होकर और दूसरा पर भूमि से होकर तो ऐसी स्थिति में राजा को अपनी भूमि से जाने वाले मार्ग से सेना का गमन कराना चाहिए।[10] सेना का प्रतिदिन एक योजन चलना अधम, डेढ़योजन चलना मध्यम और दो योजन चलना उत्तम बतलाया गया है।[11] संकटपूर्ण मार्गों की जांच कर मार्ग के संकटों को दूर करवा देना चाहिए।[12] यदि शत्रु द्वारा बनाए

---

1. *अशक्तो वा सैन्येष्वेव प्रयोजयेत्।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 3 ।*
2. *अन्तरेषु व निचिनुयात्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 4 ।*
3. *पुरस्तान्नायकः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 5 ।*
4. *मध्येकलत्रं स्वामी च।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 6 ।*
5. *पार्श्वयोरश्वायाहूत्साः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 7 ।*
6. *चक्रान्तेषु हस्तिनः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 8 ।*
7. *वनाजीवः प्रसारः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 10 ।*
8. *पश्चात् सेनापतिः पर्यायान्निविशेत।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 14 ।*
9. *पुरस्तात् अभ्याधाते मकरेण ....सर्वतोभद्रेणैकायने सूच्या।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 15 ।*
10. *पथिद्वैधीभावे स्वभूमितो यायात्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 16 ।*
11. *योजनमधमा अध्यर्ध मध्यमा द्वियोजनमुत्मा संभाम्या वा गतिः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 18 ।*
12. *संकटो मार्गः शोधयितव्यः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 20 ।*

गए दुर्ग, धान्य, घास आदि के संग्रह के रक्षकों के नाश की सम्भावना हो, धन के द्वारा शत्रु द्वारा संग्रहीत सेना के विरुद्ध हो जाने का निश्चय हो, इसके मित्र बल के विरक्त हो जाने की आशंका हो, शत्रु के तोड़ने–फाड़ने वाले पुरुष शीघ्रता से कार्य न कर रहे हों अथवा शत्रु के द्वारा ही अभिप्राय शीघ्र सिद्ध होने वाला हो तो राजा को धीरे–धीरे अपनी सेना की यात्रा करानी चाहिए।[1] यदि शत्रु सावधानी से गमन कर रहा हो और ऊपर की कोई भी बात न हो तो सेना को शीघ्रता से गमन करना चाहिए।[2]

मार्ग में नदियों को पार करने के लिये कौटिल्य ने अनेक साधन बतलाए हैं। सेना को इन साधनों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिये। कौटिल्य का मत है कि सेना को हाथी, खम्भों पर तख्ते विछाकर, पुल, नाव, काष्ठ, और बाँस के बेड़े, तूंबे, चमड़े से ढकी पिटारियों, दृति, प्लव, मणिक, और वेणिक के द्वार मार्ग में आये हुए जल–स्थानों को पार करना चाहिये।[3] यदि घाटों को शत्रु ने रोक दिया हो तो हाथी और अश्वों से अन्य मार्ग से रात में सेना को पार उतारकर घात में बैठकर अवसर पर युद्ध करना चाहिये।[4] मरुभूमि में यात्रा के समय गाड़ी अथवा चौपायों पर आवश्यकतानुसार जल भी साथ ले जाना चाहिये।[5] कुछ विशेष परिस्थितयों –सेना के थके होने , रोगग्रस्त होने, भययुक्त स्थानों में गमन करते समय, संकीर्ण मार्ग से होकर गमन करते समय, भोजन करते समय, आदि में राजा को अपनी सेना की रक्षा का विशेष प्रबन्ध करना चाहिये।[6] इस प्रकार कौटिल्य ने युद्ध के निमित्त प्रस्थान करने वाली सेना की यात्रा के समय मार्ग में विशेष सावधानी की आवश्यकता बतलायी है।

युद्ध के प्रकार

कौटिल्य ने युद्ध के अनेक प्रकार बतलाए हैं। इनमें उन्होंने तीन प्रकार के मुख्य युद्ध माने हैं जिनको उन्होनें प्रकाश युद्ध अथवा धर्मयुद्ध, कूटयुद्ध, और तूष्णी युद्ध के नाम[7] से

---

1. *कृतदुर्गकुमनिचयरक्षाणयः क्रीतबलनिर्वेदो मित्रबलनिर्देदश्चागमिप्याति उपजापितारो वा मातित्वश्यनित शत्रुरमिप्रायं वा पूरयिण्यतौति शनैर्यायात्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 22 ।
2. *विपर्यये शीघ्रम्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 23 ।
3. *हस्तिस्तम्भसंक्रमसेतुबन्धनौकाष्ठवेणुसंधातैरलावुचर्मकरण्डष्टप्सिवगणिककावेधिकाभिड्चीदकामि तारयेत्।।* अर्थ0, अधि0, 10 अ0 2, वार्ता 24 ।
4. *तीर्थमिग्रह हस्त्यश्वैरन्यतो रात्रावत्तार्य गृह्णीयात्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 25 ।
5. *अनुदके चक्रिचतुष्पदं चाण्वप्रमाणेन शक्तयोदकं वाहयेत्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 26 ।
6. *दीर्घकान्ताश्मनुदर्क ....स्वसैन्यं रक्षेत्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 2, वार्ता 27 ।
7. *विक्रमस्य प्रकाशयुद्धं कूटयुद्धं तृडणींयुद्धमिति सन्धि विक्रमौ।।* अर्थ0, अधि0 7, अ0 6, वार्ता 21 ।

सम्बोन्धित किया है। यद्यपि उन्होंने यह उल्लेख नहीं किया है कि प्रकाश युद्ध एवं धर्मयुद्ध दोनों एक ही प्रकार के युद्ध के दो भिन्न–भिन्न नाम है, परन्तु उन्होंने धर्मयुद्ध की परिभाषा वही की है जो कि उन्होनें प्रकाश युद्ध की की है।[1] देशकाल और विक्रम का निश्चय कर और उनको प्रकाशित करके जो युद्ध किया जाए उसको कौटिल्य ने प्रकाश युद्ध के नाम से सम्बोधित किया है। छल–कपट द्वारा भय खड़ा करना, दुर्गो का ढहाना, लूटमार करना, अग्निदाह करना, प्रमोद और व्यसन ग्रस्त शत्रु पर आक्रमण करना, एक स्थान पर युद्ध को रोक कर दूसरे स्थान पर छल से मार काट मचाना यह कूटयुद्ध के लक्षण बतलाए गए हैं। विष और औषधि प्रयोग गुप्त पुरुषों द्वारा बध करना अथवा भेद लेना तूष्णी युद्ध के लक्षण बतलाए गए हैं।[2]

कौटिल्य ने उन परिस्थितयों का भी उल्लेख किया है जिनमें इन तीन प्रकार के युद्धों का अलग–अलग आश्रय लिया जाना उचित होगा। प्रकाशयुद्ध की परिस्थितियों का उल्लेख कौटिल्य ने इस प्रकार किया है कि जब विजयाभिलाषी राजा उत्तम सेना से युक्त हो, षड़यन्त्रों में सफल हो चुका हो, आपदा निवारण हेतु उपाय कर चुका हो, और युद्ध के निमित्त अनुकूल स्थान प्राप्त कर चुका हो तब उसको प्रकाश युद्ध का आश्रय लेना चाहिये[3] अन्यथा उसको कूटयुद्ध का आश्रय लेना उचित होगा।[4]

सेना को उत्साहित करने के उपाय

युद्ध में विजय प्राप्ति के हेतु सैनिकों में उत्साह शक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। उत्साह शक्ति से रहित सेना व्यर्थ समझी गयी है। इसलिये सैनिको को में उत्साह शक्ति के जाग्रत करने के लिये कौटिल्य ने भी,अन्य आचार्यों की भाँति सैनिकों को नाना प्रकार के लोभ दिये हैं। युद्ध के लिये प्रस्थान करने वाले सैनिकों को एकत्र कर उनके समक्ष राजा के द्वारा इस प्रकार के लोभों का वर्णन करना चाहिये जिनके प्रभाव से वह सैनिक उनके निमित्त इतने उत्साहित हो जाएँ कि युद्ध में आत्मसमर्पण सहर्ष कर दें। कौटिल्य व्यवस्था देते हैं कि "राजा

---

1. *संग्रामस्तु निर्दिष्टदेशकातों अधिष्ठिः।।* — अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 27 ।
2. *प्रकाशयुद्धं निर्दिष्टो देशे काले च विक्रमः।*
   विभोषणमवस्कन्दः ग्रमादव्यसनार्दनम्। — अर्थ0, अधि0 7, अ0 6, वार्ता 46 ।
   एकत्रत्यागधातौ च कूटयुद्धस्य मातृका।
   योगूढोपजापार्थ तूष्णीं युद्धस्य लक्षणम्।। — अर्थ0, अधि0 7, अ0 6, वार्ता 47।
3. *बलविशिष्टः कृतोपजापः प्रतिविहित कर्तुः स्वभूभ्यां प्रकाशयुद्धमुपेयात्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 1 ।
4. *विपर्यये कूटयुद्धम्।।* — अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 2 ।

को अपनी सेना को उत्साहित करने के लिये सैनिकों के समक्ष इस प्रकार कहना चाहिये,[1] मैं राजा नहीं हूँ, मैं भी तुम्हारे समान वेतन भोगी व्यक्ति हूँ,[2] मुझको तुम लोगों के साथ इस राज्य का भोग करना चाहिये,[3] मैं जिस शत्रु पर आक्रमण करुँगा तुम्हें भी उस पर तुरन्त प्रहार करना चाहिये।''[4] इस प्रकार कौटिल्य ने सैनिकों को उत्साहित करने के लिये सांसारिक वैभव का लोभ सैनिको के समक्ष प्रस्तुत करना उचित समझा है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि जिस समय युद्ध हो रहा हो, उस समय भी सैनिकों को उत्साहित करना परमावश्यक है। ऐसे अवसर पर वह यह उचित समझते है कि सैनिकों को धन का लोभ दिया जाए। उन्होंने कहा है कि रणस्थल में सेनापति को धन और मान से युक्त अपनी सेना में इस प्रकार उत्साह युक्त वाक्यों का घोषणा कर देनी चाहिये।[5] उनमें जो वीर शत्रु राजा का वध कर देगा, उसको लाखों का पुरस्कार मिलेगा[6] जो शत्रु सेनापति अथवा राजकुमार का वध करेगा उसको पचॉस हजार[7] जो वीरों के मुखिया का वध कर देगा, उसको दस हजार,[8] हाथी और रथ के नष्ट कर देने पर पाँच हजार,[9] अश्व के मारने पर एक हजार,[10] किसी पत्यमुख्य के मारने पर सौ रुपये[11] और साधारण सैनिक के मारने पर बीस रुपये का पुरुष्कार दिया जायेगा।[12] इसके अतिरिक्त यह घोषणा भी कर देनी चाहिये कि उनका भत्ता और वेतन दो गुना कर दिया जायेगा और लूट का माल भी उन्हीं को मिल जायेगा।[13] इस प्रकार सैनिकों के समक्ष लोभ प्रस्तुत कर उन्हें उत्साहित करना चाहिये।

सांसारिक सुख का लोभ तो सैनिकों को दिया जाना ही चाहिये, इस के अतिरिक्त उनको युद्ध के द्वारा स्वर्ग–प्राप्ति का लोभ भी इन अवसरों पर दिया जाना। कौटिल्य के

---

1. *संहत्य दण्डब्रूयात्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 28 ।*
2. *तुल्यवेतनोऽस्मि ।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 29 ।*
3. *भवदि्ग्नः सहभोग्प्रमिदं राज्यम्।।* — *अधि0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 30 ।*
4. *मयामिहितः परोऽमिहन्तव्य इति।।* — *अधि0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 31 ।*
5. *सेनापतिरर्थमानाभ्यामभिर्मस्कृतमनीकमाभावेत।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 52 ।*
6. *शतसाहस्त्रोराजवधः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 53 ।*
7. *पंचसन्सहस्त्रः सेनापतिकुमारवधः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 54 ।*
8. *दशसाहसः प्रवीरमुख्यवधः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 55 ।*
9. *पंचसाहस्त्रो हस्तिरथवधः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 56 ।*
10. *साहस्त्रोऽश्ववधः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 57 ।*
11. *शस्यः पत्तियमुक्यवधः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 58 ।*
12. *शिरो विशतिकम्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 59 ।*
13. *भोगद्वैगुर्ण्य स्वयंप्राहृश्वर्धते।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 60 ।*

मतानुसार विजय की प्राप्ति हेतु लाभप्रद सिद्ध होगा। उन्होंने व्यवस्था दी है कि युद्ध के अवसरों पर सेना को उत्साहित करने के लिये राज्य के मंत्री तथा पुरोहित को सेना के समक्ष स्वर्ग–प्राप्ति का लोभ प्रस्तुत करना चाहिये। कौटिल्य, मंत्री और पुरोहित द्वारा सैनिकों को इस विषय का विश्वास दिला देना उचित समझते हैं कि युद्ध एक महान यज्ञ होता है। इस यज्ञ में जो योद्धा युद्ध करते हुए अपने प्राणों की आहुति दे देते हैं, वह स्वर्ग प्राप्त कर लेते है, इस सिद्धान्त में सैनिकों की आस्था हो जाए इसलिये यह आवश्यक है कि इस सिद्धान्त की पुष्टि करने वाले वाक्य मंत्री तथा पुरोहित जैसे विश्वसनीय व्यक्तियों के मुख से निकलने चाहिये।इस विषय में कौटिल्य ने कुछ वाक्य निर्धारित किये हैं जो इस प्रकार हैं– वेदों में यज्ञों की दक्षिणा के समय जब यज्ञ समाप्ति का स्नान होता है तब यजमान के लिये आर्शीवाद देते हुए सुना गया है [1] कि यजमान को वही गति प्राप्ति हो जो रणभूमि में प्राण त्याग करने वाले शूरवीरों को प्राप्त होती है।[2]इस सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य ने दो श्लोकों का उद्धरण भी किया है,[3] जो इस प्रकार हैं– जिन लोकों को सम्पूर्ण यज्ञ, तप एवं यज्ञीय पात्रों द्वारा चयन करने वाले स्वर्ग के अभिलाषी ब्राह्मण जाते हैं उन्हीं लोकों को युद्ध में प्राणोत्सव करने वाले शूरवीर तत्काल प्राप्त कर लेते हैं।[4] जो व्यक्ति अपने भरण पोषण करने वाले स्वामी के निमित्त समय पर युद्ध नही करता है, उस को यज्ञ में जल से परिपूर्ण मंत्रों द्वारा सुसंस्कृत, कुशाओं से आच्छादित शकोरे का आचमन प्राप्त नही होना चाहिये। इस प्रकार व्यक्ति को मृत्यु के उपरान्त नरक में वास करना पड़ता है।[5] इस प्रकार के वाक्यों से राज्य के मंत्री और पुरोहित के द्वारा सेना को उत्साहित करना चाहिये।[6] इसके अतिरिक्त सैनिकों को स्वर्ग का लोभ देकर उनको उत्साहित करने के लिये सूत, मागध और बन्दी जनों का उपयोग करना चाहिये। कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि युद्ध के अवसर पर सूत, मागध और बन्दी जनों को, शूरवीरों को, स्वर्ग प्राप्त होगाा और भीरु सैनिको को नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी, इस विषय पर वीर काव्य एवं वीरगाथाओं का वर्णन करना चाहिये

---

1. *वेदेष्वप्यनुश्रूयते समाप्तदक्षिणानां यज्ञानामवमृथेषु।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 32।*
2. *साते गतिर्या शूराणाम् इति।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 33 ।*
3. *अपीह श्लोको भवतः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 34 ।*
4. *यान्यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वगाषिणः पात्रचयैश्च यान्ति। क्षणेन तानप्यतियान्ति शूराः प्राणन्सुयुद्धेषु परित्यजन्तः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 35 ।*
5. *नवं शरावं सजिलस्य पूर्ण सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरोयम्। तत्तस्य मामन्नरकं च गच्छेद्याोभतु पिण्डश्य कृते न युध्येत्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 36 ।*
6. *इति मंत्रिपुरोहिताभ्यामुत्साहयेद्योधान्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 37 ।*

तथा वीर योद्धाओं की जाति, उनके कुल, संघ एवं वीरता पूर्ण कृत्यों तथा आचरण का गान करना चाहिये।

सैनिकों को उत्साहित करने का एक और विशेष साधन कौटिल्य ने यह बतलाया है कि गुप्तचर सेना में गुप्तरीति से ऐसे समाचार फैलाते रहें कि उनके राजा ने दुर्ग रचना भविष्य ज्ञान के रखने वाले ज्योतिषियों के परामर्श से की है।[1] इन ज्योतिषियों ने अपने ज्ञान के बल से यह ज्ञात कर लिया है कि आने वाले युद्ध में उन्ही के राजा की विजय होगी और इस युद्ध में शत्रु का नाश निश्चय है।[2] इन गुप्तचरों को इस बात की भी प्रसिद्धि कर देनी चाहिए कि उनके राज्य के पुरोहित ने कृत्या देवी की आराधना की है, वह प्रसन्न हैं और शत्रु का नाश कर देगी।[3] कौटिल्य ने अप्रत्यक्ष रूप से यह भी संकेत किया है कि सेना को उत्साहित करने के लिये अनेक प्रकार के वाद्यों का भी उपयोग किया जाना चाहियें।

इस प्रकार कौटिल्य ने सेना को उत्साहित करने के लिये अनेक प्रकार के साधनों का आश्रय लेने का निर्देश दिया है।

युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व राजा का विशेष आचार

कल युद्ध होगा जब यह निश्चय हो जाए तो उस दिन (युद्ध होने वाले दिन के एक दिन पूर्व) राजा को विशेष प्रकार के आचरण धारण करने का आदेश कौटिल्य ने दिया है। उनका मत है कि इस दिन राजा को उपवास करना चाहिये और रात्रि में शस्त्र और वाहनों के समीप सोना चाहिये[4]। उस दिन अथर्ववेद के मन्त्रों से यज्ञ करना चाहिये।[5] विजय देने वाले एवं स्वर्ग प्राप्ति कराने वाले आर्शीवादों को ब्राह्मणों से प्राप्त करना चाहिए।[6] राजा को ब्राह्मणों की शरण ग्रहण करनी चाहिये।[7] इस प्रकार राजा को तप और त्याग की मूर्ति बन जाना चाहिये।

---

1. *सूतमागधाः शूराणां स्वर्गमस्वर्ग भीणां ज्ञातिसंघकुलकर्महुतस्तवं च योधानां वर्णयेपुः।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 49 ।
2. *व्यूहसंपदा कार्तान्तिकादिश्चास्य वर्गः सर्वज्ञदैवसंयोगस्यापनाम्यां स्वपक्षयुद्धर्षयेत्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 38 ।

   सत्रिक अर्थकिर्माहूर्तिकाः स्वकर्मसिद्धिमसिद्धि परेषाम्।। अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 50 ।
3. *पुरोहितपुरुषाः कृत्याभिचारं ब्रूयुः।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 50 ।
4. *श्वो युद्धमिति कृतोपवासः शस्त्रवाहनं चाधिशयीत।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 40।
5. *अथर्वभिश्च जुहुयात।।* अर्थ0, अधि0 1C, अ0 3, वार्ता 41 ।
6. *विजययुक्ताः स्वर्गीयाश्चाशिधो वाचयेत्।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 43 ।
7. *ब्राह्मणेभ्यश्चात्मानमतिसृजेत।।* अर्थ0, अधि0 10, अ0 3, वार्ता 43 ।

युद्ध–संचालन

सेना के पड़ाव से पांच सौ धनुष की दूरी पर सेना का दुर्ग बनाकर युद्ध करना चाहिये अथवा भूमि की सुविधानुसार दूरी पर युद्ध करना चाहिये।[1] सेना के मुख्य आशंको अलग कर शत्रु से छिपकर सेनापति और नायक को सेना के व्यूह की रचना करनी चाहिए।[2] पैदल सैनिकों को एक दूसरे से चौदह–चौदह अंगुल के अन्तर पर खड़ा करना चाहिये।[3] अश्वारोहियों को बयालिस–बयालिस अंगुल और रथों और हाथियों को सत्तर–सत्तर अंगुल के अन्तर पर खड़ा करना चाहिए, अथवा दोगुने और तीन गुने अन्तर पर उनकी स्थापना करनी चाहिये।[4] इस प्रकार सेना की स्थापना कर देने के उपरान्त बाधारहित होकर सुखपूर्वक युद्ध करना चाहिये।[5] कौटिल्य ने धनुष की लम्बाई पाँच हाथ की मानी गयी है।[6] धनुषधारियों को पाँच–पाँच हाथ के अन्तर पर खड़ा कर देना चाहिये।[7] अश्वों को तीन तीन धनुष के अन्तर पर, रथों और हाथियों को पाँच पाँच धनुष के अन्तर पर स्थापित करना चाहिये।[8] पक्ष सेना, कक्ष सेना, और उरस्थ सेना के मध्य में भी पांच–पांच धनुष के अन्तर पर स्थापित करना चाहिये। एक अश्वारोही के विरुद्ध तीन पुरुषों को युद्ध करना चाहिये।[9] पन्द्रह पैदल सैनिक अथवा पांच अश्वारोहियों को एक रथ अथवा एक हाथी का सामना करना चाहिए।[10] एक अश्व, एक रथ और एक हाथी की सेवा–सुश्रुषा हेतु कम से कम पन्द्रह सेवक नियुक्त किए जाने चाहिए।[11] कौटिल्य के मतानुसार राजा को, युद्ध होते समय, युद्ध में संलग्न अपनी सेना से दो सौ धनुष की दूरी पर सेना के पृष्ठ भाग में रहना चाहिए। सेना के पृष्ठ भाग में होने से अपनी भागती हुई सेना खड़ी रहती है। राजा को बिना सेना का

---

1. *पंचधनुः शतावकृप्टदुर्गमवस्थाप्य युद्धमुपेयात् भूमिवशेन वा।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 1 ।*
2. *विभक्त मुख्यामचक्षर्विषये मोक्षयित्वा सेनां सेनापतिनायकौ ब्येहेयाताम।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 2 ।*
3. *शभान्तरं वृत्ति स्थापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 3 ।*
4. *त्रिशभान्तरमश्वं पक्षशमान्तरं रथं हस्तिनं वा द्विगुणान्तरं त्रिगुणान्तरं वा व्यूहेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 4 ।*
5. *एवं यथासुखमसंवाधं युध्येत्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 5 ।*
6. *पंचारत्नि धनुः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 6 ।*
7. *तस्मिन्धन्विमं स्थापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 7 ।*
8. *त्रिधनुण्यश्व पंचधनुषि रथं हस्तिवं वा।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 8 ।*
9. *अश्वस्य त्रयः पुरुषाः प्रतियोद्धारः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 10 ।*
10. *पंचदश रथस्य हस्तिनो वा पंचचाश्वाः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 11 ।*
11. *तावन्तः पादगोपा वाजिरथद्विपानां विधेयाः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 12 ।*

आश्रय लिए हुए अकेले ही युद्ध नहीं करना चाहिए।[1]

अनेक प्रकार के व्यूहों का निर्माण कर युद्ध करना प्राचीन भारत की युद्ध–शैली की एक विशेषता थी। कौटिल्य ने भी युद्ध की इस विशेषता को अपनाने का समर्थन किया है। उन्होंने अनेक प्रकार के व्यूहों का उल्लेख किया है। उन्होंने कुछ ऐसे व्यूहों का भी उल्लेख किया है जो प्राचीन काल से उनके समय तक चले आ रहे थे। सेना के दोनों अगले पक्ष, मध्य भाग और पीछे की ओर व्यूह बनाए जाते हैं, यह व्यूह विभाग शुक्राचार्य के अनुयायियों द्वारा विहित किया गया है।[2] अगले दोनों भाग, पिछले दोनों भाग, मध्य भाग और पीछे के भाग में सेना के व्यूह बनते हैं, ऐसा वृहस्पति के मतानुयायियों का मत है।[3] इन आचार्यों के मतानुसार पक्ष, कक्ष और उरस्थ में सेना के दण्ड, भोग, मण्डल और असंहत नामक चार प्रकृति व्यूह बनते हैं।[4] कौटिल्य ने दण्डव्यूह, भोगव्यूह, मण्डलव्यूह, संहतव्यूह, असंहतव्यूह, चापव्यूह, चापकुक्षिव्यूह, प्रतिष्ठ व्यूह, सुपतिष्ठव्यूह, विजतयव्यूह, चमूमुख व्यूह, सूचीव्यूह, चक्रव्यूह, वलयव्यूह आदि अनेक प्रकार के व्यूहों के लक्षणों का वर्णन किया है।[5] इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी बतलाया है कि अमुक व्यूह के विरूद्ध में अमुक व्यूह की रचना विजय प्राप्ति हेतु उचित होगी।[6]

युद्ध काल में बाजों और झंड़ों आदि के संकेतों से सैनिकों को व्यूह रचना एवं युद्ध आदि के करने का आदेश दिया जाता था। कौटिल्य ने बताया है कि तुरी–घोष, ध्वजा, पताका आदि के द्वारा व्यूह रचना का आदेश देना चाहिए।[7] यह संकेत सेना के अगों को विभक्त करने, उनके मिलाने, शत्रु सेना के रोकने, सेना के चलने, लौटाने, और प्रहार करने के लिए उपयोग में लाए जाने चाहिए।[8]

सैनिक अनेक प्रकार से युद्ध करते थे। कौटिल्य के अनुसार युद्ध जल के स्थानों पर, निचले स्थलों पर, सम भूमि पर, खन्दक खोदकर और आकाश में ऊँचे स्थानों पर हुआ करते

---

1. *द्वेशते धनुषां गत्वा राजा तिष्ठेत्प्रतिग्रहे।*
   भिन्नसंधातानार्थ तु न युध्येता प्रतिग्रहः।। — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 5, वार्ता 70 ।*
2. *पक्षापुरुष्यं प्रतिग्रह इत्योशनसो ब्यूहविभागः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 6, वार्ता 1 ।*
3. *पक्षो कक्षायुश्स्यं प्रतिग्रह इति बाहंस्पत्यः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 6, वार्ता 2 ।*
4. *प्रपक्षकक्षोरस्या उभयोः दण्डभोगमण्यलासंहताः प्रकृतिव्यूहाः।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 6, वार्ता 3 ।*
5. *अर्थशास्त्र अधि0 10 अ0 5 और 6 ।*
6. *तेषां प्रदरं दृढकेनं धातयेत्; दृढत्रकमसंह्येन; श्येमंधापेन।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 6, वार्ता 36–38 ।*
7. *तूर्यधोष ध्वजपताकाभिव्यूंहांडानां संज्ञा : स्थापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 6, वार्ता 49 ।*
8. *अंगविभागे संघाते स्थाने गमने व्यावर्तने ग्रहस्णे च।।* — *अर्थ0, अधि0 10, अ0 6, वार्ता 50 ।*

थे। कौटिल्य ने विभिन्न युद्ध शैलियों की तुलना करते हुए कहा है कि निम्न स्थान से युद्ध करने वाले और स्थल पर युद्ध करने वालों में स्थल पर युद्ध करने वाले विजयी होते हैं ऐसा देखा गया है। इसका कारण यह है कि निम्न स्थानों से युद्ध करने वाले सैनिक देश और काल के बन्धन में होते हैं।[1] परन्तु स्थलयोधी इन प्रतिबन्धों से मुक्त होते हैं।[2] खन्दकों का आश्रय लेकर युद्ध करने वाले और आकाश में युद्ध करने वाले योद्धाओं में आकाशयोधी विजयी होते हैं,[3] क्योंकि खन्दक का आश्रय लेकर युद्ध करने वाले खन्दक और शस्य दोनों के आश्रय में रहते हैं, परन्तु आकाशायोधी केवल शस्त्रों का आश्रय लेता है।[4]

शत्रु उत्पीड़न एवं शत्रु सामग्री का संरोधन

शत्रु राजा को पराजित करने के लिए शत्रु राजा की आवश्यक सामग्री को उसकी सेना तक न पहुँचने देना, और बीच में ही उसका नाश कर देना, अथवा छीन लेना शत्रु सामग्री का संरोधन कहलाता है। इस नीति के अपनाने से शत्रु शीघ्र ही पराजित हो जाने पर विवश हो जाता है। कौटिल्य भी इस नीति में आस्था रखते थे। उनका मत था कि शत्रु किसी संकट में ग्रस्त है, ऐसे अवसर पर उसकी सस्य और उसके उत्पन्न हुए अन्न को नष्ट कर देना चाहिए और बाहर से अन्न, धृत, तेल अथवा ईधन, घास आदि का आना रोक देना चाहिए।[5] ईंधन, घास, अन्न, घी, तेलादि के रोक देने तथा हरे भरे खेत और उत्पन्न हुए अन्न के नष्ट कर देने पर एवं अमात्य आदि प्रकृतियों के कहीं ले जाने अथवा उनके गुप्त रीति से वध कर देने पर प्रकृति क्षय होता है[6] शत्रु को उत्पीड़न करने के विषय में कौटिल्य का विचार है कि शत्रु के एक योजन तक की सीमा में तृण, काष्ठ आदि को आग लगाकर भस्म कर देना चाहिए।[7] उसके पीने के पानी को दूषित कर देना चाहिए,[8] अथवा जल को बहा देना चाहिए।[9]

---

1. *निम्नयोधिनो ह्यूपरुध्दद्देशकालाः ।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 44 ।*
2. *स्थलयोधिनस्तु सर्वदेशकालयोधिनः ।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 45 ।*
3. *खनका हि खातेन शस्त्रेण चोभयया युध्यन्ते ।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 47 ।*
4. *शस्त्रे शैवाकाशयोधिनः ।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 10, वार्ता 48 ।*
5. *विषमस्थस्य मुर्ष्टि सस्यं वा हन्याद्वोवधप्रसारौ च ।।* — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 4, वार्ता 6 ।*
6. *प्रसारवीवधच्छेदान्मुष्टिसस्यवधादपि ।*
धमनाद्गूधाताच्च जायते प्रकृतिक्षयः ।। — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 4, श्लोक 7 ।*
7. *तृणकाष्ठमायोजनादाहयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 12, अ0 5, वार्ता 14 ।*
8. *उदकानि च दूषयेत् ।।* — *अर्थ0, अधि0 12, अ0 5, वार्ता 15 ।*
9. *अबासत्राययेच्च ।।* — *अर्थ0, अधि0 12, अ0 5, वार्ता 16 ।*

इस प्रकार कौटिल्य ने शत्रु के उत्पीड़न एवं शत्रु सामग्री के संरोधन द्वारा उस पर विजय प्राप्त करने के सिद्धान्त को अपनाने का समर्थन किया है।

युद्ध में कूट साधन

कौटिल्य ने दुष्ट राजाओं के पराजित करने के लिए कतिपय कूट साधनों के अपनाने की भी व्यवस्था दी है। उन्होंने कुछ ऐसे प्रयोगों का उल्लेख किया है जिनके आधार पर छल–कपट का आश्रय लेकर शत्रु पर विजय प्राप्ति की आशा की जाती थी। इन प्रयोगों की सत्यता संदिग्ध पूर्ण हैं, इसलिए इन प्रयोगों की वास्तविकता पर आस्था नहीं की जा सकती। उन्होंने ऐसे अद्भूत चमत्कारों का उल्लेख किया है जैसे विशेष प्रकार के तेल के प्रयोग से बालों का स्वेत हो जाना, रंग बदल जाना आदि। विशेष औषधि के खाने से कई सप्ताह तक भूख का न लगना। विशेष प्रकार से अग्नि सृजन करना, जो बुझाए ही न बुझे। इन प्रयोगों के आधार पर दुष्ट राजाओं पर निश्चय विजय प्राप्त हो सकेगी।

धर्मयुद्ध के नियम

प्राचीन भारत के राजशास्त्र के कई आचार्यों ने युद्ध के नियमों का उल्लेख करते हुए यह बतलाया है कि इन नियमों के अनुसार युद्ध करना धर्म युद्ध कहलाता है। कौटिल्य ने भी धर्मयुद्ध के कतिपय नियम बतलाए हैं। उन्होंने धर्मयुद्ध के नियमों का उल्लेख करते हुए कहा कि रण–भूमि में जो गिर गया है, जो रण से विमुख हो गया है, जो शरण में आ गया है, जिसने अपने बाल बिखेर लिए हैं, जिसने शस्त्र डाल दिए हैं, जो भय–भीत हो गया है, और जो युद्ध न करना चाहता हो, ऐसे सैनिकों से युद्ध नहीं करना चाहिए, अपितु उन्हें अभयदान दे देना चाहिए।[1]

इस पकार कौटिल्य ने युद्ध के नियमों का उल्लेख किया है। यह नियम दूसरे शब्दों में वहो है जो कि प्राचीन भारत के अन्य आचार्यों ने निर्धारित किए हैं।

विजयोपरान्त राजा का आचार एवं व्यवहार

शत्रु राजा पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त विजयी राजा का विजित राज्य के प्रति अपनाये जाने वाले आचरण एवं व्यवहार के इस विषय में कौटिल्य ने लिखा है कि विजेता राजा के तीन लाभ होते हैं।[2] एक तो नवीन लाभ (नवीन भूमि लाभ), दूसरा अपना गया हुआ राज्य

---

1. *पतितपराड़ं मुखाभिपन्नमुक्तकेशशस्त्रभयविरुपभ्यश्चाभयमयुध्मानेभ्यश्च दः।। अर्थ0,अधि013, अ0 4, वार्ता 68 ।*
2. *त्रिविधश्चास्य लाभः।। अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, वार्ता 3 ।*

बंदीगृह से मुक्त कर देना चाहिए, दीन, अनाथ और रोगियों पर दया दिखानी चाहिए।[1] चार महीने में पन्द्रह दिन फांसी नहीं दी जानी चाहिए।[2] सारी पौर्णमासियों में चार पौर्णमासियों को प्राणदण्ड नहीं देना चाहिए।[3] राज्य प्राप्ति अथवा नयी भूमि प्राप्ति की रात्रि में भी प्राणदण्ड नहीं दिया जाना चाहिए।[4] स्त्री और बालक का बध कभी भी नहीं करना चाहिए, और किसी भी जीवधारी का पुंसत्व नष्ट नहीं करना चाहिए।[5]

कौटिल्य द्वारा अपने गए हुए राज्य के प्राप्त होने अथवा अपने पिता के गए हुए राज्य के प्राप्त होने पर राजा को सावधानी की आवश्यकता बतलायी गई है। वह कहते हैं कि जिस दोष के कारण अपना राज्य शत्रु के अधीन हुआ था उस दोष को गुणों से आच्छादित कर देना चाहिए,[6] और प्रजा जिस गुण की प्रशंसा करती हों, राजा को उस गुण की विशेष वृद्धिकर उसका प्रकाशन करना चाहिए।[7] यदि पिता के दोष के कारण राज्य शत्रु के अधीन हुआ था तो पिता के उन दोषों को अपने गुणों से आच्छादित कर देना चाहिए।[8] अपने गुणों का प्रकाशन होना चाहिए।[9]

विजेता राजा को पराजित राजा के राज्य में किये जाने वाले व्यवहार के विषय में कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि इस राज्य में जिन धर्मयुक्त व्यवहारों का लोप हो गया है, उनको विजेता राजा को पुनः प्रचलित करना चाहिए, जो धर्म व्यवहार में आ रहे हैं उनको आचरण में लाने के लिए सहायता देनी चाहिए। राजा को अपनी ओर से अधर्म युक्त व्यवहारों को नहीं होने देना चाहिए, और अन्य के द्वारा किए जाने वाले अधार्मिक व्यवहारों को रोकने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।[10]

कौटिल्य ने सदाचारी पराजित राजा के राज्य को विजेता राजा द्वारा अपहरण किए जाने

---

1. *सर्वबन्धनमोक्षणमनुग्रहं दीनानाथव्याधितानां च।* — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, वार्ता 16 ।*
2. *चातुर्मास्येष्वर्धमासिकमाधातय।।* — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, वार्ता 17 ।*
3. *पौर्णमासीषु च चातूरात्रिकम्।।* — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, वार्ता 18 ।*
4. *राजदेशनक्षत्रे ण्यैकरात्रिकम्।।* — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, वार्ता 19 ।*
5. *योनिवालवधं पुंस्त्वोपाघातं च प्रतिषेधयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, वार्ता 20 ।*
6. *भूतपूर्वे येन दोषणापष्टत्स्तं प्रकृति दोषं पादयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, वार्ता 31।*
7. *येन च गुणैनोपायुत्तस्तं तीथ्रीकुर्यादिति।* — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, वार्ता 32 ।*
8. *पित्र्योपितृदोर्षाच्छादयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, वार्ता 33 ।*
9. *गुणाश्चप्रकाशयेदिति।।* — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, वार्ता 34 ।*
10. *चरित्रप्रकृतं धर्म्यं कृतं चान्यैः प्रवर्तयेत्*
    प्रवर्तयेतचाधाम्यं कृते चान्यैनिवर्तयेत्।। — *अर्थ0, अधि0 13, अ0 5, श्लोक 35 ।*

का निषेध किया है। उनका मत है कि वध किए गए राजा की भूमि, द्रव्य, पुत्र और स्त्रियों पर विजेता राजा को अधिकार नहीं करना चाहिए।[1] किन्तु उसके वंशजों को योग्यतानुसार रिक्त पद पर स्थापित करना चाहिए।[2] यदि युद्ध करते हुए राजा का वध हो गया हो तो, उस राज्य में उसके पुत्र को ही राजपद देना चाहिए।[3] यदि वश में किए गए राजाओं के प्रति इस प्रकार का व्यवहार किया जाएगा तो उन राजाओं के पुत्र–पौत्र भी विजेता राजा के पुत्र–पौत्र के अनुगामी रहेंगे।[4] जो राजा पराजित किए हुए राजाओं का वध करा देता है, अथवा उनको बन्धन में डाल देता है तथा उनकी भूमि, द्रव्य, पुत्र और स्त्रियों पर अधिकार कर लेता है उससे अन्य राजा क्रुद्ध हो जाते हैं, और वह उसके नाश का प्रयत्न करने लगते हैं।[5] ऐसे राजा के अमात्य भी भयभीत होकर विद्रोही राजमण्डल में सम्मिलित हो जाते हैं।[6] और वह उस राजा के प्राणों एवं राज्य के ग्राहक बन जाते हैं।[7] इसलिए साम आदि उपायों द्वारा जीते हुए शत्रुओं को उनकी भूमि प्रदान कर जो उनको अपने अनुकूल बना लेता है, उनके पुत्र–पौत्र भी उस राजा के अनुगामी बन जाते हैं।[8]

इस प्रकार कौटिल्य ने पराजित राजा एवं जीते गए राज्य की प्रजा के प्रति विजयी राजा के आचार एवं व्यवहार का विवेचन किया है। उर्पयुक्त विवेचन मानवीयता एवं वर्तमान अन्तर्राराष्ट्रीय विधि के शिष्टचार के समान्य नियमों से सम्य रखता है। आधुनिक समय में भी युद्धोपरान्त परराष्ट्र की जनता के साथ विजेता राष्ट्र लगभग व्यवहार में उन्हीं नियमों का पालन करने का यथासंभव प्रयास करता है जो आचार्य कौटिल्य द्वारा बताये गये हैं।

ध्यातव्य है कि आचार्य कौटिल्य द्वारा वर्णित धर्मयुद्ध के नियम लगभग वहीं हैं, जो 1899 के हेग सम्मेलन में स्वीकार किये गये हैं। कौटिल्य के विचार उनकी दूरदर्शिता के ज्वलन्त प्रमाण है जिनकी आज भी उन्नी ही उपयोगिता है जो कौटिल्य के समय में समझी गयी थी।

---

1. *नमस्तस्य भूमिद्रव्यपृश्रदारानभिमन्येत।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 42 ।*
2. *कुल्यानप्यस्य स्वेषु पात्रेषुस्थापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 43 ।*
3. *कर्मणि मृतस्य पुत्रं राज्यं स्थापयेत्।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 44 ।*
4. *एवमस्य दुण्डोपनताः पुरूषौग्रानमुवर्तन्ते।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 45 ।*
5. *यस्तुपनतान्हत्वा बध्वा वा भूमिद्रव्यपूत्रवदारानभिमन्येत तस्योद्विग्नं मण्डतम भावायोत्त्छिहते।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 46 ।*
6. *ये चास्यामात्याः स्वभूमिध्वायत्तास्ते नास्योद्वग्ना मण्डलमाश्रयन्ते।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 47 ।*
7. *स्वयं राज्यं प्राणान्वास्याभिमन्यन्ते।।* — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 48 ।*
8. *स्वभूमिषु च राजनः तस्मात्सास्नानुपालिताः।।*
   भवन्त्यनुगुणा ाज्ञः पुत्रपौत्रानुवर्तिनः।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 17, वार्ता 49 ।*

अध्याय एकादश

उपसंहार

उपसंहार

मैक्समूलर एवं ब्लूमफील्ड आदि पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में प्राचीन भारतीयों का लक्ष्य आध्यात्मिक चिन्तन–मनन एवं मोक्ष्य प्राप्ति था। इतिहास, राजनीति एवं अर्थशास्त्र पर उनकी दृष्टि नहीं गई। किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात हमारे प्राचीन ग्रन्थों का पुनरावलोकन एवं अध्ययन प्रारम्भ हुआ और यह स्पष्ट हो गया कि हमारे आचार्य प्रवर चिन्तन के क्षेत्र में आध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद पर समान अधिकार रखते थे। मनु, वाल्मीक से लेकर कौटिल्य तक के सभी आचार्यों ने जो राजनीतिक विचार प्रकट किये हैं, उनसे प्रभावित होकर ही तत्कालीन राज्यों की व्यवस्था का निर्माण हुआ था। अतः राजनीतिक क्षेत्र में इन आचार्यों की महती देन है।

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों में कौटिल्य का अद्वितीय स्थान है। वास्तविकता यह है कि जिस समय यूनान में विद्वान अरस्तू का डंका बज रहा था और वे अपनी कृति " पॉलिटिक्स" में अपने राजनीति सम्बन्धी ज्ञान को आगे आने वाली पीढ़ियों के लिये लेखबद्ध कर रहे थे, लगभग उसी समय भारतीय राज्य दर्शन के अधिष्ठाता, प्रकाण्ड पण्डित आचार्य विष्णुगुप्त कौटिल्य अपने अनुभव के आधार पर विशाल साम्राज्य के महामंत्री के रूप में व्यावहारिक राजनीतिक ज्ञान का परिचय दे रहे थे। इसीलिए उनको कूटनीति तथा शासन कला का सबसे महान प्रतिपादक कहा जाता है। पाश्चात्य राजनीति में जो कार्य प्लेटो, अरस्तू, मैक्यिावैली और बेकन ने मिलकर किया, भारत में वह अकेले कौटिल्य ने सम्पादित किया। यहाँ तक कि उसके बाद राजनीतिक विचारचिन्तन के लिए कोई तथ्य छूटा हुआ प्रतीत नहीं हुआ।

"अर्थशास्त्र" को यदि नीति और राजनीति का विश्वकोष कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। यद्यपि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत अनेक विषयों की विवेचना की गयी है, किन्तु मुख्य रूप से यह राजनीति और शासनकला की वृहद् मीमांसा है। अर्थशास्त्र में कुल पन्द्रह अधिकरण हैं।

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के दो सिद्धान्तों की ओर संकेत किये हैं जिनके आधार पर प्रतीत होता है कि वह राज्य की उत्पत्ति के विषय में समाज अनुबन्धवाद तथा सावयव सिद्धान्त में आस्था रखते थे।

राज्य एवं राजनीति सम्बन्धी कौटिल्य के विचार राजनीतिक विचारधारा के कलेवर के अत्यन्त उपयोगी अंग हैं। अरस्तू की भाँति कौटिल्य ने भी राज्य को व्यक्ति के लिए अनिवार्य

माना है परन्तु ऐसा करके भी उन्होंने राज्य को साध्य घोषित नहीं किया, अपितु उसे जनकल्याण का साधन बताया है। लोककल्याणकारी राज्य का आधुनिक विचार राज्य के स्वरूप सम्बन्धी इसी धारणा पर आधारित है।

राज्य के उद्‌देश्य और कार्यों के सम्बन्ध में कौटिल्य का प्रतिपादन है कि अलब्ध की लब्धि, लब्ध–परिरक्षण, रक्षित की वृद्धि तथा वृद्धि का पात्रानुसार वितरण राज्य की राजनीति के उद्देश्य हैं। राज्य के उद्देश्य तथा कार्यो के विषय में कौटिल्य के विचारों की प्रकृति स्थायी है तथा सम्पत्ति के उचित वितरण सम्बन्धी जिस कर्त्तव्य को आजकल राज्य का प्रमुखतम कर्त्तव्य माना जाता है, उसे कौटिल्य ने अब से लगभग 2500 वर्ष पूर्व ही राज्य का एक अनन्य कर्त्तव्य बता दिया था।

राज्य के सप्तांग सम्बन्धी कौटिल्य के विचारों में आधुनिक विचारधारा के अन्तर्गत प्रतिपादित राज्य के तत्वों तथा सरकार के अंगों का मिला–जुला विवेचन है तथा उसके अन्तर्गत अनेक ऐसी समस्याओं का उल्लेख है, जिनका महत्व वर्तमान में भी यथावत है। उदाहरण के लिये जनता एवं प्रदेश के अनुपात के विषय में कौटिल्य का यह प्रतिपादन कि जनता इतनी व ऐसी होनी चाहिए कि देश के "प्राकृतिक संसाधनों का दोहन" उचित ढंग से हो सके, राज्य–कोष के विषय में उनका यह मत कि राज्य–कोष हेतु धन–संचय अनुचित उपायों से न करके केवल ' धर्म से कमाए हुए धन' से किया जाना चाहिए तथा प्रभुसता के विषय में उनका यह प्रतिपादन कि शासक को प्रभुता के तत्व से युक्त होना चाहिए, नहीं तो राज्य नहीं चल सकता, राजनीतिक चिन्तन के शाश्वत तथ्यों में से हैं।

राज्यों के आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित शासन का रूप राजतन्त्र का है, किन्तु उन्होंने राजतन्त्र की अपनी कल्पना को निरंकुशता तथा शासन के प्राधिकार की भावना पर आधारित न करके आत्मसंयम तथा शासितों के सेवा की कर्त्तव्य की भावना पर आधारित किया है तथा यह प्रतिपादित किया है कि "प्रजा के सुख में राजा का सुख तथा प्रजा के हित में राजा का हित" की व्यवस्था के अनुसार शासितों के सुख तथा हित की साधना करना शासन का एक महान दायित्व है। यह सर्वविदित ऐसा तथ्य है, जो चिर सत्य है, क्योंकि लोककल्याण सदैव ही शासन का एक महान दायित्व रहेगा, चाहे शासन का स्वरूप किसी भी प्रकार का हो।

लोककल्याण की साधना के इस महान कर्त्तव्य के पालन की दृष्टि से कौटिल्य ने राजा के अधिकारों के विषय में यह प्रतिपादित किया है कि वे अनियन्त्रित, असीमित तथा निरंकुश नहीं होने चाहिए तथा उसके राजपद के अधिकार को उन्होंने लोककल्याण के महान कर्त्तव्य के अधीन कर दिया है। वस्तुतः कौटिल्य के विचारों का सार यह है कि राजा राज्य का स्वामी न होकर राज्य का प्रन्यासी है तथा राजपद का निर्वाह उसका अधिकार न होकर एक कर्त्तव्य है। आचार्य कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित यह एक ऐसा आदर्श है, जो सदैव ही शासकों का मार्गदर्शन कर सकता है, शासन का रूप चाहे कौटिल्य के समय जैसे राजतन्त्र का हो, अथवा आधुनिक समय के लोकतन्त्र का।

एक पहिए की गाड़ी की भाँति राजकाज भी बिना सहायता के नहीं चल सकता। इसलिए राजा को चाहिए कि वह सुयोग्य अमात्यों की नियुक्ति करे तथा उनके परामर्शों को हृदयंगम करे" यह कहकर कौटिल्य ने शासन सूत्र में मन्त्रिपरिषद् के महत्व के विषय में जो तथ्य राजशास्त्रियों के समक्ष रखा है, उसकी भी मान्यता सार्वभौमिक एवं सर्वकालिक हैं।

राजकर्मचारियों की नियुक्ति उनकी योग्यता की उचित परीक्षा होने के बाद की जानी चाहिए, उन्हें इतना वेतन मिलना चाहिए कि वे बिना किसी प्रलोभन के अपना कर्त्तव्य पालन कर सकें, उनके लिए भविष्य–निधि की व्यवस्था होनी चाहिए, राज्य में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था होनी चाहिए तथा विश्वस्त गुप्तचरों का एक व्यापक संजाल फैला होना चाहिए, कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित ये कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनकी उपयोगिता आधुनिक युग में भी असंदिग्ध है।

राजकोष तथा कर–व्यवस्था के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार शाश्वत हैं। राजकोष राजा का न होकर सम्पूर्ण राज्य की जनता का होता है तथा उसके संचय के लिए समाज की सामान्य स्वीकृति होनी चाहिए, नवीन उद्योगों के लिए राज्य की ओर से सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए, आयात एवं निर्यात का राज्य द्वारा नियन्त्रण होना चाहिए, करों का निर्धारण करते समय करदाता की सामर्थ्य का ध्यान रखा जाना चाहिए तथा असाधारण परिस्थितियों में करों से उन्मुक्ति तथा सहायता दी जानी चाहिए, ये राजकोष तथा कर–व्यवस्था विषयक कौटिल्य के ऐसे विचार हैं जो आधुनिक समय में भी राजकोष के प्रबन्ध एवं कर–व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार किये जाते हैं।

आचार्य कौटिल्य द्वारा वर्णित न्याय तथा दण्ड–सम्बन्धी विचार भी महत्वपूर्ण हैं।

कौटिल्य ने धर्मष्ठीय तथा कण्टक शोधन दो प्रकार के न्याय–क्षेत्रों का प्रतिपादन किया है, जो आजकल के दीवानी तथा फौजदारी, न्याय–क्षेत्रों की ही भाँति हैं। न्याय एवं दण्ड व्यवस्था के विषय में कौटिल्य का यह प्रतिपादन कि विधि के समक्ष सभी व्यक्ति समान हैं तथा दण्ड का अनुपात अपराध की गुरूता के अनुसार होना चाहिए, न्यायिक व्यवस्था की कुछ ऐसी मान्यताओं में से हैं जो वर्तमान समय में भी सर्वत्र मान्य एवं स्वीकृत हैं।

परराष्ट्र सम्बन्ध एवं युद्ध के सम्बन्ध में भी कौटिल्य ने विश्व को कुछ ऐसे महत्वपूर्ण विचार प्रदान किए हैं, जो स्थायी प्रकृति के हैं तथा जिनका प्रयोग राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के संचालन में अद्यतन भी होता है।

कौटिल्य के वैदेशिक नीति राज्य–नीति की भाँति पूर्ण परिपक्व तथा तर्काधार पर नियोजित थी। तत्कालीन राज्यों का जो स्वरूप, व्यवस्था एवं स्थिति थी उसके लिए कौटिल्य की वैदेशिक नीति किसी राज्य के उत्कर्ष का सफल साधन थी।

कौटिल्य ने किसी राष्ट्र–संघ और उसकी विधियों की योजना नहीं दी, जो राज्यों के पारस्परिक आचरणों का नियमन करता। किन्तु मंडल–संगठन का जो सिद्धान्त का जो सिद्धान्त उसने प्रतिपादित किया वह निःसंदेह राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रित करने में अधिक व्यावहारिक था। शत्रु, मित्र, मध्यम तथा उदासीन इन चार राज्यों को राज–मण्डल का घटक कहा गया है। इन घटक राज्यों में भी प्रत्येक का अपना एक एक राज्य–मण्डल था।

कौटिल्य ने विजयाभिलाषी राजा, उसके मित्र राजा उसके मित्र के मित्र राजा का पृथक्–पृथक् मण्डल की रहने की योजना दी है। ये तीनों प्रकार के राजा तीन प्रकृति कहे गये हैं। इन तीनों राज्यें में प्रत्येक राज्य की 6–6 प्रकृतियाँ (राजा, मन्त्री, कोष, दण्ड, दुर्ग और जनपद) मिल कर अट्ठारह प्रकृतियाँ हई, जो एक राजमंडल बनाती है। इस प्रकार अरि–मण्डल, उदासीन–मण्डल तथा मित्र–मण्डल बन जाता है। इन सभी मण्डलों का एक वृहद् मण्डल बन जाता है। इसमें बारह राज–प्रकृतियाँ (बारह राज्यों के बारह राजा) और प्रत्येक राज्य की पाँच अन्य प्रकृतियाँ होती हैं। कौटिल्य इन्हें द्रव्य–प्रकृतियाँ कहता है। बारह राज्यों की मिल कर कुल साठ द्रव्य–प्रकृतियाँ हैं। अतः बारह राज–प्रकृतियाँ और साठ द्रव्य–प्रकृतियाँ मिलकर बहत्तर प्रकृतियाँ होती हैं, जिनका एक वृहद् मण्डल होता है।

स्पष्ट है कि मण्डल–योजना का ध्येय शक्ति की दृष्टि से विभिन्न स्तरीय राज्यों के

अन्तःसम्बन्धों के एक सुव्यवस्थित तथा शान्तिपूर्ण स्वरूप की स्थापना तथा उनके अस्तित्व की संरक्षा करना था। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्दिता का यह सिद्धान्त एक संतुलन है। आध ुनिक राजनीतिज्ञ एवं दार्शनिक यूरोप को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रसव–स्थल समझते हैं। किन्तु यह मण्डल–सिद्धान्त स्वरूप और निर्माण में भिन्न हेते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उद्देश्य की पूर्ति में अधिक सफल है। इसमें अन्तर्राज्य–सम्बन्धों की एक स्थायी व्यवस्था है।

वस्तुतः षाड्गुण्ड–मन्त्र मण्डल–सिद्धान्त के क्रियान्वयन की व्यावहारिक स्थिति है। यह संभव है कि तत्कालीन राज्यों के पारस्परिक कूटनीतिक सम्बन्ध इन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित रहे हों। मौर्य साम्राज्य के निर्माण में अवश्य ही कुछ सीमा तक मन्त्र–विधियाँ कार्यशील रही होगीं। नन्दों का उन्मूलन तथा मगध राज्य पर अधिकार कर उसको साम्राज्य में परिवर्तित करना कूटनीतिक विधियों के बिना संभव नहीं हो सकता था।

राज्य की परराष्ट्र नीति साधारणतः अग्रघर्षणपरक अथवा आक्रामक नहीं होनी चाहिए ; राजनय में साम, दाम, भेद तथा दण्ड अर्थात् युद्ध आदि के माध्यम से बल प्रयोग द्वारा विपक्षी को दण्ड देकर अपने वश में करने का प्रयोग क्रमशः किया जाना चाहिए तथा शान्तिपूर्ण वार्ता विवादों के तय करने का पहला और बल प्रयोग उन्हें तय करने का अन्तिम उपाय होना चाहिए। राज्य की विदेश नीति का आधार स्वराष्ट्र का हित साधन होना चाहिए तथा आवश्यकतानुसार राज्य को संधि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय तथा द्वैधीभाव सभी नीतियों का आश्रय लेना चाहिए, यह राजनय के ऐसे सिद्धान्त हैं, जिन पर चलकर प्रत्येक देश अपना तथा विश्व का कल्याण कर सकता है।

कौटिल्य ने राजदूतों की अबध्यता तथा सुरक्षा के सिद्धान्त का जो प्रतिपादन किया है, वह भी एक ऐसा सिद्धान्त है, जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन हेतु अपरिहार्य है।

युद्ध के प्रसंग में कौटिल्य ने "धर्मयुद्ध" के विचार को प्रस्तुत करके राजनीतिक चिन्तन को एक बड़ा बहुमूल्य अनुदाय प्रदान किया है। युद्ध को " वैदिक यज्ञ" के समान बताकर कौटिल्य ने उसमें पालन किए जाने वाले नियमों की महत्ता धार्मिक विधियों सदृश कर दी हैं, जिससे युद्ध में भाग लेने वाले राज्य उनका पालन धार्मिक नियमों जैसी निष्ठा के साथ करें। युद्ध के समय पालन किए जाने वाले जिन नैतिक नियमों–राजदूतों की अबध्यता, युद्धबन्दियों के साथ उदारता का व्यवहार, असैनिक स्थानों पर आक्रमण न करना, युद्ध के बाद विजित देश

के प्रति मानवीयता, न्याय एवं उपकारिता का व्यवहार करना आदि का प्रतिपादन कौटिल्य ने किया है, आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार युद्ध संहिता के अभिन्न अंग हैं।

कौटिल्य ने जो ''कूटयुद्ध'' का प्रतिपादन किया है, उसमें उन्होंने अनेक अनैतिक उपायों तथा साधनों का प्रयोग भी विहित बताया है तथा इस कारण उन्हें भारतीय मैक्यावैली की संज्ञा दी जाती है। परन्तु ''कूटयुद्ध'' को उन्होंने केवल तभी उचित बताया है, जब शत्रु द्वारा किए हुए वैसे ही कार्यों के विरूद्ध अपनी आत्मरक्षा के लिए उसे प्रत्युत्तर देने के लिए ऐसा करना बाध्यता हो।

ध्यातब्य है कि कौटिल्य ने युद्ध में क्या, राजनीति के किसी भी क्षेत्र में अनीति एवं अधर्म का समर्थन सामान्यतः नहीं किया है। कौटिल्य ने राजनीति तथा धर्म में निकट सम्बन्ध माना है और राजा को स्वयं '' धर्म का प्रवर्तक '' माना है। राजकाज में नीति एवं धर्म की मर्यादाओं पर चलने का महत्व कौटिल्य ने इतना माना है कि कि ऐसा करने वाला शासक उनके अनुसार स्वर्ग का अधिकारी होता है। परन्तु इस सबके उपरान्त भी कौटिल्य ने यह माना है कि राजनीति के नीतिकरण का कार्य बड़ा मन्द होता है कि एक व्यावहारिक राजनीति पटु की हैसियत से अन्यायी राजाओं से युद्ध करने के संदर्भ में वे अपने स्वामी को नैतिक विचारों को राज्य की आवश्यकता के अधीन कर देने का उपदेश देते हैं। सामान्यतः कौटिल्य की यह मान्यता स्पष्ट है कि राजनीतिक जीवन नैतिक जीवन से स्वतन्त्र नहीं है तथा दूसरा पहले को नियमित करता है। अतः 'कूट—युद्ध' के प्रसंग में कौटिल्य ने जो कुछ ' शठे—साठ्यं समाचरेत' के अनुसार कहा है, उनके आधार पर उन्हें उस मैक्यावैली की श्रेणी में रखना उचित नहीं होगा, मेकाले का कथन है कि ' उसकी रचना की अनेक जिल्दों में ढूँढ़कर भी यह कहना कठिन है कि उसे कहीं भी छल, विश्वासघात तथा अपयश के रूप में दृष्टिगोचर होते हों।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने प्राचीन भारतीय राजनीतिक साहित्य को लुप्त होने से बचाया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मात्र उसके विचारों का संग्रह ही नहीं बल्कि उसके पूर्ववर्ती राजनीतिक विचारकों के विचारों का उल्लेख भी मिलता है। जैसे— बृहस्पति, भारद्वाज, पाराशर, विशालाक्ष, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि, कात्यायन, घोटमुख, दीर्घचारायण, शुक्राचार्य, मनु आदि। कौटिल्य ने इन आचार्यों के मतों का मनन किया और अपने राजनीतिक सिद्धान्त स्थिर किये। कौटिल्य ही ऐसा विचारक है जिसने धर्मशास्त्र की विचारधारा से प्रभावित हुए बिना केवल

राजनीतिक सिद्धान्त अपने ग्रन्थ में लिखे हैं। इस प्रकार कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन आचार्यों के राजनीतिक विचारों का संरक्षण किया है।

कौटिल्य द्वारा वर्णित आचार्यों एवं सम्प्रदायों के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में उनसे पूर्व भी राजनीतिक दर्शन का विकास हो चुका था। किन्तु पूर्ववर्ती राजनीतिक विचारक धर्म प्रधान दृष्टिकोण वाले थे और उनके द्वारा धर्म तथा नैतिकता की पृष्ठभूमि में ही राजनीतिक विचारों की विवेचना करने का कार्य किया गया। इनकी विचारधारा में राजनीतिक सिद्धान्त इतस्ततः बिखरे हुए थे इनमें से किसी के भी द्वारा विषय का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन नहीं किया गया। कौटिल्य का अनुदाय यह है कि उसने इन यत्र–तत्र बिखरे विचारों को संकलित किया, उनका खण्डन तथा यथास्थान समर्थन किया, समकालीन राजनीतिक संस्थाओं, विचारों एवं घटनाओं का पर्यवेक्षण एवं परीक्षण किया। उसने अपने अनुभव एवं विश्लेषण के आधार पर उनका मूल्यांकन किया तथा निष्कर्ष निकाले। इतना ही नहीं, कौटिल्य ने अनेक स्थानों पर ऐतिहासिक उदाहरणों को भी प्रस्तुत किया है तथा उनसे तुलना भी की है। इस तरह कौटिल्य ने राजनीतिशास्त्र को एक पृथक् शास्त्र बनाने का प्रयास किया। कोटिल्य ने राजनीतिक संस्थाओं, घटनाओं एवं समस्याओं का एक स्वतन्त्र एवं क्रमबद्ध विवेचन किया है। उसने राजनीतिशास्त्र को ज्ञान की एक क्रमबद्ध, व्यापक एवं तर्कसंगत शाखा बना दिया। इस प्रकार कौटिल्य ने भारत में वही कार्य किया जो कार्य उसके समकालीन पाश्चात्य विचारक अरस्तू यूनान में कर रहे थे।

कौटिल्य धर्म को राजनीति से पृथक ही नहीं करते अपितु राजनीति को धर्म से प्राथमिकता और सर्वोच्चता भी प्रदान करते हैं। कौटिल्य सभी विद्याओं की सिद्धि को दण्डनीति पर आधारित करता है। वह कहता कि " सम्पूर्ण सांसारिक जीवन दण्डनीति पर आश्रित है।" कौटिल्य यह भी लिखता है कि " चरित्र तथा लोकाचार का धर्मशास्त्र के साथ जिस विषय में विरोध हो वहाँ धर्मशास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिए अर्थात् ऐसे अवसर पर धर्म के द्वारा ही निश्चय करना चाहिए। परन्तु यदि कहीं धर्मशास्त्र का धर्मानुकूल राजकीय शासन के साथ विरोध हो तो वहाँ राजकीय शासन को ही प्रमाण मानना चाहिए। " स्पष्ट है कि कौटिल्य राजनीति को धर्म से सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है।

राजनीति में कौटिल्य नम्यता और संतुलन का समर्थक है, अतिवादिता और कठोरता का

नहीं। अतिवादिता और कठोरता को वह राज्य के लिए हानिकारक मानता है। उदाहरणतः वह शक्ति और शक्ति संचयन की बात करता है परन्तु साथ में उसके प्रयोग में संयम और समझदारी की बात करता है। वह राजतन्त्र का समर्थन करता है परन्तु वह निरंकुशतावाद का समर्थन नहीं करता, वह भौतिकवादी है परन्तु उपयोगितावाद के सुखवाद का समर्थक नहीं, वह वर्णव्यवस्था को बनाये रखकर भी उदारवादी है अनुदारवादी नहीं, वह राज्य अनुशासन की बात करते हुए भी फासीवादी अथवा साम्यवादी नहीं, राज्य सम्प्रभुता की बात करते हुए भी वह बहुलवाद का समर्थक है।

कौटिल्य ने न केवल राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन किया वरन् अपने व्यावहारिक कार्यों के आधार पर देश को एक सुदृढ़ व केन्द्रीकृत शासन प्रदान किया, जैसा कि उसके पूर्व भारतीयों ने कभी भी नहीं जाना था। उसने विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना की और साम्राज्य के महामन्त्री के रूप में अपने प्रशासनिक सिद्धान्तों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया। इस दृष्टि से कौटिल्य राजनीति का प्रकाण्ड पण्डित ही नहीं, वरन् भारत के महान पुत्र और भारतीय इतिहास के महान नायक के रूप हमारे सामने आता है।

कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य केवल पुलिस राज्य न होकर लोक–कल्याणकारी राज्य है। नागारिकों को हित और सुख ही राज्य का हित और सुख है अर्थात् अच्छा राज्य केवल शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा बनाये रखना ही अपना कार्य नहीं समझता, राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को उसके पूर्ण विकास में पूरी तरह से सहायता देना है। कौटिल्य के अनुसार राज्य का ध्येय जीवन के तीनों उद्देश्यों – धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति करना है। कौटिल्य का राज्य प्रायः वही सेवाएँ प्रदान करता है जो आधुनिक लोक–कल्याणकारी राज्य अपने नागारिकों को प्रदान करते है।

कौटिल्य एक यथार्थवादी विचारक और व्यावहारिक राजनीति का प्रणेता है। वस्तुतः वह शासन कला तथा कूटनीति का चिन्तक है। कौटिल्य की यह धारणा थी कि राजा को अपना शासन ऐसे मन्त्रियों के परामर्श से चलाना चाहिए जो निःस्वार्थ, त्यागी और योग्य हों, आज भी नितान्त सत्य है। उसका राजा को यह उपदेश करना कि शासकों को प्रजा के धर्म में कभी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को धर्मपालन की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए इस बात को सिद्ध करती है कि " धर्मनिरपेक्ष राज्य" की अवधारणा वर्तमान युग की देन नहीं है।

कूटनीति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में उसने जो कुछ कहा है, वह आज भी चरितार्थ हो रहा है। जहाँ अरस्तू यूनानी नगर राज्य के राजनीतिक विवेचन से ऊपर नहीं उठ सका वहाँ कौटिल्य विजीगीषु के हिमालय से समुद्र पर्यन्त विशाल साम्राज्य का विवेचन करता है। कौटिल्य राजनीतिक संस्थाओं एवं घटनाओं का विवेचन प्लेटो की आदर्शवादिता या कल्पना के आधार पर अथवा अरस्तू के प्रकृतिवाद या सिद्धान्तवाद के आधार पर अथवा रोमन विधिवेताओं के विधिशास्त्रीय आधार पर अथवा चर्च पादरियों के धर्म–शास्त्रीय आधार पर नहीं करता अपितु व्यावहारिक आधार पर करता है। इस दृष्टि से कौटिल्य ने केवल यथार्थवादी वरन् अत्यन्त दूरदर्शी विचारक है।

निःसंदेह कौटिल्य वर्ण व्यवस्था का समर्थन करता है और उसका राजा धर्म प्रवर्तक है। परन्तु उसने कहीं भी न तो दासता का समर्थन किया है और न धर्मान्धता का समर्थन करता है। भारतीय चिन्तन में धर्म से केवल धर्म का बोध नहीं होता अपितु कर्त्तव्य का बोध होता है। धर्म निरपेक्षता इस बात को स्वीकार करती है कि " मूर्तियों में अस्त्र रखे जायें ताकि जब शत्रु राजा पूजा करने आये तो तो उसका वध कर दिया जाये। कौटिल्य ने किसी राजनीतिक समस्या का समाधान धार्मिक शैली में नहीं किया।

अर्थशास्त्र अर्थ तथा भौतिकवाद का दर्शन है। यह अर्थव्यवस्था के अध्ययन का प्रथम क्रमबद्ध प्रयास है। यह अर्थ की प्राप्ति, सुधार और वृद्धि के साधनों का मार्गदर्शन है। कौटिल्य अर्थ को राज्य और व्यक्ति की जीवन रेखा मानता है। वह उसे धर्म और कर्म की मूल कहता है। अतः कौटिल्य का राज्य आर्थिक राज्य है। उसका राज्य सुदृढ़ आर्थिक क्रियाओं में प्रत्यक्ष भाग भी लेता है। वह सार्वजनिक और निजी क्षेत्र को निर्धारित करता है, उद्योगों के विकास क्रम को निर्धारित करता है, मालिकों उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करता है, औद्योगिक कानूनों का निर्माण करता है तथा श्रम समस्याओं का निवारण करता है। परन्तु कौटिल्य मार्क्सवादियों अथवा साम्यवादियों की भाँति अर्थव्यवस्था में पूर्ण परिवर्तनों का समर्थक नहीं है।

जिस प्रकार हॉब्स और आस्टिन सम्प्रभुता कानून ओर स्वतन्त्रता आदि की निरपेक्ष अवधारणाओं का विवेचन एवं समर्थन करते हैं उस प्रकार कौटिल्य उनका विवेचन नहीं करता। निः सन्देह कौटिल्य राजनीति को धर्म से प्राथमिकता देता है परन्तु वह साथ में धर्म, व्यवहार और

चरित्र को राजाज्ञा का स्त्रोत भी बताता है। इसी प्रकार कौटिल्य निरंकुश या अत्याचारी राजाओं के अपदस्थ करने की बात तो करता है परन्तु वह न जनसम्प्रभुता की बात करता है न व्यक्तियों के निरपेक्ष अधिकारों की।

कौटिल्य के राजनीतिक चिन्तन में अनेक विचारकों एवं विचारधाराओं का पूर्वानुमान मिलता है। जैसे अपने समकालीन अरस्तू की भाँति कौटिल्य राज्य के आदर्श एवं नैतिक स्वरूप तथा विवेक की सर्वोच्चता को स्वीकार करता है। शक्ति, शक्ति–राजनीति, धर्म और राजनीति के पृथक्करण, सभी प्रकार के उचित एवं अनुचित साधना के प्रयोग, शासन कला, कूटनीति एवं व्यावहारिक राजनीति के समर्थन में वह मैक्यावैली का पूर्वानुमान करता है। सम्प्रभुता को स्वामी में निहित करके एवं राजाज्ञाओं को सर्वव्यापी बनाकर वह आस्टिन का पूर्वानुमान करता है। अर्थ, नियोजित अर्थव्यवस्था एवं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर बल देकर वह मार्क्स, राज्य–विस्तार एवं युद्ध पर बल देकर वह साम्राज्यवाद, फासीवाद तथा नाजीवाद का पूर्वानुमान करता है। जनसाधारण के हित एवं सुख को राजा का हित एवं सुख बताकर कौटिल्य आधुनिक लोक–कल्याणकारी राज्य के जनक का रूप धारण करता है।

संक्षेपतः अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीति की अप्रतिम ही नहीं अमर कृति है। राजनीति का यह बृहत्कोष युग–युगान्तर के लिए राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिये प्रकाश–स्तम्भ है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

वैदिक संहिता साहित्य

1. ऋग्वेद संहिता, — स्वाध्याय मंडल, पार्डी, सूरत (सातवलेकर सं0)।
2. अथर्ववेद संहिता (शोनक शाखा), — वैदिक प्रेस, अजमेर।
3. यजुर्वेद संहिता (हिन्दी भाषानुवाद सहित) — जयदेव विद्यालंकार।
4. यजुर्वेद–सामदेव–अथर्ववेद (भाषा भाष्य सम्पूर्ण) — दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली।
5. तैतिरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेद) — सम्पादक सातवलेकर।

वैदिक ब्राह्मण साहित्य

6. जैमनीय ब्राह्मण — सम्पादक डा0 लोकेशचन्द्र।
7. तैतिरीय ब्राह्मण — सायणाचार्य भाष्य सहित (तीन खण्ड) आनन्दाश्रम, पूना।
8. शतपथ ब्राह्मण (भाषा टीका) — गंगाप्रसाद उपाध्याय, प्राचीन वैज्ञानिक अध्ययन संस्थानम, नई दिल्ली।

उपनिषद्

9. छान्दोग्योपनिषद्, — श्रीराम शर्मा बरेली। आनन्दश्रम पूना।
10. ब्रहोपनिषद् — निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1948।

धर्म–सूत्र ग्रन्थ

11. आपस्तम्ब धर्मसूत्र — चोखम्बा संस्कृत सीरीज,वाराणसी।
12. गौतम धर्मसूत्र — आनन्दाश्रम, पूना।
13. बोघायन धर्मसूत्र — रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
14 मनुस्मृति — कुल्लूभटट की टीका सहित निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

संपा0 पं0 रामतेज पाण्डेय, पण्डित पुस्तकालय काशी, वि0सं02004।

मेधातिथ यदि षट टीका, गणमति कृष्ण जी प्रेस बम्बई।

डा0 चमन लाल गौतम, संस्कृति संस्थान, बरेली।

15. नारद स्मृति — जाली द्वारा सम्पादित, सम्पादक और अनुवादक श्री नारायण चन्द्र काव्यस्मृति तीर्थ, 1873।

16. याज्ञवल्क्य स्मृति — मिताक्षरा सहित निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

डा0 उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1967।

17. पाराशर स्मृति — प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

19. बृहस्पति स्मृति — के0वी0आर0आयंकर, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा।

अर्थशास्त्र

.20 कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र — हिन्दी अनुवाद सहित पं0 वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,1977 ।

हिन्दी अनुवाद सहित उदयवीर शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली–1988।

संपादक आर0 शाम शास्त्री, मैसूर–1923।

आर0पी0 कांगले आर0पी0 बम्बई वि0वि0 बम्बई,1960।

गणपति शास्त्री भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1984।

रामतेज शास्त्री, पं0 पुस्तकालय काशी सं0– 2016।

राधागोविन्द वसाक, चौखम्बा, वाराणसी, 1977।

डा0 रघुनाथ सिंह, चौखम्बा, वाराणसी, 1983।

21.. बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र — लाला कन्नोमल, मोतीलाल बनारसीदास, लाहोर, 1924।

नीतिशास्त्र

22. कामन्दकीयनीतिसार — ज्वाला प्रसाद मिश्र, वैंक्टेश्वर प्रेस, बम्बई।
गणपति शास्त्री, वैक्टेश्वर प्रेस, बम्बई।

23. नीतिवाक्यामृतम् — सुन्दरलाल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज,वाराणसी।
वेंक्टेश्वर प्रेस, बम्बई।

24. शुक्रनीतिसार — जीवानन्द विद्यासागर,कलकत्ता।
पं0 मिहिर चन्द्र, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सम्बत् 2012।
पं0 गंगा प्रसाद शास्त्री, हिन्दू जाति कार्यालय,शामली, मुजफ्फरनगर।

पुराण ग्रन्थ

25. अग्नि पुराण — श्रीराम शर्मा, बरेली, खेमराज श्रीकृष्ण दास, बम्बई।

26. नारद पुराण — गीता प्रेस, गोरखपुर।

27. मत्स्य पुराण — नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

28. वायु पुराण — श्रीराम शर्मा, बरेली, राजेन्द्र लाल मिश्र, कलकत्ता।

29. विष्णुधर्मोत्तर पुराण — वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

महाकाव्य

30. श्रीमद् वाल्मीकि रामायण — हिन्दी टीका सहित, चन्द्रशेखर शास्त्री,, सस्ता साहित्य पुस्तकमाला,बनारस। रामनारायण दत्त शास्त्री, गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2025 ।
जगदीश विद्यार्थी, आर्य साहित्य भवन, नई दिल्ली, 1970।

31. महाभारत — पं0 गंगा प्रसाद शास्त्री, महाभारत प्रकाशन मंडल, दिल्ली।
पं0 रामनारायण दत्त शास्त्री, गीता प्रेस, गोरखपुर 1950।
वी0एस0 सुकथनकर भण्डारकर, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1943–44 ।
नीलकण्ठ टीका सहित, पूना, 1929 ।

निबन्ध ग्रन्थ

32. रघुवंश (कालीदास) — वेकटेश्वर प्रेस बम्बई।
33. वीरमित्रोदय (मित्र मिश्र) — व्यवहार प्रकाश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
34. नीतिमयूख (नीलकण्ठ) — व्यवहारमयूख, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
35. स्मृति चन्द्रिका (देवण भट्ट) — व्यवहारकाण्ड, संस्कृत सीरीज, मैसूर।
36. अभिलिषितार्थ चिन्तामणि (सोमेश्वर) संस्कृत सीरीज, बड़ौदा।
37. राजनीति रत्नाकर (चण्डेश्वर) — वाचस्पति गैरोला एवं पं0 तरिणीश झा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
38. राजधर्मकौस्तुभ (अनन्तदेव) — गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा।

कोश ग्रन्थ

39. अमरकोश (अमर सिंह) — सतीशचन्द्र विद्याभूषण, कलकत्ता 1901।
खेमराज श्रीकृष्णदास,बम्बई।
40. ए संस्कृत–इंग्लिश डिक्सनरी — मोनियर विलियम्स, आक्सफोर्ड, 1951।
41. वैदिक इण्डैक्स (दो खण्ड) — ए0ए0 मैकडोनाल्ड एवं ए0वी0 कीथ, अनु0 रामकुमार राय,चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
42. शब्द कल्पद्रुम (राधा कान्त देव) — चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी (1961)।
43. संस्कृत–हिन्दी कोश — वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल वनारसीदास, दिल्ली।

सहायक ग्रन्थ

हिन्दी ग्रन्थ

44 कौशल कुमार राय — अपराध और दण्डशास्त्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
45. डॉ0 हरिदत्त वेदालंकार — अन्तार्राष्ट्रीय कानून, सरस्वती सदन, दिल्ली।
46. आचार्य दीपांकर — कौटिल्य कालीन भारत, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ0प्र0 लखनऊ, 1968।
47. भगवतशरण उपाध्याय — गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ0प्र0 लखनऊ।
48. डा0 श्यामलाल पाण्डेय — जनतंत्रवाद–रामायण और महाभारत कालीन, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, संवत 2007।

49. यदुनन्दन कपूर — धर्मनिरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातांत्रिक परम्पराएँ, लक्ष्मीनारायण प्रकाशन–आगरा।

50 डॉ0 एम0एल0 शर्मा — नीतिवाक्यामृत में राजनीति, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1971।

51 डॉ0 लक्ष्मीदत्त ठाकुर — प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ0प्र0 लखनऊ, 1965।

52 डॉ0 परिपूर्णानन्द वर्मा — प्राचीन भारत की शासन प्रणाली, श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा, 1975।

53. डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार — प्राचीन भारतीय शासन, व्यवस्था और राजशास्त्र सरस्वती सदन, मसूरी, 1960।

54 श्रीराम गोयल — नन्द मौर्य साम्राज्य का इतिहास, कुसुमाज्जलि प्रकाशन, मेरठ, 1988।

55. किरण टण्डन — प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1988।

56. एन0 सी0 बन्द्योपाध्याय — कौटिल्य, कलकत्ता, 1926।

57. रामकृष्ण दत्तात्रेय भण्डारकर — प्राचीन हिन्दू राजनीति के कुछ पहलू, हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1974।

58. मनोरमा जौहरी — प्राचीन भारत मे राज्य और शासन व्यवस्था, गणेश प्रकाशन, वाराणसी, 1972।

59. डॉ0 हरिहरनाथ त्रिपाठी — प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964।
प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965।

60 डॉ0 देवीदत्त शुक्ल — प्राचीन भारत में जनतंत्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ0प्र0, लखनऊ, 1966।

61. बाबू वृन्दावन दास — प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य, साहित्य प्रकाशन, मालीवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली, 1972।

62. डॉ0 अच्युतानन्द घिल्डियाल — प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक, विवेक घिल्डियाल बन्धु, सिगरा, वाराणसी, 1972।

63. डॉ0 प्रेमकुमारी दीक्षित — प्राचीन भारत मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, हिन्दी समिति, सूचना विभाग उ0प्र0, लखनऊ।

64. डॉ0 राघवेन्द्र बाजपेयी — बार्हस्पत्य राज्य–व्यवस्था, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966।

65 डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय — भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ0प्र0, लखनऊ, 1964।

66. आर0सी0 कुलश्रेष्ठ एवं

67. बनवारी लाल शर्मा — भारतीय सैन्य विज्ञान, चन्द्र प्रकाशन, अलीगढ़, 1962।

68. डॉ0 रमाशंकर उपाध्याय — भीष्म के राजनीतिक विचार, आगरा।

69. डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय — मनु का राजधर्म, आर्यनगर, लखनऊ।

70. डॉ0 प्रेम कुमारी दीक्षित — महाभारत में राज्यव्यवस्था, अर्चना प्रकाशन, लालबाग, लखनऊ, 1970।

71. डॉ0 कामेश्वर नाथ मिश्र — महाभारत में लोक कल्याण की राजकीय योजनायें, भारत मनीषा, वाराणसी, 1972।

72. कृष्णकान्त मिश्र — राजनीति के सिद्धान्त, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लि0, दिल्ली, 1978।

73. डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय — वेदकालीन राज्यव्यवस्था, हिन्दी समिति, सूचना विभाग,उ0प्र0 लखनऊ, 1971।

74. प्रियव्रत आचार्य — वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त (तीन खण्ड), मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ।

75. डॉ0 वलदेव उपाध्याय — वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा मन्दिर, काशी, 1958।

76. वी0एन0 मालीवाल — स्थल युद्ध–कला, चन्द्रप्रकाश एण्ड ब्रादर्स, हापुड़, 1963।

77. डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी — हिन्दू राज्यशास्त्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् 1998।
हिन्दुओं की राज्य कल्पना, भारत मित्र प्रेस, नं0 97 मुलाराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता,संवत 1970।

78. विनायक दामोदर सावरकर — हिन्दुत्व, राजधानी ग्रन्थागार, लाजपत नगर, नई दिल्ली।

79. भोलानाथ शर्मा (अनु0) — अरस्तू की राजनीति, प्रकाशन व्यूरो, उ0प्र0 सरकार, लखनऊ, 1956।

80. डॉ0 के0एम0 पनिक्कर, — कूटनीति के सिद्धान्त और व्यवहार, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

81. डॉ0 पाण्डुरंग वामन काणे, अर्जुन चौबे कश्यप (अनु0) — धर्मशास्त्र का इतिहास (पॉच भाग), हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, 1973।

82. योगेन्द्र नाथ बागची, दुर्गादत्त त्रिपाठी (अनु0) — प्राचीन भारत की दण्डनीति, कलकत्ता, 1961।

83. डॉ0 ए0एस0 अल्टेकर — प्राचीन भारतीय शासन पद्धित, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, संवत् 2004।

84. रमेशचन्द्र मजूमदार, परमेश्वरी लाल गुप्ता (अनु0) — प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1962।

85. डॉ0 सर्वेपल्लि राधाकृष्णन, उमापति राय चन्देल (अनु0) — प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1967।

86. डा0 श्यामलाल पाण्डेय — कौटिल्य की राज्य व्यवस्था, लखनऊ, 1956।

87. जार्ज एच0 सेबाइन, विश्वप्रकाश गुप्त (अनु0) — राजनीति दर्शन का इतिहास (दो खण्ड), एस0 चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 1964।

88. हेरल्ड जे0 लास्की, विश्वप्रकाश (अनु0) के0 आर0 बम्वाल (सम्पा0), — राज्य का सैद्धान्तिक और व्यवहारिक स्वरुप, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी दिल्ली, 1956।

89. हंस जे0 मार्गेन्थाउ
प्रेम नारायण मित्तल, नरेन्द्रनाथ श्रीवास्तव,
डॉ0 धर्मचन्द्र ग्रोवर, कुलभूषण राय, (अनु0) राष्ट्रों के मध्य राजनीति, हरियाणा ग्रन्थ अकादमी, चन्डीगढ़, 1976।

90. डॉ0 ए0 बी0 कीथ,
सूर्यकान्त (अनु0) वैदिकधर्म एवं दर्शन, मोतीलााल बनारसी दास, वाराणसी, 1963।

91. काशीप्रसाद जायसवाल,
रामचन्द्र वर्मा (अनु0) हिन्दू राज्यतंत्र (दो खण्ड), नागरी प्रचारिणी सभा,काशी, संवत् 2018।

92. डॉ0 राधाकुमुद मुखर्जी,
वासुदेव शरण अग्रवाल (अनु0) हिन्दू सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, प्रा0लि0, दिल्ली, 1958।

93. प्रो0 इन्द्र, कौटिल्य अर्थशास्त्र, राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1967।

94. ए0 एल0 बाशम, अदभुत भारत, प्रकाशक शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा।

आंग्ल भाषा के ग्रन्थ

95. F. Max Muller A Histroy of Ancient Sanskrit Literature.Panini office,Allahabad, 1912..

96. U.N. Ghoshal A Histroy of Hindu Political Theories, Calcutta, 1923.

97. Dr. Surendra Nath Desgupta A History of Indian Phillosophy (Vol.-iii), Cambridge University Press, London, 1968.

98. G.H. Sabine A History of Pollitical Theory, London, 1966.

99. A .A. Macdonell A History of Sanskrit Literature, (second edition) Delhi, 1971.

100. Dr. Vasudeva Upadhyaya A Study of Hindu Crimnology, Chaukhamba, Varanasi, 1978.

101. R.K. Chaudhary — Anicient Indian Law and Justice , Motilal Banarshidas, Delhi, 1953.

102. Dr. B.A. Saletore — Anicient Indian Political Tought and Institution, Asia Publishing House,New Delhi, 1963.

103. P.C.Chakravarti, — Art of War in Ancient Indian, Calcutta.

104. Narendra Nath Law — Aspects of Anicient Polity, Oxford, 1921.

105. R.S. Sharma, — Aspects of Political Ideas and Institutionin in Aicient India , Delhi, 1966.

106. K.V. Rangaswami Aiyanagar — Aspects of the Social and Political System of Manusmrti, Lucknow, 1949.

107. R.K. Mukharji — Chandragupta Maurya and His Times, Rajkamal Publication, Delhi, 1953.

108. Charles O.Larche & Abdul Said — Concepts of International Politics, 1963.

109. R.C. Majumdar — Corporate Life in Ancient India, Calcutta, 1922.

110. N.C. Bandyopadhyay — Development of Hindu Polity and Political Theories, Calcutta, 1927.

111. H.N. Sinha, — Development of indian Polity, Bombey, 1963.

112. F.Max Muller — Heritage of Inadia,Calcutta, 1951,

113. K.P.Jayaswal — Hindu Polity, Banglore (1943).

114. P.N.Prabhu — Hindu Social Organisation, Bombey, 1958.

115. P.V. kane — Histry of Dharmshastra (5 vols.),Bhandarkar Oriential Research Institute, Poona.

116. Heeralal chatterjee — International Law andInterstate Relation in Ancient India, Calcutta, 1958.

117. S.V.Viswanath — International Law in Ancient India, Longmans Green & Co., 1925.

118. D.Palmer & Howard C.Perkins International Relations, Normond Scientific Book Agency, Calcutta, 1965.

119. Narendra Nath Law International Relations in Ancient India, Calcutta 1920.

120. Viscont James Bryce Modern Democracies,(vol.ii),Mac-Millan Co., New York & London, 1924.

121. M.P.A. Parcell Modern Welfare State, London, 1953.

122. Dr. Oppert Gustav On the Weapons , Army Organization and Political maxims of the Ancient Hindu, Madras, 1880.

123. Dr. B.P. Roy Political Ideas and Instutions in the Mahabharta, Punthi Pustak,Calcutta, 1975.

124. B.K.Sarkar, Political Ideas and Institutions & Theories of the Hindus, Calcutta, 1939.

125. Hans J.Morgenthau Politics Among Nations, Scientific Book Agency, Calcutta, 1963.

126. R.N.Gillchrist Principals of Political Science, Orient Longmans, Bombey.

127. D.R. Bhandarkar Some Aspects of Ancient Hindu Polity, Benaras, 1929.

128. K.V.R.Aiyanagar Some Aspects of Ancient Indian Polity, Baroda 1952..

129. Dr. A.S. Altekar State and Goverment in Ancient India Motilal Banarsidas, Delhi-6, 1958..

130. H.J.Laski State in Theory and Practice, Georgeeee Allen& Unwin Ltd., London.

131. N.N.Law Studies in Ancient Indian Polity, Longmans Green

& Co.

132. Ajit Kumar Sen, Studies in Hindu Political Thought, Calcutta.1926..

133. V.P. Verma Studies in hindu Political Thought and its Metaphysical Foundation, Motilal Banaridas, Delhi, 1959.

134. V.R.R. Dikshitar The Gupta Plity, Madras, 1952.

135. K.M. Panikkar The Idieas of Sovereignty and State in Ancient India, Bombey,.1963.

136. B.K.Majumdar The Millitary System in Anicent India, Firma, K.L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1960.

137. J.J. Anjaria The Nature and Grounds of Political Obligation in the Hindu State, Longmans Green & Co. London, 1935.

138. K.M. Panikkar The Origin and Evolution of Kingship in India, Baroda, 1938.

139. C.P.R. Aiyer The Philosophical Basis of Indian Legal and Social System, Madras, 1949,

पत्र एवं पत्रिकाएँ

140. **नागरी प्रचारिणी पत्रिका**

1) भाग 14 सवत 1960, वृंदावनदास का लेख– कौटिल्य काल के गुप्तचर।

2) वही भगवानदास केला का लेख–कौटिल्य का धन वितरण और समाज।

3) भाग II, अंक 1, संवत् 1987 सत्यकेतु विद्यालंकर का लेख 'कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा'।

4) वर्ष 1962 संवत 2014 बुद्ध प्रकाश का लेख – महाभारत एवं ऐतिहासिक अध्ययन, भाग 1–2।

141. वेदवाणी

अमृतसर का वेदांग भाग–8, सं0 वि0 2016 मे हरिशंकर शर्मा का लेख– जैन साहित्य की रुपरेखा।

142. इन्डियन हिस्टारिकल क्वालटी– वाल्यूम 1, 1925 में आर0 पी0 वासाक का लेख– मिनिस्ट्री इन एन्शियण्ट इन्डिया, पृ0 522–532, 623–642 ।,

143. इन्डियन हिस्टारिकल क्वालटी–कलकत्ता, खण्ड– 7,1931 में एन0ए0 ला0 का लेख– दैवी भाव इन कौटिल्य, पृ0 256।

144. इन्डियन हिस्टारिकल क्वालटी–लेख–कौटिल्य ऑन रॉयल अथार्टी
मिससेलनी– 29 (3) सितम्बर, 53 : पृ0 286–292।
29 (2) जून, 53 : पृ0 175–179।

145. जनरल आफॅ इन्डियन हिस्ट्री–डिवान्ड्रम खण्ड–40,1962 भाग 1–3 संख्या 118–120 में राधा कुमुद मुखर्जी का लेख– इंडियाज डेमोक्रेटिक ट्रेडिशन्स पृ0 586।

–खण्ड –7, भाग 1–3, सं0 1928 मे बेनी प्रसाद का लेख– दि थ्योरी ऑफ गवर्नमेनट इ एन्शियण्ट इण्डिया, पृ0 93।

146. जनरल ऑफ गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट– वाल्यूम 16 भाग 1–2, अगस्त–1956 में प्रकाशित, डॉ0 वी0सी0 लाल का लेख शीर्षक– थ्री जेम्स इन जैनिज्म पृ0 87।

141. **वेदवाणी**

अमृतसर का वेदांग भाग–8, सं0 वि0 2016 मे हरिशंकर शर्मा का लेख– जैन साहित्य की रुपरेखा।

142. इन्डियन हिस्टारिकल क्वालटी– वाल्यूम 1, 1925 में आर0 पी0 वासाक का लेख– मिनिस्ट्री इन एन्शियंण्ट इन्डिया, पृ0 522–532, 623–642 ।,

143. इन्डियन हिस्टारिकल क्वालटी–कलकत्ता, खण्ड– 7,1931 में एन0ए0 ला0 का लेख– दैवी भाव इन कौटिल्य, पृ0 256।

144. इन्डियन हिस्टारिकल क्वालटी–लेख–कौटिल्य ऑन रॉयल अथार्टी

मिससेलनी– 29 (3) सितम्बर, 53 : पृ0 286–292।

29 (2) जून, 53 : पृ0 175–179।

145. जनरल आफॅ इन्डियन हिस्ट्री–डिवान्ड्रम खण्ड–40,1962 भाग 1–3 संख्या 118–120 में राधा कुमुद मुखर्जी का लेख– इंडियाज डेमोकेटिक ट्रेडिशन्स पृ0 586।

–खण्ड –7, भाग 1–3, सं0 1928 मे बेनी प्रसाद का लेख– दि थ्योरी ऑफ गवर्नमेनट इ एन्शियण्ट इण्डिया, पृ0 93।

146. जनरल ऑफ गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट– वाल्यूम 16 भाग 1–2, अगस्त–1956 में प्रकाशित, डॉ0 वी0सी0 लाल का लेख शीर्षक– श्री जेम्स इन जैनिज्म पृ0 87।